गीता-परिक्रमा

खण्ड-२

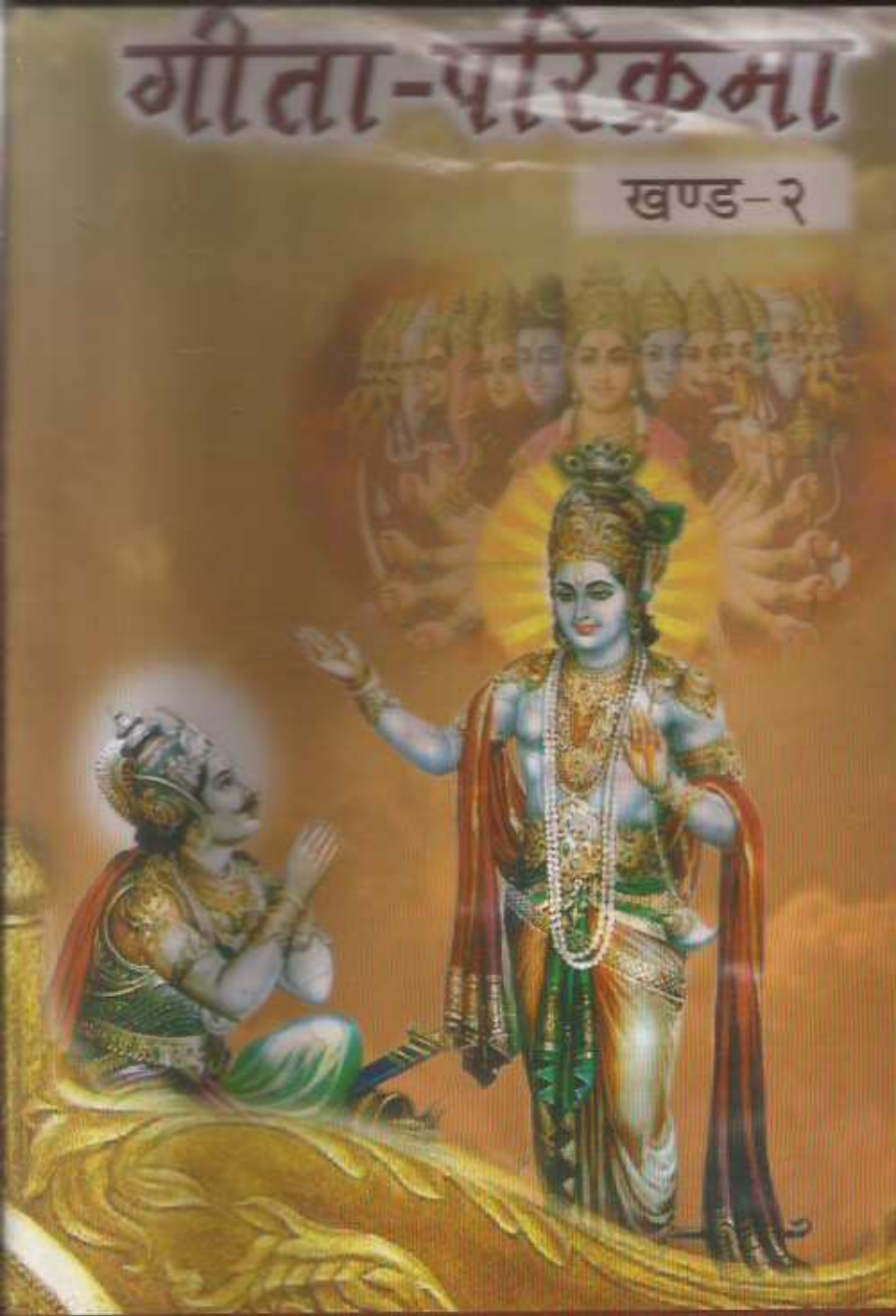

विष्णुकान्त शास्त्री

प्रतिष्ठित साहित्यकार, प्रध्यापक एवं आलोचक, मुद्रण शिल्पविद्, धर्म-संस्कृति एवं अध्यात्म के गहन अध्येता तथा व्याख्याता, साहित्य अकादेमी के रूप में अखिल-भारतीय ख्याति।

जन्म : २ मई १९२२, कोलकाता।

शिक्षा : एम. ए., एल-एल. बी.।

वृत्ति : १९५७ से १९९४ तक कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक।

मौलिक कृतियाँ :

कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध, कुछ चेतन की कुछ अचेत की, चिन्तन सूत्र, अनुचिन्तन (वैचारिक समीक्षा), सुलगते के लिए ही (सुलगते वैचारिक निबन्ध), बांग्लादेश के सन्दर्भ में (रिपोर्ताज), स्थान को पवित्र करने से मूर्तियाँ उस चन्दन के वन की (संस्मरण एवं यात्रा वृत्तान्त), अनेक पथ के यात्री : धर्मवीर भारती (संस्मरण), चर्चित और अपरिचित (विवेचन), ज्ञान और कर्म (निबन्ध-प्रबन्ध), चीवर पथ पर चलते-चलते (काव्य), पर साथ-साथ चल रही याद (संस्मरण), आधुनिक हिन्दी साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष (आलोचना), शैली पत्रिका : खण्ड १, २ एवं ३ (शैली प्रबन्ध)।

गतिविधियाँ :

साहित्यिक स्तर पर देश भर के विश्वविद्यालयों में व्याख्यान, देश-विदेश की साहित्यिक संगोष्ठियों में भागीदारी, भक्ति साहित्य के अधिकारी विद्वान्, विविध साहित्यिक सम्मानों एवं पुरस्कारों से सम्मानित। १९४४ से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से सम्बद्ध, १९७७ से सक्रिय राजनीति में प्रवेश। जनता पार्टी के सदस्य के रूप में पश्चिम बंगाल विधानसभा के विधायक (१९७७-१९८२), पश्चिम बंगाल प्रदेश भाजपा के दो बार अध्यक्ष, भाजपा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष (१९८८-१९९३), संसद सदस्य - राज्यसभा (१९९२ से १९९८), २ दिसम्बर १९९९ को हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त, २४ नवम्बर २००० से २ जुलाई २००४ तक उत्तरप्रदेश के राज्यपाल।

२ अगस्त २००५ को निधन।

द्वितीय संस्करण : श्री बनवारीलाल सोती, सोती चेरिटेबल ट्रस्ट, कोलकाता के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : श्री नन्दलाल शाह एवं उनके आत्मज श्री किसलय शाह कोलकाता के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित।

गीता-परिक्रमा

(खण्ड-२)

(श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ७ से १२ पर केन्द्रित आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के मंच से दिये गये प्रवचन)

गीता-परिक्रमा

खण्ड - २

(श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें से बारहवें अध्याय की प्रवचनपरक व्याख्या)

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

सम्पादक

डॉ० नरेन्द्र कोहली

सहयोग

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

प्रकाशक :

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

१सी, मदनमोहन बर्मन स्ट्रीट, कोलकाता-७

टेलिफैक्स : २२६८-८२१५

ई-मेल : kumarsabha@kumarsabha.org

प्रकाशन समिति :
श्री जुगलकिशोर जैथलिया
श्री महावीर प्रसाद बजाज
श्री कृष्णस्वरूप दीक्षित
श्री मोहनलाल पारीक
श्रीमती दुर्गा व्यास

•

द्वितीय संस्करण : २०१४ ई.
६०० प्रतियाँ
प्रथम संस्करण : २००८ ई.
११०० प्रतियाँ

•

मूल्य : ५००/- रुपए

•

ISBN 81-902967-0-1 (For Set)
ISBN 81-902967-2-8 (Vol II)

•

आवरण :
श्री श्रीजीव अधिकारी

•

मुद्रक :
श्रीराम सोनी
'हाइमेन कम्प्यूप्रिन्ट'
२, रूपचंद राय स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७
दूरभाष: ९८३११३८०५०

Geeta-Parikrama : Vol-2 / Acharya Vishnu Kant Shastri
[lectures based on Shrimad Bhagwadgita, Chapter 7 to 12]
Price : Rs. 500/-

प्रकाशकीय : द्वितीय संस्करण

गीता परिक्रमा (प्रथम खण्ड) के द्वितीय संस्करण के प्रकाश में आने के उपरान्त अब द्वितीय खण्ड के दूसरे संस्करण को प्रकाशित करते हुए हमें आन्तरिक प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। यह इस बात का द्योतक है कि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के गीता-विषयक प्रवचन सुधी पाठकों द्वारा सम्मानित हो रहे हैं। इस द्वितीय संस्करण की प्रकाशकीय टिप्पणी लिखते हुए मुझे कवि रामसनेही लाल शर्मा 'यायावर' के गीत की पंक्तियाँ याद आ रही हैं –

यह जीवन है संग्राम प्रबल/लड़ना ही है प्रतिक्षण, प्रतिपल
वह हार गया रण में, जिसका लड़ते-लड़ते मन हार गया।
जिसने मन में गीता गुन ली, वह हार-जीत के पार गया।।

इस द्वितीय खण्ड के २३वें प्रवचन में गुरुवर शास्त्री जी ने *'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'* को गीता का महावाक्य बताते हुए भावपूर्ण व्याख्या की है– *''हमारा जीवन एक सतत युद्ध है।.... रात-दिन, बाहरी और भीतरी संसार के आकर्षण से दुष्कर्मों की ओर आकृष्ट न होने के लिए हम युद्ध करते रहें। सत्कर्म के लिए अपने मन को प्रेरित करते रहें – यह युद्ध से कम नहीं है।''*

निरन्तर भगवान् का स्मरण करते हुए जीवन-समर में बाहर और भीतर की आसुरी शक्तियों से युद्धरत रहने का उपदेश गीताजी के माध्यम से हम सबको भी मिला है। हमारे आपके कर्मक्षेत्र (कुरुक्षेत्र) का यह संग्राम 'युद्ध' को 'यज्ञ' में रूपान्तरित कर देता है। आत्म विश्वास से भरपूर प्रख्यात ग़ज़लकार शिव ओम अंबर की पंक्तियाँ हैं–

होठों पे नग़मे सीने के मध्य घाव है / कवि का पूरा जीवन पीड़ा का पड़ाव है।
युद्धों को परिणत कर लेता हूँ यज्ञों में / श्री मद्भगवद्गीता का मुझ पर प्रभाव है।

हम कृतज्ञ हैं कविवर गुलाब खण्डेलवाल के, जिन्होंने द्वितीय खण्ड के प्रथम संस्करण की अशुद्धियों की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट कर इस खण्ड को यथासंभव शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने में हमें आत्मीय सहयोग दिया।

सोती चेरिटेबल ट्रस्ट के ट्रस्टी श्री बनवारीलाल सोती के हम विशेष आभारी हैं जिन्होंने इस संस्करण के प्रकाशन हेतु पुस्तकालय को आर्थिक सौजन्य प्रदान किया है।

पाठकों की सुविधा हेतु इस संस्करण में गीता-श्लोकानुक्रमणिका को अंत में जोड़ दिया गया है। सुधी पाठकों द्वारा यह प्रकाशन समादृत होगा, इस विश्वास के साथ–

प्रेमशंकर त्रिपाठी

मकर संक्रान्ति, २०७० वि.
१४ जनवरी, २०१४ ई.

(डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, *अध्यक्ष*)
श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

डॉ. मुरली मनोहर जोशी
संसद सदस्य (राज्य सभा)
अध्यक्ष
वाणिज्य सम्बन्धी संसदीय
स्थायी समिति

123, संसदीय सौध
नई दिल्ली-110 001
दूरभाष : 23034123
23011991

दि. 5 जुलाई 2008

प्रिय श्री जुगल जी,

यह जानकर कि विद्वत्शिरोमणि ब्रह्मलीन आचार्य विष्णुकांत शास्त्री जी के गीता प्रवचनों का द्वितीय खण्ड शीघ्र ही लोकार्पित होगा, प्रसन्नता हुई। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा, कोलकाता द्वारा यह अभिनंदनीय कार्य हो रहा है इस निमित्त सभा के पदाधिकारियों को मेरी हार्दिक बधाई।

आचार्य विष्णुकांत जी के औपनिषदिक ज्ञान एवं उसके अर्थ निर्वचन की प्रगल्भता से विद्वत् जगत सदा अभिभूत रहा। उनके व्याख्यान एवं प्रवचन सदा ही मंत्रमुग्ध करने वाले होते थे। विशेषता यह थी कि अत्यंत जटिल विषय की उनकी सुबोध एवं हृदयग्राही प्रस्तुति श्रोताओं को सदा ही ज्ञानामृत का पान करा देती थी। मेरा विश्वास है कि इस संकलन में उनका यह स्वरूप पुस्तक को रोचक बनाए रखेगा।

शास्त्री जी की आत्मानुभव से परिपूर्ण गहरी आध्यात्मिकता उनके व्याख्यानों में सदा परिलक्षित होती थी। वे अत्यन्त विनयशील थे। वस्तुतः उन्होंने गीता को आचरण में उतारा था और वे सच्चे अर्थों में पंडित थे क्योंकि उन्होंने समदर्शिता को अपने व्यवहार से सिद्ध किया था। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत खंड का अनुशीलन जिज्ञासुओं के लिए अत्यंत उपयोगी होगा। शास्त्री जी के एतद्विषयक अन्य व्याख्यानों के प्रकाशन की प्रतीक्षा रहेगी।

भवदीय,

(मुरली मनोहर जोशी)

श्री जुगल किशोर जैथलिया
1-सी, मदन मोहन बर्मन स्ट्रीट, (1 तल्ला)
कोलकाता-700 007

गीता परिक्रमा का यह दूसरा खंड....

पिछले दिनों अंग्रेज़ी के समाचारपत्र 'हिंदुस्तान टाइम्स' के 'इनर वायस' स्तंभ में गीता के संबंध में एक कथा पढ़ी।

एक व्यक्ति बहुत श्रद्धापूर्वक नित्यप्रति भगवद्गीता पढ़ा करता था। उसके पोते ने अपने दादा के आचरण को देख कर निर्णय किया कि वह भी प्रतिदिन गीता पढ़ेगा। काफी समय तक धैर्यपूर्वक गीता पढ़ने के पश्चात् एक दिन वह एक शिकायत लेकर अपने दादा के पास आया। बोला, 'मैं प्रतिदिन गीता पढ़ता हूं; किंतु न तो मुझे कुछ समझ में आता है और न ही उसमें से मुझे कुछ स्मरण रहता है। तो फिर गीता पढ़ने का क्या लाभ?'

दादा के हाथ में वह टोकरी थी, जिसमें कोयले उठाए जाते थे। उन्होंने टोकरी अपने पोते को पकड़ा दी और कहा, 'जाओ, इस टोकरी में नदी से जल ले आओ।'

पोते ने जाकर नदी से जल भर लिया; किंतु नदी से घर तक आते-आते सारा पानी बह गया। टोकरी खाली की खाली थी।

दादा ने कहा, 'तुम ने आने में देर कर दी। अब जाओ और पानी भर कर जल्दी लौटो।' पोता गया और टोकरी में पानी भर कर भागता-भागता घर आया। किंतु कितनी भी जल्दी करने पर घर तक आते-आते टोकरी का सारा पानी बह गया; और टोकरी खाली हो गई।

पोते ने कहा, 'दादा जी। कोई लाभ नहीं है। टोकरी में पानी भर कर नहीं लाया जा सकता।'

दादा हँसे, 'ठीक कहते हो, टोकरी में पानी संचित नहीं किया जा सकता। किंतु टोकरी का रूप-रंग देखो। उसमें पानी भरने से कोई अंतर आया है?'

पोते ने टोकरी देखी : कोयलों के संपर्क से वह काली हो गई थी। किंतु दो ही बार पानी लाने से उसके भीतर-बाहर से कालिमा धुल गई थी; और वह साफ-सुथरी हो गई थी।

'गीता तुम्हारी समझ में आए न आए, स्मरण रहे न रहे; किंतु जो प्रभाव जल का टोकरी पर हुआ है, वही प्रभाव गीता का तुम्हारे मन पर होता है।'

पोता नियमित रूप से गीता पढ़ता रहा।

संयोग ही था कि मैं शास्त्री जी की 'गीता परिक्रमा' के दूसरे खंड संबंधी काम कर रहा था। यह कथा पढ़ कर मेरा ध्यान शास्त्री जी की आस्था पर गया। मैं अनुभव कर रहा था कि अनेक बार गीता पढ़ने और उसके बहुत सारे भाष्य देख जाने के पश्चात् भी वह मेरे लिए एक पुस्तक ही थी, जिसमें अनेक अनमोल सिद्धांतों और सत्यों की चर्चा थी। वह मेरे लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी; किंतु थी एक पुस्तक ही। किंतु शास्त्री जी की आस्था का प्रभाव मेरे लिए गीता का अर्थ बदल रहा था। वह मात्र पुस्तक नहीं थी, वह स्वयं भगवान् का वक्तव्य था, उनका कथन था, मानव हित के लिए उनका संदेश था। यह प्रक्रिया कुछ ऐसी थी जैसे बचपन से रामकथा सुनते और पढ़ते आए थे। प्रत्येक रामकथा में यह उल्लेख है कि राम जी ने लंका जाने के लिए रामेश्वरम् में भगवान् शिव की पूजा कर, समुद्र पर एक सेतु बनवाया। उसे कहीं-कहीं नल-सेतु भी कहा गया है। स्वामी विवेकानन्द की जीवनी पढ़ते हुए और 'तोड़ो कारा तोड़ो' लिखते हुए, यह चर्चा भी पढ़ी कि उनके समय में अर्थात् आज से केवल एक शताब्दी पूर्व, रामेश्वरम् जिस रियासत का अंग था, उसका नाम रामनाड अर्थात् 'राम का देश' था। तमिलनाड का वह जिला आज भी 'रामनाड' ही है। स्वामी जी रामनाड के राजा से मिले। राजा का नाम भास्कर सेतुपति था। १९६० ई. तक तो धनुषकोडि स्टेशन भी था। इतना कुछ होने पर भी कभी राम-सेतु के संबंध में वैसे विचार नहीं उठे, जैसे नासा द्वारा खींचे गए चित्र को देख कर उठे। उस चित्र को देख कर राम-सेतु एक जीवंत अस्तित्व के रूप में मन में बैठ गया। वह ऐतिहासिक निर्माण के रूप में सामने आया। जैसे ताजमहल एक भवन है, जैसे कुतुब मीनार एक मीनार है, वैसे ही रामसेतु समुद्र के बीच में बनाया गया एक सेतु है, जो रामकथा को कथा से इतिहास बना देता है। श्रीराम की कथा पौराणिक कल्पना न हो कर जीवन्त इतिहास हो जाती है। ठीक वैसे ही शास्त्री जी की गीता के प्रति आस्था, श्रीकृष्ण की वाणी को, सहस्रों वर्षों की धुंध को चीर कर जीवन्त कर देती है। इस आस्था ने मुझे संकुचित ही नहीं, लज्जित भी किया कि मैंने उस वाणी को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी उसका वह महत्व नहीं समझा, जिसकी वह अधिकारिणी है। अपनी इस धरोहर के प्रति एक प्रकार की उपेक्षा का अपराध हम करते ही रहे हैं, कर रहे हैं। शास्त्री जी की आस्था, उनके शब्द, उनकी भंगिमा हमारी उस उपेक्षा को क्षार कर देती है। गीता का अर्थ बदल जाता है, कहना

चाहिए कि गीता का कुछ और ही अर्थ प्रकाशित होने लगता है। वह अर्थ या वह आस्था पाठक को भी एक प्रकार से, एक उच्चतर धरातल पर स्थापित कर देती है। स्वामी विवेकानन्द की एक अमरीकी शिष्या ने लिखा था कि स्वामी जी के व्याख्यान के आरंभिक कुछ वाक्यों तक अपनी चेतना रहती है; और उसके पश्चात् जैसे स्वामी जी की शक्ति श्रोता की चेतना का अधिग्रहण कर लेती है और अपने समकक्ष धरातल तक उठा ले जाती है। व्याख्यान के पश्चात् चाहे हमें यह स्मरण रहे न रहे कि उन्होंने क्या कहा, किंतु इतना स्पष्ट हो जाता है कि हम वह नहीं रहे, जो हम थे। हम उससे कुछ ऊपर उठ चुके हैं। यह भी कोयले की टोकरी के धुलने जैसा ही कुछ है।

संयोग ही है कि इधर इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति शंभुनाथ श्रीवास्तव का वह ऐतिहासिक निर्णय* आ गया, जिसमें उन्होंने गीता को राष्ट्रीय धर्मशास्त्र की मान्यता दिये जाने की बात कही है। उसे किसी एक पंथ का नहीं बल्कि सभी धर्मों का निचोड़ और स्वतंत्रता संग्राम में भी प्रेरक भूमिका निभाने वाला कहा गया है। न्यायमूर्ति श्रीवास्तव के विचारों का अत्यंत संक्षेप में उल्था इस प्रकार किया जा सकता है —

यद्यपि भारत सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक दृष्टि से सदा से एक ही रहा है; और धर्म की अवधारणा से शासित होता रहा है पर राज्यों की दृष्टि से वह अनेक राजाओं के अधीन रहा है। महाभारत के युद्ध में भारत के सारे ही राजा सम्मिलित हुए। यह भारत की एकता का ही प्रमाण है। युद्ध को रोकने के सारे प्रयत्नों के बाद भी धर्म और अधिकार की स्थापना के लिए युद्ध हुआ। भगवान् कृष्ण ने इसी युद्ध में मानव जाति को गीता का ज्ञान दिया।

श्रीकृष्ण और गीता का महत्त्व इन तथ्यों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारी मुहम्मद बिन कासिम (७१२ ई.) और उसके पश्चात् मुहम्मद गज़नवी, मुहम्मद गौरी, बाबर, तैमूर, अहमदशाह अब्दाली तथा अंग्रेजों के आक्रमण के पश्चात् भी हिंदू समाज ने कभी स्वयं को पराजित नहीं माना और १३०० वर्षों तक स्वतंत्रता का अपना संघर्ष जारी रखा। हिंदू समाज ने इन विदेशी शासकों से सामाजिक, राजनीतिक, और धार्मिक मोर्चे पर संघर्ष किया। कृष्ण की गीता ने इस संपूर्ण देश को स्वातंत्र्य संघर्ष के लिए निरंतर प्रेरित किया। इसने सारे राष्ट्र को पुनः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के आधार पर धर्म (न्याय) की स्थापना के लिए प्रेरित किया। उस संघर्ष में गीता सारे राष्ट्र को एकसाथ बाँधने वाली शक्ति थी और आज भी

---

*श्यामल रंजन मुखर्जी बनाम निर्मल रंजन मुखर्जी एवं अन्य
सिविल मिस्लेनियस पिटीशन नं. ५६४४७ वर्ष २००३ : निर्णय दिनांक ३०.०८.२००७

वह पथप्रदर्शक है। भारतीय समाज ने ७१२ ई. से १८५७ ई. तक इन विदेशी शासकों से राजा दाहिर, पृथ्वीराज चौहान, बहराइच के राजा सुहैलदेव, राणा सांगा, महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, गुरु गोविंदसिंह, रानी दुर्गावती, रानी अहल्या बाई, रानी राजमणि, रानी लक्ष्मी बाई, रानी अवंती बाई, तांत्या टोपे, कुंवर सिंह, मंगल पांडेय और लाखों-लाख योद्धाओं के नेतृत्व में सशस्त्र राजनीतिक युद्ध किया। उसके पश्चात् गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, वीर सावरकर, सरदार वल्लभ भाई पटेल, सुभाषचंद्र बोस, सरदार भगत सिंह, चंद्रशेखर आज़ाद, रामप्रसाद बिस्मिल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, राजगोपालाचारी और महात्मा गाँधी जैसे लोग भारत के विभिन्न प्रदेशों और क्षेत्रों से आए। वे सब गीता के कर्मयोग से प्रेरित थे। इसलिए वे परिणाम की चिंता के बिना संघर्ष करते रहे।

हिंदू समाज ने यह स्वतंत्रता संग्राम सशस्त्र विरोध के अतिरिक्त सामाजिक और धार्मिक धरातल पर भी जारी रखा। वे धर्म को स्थापित करने के लिए लड़े और लड़ते रहे। इसमें संतों, बुद्धिजीवियों, चिंतकों, साहित्यकारों और दार्शनिकों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, जिन्होंने हिंदू समाज को एकजुट रखा और उन्हें विदेशी मुसलमान और ईसाई आक्रमणकारियों से संघर्ष करते रहने की प्रेरणा देते रहे। गणना की जाए तो उनकी संख्या सशस्त्र योद्धाओं से कहीं अधिक निकलती है। राजनीतिक इच्छाशक्ति और सहायता के अभाव में भी वे हिंदू विरोधी शक्तियों से जूझते रहे। वे आज भी अपना संघर्ष चला रहे हैं, यद्यपि यह भी सत्य है कि आज आठ प्रदेशों में हिंदू अल्पसंख्यक हो चुके हैं।

इन १३०० वर्षों में और आज भी यह संघर्ष धर्म की स्थापना के लिए है और उसकी मूल प्रेरणा भगवद्गीता है। गीता ने धर्म की स्थापना के लिए हमें 'योग' का मंत्र दिया और यह योग तीन प्रकार का है– कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, रामप्रसाद बिस्मिल, लाला लाजपत राय, चंद्रशेखर आज़ाद, भगत सिंह, सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गाँधी और विनोबा भावे गीता पढ़ते रहे, लोगों को पढ़ाते रहे और आजीवन उसपर चलने का प्रयत्न करते रहे।

'गीता रहस्य' की भूमिका में लिखा है– स्वर्गीय श्री बाल गंगाधर तिलक आध्यात्मिक और बौद्धिक अतिमानव थे। वे भारतीय इतिहास में एक महामानव रहे हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि वे दार्शनिक अधिक थे अथवा राजनीतिज्ञ। उनकी राजनीतिमत्ता का आधार गीता का कर्मयोग ही था। उन्होंने अपने जीवन में जिन नैतिक सिद्धांतों को स्वीकार किया, वे गीता द्वारा ही स्थापित किए गए हैं। वस्तुतः गीता के

सिद्धांत ही उनके जीवन के प्रकाशस्तंभ रहे हैं। यदि इस बात की तुलना की जाए कि जो कुछ उन्होंने भारत के लिए किया और जो कुछ उन्होंने 'गीता रहस्य' में स्थापित किया, तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनकी कथनी और करनी में भेद नहीं था। जो कुछ 'गीता रहस्य' में स्थापित किया, उसी का आचरण अपने जीवन में किया। उनकी राजनीतिक गतिविधि उनके सार्वभौमिक लोकमंगल का ही कार्यान्वयन था, जो कि उनके अनुसार गीता द्वारा कर्म-योग के रूप में प्रचारित किया गया है। वे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के युग में एक महर्षि थे।

गीता के उपदेश को किसी एक चिंतक अथवा चिंतकों की एक परंपरा ने सोच कर किसी तात्विक आध्यात्मिक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। यह उस परंपरा के परिणाम स्वरूप स्थापित किया गया है, जो मानव जाति के आध्यात्मिक जीवन से उत्पन्न हुई है। यह एक ऐसे समर्थ द्रष्टा के द्वारा प्रतिपादित की गई है, जो न केवल सत्य को उसके अनेक पक्षों और आयामों में देखता है, वरन् उसकी रक्षणात्मक शक्ति में विश्वास भी करता है। यह हिंदुओं के किसी पंथ का प्रतिनिधित्व नहीं करती, वरन् समग्र हिंदू चिंतन को प्रस्तुत करती है। केवल हिंदू धर्म को ही नहीं, वरन् देश-कालातीत सार्वभौमिक धर्म को, उसके संश्लेषण को सारे संतों की सर्जनात्मक साक्षी के साथ स्वीकार करती है। गीता में प्रस्तुत किया गया अस्तित्व का स्वरूप, सर्वकालिक आदर्शों की मूल व्यवस्था और संदेश, सृष्टि के रहस्यों को बुद्धि और तर्क से प्रकाशित करने की विधि, हमें वह आधार प्रदान करती हैं जिसके संज्ञान से बुद्धि और आत्मा का सामंजस्य होता है। यह सामंजस्य सभ्यता के विकास से एक हो गए विश्व का सह-अस्तित्व बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

गीता में स्थान-सापेक्ष और सामयिक सामग्री बहुत कम है। इसका प्रतिपाद्य अतिगंभीर, सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। और जो सामयिक और स्थानीय है, उसे भी बड़ी सुविधा से सार्वभौम बनाया जा सकता है। गीता किसी एक पंथ का ग्रंथ नहीं है। वह किसी एक चिंतन धारा द्वारा प्रसूत नहीं है। कृष्ण का संदेश है कि सारे मार्ग मुझ तक ही आते हैं।....

न्यायमूर्ति शंभुनाथ श्रीवास्तव ने बहुत विस्तार से गंभीरतापूर्वक इस विषय को सप्रमाण प्रस्तुत किया है। यह एक गंभीर विषय है, जिसपर हम सब को विचार करना चाहिए। यह ग्रंथ पांच सहस्र वर्षों से इस देश-शरीर में रक्त के समान बह रहा है और उसे हर प्रकार की ऊर्जा प्रदान कर रहा है, यह ग्रंथ इस देश का मस्तिष्क कहा जा सकता है और इस देश के अद्वैत सिद्धांत के समान सबको समान मानता है। सबको

समान अधिकार, अपनी रुचि के अनुसार धार्मिक विश्वास और धर्म की स्थापना का आग्रह — गीता की ये विशेषताएं, उसे सर्वाधिक जनवादी और जनतांत्रिक ग्रंथ बना देती हैं। हमें उसको इन सारे पक्षों से देखना और समझना चाहिए।

****

मेरा ध्यान इस ओर भी गया कि इतने गंभीर और गहन विषय के होते हुए भी शास्त्री जी का विनोद बीच-बीच में अपना सिर उठाता ही रहता है। वे अपने स्वभाव के अनुसार सहज रहते हैं और पाठक को भी सहज बनाए रखते हैं। किंतु उनके विनोद में भी कहीं अविनय का भाव नहीं आता।

वे इतने विनीत थे कि 'विनय' के उपमान ही हो गए। उनकी विनय के सामने मैं नतमस्तक हूं; किंतु फिर भी जब ये अपनी आस्थाओं के विरुद्ध घोषणाएं पढ़ते और सुनते हैं तो विनोद में ही सही; किंतु तीखा विरोध करते हैं : "नीत्शे ने कहा, 'ईश्वर मर गया। परमात्मा मर गया।' " अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए शास्त्री जी पूछते हैं, "अरे भैया, तुमने उसकी लाश देखी ? पोस्टमार्टम कर के बताया कि यह परमात्मा ही था कि किसी और को तुम परमात्मा समझ कर, मृत घोषित कर रहे हो? किसी के मारे परमात्मा मरता नहीं। परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

इसी प्रकार वे कहते हैं "समस्त प्राणियों के भीतर प्रभु हैं। तो क्या प्रभु एक गेंद हैं, जिन्हें एक थैली के भीतर रख दिया गया है।" यह परिहास यह समझाने के लिए है कि ईश्वर की व्याप्ति का क्या अर्थ है। वे ऐसा उदाहरण देते हैं, जिसे हम न भूल पाएं और अप्रभावित हुए बिना भी न रहें। ईश्वर सारी सृष्टि में व्याप्त है, तो "जो कपड़ा हम पहनते हैं, उसी को हम धोते हैं पीट-पीट कर। उस कपड़े में भी राम जी हैं।" इस वाक्य के स्मृति में आते ही कपड़ा धोते हुए हमारे हाथों में एक प्रकार की मृदुलता आ जाएगी। मन में स्नेह जाग उठेगा। इसी प्रकार वे एक गंभीर बात को विनोदी ढंग से कह रहे हैं : "ऋषि तो वही है, जो अपनी बात कहे। सबने अलग-अलग बातें कही हैं।" यह विनोद है; किंतु एक बड़े सत्य को व्यक्त करता है कि ऋषि अथवा बुद्धिजीवी, मौलिक बात कहता है। किसी का अनुकरण मात्र नहीं करता। इसलिए प्रायः वह किसी से सर्वथा सहमत नहीं होता।

****

उनके प्रवचनों को पढ़ कर शास्त्री जी की कुछ विशेषताएं ध्यान में आती हैं। जहां जो विषय आ जाए, वे केवल उसका स्पष्टीकरण ही नहीं करते, उसके संबंध में जो सामग्री जहां कहीं भी मिलती है, उसे वहां एकत्र कर देते हैं। 'निमित्त' का प्रसंग

आया तो रामचरितमानस में ही नहीं, सारे भक्त कवियों में जहां-जहां 'निमित्त' की चर्चा है, वह सारी चर्चा शास्त्री जी ने अपने श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत कर दी। मैं इसे महाभारत की शैली मानता हूं। महाभारतकार को भी किसी विषय पर कुछ कहना होता है तो वह कथा को वहीं रोक कर उस विषय का सारा ज्ञान एकत्रित कर देता है। यही कारण है कि महाभारत में 'श्रीमद्भगवद्गीता' 'अनुगीता' और 'विदुर नीति' जैसे ग्रंथ तैयार हो गए। युद्ध की समाप्ति पर पांडव अपने पितामह के पास गए और धर्मराज ने राजनीति संबंधी कुछ प्रश्न पूछे तो एक विराट ग्रंथ ही तैयार हो गया। व्यास इस बात से चिंतित नहीं होते कि धर्मराज सम्राट भी रह चुके हैं, उन्हें छोटी-छोटी बातें क्यों बताई जाएं, या फिर पितामह गंभीर रूप से घायल हैं, अपनी उस शारीरिक पीड़ा में वे इतना सब कैसे बताएंगे और क्या बताना चाहेंगे। उन्हें अपने समय तक का सारा राजनीतिक चिंतन प्रस्तुत करना है। अवसर मिलते ही उन्होंने वह कर दिया।

शास्त्री जी व्याकरण की दृष्टि से भी अर्थ को परखते हैं। रसों और छंदों की ओर भी उनका ध्यान जाता है। उन्होंने बीभत्स रस और करुण रस इत्यादि की चर्चा भी यथास्थान कर दी है। वस्तुतः गीता एक विराट काव्य का अंग है; और स्वयं भी 'गीता' है। वह भगवान् द्वारा गाई गई है। अतः उसमें काव्य और संगीत तत्व का होना अनिवार्य है। तो शास्त्री जी उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते थे।

****

'गीता-परिक्रमा' के इस खंड में श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें से बारहवें अध्याय तक की सामग्री पर शास्त्री जी के प्रवचनों का संकलन है। सप्तम अध्याय है 'ज्ञान-विज्ञान योग'। किंतु शास्त्री जी ने अपने प्रवचनों के शीर्षक वे ही नहीं रखे हैं, जो गीता के अध्यायों के शीर्षक हैं। वे उसका सार निकाल कर, मूल प्रतिपाद्य को ही शीर्षक के रूप में स्वीकार करते हैं, ताकि वह शास्त्रीय शब्दावली से भिन्न होकर, पाठक और श्रोता के अपने शब्द-भंडार और अनुभव संसार के अंग के रूप में चित्रित हो और उसे समझने में कोई कठिनाई न हो।

इसी नीति के अंतर्गत पहले प्रवचन को *'माया और उससे पार जाने के साधन'* कहा गया है। इसी से प्रश्न उठता है कि माया क्या है? यदि माया को जानना है तो फिर उसके स्वामी को भी जानना होगा। इसी से हम एक प्रकार से सृष्टि के मूल रहस्यों संबंधी प्रश्नों के आमने सामने खड़े हो जाते हैं। ब्रह्म का स्वरूप क्या है? वह जब प्रकट होता है तो उसका रूप क्या होता है? और उसके प्रकट होने की प्रक्रिया का रूप क्या है?

इन प्रश्नों के उत्तरों के संदर्भ में ही भगवान् ने अर्जुन से कहा कि मैं तुम्हें ज्ञान और विज्ञान दोनों के विषय में कहूँगा। ज्ञान और विज्ञान को स्पष्ट करते हुए शास्त्री जी ने अनेक बातों की ओर हमारा ध्यान खींचा है।

क. जो कुछ हमने जाना है, वह ज्ञान है; और वह हमारे आचरण में उतर आए, वह विज्ञान है।

ख. उस 'एक' के अनेक होने की प्रक्रिया को जान लेना विज्ञान है; और इस सृष्टि के असंख्य नामरूपों के भीतर एक ही तत्व विद्यमान है, इसका बोध हो जाना ज्ञान है।

ग. वह जो त्रिगुणातीत है, सर्वव्यापी है, वह कैसे अनेक हो गया। उस एक तत्व का अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना, साक्षात् अनुभव का लेना ही ज्ञान-विज्ञान है।

ज्ञान परमात्मा का बोध है। अद्वैत सत्ता, जो सत् है, चित् है, आनन्द है, अद्वैत है, उसका बोध — यह तो है ज्ञान। वही सत्ता बहु हो गई है, अनेक रूपों में उसी की अभिव्यक्ति है, और ये सब उसी भगवान् के ही रूप हैं — यह है, विज्ञान।

इसी संदर्भ में उन्होंने अत्यंत विस्तार से स्पष्ट किया है कि अधिष्ठान का ज्ञान होने पर, उस पर आश्रित सबका ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म इस प्रकृति का निमित्तोपादान कारण है। वही स्वयं को सृष्टि, प्रकृति अथवा माया के रूप में प्रकट करता है। सांख्य दर्शन और अद्वैत में प्रकृति और पुरुष (ब्रह्म) का संबंध एक जैसा नहीं है। गीता अद्वैत दर्शन के अनुरूप प्रकृति को ब्रह्म के अधीन मानती है। वस्तुतः ब्रह्म स्वयं ही प्रकृति के रूप में प्रकट होते हैं। रामकृष्ण परमहंस ने स्वामी विवेकानन्द से कहा था, "तू जिसे ब्रह्म कहता है, उसे ही मैं मां कहता हूं। जब वह निष्क्रिय है तो ब्रह्म है और सक्रिय है तो माता प्रकृति है।" इस रूप में परमात्मा जब अज्ञान का विषय बनता है तो सृष्टि हो जाता है। सारी व्याधियों की जड़ है—मोह। उस मोह को जीतना होगा। मोह को वही जीत सकता है, जो ईश्वर को प्राप्त कर ले। ईश्वर को प्राप्त कैसे किया जाए? अपने बल पर अथवा ईश्वर के आश्रय में, उनकी शरण में जाकर। अपने बल पर जीतना कठिन है। उनकी शरण में ही जाना होगा। उसी को भक्ति कहते हैं। कृष्ण कहते हैं कि मेरा सबसे प्रिय भक्त वह है, जिसने अपनी अंतरात्मा मुझे दे दी है। वह कैसे होगा। भगवान् कहते हैं—अपना प्रेम मुझे दो। अपनी आसक्ति मुझे दो। अपना मन और बुद्धि मुझ में लगा दो।

मुझे स्वामी विवेकानन्द की एक उक्ति स्मरण हो आती है। उन्होंने कहा था कि केवल किसी सिद्धांत, व्यक्ति अथवा ग्रंथ पर आस्था प्रकट कर देना ही हिंदुत्व नहीं है।

हिंदू वह है, जो निरंतर ईश्वर की खोज करता है, उन्हें जानने का प्रयत्न करता है, उनके निकट जाने का प्रयत्न करता है और अंततः उनमें समा जाता है। इस रूप में तपस्या अथवा भक्ति क्या है? जिस ब्रह्म से यह जीवात्मा पृथक् हुआ है, वापस उसी के पास पहुंचना और उस अलगाव को समाप्त करना ही भक्ति भी है और मुक्ति भी।

दूसरा प्रवचन *'शरणागतों (भक्तों) की कोटियाँ'*, पहली स्थापना तो यह करता है कि भक्ति और शरणागति में कोई अंतर नहीं है। भगवान् की शरण में जाना ही भक्ति है; और बिना उनकी शरण में गए, भक्ति हो नहीं सकती। गीता में चार प्रकार के भक्तों की चर्चा है—

पहली कोटि में आर्त भक्त आते हैं। वे अपना दुःख दूर करने के लिए प्रभु के सम्मुख रोते और गिड़गिड़ाते हैं। यह सकाम भक्ति है; स्वार्थ-सिद्धि के लिए ईश्वर के सम्मुख याचक के रूप में प्रस्तुत होना। यह श्रेष्ठ भक्ति नहीं मानी जा सकती। विनोबा भावे ने कहा है कि याचना अनुचित है; किंतु संतोष यही है कि वह भक्त ईश्वर से याचना कर रहा है, किसी और से नहीं। आज याचना के लिए प्रभु के सम्मुख जाता है, कल बिना याचना के भी जाएगा। किंतु ऐसे भक्त भी हैं, जो ईश्वर के दर्शनों के लिए रोते-तड़पते हैं। गोपिकाएं और मीरा, ऐसे ही भक्त हैं। वे आर्त हैं किंतु उनकी भक्ति निष्काम है। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्त भक्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं। रामकृष्ण परमहंस अपने शिष्यों को एक कथा सुनाया करते थे—

एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा, 'गुरु जी ईश्वर के दर्शन कब होते हैं?'

गुरु ने कहा, चलो बताता हूँ। वे उसे एक सरोवर के तट पर ले आए। आदेश दिया कि वह स्नान के लिए, सरोवर में उतर जाए। शिष्य सरोवर में कूद गया। गुरु भी साथ-साथ आ गए। अकस्मात् ही उन्होंने उसकी गर्दन पकड़ कर उसे पानी में डुबो दिया। शिष्य ने बहुत परिश्रम कर अपने सिर को जल से ऊपर उठाया। गुरु ने पुनः उसकी गर्दन को जल में डुबो दिया। इस बार शिष्य सांस लेने के लिए तड़प उठा। उसने गुरु को जोर का धक्का देकर स्वयं को उनसे मुक्त कर लिया और जल से बाहर आ गया। श्वास ठीक हुआ तो उसने क्रुद्ध स्वर में गुरु से पूछा, 'यह आप क्या कर रहे थे? मुझे मार डालना चाहते थे?'

'क्यों क्या हो गया?' गुरु ने शांत भाव से पूछा।

'श्वास के बिना मेरे प्राण निकल रहे थे।'

गुरु हँसे, 'जिस क्षण ईश्वर के विरह में इसी प्रकार तुम्हारे प्राण निकलने लगेंगे, उसी क्षण ईश्वर तुम्हें दर्शन दे देंगे।'

यह आर्त भक्त की ईश्वर के विरह में तड़पने की चरम सीमा है।

दूसरी कोटि 'जिज्ञासु' भक्त की है। वह भगवान् के विषय में जानना चाहता है। अधिक से अधिक जानना चाहता है। उसे जानने के लिए तड़प रहा है। उसे जानने के लिए आकाश पाताल एक कर रहा है। वह पूछता है तो उनके विषय में; खोजता है तो उनको; निकट जाना चाहता है, तो उनके। वह जिज्ञासु है।

तीसरी कोटि अर्थार्थी भक्त की है। ऐसा भक्त अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए, विभिन्न देवताओं की पूजा, आराधना करता है। यह भी सकाम भक्ति है। आर्त से भिन्न है। आर्त कष्ट में है, केवल अपने कष्ट से मुक्ति चाहता है; किंतु आवश्यक नहीं कि अर्थार्थी भी कष्ट में हो। वह ऐश्वर्य में रह कर भी अर्थार्थी हो सकता है। जितनी सांसारिक सुख-संपत्ति उसके पास है, वह उससे भी अधिक चाहता है; इसलिए वह विभिन्न देवताओं के द्वार पर माथा टेक कर उनसे याचना करता है। भगवान् किसी भक्त की देवताओं के प्रति श्रद्धा को खंडित नहीं करते।

चौथा वर्ग ज्ञानी भक्तों का है। वे ईश्वर को जान चुके हैं। सांसारिक भोगों की निस्सारता से उनका परिचय हो चुका है। जो सारी कामनाओं को लांघ कर, सारा ज्ञान प्राप्त कर, भगवान् से प्रेम करते हैं, वे ज्ञानी भक्त हैं। वे पूर्णतः निष्काम भक्त हैं। शास्त्री जी ने अपने गुरु स्वामी अखंडानंद से सुनी एक कथा का उल्लेख किया है। भगवान् ने 'आह' का निर्माण किया। वह सुंदर और आकर्षक थी; किंतु वह जिसके पास भी गई, उसने उससे विवाह करने से मना कर दिया। वह अत्यंत दुखी हो कर भगवान् के पास आई और बोली, 'यदि मुझे कुंवारी ही रखना था तो मेरा निर्माण ही क्यों किया? भगवान् ने दया कर उसके पहले 'च' जोड़ दिया। वह 'आह' से 'चाह' हो गई और उसे पाने वालों की भीड़ जमा हो गई। निष्काम और सकाम कर्म के संदर्भ में यह कथा बहुत महत्त्वपूर्ण है। सकाम कर्म ऊपर से 'चाह' के समान आकर्षक है; किंतु उसकी मूल प्रकृति 'आह' की ही है। कामना अंततः कष्ट की ओर ही ले जाती है।

इस प्रकार भगवान् के भक्तों अथवा शरणागतों की चार श्रेणियां हैं; किंतु उनमें पूर्णतः निष्काम तो ज्ञानी भक्त ही हैं। आर्त और जिज्ञासु भक्त भी निष्काम हो सकते हैं, यदि वे केवल भगवान् को ही चाहते हों, केवल ईश्वर की खोज में ही निकले हों।

जीवात्मा, परमात्मा से पृथक् हो कर प्रकृति की माया में फँस गया है। वह आत्मा जो स्वयं आनन्दस्वरूप है, माया के जाल में फँस कर अपने स्वरूप को भूल कर, दुख उठा रही है। उन दुखों से मुक्त होने का एक ही मार्ग है कि वह वापस प्रभु के पास जा पहुँचे। उसके लिए आवश्यक है कि वह माया का जाल काट दे। उसका

एकमात्र मार्ग ईश्वर की भक्ति है। तब प्रश्न उठता है कि जीव तो ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करे, किंतु क्या प्रभु उपलब्ध भी हैं?

'गीता-परिक्रमा' का चौथा प्रवचन है, *'प्रभु सुलभ हैं।'* हमारे आस-पास ऐसे अनेक लोग मिल जाते हैं, जो यह कहते हैं, कि वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते। वे ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते; और शास्त्री जी गीता के आधार पर कह रहे हैं कि प्रभु का केवल अस्तित्व ही नहीं है, वे सुलभ भी हैं। हम चाहें तो उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। स्वयं कृष्ण बता रहे हैं कि उन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है। पहला मंत्र है, 'माम् अनुस्मर।' प्रायः भाष्यों में अनुस्मर का अर्थ स्मरण करना ही किया गया है। कृष्ण कहते हैं, 'मुझे स्मरण कर।' किंतु शास्त्री जी ने स्मरण और अनुस्मरण में एक सार्थक अंतर किया है। स्मरण का अर्थ तो स्पष्ट ही है, फिर उसके पहले "अनु' जोड़ने की सार्थकता क्या है? शास्त्री जी ने इसका अत्यंत सुंदर स्पष्टीकरण किया है। पहले कोई स्मरण करता है, फिर अनुस्मरण किया जाता है। शास्त्री जी कहते हैं कि पहले परमात्मा जीव को स्मरण करता है, इसलिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि तुम मेरा अनुस्मरण करो। मैं तुम्हें पुकार रहा है; और तुम उसे सुनो और मेरी पुकार का उत्तर दो। परमात्मा प्रतिक्षण आत्मा को पुकार रहा है; और आत्मा अपने मोह में लिपटी उस पुकार को सुन नहीं पा रही है। हम किसी को पुकारते हैं और वह हमारी नहीं सुनता तो हम उसे अशिष्ट और अभद्र मानकर उससे रुष्ट हो जाते हैं। किंतु कृष्ण अनन्त काल से हमें पुकार रहे हैं; और हम हैं कि अपने जन्म जन्मांतरों में भी उनकी पुकार को अनसुना करते जाते हैं। फिर भी कृष्ण निराश नहीं हैं। प्रभु में निराशा का तत्त्व ही नहीं है। वे हमारी इस उपेक्षा की ओर ध्यान नहीं देते। वे कह रहे हैं, उस पुकार को केवल सुनो ही नहीं, उसका उत्तर भी दो। तभी तो प्रभु से संवाद स्थापित हो पाएगा। जितना संवाद स्थापित होगा, उतना ही संबंध घनिष्ठ होगा; और अंततः प्रेम सघन होगा, इस सीमा तक कि आत्मा परमात्मा में समा जाएगी।

नरेन्द्रनाथ दत्त दक्षिणेश्वर जाया करते थे और रामकृष्ण परमहंस को अपना गुरु भी मानते थे किंतु अभी 'ब्रह्म समाज' के प्रभाव में थे। अतः मूर्ति पूजा को स्वीकार तो नहीं ही करते थे, प्रतिमा को पुत्तलिका कहा करते थे। उनके कष्टों को देख कर रामकृष्ण परमहंस प्रायः उन्हें मां काली के मंदिर में जाने को कहा करते थे। एक दिन यहां तक कह बैठे कि तू माँ के राज्य में रहता है और उन्हें मानता नहीं है, तो कष्ट तो पाएगा ही। नरेन्द्रनाथ दत्त बोले, यह नहीं कि मैं मां को मानता नहीं, मैं तो उनको जानता ही नहीं हूँ। रामकृष्ण परमहंस ने उत्तर दिया, तो जा जानने का प्रयत्न कर। जान-पहचान बढ़ा।

यही जान-पहचान हमें प्रभु से बढ़ानी है। और गीता ने उसका पहला सूत्र दिया है, 'माम् अनुस्मर।' दूसरा सूत्र है, 'मय्यर्पितमनोबुद्धि।' अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर। मन और बुद्धि प्रभु को अर्पित करने का एक अर्थ समर्पण भी है; किंतु दूसरा स्पष्ट अर्थ है कि मन और बुद्धि कहीं और हों तो प्रभु से जान-पहचान कैसे होगी। शायद इसीलिए जब रामकृष्ण परमहंस से उनके शिष्यों ने कहा कि अपने रोग से मुक्त होने के लिए वे अपना ध्यान अपने कंठ के फोड़े पर केन्द्रित करें तो ठाकुर ने उत्तर दिया था कि जो मन ईश्वर को समर्पित कर चुका, उसे अपने रोग को समर्पित कैसे करूं? इसके विपरीत सांसारिक जन अपना मन और बुद्धि इंद्रिय भोग को समर्पित किए हुए हैं, वे उसे वहां से लौटा कर ईश्वर तक कैसे लाएं? डोंगरे जी महाराज 'इंद्रिय सुख' शब्द का प्रयोग नहीं करते। वे उसे 'इंद्रिय त्रास' कहते हैं। इंद्रियां हमें त्रस्त करती हैं तो हम उनका चारा ढूंढने निकलते हैं। इंद्रियों को उनका चारा मिलता है, वे प्रसन्न होती हैं तो हम मान लेते हैं कि इंद्रियां हमें सुख दे रही हैं। यहां कृष्ण कह रहे हैं कि अपने मन और अपनी बुद्धि को अपनी इंद्रियों के पंजे से मुक्त कर और मुझे समर्पित कर। यह तभी संभव होगा, जब हम बार-बार उनका अनुस्मरण करेंगे। जिस आत्मा ने परमात्मा की पुकार सुन ली, उसे फिर न अपने वस्त्रों का बोध रहा, न अपने शरीर का। उसने घनानन्द के समान ईरानी सिपाही के 'ज़र, ज़र, ज़र' (सोना, सोना, सोना) को पलट दिया और 'रज, रज, रज' (धूल, धूल, धूल) कह उठा।

इस अनुस्मरण में एकाग्रता है। विक्षिप्त मन से तो कोई सांसारिक कार्य भी नहीं हो पाता, ईश्वर प्राप्ति कहाँ से होगी। इसलिए पूरे मन से उनका विश्वास करना होगा, उनपर निर्भर रहना होगा। प्रायः ऐसा नहीं होता। हम कहते तो हैं कि हम प्रभु की शरण में हैं किंतु विश्वास हमें अपने और अपने संबंधियों के बल का ही होता है। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने अपने भक्तों से कहा कि बहुत कम लोग ईश्वर को मानते हैं। उनके भक्तों ने प्रबल प्रतिवाद किया कि सत्य यह नहीं है। प्रत्येक मंदिर, तीर्थ और दूसरे धर्मस्थल भक्तों से भरे रहते हैं, तो फिर स्वामी जी के ऐसा कहने का कारण क्या है? स्वामी जी ने कहा, 'यदि एक बार अपने मन में ईश्वर को बैठा लोगे, तो फिर झूठ बोल सकोगे क्या? रिश्वत दे सकोगे, ले सकोगे? चोरी कर सकोगे? परस्त्री पर वासना भरी दृष्टि डाल सकोगे?' नहीं, ऐसा नहीं कर सकोगे। इसलिए जब तक कोई ऐसा करता है, तब तक यही समझो कि वह ईश्वर पर विश्वास नहीं करता।

शास्त्री जी गीता के आधार पर यही कह रहे हैं कि पूरे तन-मन से, पूरी एकाग्रता से, समग्रता से, पूर्णता से ईश्वर की शरण में जाओ।

मुझे अपने एक पुराने परिचित का स्मरण हो आ रहा है। वे दार्शनिक थे या नहीं, दर्शन शास्त्र के आचार्य थे। भारत, इंग्लैंड और अमरीका में पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र विभाग के अध्यक्ष थे। गीता पर मुझ से चर्चा करते हुए, उन्होंने कहा था कि गीता में है क्या? एक अहंकारी मनुष्य कह रहा है कि सब कुछ छोड़ कर मेरी शरण में आ जाओ।

यह उनका दृष्टिकोण था। उनकी समझ थी। और मुझे भगवान् कृष्ण की वे उक्तियां स्मरण हो आ रही थीं, जहाँ उन्होंने कहा है, कि सामान्य जन मुझे इस शरीर में देख कर पहचान नहीं पाते। ये मुझ वासुदेव को साधारण मनुष्य ही मानते हैं।

ठीक कह रहे हैं कृष्ण। दर्शनशास्त्र के वे वामपंथी पंडित उन्हें अपने जैसा पार्टीबंद, संगठन खड़ा करने वाला, अपनी पार्टी की सदस्यता बेचने वाला, अपना नेतृत्व खड़ा करने वाला व्यक्ति ही समझ रहे हैं। वे जीवात्मा, आत्मा और परमात्मा के स्तर का अंतर नहीं पहचान पाते, या पहचानना नहीं चाहते। पूजा, प्रार्थना, अर्चना, उपासना हम करते हैं, तपस्या हम करते हैं, माथा हम टेकते हैं, तीर्थ-यात्रा कर अपने जूतों के तलुवे हम घिसते हैं, चढ़ावा हम चढ़ाते हैं पर आज तक कोई प्रमाण नहीं मिला कि हमारे चढ़ावे का लोभ है प्रभु को या हमारे चढ़ावे से प्रसन्न होकर वह पक्षपात करने लगता है। हम तो जानते हैं कि सब कुछ उसका ही है। हम उसके नाम का जप एक लाख बार कर लें तो क्या उसका यश फैल जाएगा? उसे पुरस्कार मिल जाएगा? वह अमर हो जाएगा?

हम जो कुछ करते हैं, अपने लिए करते हैं, या उसके लिए करते हैं? उसे स्मरण कर, उसके नाम पर तपस्या कर, हम स्वयं को स्वच्छ करते हैं, या उसकी पार्टी की सीटें बढ़ाते हैं। हमें यह सोचना होगा, भवसागर में हम फँसे हैं, या वह फँसा है? जन्म-मरण का चक्कर हमारे लिए कष्टकारी है, या उसके लिए? कर्मबंधन में हम बँधे हैं, या वह बँधा है? हम उसे कुछ दे सकते हैं, या वह हमें कुछ दे सकता है? लेना हम को है या उसे?

अर्जुन के माध्यम से, गीता सुधी भोक्ता के लिए कही गई। हमारे लिए कही गई है। हमारी सहायता के लिए, हमें मार्ग दिखाने के लिए। वैसे हम कुरुक्षेत्र में नहीं हैं; किंतु जीवन के कुरुक्षेत्र में अवश्य खड़े हैं। शास्त्री जी ने दो पंक्तियां उद्धृत की हैं—

सबको लड़ने ही पड़े अपने अपने युद्ध।
चाहे राजा राम हों, चाहे गौतम बुद्ध।।

प्रभु के आश्रय में जाने के अनेक मार्ग हैं। भक्ति की भी चर्चा है, कर्म की भी

और ज्ञान की भी। इन सबको कृष्ण ने योग की सीमा तक पहुँचा दिया है। वे भक्ति और योग में न अंतर मानते हैं, न विरोध। बात केवल एकाग्रता की है। वह एकाग्रता, भाव से हो, कर्म से हो, ध्यान से हो।

बनै तो रघुबर से बनै, कै बिगरै भरपूर।
तुलसी बनै जो और तें, ता बनिबे सिर धूर।।

इसलिए शास्त्री जी अपने अगले प्रवचन के शीर्षक के रूप में हमें परामर्श दे रहे हैं, *'अपना मार्ग चुनिये'।*

सामान्यतः भारतीय-अभारतीय सभी धर्मों में कुछ लोक-मान्यताएं हैं, जो जीवन से अधिक मृत्यूपरांत काल के संबंध में हैं। देहांत के पश्चात् मनुष्य की आत्मा कहां जाती है? इस प्रश्न के उत्तर में एक से एक सुखद और एक से बढ़कर एक कष्टदायक लोकों की कल्पना की गई है। अधिकांश लोग धर्म पर इसीलिए चलना चाहते हैं, ताकि वे इस लोक में सुखी रह सकें और मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग जैसे किसी लोक में सुख भोग सकें। इसी संदर्भ में शास्त्री जी ने गोस्वामी तुलसीदास का एक दोहा उद्धृत किया है—

को जाने को जमपुर जइहै, को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहि बहुत भलो लागत, जगजीवन रामगुलाम को।।

इस दोहे से हम यह भाव भी ग्रहण कर सकते हैं कि तुलसी मृत्यूपरांत विभिन्न लोकों के प्रति यह कह कर अविश्वास प्रकट कर रहे हैं 'को जाने'; और दूसरी ओर यह भाव भी हो सकता है कि तुलसी ने राम की भक्ति को इस प्रकार आत्मसात् किया है कि अब उनको किसी अन्य लोक, चाहे वह स्वर्ग ही क्यों न हो, की चिंता ही नहीं है। यह शरणागति, भक्ति या नित्ययुक्तता उनके जीवन का अंतिम लक्ष्य है। ऐसी अनन्यता की ही कामना भक्त करता है। यही भक्ति का चरम आदर्श है। शास्त्री जी ने इसी संदर्भ में दो और पंक्तियां उद्धृत की हैं—

तभी सफल आराधन होता, जब आराधक अपना रूप।
धीरे धीरे तजता जाता, बन जाता आराध्य स्वरूप।।

यह स्वामी विवेकानन्द द्वारा की गई हिंदू धर्म की परिभाषा के अत्यंत निकट ही नहीं, वही है। जो उसमें लय हो जाता है अथवा आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, उसके लिए फिर दूसरी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। शास्त्री जी ने कहा है, 'जो अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, उसके लिए दूसरी कोई सत्ता नहीं रह जाती। अनन्यता के होते ही शेष सारी सत्ताओं का लोप हो जाता है। यह अनन्या भक्ति तभी

सिद्ध होती है।' अद्वैत वेदांत मानता है कि अस्तित्व केवल ब्रह्म का ही है। दत्तात्रेय ने अवधूत गीता में कहा है–

'सबकुछ आत्मा ही है। भेदाभेद विद्यमान नहीं हैं।' मैं कैसे कह सकता हूं कि इसका अस्तित्व है, इसका नहीं है। मैं विस्मय से भरा हुआ हूँ।' (४/१ अवधूत गीता)

'इसमें कोई संदेह ही नहीं है कि मैं वह परमात्मा हूँ, जो सबकी निर्मल और शुद्ध आत्मा है – आकाश के समान।' (६/१ वही)

वस्तुतः मैं अव्यय, अनन्त, शुद्ध विज्ञान-विग्रह हूँ।' (७/१ वही)

'मैं, केवल अकेला मैं ही, यह सब कुछ हूं आकाश और उसके परे। मैं आत्मा को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में कैसे देख सकता हूँ।' (१०/१ वही)

स्वामी विवेकानन्द ने भी सहस्रद्वीपोद्यान में अपने शिष्यों से कहा था कि आंख सबको देख सकती है किंतु स्वयं अपने आप को नहीं देख सकती। इसलिए ब्रह्म को देख पाना संभव नहीं है।

तो गीता में ईश्वर तक जाने के दो मार्ग स्पष्ट हैं – पहला शुक्ल मार्ग और दूसरा कृष्ण मार्ग। उनके बहुत सारे लक्षण हैं। लोगों ने उसकी बहुत काल गणना की है; किंतु शास्त्री जी ने पहले को स्पष्ट रूप से शुद्ध भक्ति का मार्ग और दूसरे को भोग का मार्ग माना है। भक्ति का मार्ग शुक्ल मार्ग है; और भोग का मार्ग कृष्ण मार्ग है। इन दो मार्गों की चर्चा एक लंबी यात्रा के समान है। मार्ग में बहुत सारे सहायक और कठिनाइयां हैं।

किंतु एक छोटा मार्ग भी है, वह सरल भी है। उसपर चलने के लिए कृष्ण कह रहे हैं। वह एक प्रकार से उनका आदेश ही है — 'हे अर्जुन, सब समय योगयुक्त रहो। सीमित पुण्य कर्मों से असीम प्रभु की प्राप्ति नहीं होती, अतः इन सीमाओं से ऊपर उठकर असीम प्रभु से युक्त हो जाओ।' इस में सकाम कर्मों की निस्सारता की ध्वनि भी है। बात तो कार्य-कारण की है। असीम कार्य या असीम फल प्राप्त करना है, तो असीम कारण या कर्म भी करना होगा। असीम प्रभु को प्राप्त करने के लिए असीम भक्ति की आवश्यकता होगी। और वह तभी संभव है, जब हम उनके आदेश के अनुसार सदा योगयुक्त रहें। सदा प्रभु में अनुरक्त रहें।

इस सोपान पर आकर एक जिज्ञासा होती है कि जिस प्रभु को प्राप्त करना है, उसका स्वरूप क्या है? शास्त्री जी का अगला प्रवचन है, *'प्रभु का स्वरूप।'* ईश्वर के स्वरूप के संदर्भ में हिंदुओं में एक सामान्य सी उक्ति है कि ईश्वर कण-कण में व्याप्त हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रभु कण-कण के भीतर घुसे हुए हैं और कण

को तोड़ कर उनको बाहर निकाला जा सकता है। वस्तुतः अद्वैत वेदांत की मान्यता यह है कि प्रभु किसी वस्तु या पदार्थ के भीतर नहीं हैं। प्रभु ही उस वस्तु या पदार्थ के रूप में प्रकट हुए हैं। किंतु उनके स्वरूप को जानने के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि हमारी जानी हुई सृष्टि में ही प्रभु सीमित नहीं हैं। सत्य यह है कि उनके एक अंश मात्र में यह जगत् स्थित है। कबीर ने इस सारी अवधारणा को अत्यंत स्पष्टता से कहा है-

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहिं समाना, यह तत कथों ज्ञानी।।

वस्तुतः जब तक हम रूप और स्वरूप का अंतर स्पष्ट नहीं करेंगे, सत्य प्रकट नहीं होगा। जो भक्त है, जिज्ञासु है, वह रूप को देखता है, अतः वह कहेगा—

क. मया ततमिदं सर्वं *ख.* ईशावास्यमिदं सर्वम् और *ग.* सर्वं खल्विदं ब्रह्म

उनके स्वरूप को या तो वे स्वयं जानते हैं, या तत्वज्ञ ज्ञानी। परमात्मा या तत्वज्ञ की दृष्टि से यह सब है ही नहीं। सब माया है। न तो वे प्रकट हुए हैं, न उन्होंने अपना रूप बदला है। यह सब तो जीव की दृष्टि का भ्रम मात्र है। स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका में सहस्त्रद्वीपोद्यान में अपने शिष्यों से कहा था—

'संपूर्ण इंद्रिय ज्ञान एक भ्रांति है। इस तथ्य को भौतिक विज्ञान भी प्रमाणित करता है। हम किसी वस्तु को जिस प्रकार देखते या सुनते हैं, वह वैसी ही नहीं होती। एक विशेष प्रकार का स्पंदन, विशेष प्रकार के परिणाम को उत्पन्न करता है। वह परिणाम इंद्रियों पर अपना प्रभाव डालता है। वही हमारा इंद्रिय ज्ञान है। अतः हम केवल सापेक्षिक सत्य जान पाते हैं।'

"सत्य के लिए संस्कृत शब्द है 'सत्'। हमारी वर्तमान दृष्टि से जगत्प्रपंच, इच्छा और ज्ञानशक्ति के प्रकाश के रूप में प्रतीत होता है। सगुण ईश्वर स्वयं अपने लिए उतना ही सत्य है, जितने हम अपने लिए हैं, इससे अधिक नहीं। ईश्वर को भी उसी प्रकार साकार भाव में देखा जा सकता है, जैसे हमें देखा जा सकता है। जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हमें ईश्वर का प्रयोजन है; हम जब स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाएंगे, तब हमें ईश्वर का प्रयोजन नहीं रह जाएगा। इसलिए श्री रामकृष्ण परमहंस देव उस जगज्जननी को सदा-सर्वदा वर्तमान देखते थे। वे अपने आसपास की सभी वस्तुओं की अपेक्षा, उन्हें अधिक सत्य रूप में देखते थे। किंतु समाधि की अवस्था में उन्हें आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता था। सगुण ईश्वर क्रमशः हमारी ओर अधिकाधिक आता जाता है, अंत में मानों वह गल जाता है। उस समय न ईश्वर रह जाता है, न 'अहं'। सब उसी आत्मा में लय हो जाता है।"

गोस्वामी तुलसीदास ने इसे इस रूप में कहा है—

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोउ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपौ पहिचानै।।

अनासक्त भक्ति से ईश्वर के साथ एक हो जाने के पश्चात् द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य – सब एक हो जाते हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का तादात्म्य हो जाता है। किंतु जब तक मनुष्य उस स्थिति तक विकसित नहीं होता, तब तक भक्ति का रूप है — परम प्रेम। भक्त, ईश्वर पर इतना निर्भर है कि वह मानता है कि वह स्वयं अपने बल पर ईश्वर को नहीं जान सकता। उसके लिए ईश्वर की कृपा आवश्यक है — *'सोइ जानइ, जेहि देहु जनाई।'*

जब प्रभु की कृपा से ही उसको जानना है, तो उसको भजने की विधियों का ज्ञान प्राप्त करना होगा। शास्त्री जी के अगले प्रवचन का शीर्षक है— *'प्रभु भजन की विधियाँ।'* विधियों से भी पहले वे गीता में बताए गए दैवी और दानवी गुणों की चर्चा करते हैं। भक्त दैवी गुणों से युक्त होता है। दानवी गुण भक्ति की ओर प्रेरित नहीं करते। शास्त्री जी भक्ति के लिए अनिवार्य – अभय से विनय तक – छब्बीस दैवी गुणों की चर्चा करते हैं। ईश्वर भक्ति में दैवी संपदा 'अनन्यता' अत्यंत महत्त्वपूर्ण ही नहीं, प्रायः अनिवार्य है। अनन्य भक्त वह है, जो सारे संसार को अपने प्रभु के रूप में देखता है। अनन्य चित्त तो वही हो सकता है, जो प्रभु के अतिरिक्त और किसी की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता। वह नित्ययुक्त है। नित्ययुक्त रहने की अनेक विधियां हैं। पहले कीर्तन की चर्चा आती है। फिर ज्ञान-यज्ञ है। श्रेष्ठ ग्रंथों का अध्ययन और उनका प्रवचन भी तप है। यह वाणी की तपस्या है। भगवान् का भजन एक ही प्रकार से किया जाए, इसकी बाध्यता सनातन धर्म में नहीं है। भक्ति हो या ज्ञान-यज्ञ, दोनों के द्वारा ही अभेद की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा है—

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि।।

कुछ इसी प्रकार की उक्तियां दत्तात्रेय की 'अवधूत गीता' में भी मिल जाती हैं, जहां वे कहते हैं कि मेरे सिवाय यहां और है ही कौन? मैं किसको नमन करूं? रामकृष्ण परमहंस भी पूजा करते हुए अनेक बार मां को पुष्प अर्पित करते हुए, उन पुष्पों को अपने ही शीश पर डाल लेते थे। मां को अर्पित किया जाने वाला प्रसाद भी स्वयं खा लेते थे।

किंतु उस स्थिति तक पहुंचने से पहले भक्ति की आवश्यकता को गीता भी

रेखांकित करती है और शास्त्री जी भी उस पर बल देते हैं। प्रभु से कोई भी संबंध जोड़ कर उनकी भक्ति की जा सकती है। वे कहते हैं, 'जो संबंध तुम राम से जोड़ना चाहो, जोड़ो; किंतु फिर उसपर अटल रहो।' अंततः सारे रास्ते वहीं ले जाते हैं।

किंतु फिर भी शास्त्री जी का कहना है कि समर्पण के बिना भक्ति नहीं होती। ध्यातव्य है कि गीता के सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए शास्त्री जी, प्रायः उदाहरण रामचरितमानस से देते हैं। उससे वह सिद्धांत तो स्पष्ट होता ही है, साथ में यह बात भी ध्यान में आती है कि गीता और रामचरितमानस के प्रतिपाद्य में कोई विशेष अंतर नहीं है। जिन भी सिद्धांतों की चर्चा दोनों में है, वहां बिंब-प्रतिबिंब भाव है, या पूर्ण तादात्म्य है। प्रायः समर्पण के लिए भी शास्त्री जी ने रामचरितमानस से ही उदाहरण दिए हैं—

१. *गुर पितु मातु न जानउँ काहू, कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।*
जहँ लगि जगत् सनेह सगाई, प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी, दीनबंधु उर अंतरजामी। (अयो० ७१/४-६)

२. *सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।*
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।। (किष्कि. ३/०)

और गीता में श्रीकृष्ण उस भक्त के विषय में अपनी ओर से आश्वासन दे रहे हैं— *'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।'*

भक्ति को एक प्रकार का कर्म मान लिया जाए तो वह भी कर्म के समान ही सकाम और निष्काम हो जाती है। सांसारिक सुख की कामना सकाम भक्ति है; और स्वयं ईश्वर को पाने की कामना, निष्काम भक्ति है। सकाम भक्ति के लिए, लोग प्रतिदिन नए से नए देवता की खोज करते रहते हैं। विभिन्न देवी देवताओं, संतों-फकीरों की अपने-अपने प्रकार की प्रसिद्धि है। लोग उनसे उसी प्रकार की कामनाएं करते हैं। उनके मन में यह विचार नहीं आता कि जब वे अपनी कामनापूर्ति के लिए नए से नए देवता के द्वार पर माथा टेकते हैं तो वे अब तक पूजे गए देवताओं का तिरस्कार भी करते हैं। शास्त्री जी इस बात को रेखांकित करते हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं यह कहते हैं कि वे किसी भी भक्त की उसके अपने प्रिय देवता के प्रति आस्था को न निर्बल करते हैं न नष्ट। वे उसे पुष्ट ही करते हैं, क्योंकि उस देवता के माध्यम से वह भक्ति पुनः स्वयं श्रीकृष्ण तक ही पहुंचती है। फिर भी शास्त्री जी भक्ति की अनन्यता के उदाहरण स्वरूप तुलसीदास की पंक्तियां उद्धृत करते हैं — *'देहि मा मोहि पन प्रेम यह नेम निज, राम-घनश्याम तुलसी-पपीहा।'* तथा, *'मांगत तुलसिदास कर जोरे, बसहिं रामसिय मानस*

मोरे।' इन तथा ऐसी ही अन्य पंक्तियों में तुलसीदास किसी भी देवी-देवता की स्तुति करें, किंतु वे उनसे रामभक्ति ही मांगते हैं।

अगला प्रवचन *'अविकम्प योग'* है। श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में, ब्रह्मविद्या के परिधान में योगशास्त्र ही प्रकट हुआ है। इस प्रसंग में शास्त्री जी 'योग' का अर्थ 'भगवान् से जोड़ने की युक्ति' स्वीकार करते हैं।

यहाँ शास्त्री जी ने एक महत्त्वपूर्ण अर्थ को उद्घाटित किया है। गीता के 'विभूति योग' में भगवान् ने कहा है कि मैं वृक्षों में अश्वत्थ हूँ तो हम लोग पीपल की पूजा करने लगते है; 'विभूति' अर्थात् विशेष भावना। इस संसार में जो विभूतियां हैं, उन्हें हम समझ लें। भगवान् के विशेष रूप का अनुभव कर लें। भगवान् की क्षमता, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य इत्यादि का जहां विशेष रूप से अनुभव होता है, वह विभूति है। योग भगवान् का स्वरूप है, विभूति भगवान् का रूप है। जल योग है और बर्फ विभूति है। स्पष्ट है कि पीपल की पूजा करने से हम भगवान् के शब्दों को ठीक नहीं समझ रहे। ब्रह्म प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त ही नहीं है, ब्रह्म ही उस रूप में हमारे सम्मुख हैं। सभी वृक्षों में वे ही हैं; किंतु जहां विशेष शक्ति दिखाई देती है, और उसका रूप सात्विक है, वह ब्रह्म की विभूति है। इस तर्क को हम समझ जाएं तो इस सृष्टि में ब्रह्म को देख पाने की हमारी क्षमता बढ़ जाएगी।

यहाँ मुझे हरिद्वार के स्वामी दयानन्द सरस्वती की एक बात स्मरण हो आती है। वे कहते हैं कि यदि हम भौतिकशास्त्र का अध्ययन करते हैं, तो हम कोई सांसारिक विज्ञान नहीं पढ़ रहे, हम ब्रह्म का मस्तिष्क ही पढ़ रहे हैं। यह इसलिए है, क्योंकि ब्रह्म ही इस सृष्टि के निमित्तोपादान कारण हैं। निमित्त और उपादान कारण – वे दोनों ही हैं। जब अधिष्ठान कारण भी वे ही हैं, तो सारे वृक्षों के रूप में वे ही हैं; किंतु अश्वत्थ में उनकी विशेष विभूति प्रकट हुई है। शास्त्री जी ने गुरु गोविंदसिंह के संदर्भ में उनके एक शिष्य की असाधारण रूप से सुंदरी कन्या की कथा दी है। गुरु ने उस कन्या को देखा और कहा कि भगवान् कितने सुंदर हैं। यह भगवान् का सौन्दर्य है, भगवान् की विभूति है। इस प्रकार हम संसार की प्रत्येक श्रेष्ठ वस्तु में भगवान् के दर्शन कर सकते हैं। जब सब ओर वह ही है, सारा रूप और सारी शक्ति उसी की है तो भगवान् का कहना उचित ही है, 'तुम अपना मन मुझ में लगा दो, अपना प्रेम मुझे दो, मेरा यजन करो, मुझको नमस्कार करो। तुम निश्चय ही मुझे प्राप्त करोगे।'

इसी समर्पण को 'अविकम्प योग' भी कहा गया है। वह योग जो किसी भी स्थिति में, किसी भी प्रलोभन, भय, घृणा-क्रोध की स्थिति में विचलित न हो। मृत्यु के समय भी। गीता की मान्यता है कि 'भक्ति' और 'ज्ञान' में कोई भेद नहीं है। इसलिए

इस प्रकार के समर्पण और अविकम्प योग की स्थिति में भक्त को ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। यह भक्ति के मार्ग से ज्ञान तक पहुंचना है।

अगला प्रवचन *विभूतियोग का पहला खंड* है। यह प्रवचन ज्ञान-मार्ग से प्रभु-प्राप्ति की चर्चा करता है। ज्ञानप्राप्ति के लिए श्रद्धा, उद्यम, और इंद्रिय संयम अनिवार्य शर्तें हैं। केनोपनिषद् का समापन प्रसंग है — गुरु सारा उपनिषद् कह चुके तो शिष्य कहता है, 'गुरुवर! मुझ से उपनिषद् कहिए।' गुरु हंस कर कहते हैं, 'वत्स! तुम से उपनिषद् ही कहा है; किंतु इसको समझने का आधार है— तप, दम, और निष्काम कर्म। उसका आयतन है, सत्य। यदि सत्य का ही पालन नहीं होगा तो वह ब्रह्म विद्या कैसे समझ में आएगी।' इसी संदर्भ में शास्त्री जी की स्थापना है कि गुरु के प्रति विनय, परिप्रश्न का अधिकार, सेवा का भाव आवश्यक तत्व हैं। गीता में अर्जुन ने पहली बार यहां कृष्ण को ब्रह्म कहा है— 'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।' भक्ति में भी ऐसा ही समर्पण है और ज्ञान प्राप्ति के लिए भी गुरु के प्रति वैसा ही समर्पण है। और यहां तो स्वयं भगवान् ही गुरु हैं। इसी लिए कृष्ण को परमगुरु कहा जाता है। कृष्ण कहते हैं— जो मेरी विभूति को, जो मेरे योग को तत्वतः जान जाएगा, वह अविकम्प योग से मुझ से युक्त हो जाएगा।' यही तो भक्ति का भी परिणाम है।

'विभूति-योग' कहता है कि इस संसार में जो कुछ भी जड़-चेतन है, उसको परमात्मा से आच्छादित कर दो। परमात्मा उसमें है, यह समझ लो। और कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुमने पूछा है कि मैं किस रूप में चिंतन करूँ। तुम्हारे ही अंतःकरण में जो प्रत्यगात्मा (सबसे भीतरी आत्मा), वही मैं हूं। तुम्हारे भीतर आत्मा के रूप में मैं स्थित हूं। उसी के रूप में मेरा चिंतन हो तो अच्छा है।

शास्त्री जी ने योग और विभूति को कई प्रकार से परिभाषित किया है। एकता में विविधता को प्रकट कर देना विभूति है; और सारी विविधता में एकता को देख लेना योग है। एक अनेक बन जाता है, और उस अनेक में एक को देखने की क्षमता योग है। जुड़ने की क्षमता योग है और उस अनेक रूपों में उस एक को पहचानने की क्षमता विभूति है। गीता में ७३ विभूतियाँ बताई गई हैं।

अगला प्रवचन *विभूति योग का दूसरा खंड* है। शास्त्री जी कहते हैं, 'हम बातें कर रहे हैं, इस कमरे में। यहाँ भी राम जी हैं। इस बात को निरूपित करना अलग बात है और उसे हृदय से ग्रहण करना और बात है। हमारे पुरखों ने उसे ग्राह्य बनाने के लिए, कैसी-कैसी युक्तियां खोजी हैं, पहले उसको समझें तो फिर विभूतियोग ठीक से समझ सकेंगे।'

केवल यह वक्तव्य दे देने से कि कण-कण में ईश्वर है, साधारणतः हम उसके सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते। अतः आवश्यक हो जाता है कि कुछ ऐसी विधियां अपनाई जाएं कि यह सत्य कुछ मुखर हो कर सामने आए और हम उसे ग्रहण कर पाएं। इसका पहला उदाहरण तो मंदिर ही है। प्रभु सारी सृष्टि में व्याप्त हैं। हमें उनका कहीं आभास हो न हो; मंदिर में प्रवेश करते ही हम सावधान हो जाते हैं कि यह प्रभु का घर है। वैसे ही तीर्थों का निर्माण हुआ। कभी-कभी उसके पीछे कोई विशेष घटना भी होती है। जगन्नाथपुरी में समुद्र को लहराता देख चैतन्य महाप्रभु को आभास हुआ कि यह तो मेरे कृष्ण हैं और वे उसमें कूद पड़े। उसी प्रकार किसी विशिष्ट दिवस को महत्त्वपूर्ण बनाया जाता है। दिन तो सामान्य ही होता है, किंतु वह किसी का जन्मदिवस होता है, तो वह उसके लिए विशिष्ट हो जाता है। प्रभु स्मरण की दृष्टि से रामनवमी, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, एकादशी, पूर्णिमा इत्यादि दिन महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। उन विशिष्ट दिनों में प्रभु का स्मरण न हो, ऐसा संभव ही नहीं है।

अर्जुन का प्रश्न है कि मैं किस-किस रूप में तुम्हारा चिंतन करूँ। भगवान् ने विभूति के रूप में प्रायः प्रत्येक स्थान, वनस्पति, जीव-जंतु, देवी-देवता के रूप में अपना परिचय दे दिया। भक्त तो प्रकृति का सुंदर रूप देखते ही भगवान् को स्मरण करने लगता है। हमारी प्रवृत्ति भगवान् की ओर हो तो श्यामल मेघ देखते ही उनका स्मरण हो आता है। हिमालय के शिखरों को देखते ही प्रभु की महिमा साक्षात् होने लगती है। गंगा की धारा का स्पर्श होते ही, जैसे दिव्यता हमारे सामने आ खड़ी होती है। तभी समझ में आता है कि प्रभु हमारी प्यास बुझाने को मेघ बनकर बरसते हैं। हमारी भूख मिटाने को अन्न के रूप में धरती फोड़ कर उगते हैं। सृष्टि को ऊर्जा देने को सूर्य बनकर तपते हैं। इसी संदर्भ में शास्त्री जी स्पष्ट कहते हैं, 'मेरे इष्टदेव राम हैं, उनके साथ सहज ही मेरा तादात्म्य होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि और रूपों में ईश्वर नहीं हैं।' जहां भी जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उसके माध्यम से हमें प्रभु से जुड़ना चाहिए।'

एकेश्वरवाद इस सत्य को स्वीकार नहीं कर सकता। यही कारण है कि शास्त्री जी ने यहां एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद का अंतर भी स्पष्ट कर दिया है।

विभूतियों की चर्चा के पश्चात् *विश्वरूप दर्शन* का उल्लेख स्वतः आ जाता है। भगवान् ने कहा कि जो मेरे योग और मेरी विभूति को तत्वतः समझ लेता है, उसको अविकम्प भक्तियोग की प्राप्ति होती है। अपने स्वरूप की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि मैंने इस सारे संसार को नियंत्रित कर अपने एक अंश द्वारा धारण कर रखा है।

स्वभावतः यह जानने के पश्चात् अर्जुन ने उस रूप को देखने की इच्छा प्रकट कर दी। इस संदर्भ में शास्त्री जी ने दो शब्दों का विशेष रूप से विश्लेषण किया है — 'कृपा' और 'अनुग्रह'। कृपा अहैतुकी होती है; और अनुग्रह, किसी ग्रहण के पश्चात् है। जिसने मुझ को ग्रहण किया है, उसपर मैं अनुग्रह करता हूं। वे अपने मित्र पर कृपा तो कर ही रहे थे। अब अपने भक्त पर अनुग्रह भी कर दिया।

यहां शास्त्री जी ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अवधारणा को स्पष्ट किया। 'भगवान् का विश्वरूप, उनका निर्विकल्प निराकार रूप नहीं है। यह मायामय जगत्-रचयिता का समग्र रूप है।' भगवान् ने कहा, 'मैं सारी सृष्टि में जिस रूप में व्यक्त हूं, उसको एकत्र, एक स्थान पर देखो।' यह चर्चा वेदों के 'पुरुष सूक्त' के ही अनुरूप है। इस रूप को देखने के लिए भगवान् ने अर्जुन को दिव्य चक्षु दिए।

'चर्म चक्षु' और 'दिव्य चक्षु' हमारे लिए परिचित संज्ञाएं हैं। शास्त्री जी ने यहां 'ब्रह्म चक्षु' अथवा 'ब्रह्म दृष्टि' की चर्चा भी की है। उन तीनों का अंतर स्पष्ट करते हुए, उन्होंने कहा है कि चर्म चक्षु वे हैं, जिनसे हम स्वाभाविक संसार में अनेक को देखते हैं। पृथक्-पृथक् देखते हैं। दिव्य चक्षु वे हैं, जिनसे अनेक, एक ही स्थान पर दिखाई देते हैं। संसार की यह अनेकता एक ही में दिखाई देती है। ब्रह्म दृष्टि अथवा ब्रह्म चक्षु वे हैं, जिनसे दिखता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जीव की दृष्टि से यह सारा सृष्टि का ही पसारा है। दिव्य दृष्टि होती है, तो सब को, अलग-अलग को, एक ही में देख लेती है, प्रत्यक्ष। अनुमान या ज्ञान से समझ लेना कि वही प्रभु सभी में व्यक्त हो रहे हैं, यह एक प्रकार का विकसित बुद्धि-वैभव है। किंतु उसको प्रत्यक्ष देख लेना कि एक ही में सब कुछ है, दिव्य दृष्टि है। ब्रह्म दृष्टि अथवा आत्म दृष्टि से देखने पर, ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी प्रकार का कोई अस्तित्व है ही नहीं।

फिर भी यह सारा जगत् ब्रह्म के एकांश में ही स्थित है। इस ब्रह्मांड के बाहर भी ब्रह्म है। वह सारा का सारा यहीं व्यय नहीं हो गया है।

अर्जुन ने जो मांगा, प्रभु ने उसे दिखा दिया। इसलिए शास्त्री जी का अगला प्रवचन है— *'विश्वरूप दर्शन की अनुभूति।'* उस विश्वरूप को देख कर अर्जुन प्रसन्न नहीं हुआ। उसकी व्यथा और व्याकुलता स्पष्ट है। वह व्यथित क्यों है, का स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्री जी ने कहा है, 'अर्जुन ने जो मांग लिया और भगवान् ने जो उसे दे दिया, वह उसकी क्षमता से अधिक था। वह उसे सहन नहीं कर सका।' शास्त्री जी ने यह चेतावनी भी दी है कि अपनी क्षमता से अधिक नहीं मांगना चाहिए। उस विश्वरूप की जो विशेषताएं शास्त्री जी ने स्पष्ट की हैं, उनका समाहार संक्षेप में करें तो वह अद्भुत है। एक ही समय में अर्जुन

'निर्गुण-निराकार', 'सगुण-निराकार' तथा 'सगुण-साकार' को प्रत्यक्ष देख रहा है। इन तीनों रूपों के साथ वह तीनों लोकों और तीनों कालों को भी एक साथ देख रहा है। वर्तमान में खड़ी हुई सेनाओं और भविष्य में महाकाल के चबाए जाते हुए भीष्म और द्रोण को भी देख रहा है। वह विस्मय के पश्चात् भय प्रकट करता है। भगवान् से प्रार्थना करता है कि वे अपना मधुर रूप दिखाएं।

मधुर रूप दिखाने से पहले भगवान् कुछ अवधारणाओं को स्पष्ट करते हैं। वे अर्जुन को निमित्त भर बनने को कहते हैं। इसी संदर्भ में शास्त्री जी ने निमित्त की धारणा और प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। वस्तुतः चर्चा किए बिना ही भगवान् ने यहां ऋत् के नियम की प्रक्रिया को स्पष्ट कर दिया है। कर्म सिद्धांत भी उसका एक अंग है। आततायी अपने पाप से मारा जाता है। हमारा जन्म, मृत्यु और जीवन की परिस्थितियां और घटनाएं हमारे अपने कर्मों के परिणाम-स्वरूप निर्धारित होती हैं। यहां भी सामने खड़े योद्धा महाकाल द्वारा नष्ट किए जा चुके हैं। अब स्थूल रूप से उस कार्य को संपादित करने का निमित्त कोई भी बन जाए। भगवान् ने कहा, 'मैं महाकाल हूँ और इस समय इस लोक के विनाश की ओर अग्रसर हूँ।' तो वह विनाश तो होना ही है, अर्जुन युद्ध करे या न करे। 'तुम युद्ध करो, न करो, दोनों सेनाओं के वीर काल-कवलित हो चुके हैं। मैं उनका वध कर चुका हूं। तुम निमित्त मात्र बनो और यश पाओ।'

यहाँ भगवान् अर्जुन से यह नहीं कह रहे कि तुम इन्हें मारो या यह कर्म करो। वे कह रहे हैं कि तुम स्वयं को कर्त्ता मत मानो, तुम निमित्त बनो। स्वयं को कर्त्ता मानोगे तो निमित्त नहीं बन पाओगे। निमित्त और कारण में अंतर है। निमित्त अर्थात् भगवान् के हाथ का यंत्र। रामकृष्ण परमहंस ने कहा, 'आमि जंत्र, तुमि जंत्री।' अतः हमें निमित्त बनने की योग्यता अर्जित करनी होगी। निमित्त की योग्यता साधारण नहीं है। उसके लिए कर्त्ता के अहंकार, स्वतंत्रता के अहंकार का त्याग करना पड़ता है, जो सरल नहीं है। उसके लिए संपूर्ण समर्पण करना पड़ता है। जब हम समर्पण करते हैं तो प्रभु अपनी इच्छानुसार हम से काम लेते हैं —

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत रामु गोसाईं।। (किष्कि. १०/७)

एक उदाहरण उन्होंने और भी दिया है कि जब भक्त पूर्णरूपेण समर्पित हो जाता है, तो ईश्वर उसकी सारी पीड़ा भी स्वयं ही सहन करते हैं। मेघनाद के शक्तिप्रहार के पश्चात् जब लक्ष्मण की मूर्च्छा टूटती है, तो वे अपने घाव की पीड़ा के विषय में कहते हैं– *'घाव हृदय मेरे, पीर रघुबीरे।'* इसी संदर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर शास्त्री जी ने संकेत किया है। 'निमित्त बनने का अर्थ निकम्मा बनना नहीं है। निमित्त

का अर्थ है, कर्ता का अहंकार छोड़ कर अपने चरम पौरुष का प्रदर्शन करना।' सचमुच यह बड़ा संकट है। स्वयं को निमित्त मानकर अथवा स्वयं को ईश्वर पर आश्रित मान कर यदि व्यक्ति निष्क्रिय हो कर बैठ जाए, तो गीता का सारा कर्म का उपदेश ही व्यर्थ हो जाएगा। आरंभ में ही कृष्ण ने कहा है, 'अकर्म में तेरी प्रीति न हो।' इसीलिए शास्त्री जी कहते हैं कि व्यक्ति अपना चरम पौरुष प्रदर्शित करे। बस, कर्ता का अहंकार उसके मन में न आए। शास्त्री जी कहते हैं, 'भगवान् की शक्ति हम पर, आप पर उतरे; किंतु यह तभी संभव है, जब हम अपनी शक्ति का अहंकार छोड़ दें।' कर्म छोड़ दें, ऐसा वे नहीं कहते।

अर्जुन ने एक प्रकार से भगवान् को प्राप्त कर लिया; अतः यह आवश्यक हो जाता है कि भगवत्प्राप्ति के साधनों पर विचार कर लिया जाए। शास्त्री जी आरंभ में ही कह देते हैं कि 'अपनी पात्रता से अधिक नहीं मांगना चाहिए।' कारण स्पष्ट है। एक तो पात्रता से अधिक मिलता नहीं, मिल जाए तो अर्जुन के समान भगवान् से प्रार्थना करनी पड़ती है कि वे उसे लौटा लें। इसी संदर्भ में उन्होंने विराट रूप संबंधी कुछ चर्चा भी की है। वे कहते हैं कि भगवान् ने अपने विराट रूप के दर्शन कुछ और अवसरों पर भी दिए हैं; किंतु कहीं भी इस प्रकार दोनों सेनाओं के काल के गाल में समाते नहीं दिखाया है। और पहली बार अर्जुन को ही यह प्रतीति हुई कि यह भगवान् का विराट रूप है।' अर्जुन को ही यह प्रतीति क्यों हुई? *'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।'* आत्मा बलहीन के द्वारा प्राप्त नहीं होती। अर्थात् बलहीन को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। स्वामी विवेकानन्द ने भी बार-बार कहा कि हमें बल की आवश्यकता है। हमें सशक्त शरीर चाहिए; सशक्त मस्तिष्क चाहिए और सशक्त आत्मा चाहिए। निर्बल को कुछ भी प्राप्त नहीं होता। हम कैसे शाक्त हैं, यदि हम शक्ति का महत्व ही न पहचानें। यह गीता का ही संदेश है। स्वामी जी के विषय में एक घटना प्रायः सुनाई जाती है। शारीरिक रूप से दुर्बल एक युवक उनके पास गीता पढ़ने की अभिलाषा ले कर गया। स्वामी जी ने उससे कहा कि गीता पढ़ने से अच्छा है कि वह फुटबॉल खेले। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि गीता पढ़ने से फुटबॉल खेलना श्रेयस्कर है, वरन् इसका अर्थ इतना ही है कि शक्तिविहीन युवक को गीता पढ़ने का कोई लाभ नहीं है। पहले वह सशक्त बने, तब गीता का अध्ययन करे, ताकि उसके संदेश को आत्मसात करने में समर्थ हो सके।

तो बात ईश्वर प्राप्ति के साधनों की थी। स्वामी विवेकानन्द, आदि शंकराचार्य की एक उक्ति को प्रायः स्मरण करते थे कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिए तीन सुयोग आवश्यक हैं — मनुष्य का जीवन, ईश्वर प्राप्ति की तीव्र इच्छा और किसी सक्षम गुरु

का संपर्क। शास्त्री जी ने इन तीनों बातों को ठीक उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। ईश्वर प्राप्ति के लिए सामान्य जन प्रायः जिन साधनों को आवश्यक मानता है, भगवान् ने स्वयं ही उसका निषेध कर दिया है, 'न वेद से, न तपस्या से, न दान से, न यज्ञ से, मुझे देखा जा सकता है।' वस्तुतः कहा यह जा रहा है कि ये सारे साधन सकाम हैं। सकाम क्रिया से सीमित फल होता है; अतः सकाम क्रिया से असीमित ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। अंततः वे अर्जुन को ईश्वर-प्राप्ति का मूल मंत्र बताते हैं, 'हे परंतप अर्जुन, केवल अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार मुझ को जानना, मुझ को देखना और मुझ में प्रवेश कर जाना संभव है।' और अनन्य भक्ति का अर्थ है — अपनी क्षमता से प्रभु को प्राप्त करने के अहंकार का त्याग। वे कहते हैं, 'मुझ को परम मानो। मेरे आश्रय में आओ। मुझ पर निर्भर करो। अपनी क्रिया, अपनी बुद्धि और अपना प्रेम मुझ को दे दो।'

इस सोपान – भक्ति-योग - तक आने के लिए कुछ विधियां होनी चाहिएं। उन विधियों के रूप में वे—

संगवर्जितः — अनासक्त होने, सारे जीवों के प्रति निर्वैर होने, ज्ञान से अपने पापों - कर्म बंधन - को धो डालने का उल्लेख करते हैं। ऐसे लोग निर्गुण, निराकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। वे सतत युक्त हैं। उनकी श्रद्धा में किसी भी स्थिति में, कभी भी दरार नहीं पड़ती।

उपासना की विधियों में सबसे बड़ा प्रश्न सगुण उपासना और निर्गुण उपासना का है। गीता का कहना है कि विधियां चाहे भिन्न हों किंतु उनका लक्ष्य एक ही है; और परिणाम भी एक ही होता है। वस्तुतः हिंदू धर्म का मूल मंत्र ही यह है कि ईश्वर को प्राप्त करने का कोई एक ही मार्ग नहीं है। शिकागो की धर्म संसद में अपना परिचय देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने शिव महिम्न स्तोत्र का पाठ किया था, 'विभिन्न स्रोतों से निकल कर अंततः समुद्र में मिलने वाली नदियों के समान, हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न कुटिल अथवा सरल मार्गों से जाने वाले लोग अंत में आकर तुझ में ही मिल जाते हैं।' गीता में कृष्ण इसी के समकक्ष कहते हैं, 'हे अर्जुन, जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।'

मुझे लगता है कि भक्ति की विधि से अधिक महत्त्वपूर्ण है, भक्त के लक्षण। शास्त्री जी ने भी उसे पूरा महत्व दिया है। इस खंड का अंतिम प्रवचन है— *'भक्तों के लक्षण'*। उसमें सब से चौंकाने वाली बात यह है कि वे भक्त और भगवान् में एक प्रकार

का पूर्ण साम्य बता रहे हैं, 'संत में और भगवान् में तनिक सा भी अंतर नहीं है। भगवान् और भक्तों के लक्षणों का साम्य, इस बात को रेखांकित करता है कि वे संत भगवन्मय हो चुके हैं। जो संत भगवन्मय नहीं हैं, उनके ऐसे लक्षण नहीं होंगे।' वे यह भी स्वीकार करते हैं कि ये लक्षण स्थितप्रज्ञ और त्रिगुणातीत ज्ञानी के लक्षणों से बहुत मिलते हैं। इसका अर्थ है कि भगवन्मय हुए बिना कोई स्थितप्रज्ञ और त्रिगुणातीत ज्ञानी हो ही नहीं सकता। ये चार प्रकार के भक्तों में से केवल ज्ञानी भक्तों के लक्षण हैं। किंतु साथ ही साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अपनी पराकाष्ठा में कर्म-योग और भक्ति-योग एक ही हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि उस सोपान तक पहुँचते-पहुँचते सारे भक्त ज्ञानी भक्त हो जाते हैं। यह सिद्धांत साधक भक्तों पर लागू नहीं होता, केवल सिद्ध भक्तों के विषय में ही यह कहा जा सकता है। जब भक्त, भगवन्मय हो गया, वह भगवान् में प्रवेश कर गया, तब ही भक्त और भगवान् के लक्षण एक हो सकते हैं।

पहला लक्षण अद्वेष्टा होने का है। भक्त किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं रखता। हम जानते हैं कि भगवान् भी किसी से द्वेष नहीं करते। यदि ईश्वर के विषय में कहा जाए कि वह उक्त-उक्त प्रकार के लोगों से द्वेष करता है, तो निश्चित रूप से यह भगवान् के लक्षणों को ले कर भ्रम की स्थिति है। *सर्वभूतानाम मैत्रः*। भक्त सब प्राणियों का मित्र है। यह लक्षण भी भगवान् का ही है, और पहले लक्षण का पूरक ही है। जो मित्र है, वह द्वेष नहीं करेगा और जो द्वेष नहीं करेगा, वही मित्र हो सकता है। भगवन्मय हो जाने के पश्चात् भक्त दुखी नहीं रहता। वह स्वयं को दुखी नहीं मानता। इसलिए अन्य लोगों को स्वयं से अधिक दुखी मानकर, करुणा से प्रेरित होकर उनके दुख का निवारण करने का प्रयत्न करता है। उसकी करुणा में आसक्ति का भाव नहीं है। वह पूर्णतः निर्भय होता है — *भय काहू को देत नहिं, नहिं भय मानत आप।* न संसार से उद्विग्न होता है, न संसार को उद्विग्न करता है। वह असंग, अनासक्त, निर्वैर, निर्मम, निरहंकार, सुख-दुख में समान, क्षमी, निर्लोभ, यतात्मा, दृढ़निश्चय, संयमी, तितिक्षु, अनपेक्ष होता है। शास्त्री जी ने इस संदर्भ में दो सुंदर पंक्तियों को उद्धृत किया है—

चाह गई, चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह।।

भक्त का एक बड़ा गुण शुचिता भी है। किंतु शास्त्री जी ने 'अर्थ-शुचिता' पर विशेष बल दिया है। शरीर की शुचिता तो अपने स्वास्थ्य अथवा बाहरी प्रदर्शन के लिए है। प्रायः देखा जाता है कि अर्थ का लोभ मन की शुचिता का तत्काल हरण कर लेता है। दक्ष, उदासीन, सर्वारंभपरित्यागी, तुल्यनिंदास्तुति, मौनी, अनिकेत, स्थिरमति आदि

भी उसके गुण हैं। यदि इन सब का विश्लेषण किया जाए, तो हम पाएंगे कि ये सब प्रायः एक दूसरे पर निर्भर हैं; और एक ही गुण के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। मूल बात इतनी ही है कि यदि मन प्रभु से युक्त हो गया तो सांसारिकता का तनिक भी मोह नहीं रह जाता और मनुष्य इन गुणों को अर्जित करता जाता है।

शास्त्री जी ने 'अहं' और 'अहंकार' का भेद करना भी आवश्यक समझा है। 'अहं', अमर्त्य, शुद्ध-बुद्ध आत्मस्वरूप है। इसीलिए कहा गया— 'अहं ब्रह्मास्मि'। व्यक्ति का अहंकार ब्रह्म नहीं है। प्रकृति के कारण जिसमें अहं-बुद्धि आई है, वही अहंकार है। शास्त्री जी ने अहंकार के सात कारण गिनाए हैं— कुल, धन, ज्ञान, सौन्दर्य, शौर्य, दान और तपस्या। ये सब अच्छे गुण हैं; किंतु अहंकार इनका भी नहीं होना चाहिए। अहंकार इन सारे गुणों को नष्ट कर देता है।

एक महत्त्वपूर्ण बात और है। ये गुण ऐसे महिमावान हैं कि वह व्यक्ति भगवान् को माने या न माने, किंतु उसमें ये गुण हैं तो वह भक्त है। भक्त है, अर्थात् वह भगवन्मय है।

अंत में अपनी कुछ धृष्टताओं की चर्चा भी करना चाहूंगा। मेरा मन तो इस संदर्भ में मौन रहने का ही था; किंतु एक अनुभवी संपादक का परामर्श था कि इन बातों को गुप्त रखना उचित नहीं है। वह प्रवचनकर्त्ता के प्रति अन्याय होगा।

पहली बात तो पुनरावृत्ति को कम करने के प्रयत्न की है। इस विषय में कुछ तो मैंने पहले खंड की भूमिका में भी कहा है। इस खंड को पढ़ते हुए मैंने पाया कि प्रायः समान संदर्भों में हमें समान उदाहरण, समान घटनाएं, समान चुटकुले, समान कविता पंक्तियां स्मरण हो आती हैं। शास्त्री जी के साथ भी वही है। अतः पुनरावृत्ति का होना स्वाभाविक हो जाता है। मैंने प्रयत्न किया है कि यदि कहीं से कुछ पंक्तियां हटा देने से विषय का प्रवाह नहीं टूटता तो उन पंक्तियों को हटा दिया जाए। कई बार तो प्रवचन में किसी और दिशा में बह जाने के पश्चात् जब हम लौट कर वापस अपने विषय पर आना चाहते हैं, तो पुनरावृत्ति हो जाती है। उसे हटाने का भी प्रयत्न किया है।

किंतु अधिक धृष्टता मैंने शब्दों के क्षेत्र में की है। प्रत्येक वक्ता बोलते हुए, अपने श्रोता-समाज के प्रभाव में कुछ स्थानीय शब्दों और मुहावरों का प्रयोग करता है। उनमें आंचलिक रंग आता है तो अच्छा लगता है; किंतु मैं मानता हूं कि वह लिखित रूप में परिनिष्ठित भाषा के रूप में स्वीकार्य नहीं होता। जहां-जहां मुझे लगा कि यदि शास्त्री जी स्वयं इस आलेख को देखते तो इन शब्दों को अवश्य ही बदल देते, वहां मैंने उन्हें बदल दिया है। ये संशोधन नहीं हैं। मैं यह मानता हूँ कि बोले हुए को लिखते

हुए ही नहीं, प्रथम प्रारूप को द्वितीय प्रारूप में बदलते हुए भी प्रवचनकर्त्ता स्वयं ही ऐसे संशोधन कर देता है। प्रभु ने शास्त्री जी को वह अवसर नहीं दिया, इसलिए बहुत भीत मन से शास्त्री जी को प्रणाम करते हुए, मैंने ऐसे कुछ दुस्साहस कर डाले हैं। आशा है कि उसके लिए मुझे क्षमा किया जाएगा।

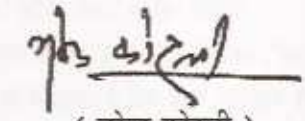

(नरेन्द्र कोहली)

रथयात्रा, ४ जुलाई २००८
१७५, वैशाली, पीतमपुरा
दिल्ली - ११००३४

हमारा जीवन एक सतत युद्ध है। विषय, भोग, निषिद्ध आचरण लगातार हमको अपनी ओर खींचते हैं। भगवान् की कृपा से, उस समय हम सचेत रहें, सावधान रहें। हम तो बिगड़ने के लिए तैयार हैं, भगवान् की कृपा ही हमको बचाती है। लेकिन हम भी भगवान् की इस कृपा का अवलम्बन प्राप्त करने योग्य अपने को बनाएँ। रात-दिन, बाहरी और भीतरी संसार के आकर्षण से दुष्कर्मों की ओर आकृष्ट न होने के लिए हम युद्ध करते रहें। सत्कर्म के लिए अपने मन को प्रेरित करते रहें – यह युद्ध से कम नहीं है।

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'

यह गीता का महावाक्य है। इस वाक्य को हमें स्मरण रखना है।

(विष्णुकान्त शास्त्री)

प्रकाशकीय (प्रथम संस्करण)

निमित्तमात्रं....

अध्यात्म एवं साहित्यरसिक पाठकों ने 'गीता-परिक्रमा' (खण्ड-१) के प्रकाशन को जो आत्मीयता प्रदान की, वह पुस्तकालय के लिए अभूतपूर्व है। अपने अनन्य मार्गदर्शक आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करने का हमारा शुभ-संकल्प पाठकों की व्यापक सराहना से सुदृढ़ हुआ है।

'गीता-परिक्रमा' का यह द्वितीय खण्ड किंचित् विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है। ऑडियो कैसेट से प्रवचनों को उतारकर संपादन - संशोधन की दीर्घ-प्रक्रिया इस विलम्ब का स्वाभाविक कारण है। कैसेट के माध्यम से श्रद्धेय शास्त्री जी की वाणी को सुनते हुए या उनके प्रवचनों से गुजरते हुए उनकी उपस्थिति एवं आशीर्वाद की अनुभूति हमें लगातार होती रही है। अधिकांश पाठकों ने भी 'गीता-परिक्रमा' के पहले खण्ड को पढ़कर यही टिप्पणी की है।

इस खण्ड के प्रकाशन हेतु ऑडियो कैसेट सुनकर लिपिबद्ध करने का जटिल कार्य श्रद्धा के साथ सम्पन्न किया श्रीमती रेणु गौरीसरिया, श्री उम्मेद सिंह बैद एवं श्रीमती स्नेहलता बैद ने। प्रूफ संशोधन में सहयोग प्रदान किया श्रीयुत श्रीराम तिवारी तथा डॉ. उषा द्विवेदी ने। संस्कृत-उद्धरणों को शुद्ध करने में आचार्य राधामोहन उपाध्याय ने हमारी मदद की है। पुस्तकालय के उपाध्यक्ष श्री महावीर बजाज ने पुस्तक के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन हेतु कठिन परिश्रम किया है। लिपिबद्ध प्रवचनों की प्रेस-कॉपी को सुव्यवस्थित करने तथा विविध उद्धरणों को मूल-ग्रंथ से खोजकर यथा-संम्भव त्रुटिहीन करने में श्री जुगलकिशोर जैथलिया से मुझे विशेष सहायता प्राप्त हुई है। ये सभी हमारे अनन्य हैं, अतः धन्यवाद ज्ञापन की औपचारिकता अनावश्यक है।

अपनी घोर व्यस्तता, साहित्यिक सक्रियता तथा देश-विदेश की विविध यात्राओं के बावजूद प्रख्यात रचनाकार डॉ. नरेन्द्र कोहली ने कृति के संपादन का कार्य बड़ी निष्ठा से सम्पन्न किया है। इस खण्ड के सम्पादन हेतु प्रथम खण्ड की अपेक्षा अधिक श्रम की आवश्यकता थी; डॉ. कोहली ने तदनुरूप पर्याप्त समय देकर आचार्य शास्त्री

के प्रति अपार श्रद्धा प्रदर्शित की है। उनके प्रति आभार प्रकट करने हेतु मेरे पास शब्द नहीं है।

हम विशेष आभारी हैं इलाहाबाद उच्च-न्यायालय के पूर्व कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति प्रेमशंकर गुप्त के, जिन्होंने इलाहाबाद उच्च न्यायालय के गीता-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निर्णय की प्रति हमें उपलब्ध कराई।

हम कृतज्ञ हैं गुरुवर शास्त्रीजी की विदुषी सुपुत्री डॉ. भारती शर्मा के, जो विष्णुकान्त जी के अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशन हेतु हमें सदैव उत्साहित करती रहती हैं।

प्रथम खण्ड की भाँति इस खण्ड के प्रकाशन हेतु भी आर्थिक सौजन्य प्रदान किया है उद्योगपति एवं समाजसेवी श्री नंदलाल शाह तथा उनके अमेरिका प्रवासी सुपुत्र श्री किसलय शाह ने। नंदलाल जी की साहित्य-निष्ठा तथा आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के प्रति अपार श्रद्धा सुविदित है। उनके प्रति संस्था की ओर से कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा कर्त्तव्य है।

सुन्दर मुद्रण हेतु 'एस्केज' के श्री संजय नोपानी, शब्द संयोजन हेतु श्री मृणाल अधिकारी तथा आकर्षक आवरण सज्जा हेतु श्रीयुत श्रीजीव अधिकारी भी धन्यवाद के पात्र हैं।

आचार्य शास्त्री के साहित्य के प्रति विशेष रुचि रखने वाले पाठकों का एक बड़ा वर्ग है। उनके साहित्य के प्रकाशन से ऐसे पाठकों की परितृप्ति हमारा सबसे बड़ा सम्बल है। इन प्रवचनों को प्रकाश में लाने के हम तो निमित्तमात्र हैं। यह संयोग ही है कि इस खण्ड के ३३ वें प्रवचन में *'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'* पंक्ति की भावपूर्ण व्याख्या है। भगवान अर्जुन से कहते हैं निमित्तमात्र बनो और यश पाओ। आचार्य शास्त्री की व्याख्या है— 'भगवान कितने कृपालु हैं; काम खुद करते हैं और यश भक्त को दे देते हैं।'

गुरुवर के अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशन से प्राप्त यश को इसी भाव से, गुरु-कृपा के रूप में स्वीकार करते हुए यह खण्ड पाठकों को सादर समर्पित करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है।

प्रेमशंकर त्रिपाठी

(डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, *अध्यक्ष*)
श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

गुरु पूर्णिमा, संवत् २०६५
१८ जुलाई, २००८

प्रवचन-२१*

माया और उससे पार जाने का साधन

भगवान् की कृपा है कि हम गीता के दूसरे षटक में प्रवेश कर रहे हैं। वैष्णव आचार्यों की यह मान्यता है कि गीता के तीन विभाग हैं। पहले विभाग में, यानी पहले से छठे अध्याय तक, कर्म का मार्ग निरूपित किया गया है; सातवें से बारहवें अध्याय तक, भक्ति का मार्ग निरूपित किया गया है; तेरहवें से अट्ठारहवें अध्याय तक, ज्ञान का स्वरूप निर्धारित करने के बाद चरम शरणागति का निरूपण किया गया है। शंकराचार्य इन तीनों षटकों को नहीं मानते। वे ज्ञान की प्रधानता से ही कर्म और भक्ति का निरूपण स्वीकार करते हैं। इसी तरह लोकमान्य बालगंगाधर तिलक भी इन तीनों षटकों को नहीं मानते। वे कर्म की प्रधानता से ज्ञान और भक्ति का निरूपण स्वीकार करते हैं। फिर भी यह बात सच है कि छठे अध्याय के अंतिम श्लोक में भक्ति का बीज निहित है। अद्‌भुत श्लोक है —

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।। (६/४७)

मेरा सबसे प्रिय भक्त कौन है? सबसे बड़ा भक्त कौन है? युक्ततम कौन है? सबसे अधिक मुझसे जुड़ा हुआ कौन है? भगवान् ने बताया कि समस्त योगियों में वह भक्त मेरा सबसे युक्त है, सबसे बड़ा योगी है, *('मद्‌गतेनान्तरात्मना')* जिसकी अन्तरात्मा मुझमें प्रविष्ट हो जाती है – *मद्‌गते* यानी मुझसे जुड़ जाता है ; और जो श्रद्धा के साथ मेरा भजन करता है। अर्थात् जिसकी अन्तरात्मा भगवान् के साथ युक्त हो जाये, जुड़ जाये, भगवान् के स्वरूप में प्रविष्ट हो जाये, जो श्रद्धा के साथ उनका भजन करे – - वह भगवान् का सबसे प्रिय, सबसे बड़ा स्नेहभाजन योगी है।

इस बात की स्थापना करने के बाद भगवान् पर यह उत्तरदायित्व भी आता है कि वे बतायें कि मैं कौन हूँ। वे बतायें कि दूसरों की अन्तरात्मा मुझमें कैसे युक्त होती है? कैसे जुड़ती है? अन्तरात्मा मद्‌गत हो जाय इसमें बाधा कौन डालता है? हमारा

* सप्तम अध्याय (ज्ञान-विज्ञान योग) : श्लोक संख्या १ से १५

आपका मन, हमारा आपका अन्तःकरण भगवान् से क्यों नहीं जुड़ता? हमारा आपका मन भगवान् से जुड़ने के स्थान पर तरह-तरह के भोग-विलास की ओर क्यों जाता है? भगवान् से जुड़ने में बाधक कौन है और उस बाधक का निरूपण करने के बाद उस बाधा का अतिक्रमण कैसे किया जाय? कैसे भगवान् तक पहुँचा जाय? अतः उन सबका मार्ग-निर्देशन करना भगवान् का अनिवार्य कर्तव्य हो गया। उन्होंने स्थापना कर दी कि मेरा सबसे युक्ततम भक्त वह है जिसका अंतःकरण मुझमें समाहित हो जाता है, जो श्रद्धा के साथ मुझको भजता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर (३/१९/१)

अनासक्त होकर काम करो। गीता में अनासक्त होकर कर्म करने का भगवान् उपदेश देते हैं। दो रास्ते हैं – एक रास्ता है अनासक्ति का, और दूसरा आसक्ति का।

तुलसीदास जी ने एक बहुत ही अच्छा दोहा कहा है –

कै ममता करु राम सों, कै ममता परहेलु।
दुइ-मँह रुचै जो एक ही, खेल छाँड़ि छल खेलु।।

दो ही रास्ते हैं – *कै ममता करु राम सों* – या तो अपनी ममता का आधार राम को बना लो – ममता माने 'मेरापन'। या तो तुम अपनी ममता की परिधि में रामजी को ले आओ और मीरा की तरह कहो – *मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई, जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई।* मेरी ममता केवल गिरधर गोपाल से है। या तो यह करो या फिर ममता का त्याग कर दो – निर्मम हो जाओ। *दुइ मँह रुचै जो एक ही* - दोनों में से एक ही रास्ता लेना होगा। या तो वैराग्य का रास्ता लो, निर्मम हो जाओ कि मेरा कुछ भी नहीं है और अगर मेरापन छूटता नहीं तो अपने मेरेपन की परिधि में रामजी को ले आओ। मेरा तो राम ही है। *मय्यासक्तमनाः पार्थ...* अपना मन मुझमें लगा दो, चिपका दो। चारों तरफ से खींचकर अपना मन मुझमें लगा दो।

मयि कौन है? जिसके लिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपना मन लगा दो। श्रीकृष्ण ने कहा है *'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्'* – मैं अज हूँ, अनादि हूँ - सम्पूर्ण लोकों का स्वामी हूँ - वह परमब्रह्म परमात्मा मैं हूँ। लेकिन हमारा तुम्हारा मन अज, अनादि, निर्गुण निराकार प्रभु के प्रति लगता है क्या? भक्ति ऐसा विलक्षण तत्त्व है जिसमें प्रत्यक्ष के माध्यम से परोक्ष का बोध कराया जाता है। अद्‌भुत बात है। भले भगवान् कहते रहें कि मैं अज हूँ, अनादि हूँ, सर्वलोक महेश्वर हूँ ; किन्तु अर्जुन तो उनको पीताम्बरधारी कृष्ण, अपना सखा ही मानते थे। और हम तुम क्या करते हैं?

प्रत्यक्ष दिखता है पत्थर का टुकड़ा, हम कहते हैं नर्मदेश्वर शिव। हम उसको

कहते हैं — शालग्राम शिला। प्रत्यक्ष में परोक्ष का, परमात्मा का योग कर दें। प्रत्यक्ष— जो आंखों के सामने दिख रहा है - अक्ष माने आंख! अक्ष माने इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से अनुभव हो रहा है, उसी में जो इन्द्रियातीत है, जो इन्द्रियों से परे है उसको जोड़कर, उसको मानकर देखें। मूर्तिपूजा का रहस्य यही है।

मूर्ति में हम प्रत्यक्ष जिस रूप को देख रहे हैं उसी रूप में परमात्मा का आविर्भाव होता है। उसी रूप में हम परमात्मा का ध्यान करते हैं — और उसके माध्यम से हम परमात्मा से जुड़ जाते हैं। हम केवल मूर्ति के प्रस्तर से नहीं जुड़ते, हम उसके माध्यम से परमात्मा से जुड़ते हैं ; क्योंकि हमारी श्रद्धा उसमें है। लेकिन उस श्रद्धा का व्यास इतना बड़ा होना चाहिए कि उस में सारी सृष्टि आ जाय।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः। (७/१/१)

तुम अपना प्रेम मुझे दो - अपनी आसक्ति मुझे दो - प्यार मुझसे करो। दुनिया में ऐसा होता है कि हम प्यार किसी से करते हैं और भरोसा किसी पर करते हैं ; क्योंकि हमारी मानसिकता विभक्त है। मानसिकता का आधार एक ही होना चाहिए। मुझसे ही प्रेम करो - और मेरा ही आश्रय लो, मेरा ही भरोसा करो। सहारा भी भगवान् का, प्रेम भी भगवान् से ही और ऐसा करके बैठो मत..*'योगी युंजीत सततं..'* (६/१०)

लोकमान्य तिलक तो कहते हैं कि निरन्तर कर्मरत रहो। लेकिन मेरे गुरुजी कहते हैं कि कोई भी योग करते रहो। कर्मयोग - भक्तियोग - ज्ञानयोग - ध्यानयोग - सहजयोग ; कोई भी योग करते रहो — निकम्मे होकर मत बैठो। जो कोई भी कर्म कर रहे हो, वह करते रहो। भगवान् से जुड़े रहो जिस माध्यम से भी जुड़ सकते हो, जुड़े रहो। अपनी साधना निरन्तर करते रहो। भगवान् का सहारा, भगवान् से प्रेम ; और निरन्तर सक्रियता। निरन्तर भगवान् से जुड़ने की जो प्रक्रिया है, जो भी योग तुमने लिया है, जो भी रास्ता तुमने स्वीकार किया है, उसपर चलते हुए— - *'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु'* (७/१/२)।

ज्ञान कैसा होना चाहिए। ज्ञान निःसंशय होना चाहिए। जिस ज्ञान में संशय हो वह ज्ञान नहीं, वह तो अज्ञान है। *संशयात्मा विनश्यति* — संशय नहीं होना चाहिए, असंदिग्ध, समग्र और पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। खण्डित और अधूरा ज्ञान नहीं होना चाहिए। भगवान् ने अर्जुन से कहा कि परिपूर्ण ज्ञान किस तरह से होगा, वह मैं तुमको बताता हूँ। इसके लिए तीन बातें आवश्यक हैं— अपना प्रेम मुझको दो — *मय्यासक्तमना पार्थ* ; मेरा भरोसा करो, मेरा आश्रय लो, *मदाश्रय* — अन्य कोई आसरा नहीं होना चाहिए ; और योगयुक्त-सक्रिय रहो, निरन्तर कर्मरत रहो। जो रास्ता चुना है, उसपर

निरन्तर आना-जाना जारी रखो। चाहे वह ज्ञान का रास्ता हो या ध्यान का, कर्म का या भक्ति का - यह तीन काम यदि तुम करो - तो फिर दो बातें तुम्हें बताऊंगा। मैं तुमको असंदिग्ध और पूरा ज्ञान दूँगा। कोई कमी, कोई त्रुटि, कोई अभाव, कोई अधूरापन नहीं रहेगा। समग्रता के लिए यहाँ दो बातें कही हैं :

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। (७/२/१)

अशेषतः कहूँगा कुछ छोड़ूँगा नहीं। फिर जानने को कुछ शेष नहीं बचेगा। समग्र के लिए अशेषतः शब्द का प्रयोग किया है भगवान् ने। अपनी बात को पुनः पुष्ट कर रहे हैं। अपनी बात पर बल दे रहे हैं और यह दो प्रकार की बात होगी।

वक्ष्यामि अर्थात् बोलूँगा, बता दूँगा, वर्णन करूँगा और *वक्ष्यामि* अर्थात् वहन करूँगा, तुमको लाकर दूँगा — यह मेरी जिम्मेदारी है। भगवान् जैसे बाजी लगाकर कह रहे हैं कि तुम अपनी तरफ का काम करो, मैं तुम्हें समग्र और असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त करा ही दूँगा। क्या दें भगवान्?

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं। विज्ञान के साथ ज्ञान दूंगा। ज्ञान अर्थात् सच्चाई को पूरा-पूरा जान लेना कि परमात्मा कैसे हैं? क्या हैं। और विज्ञान? अर्थात् विशेष ज्ञान। ज्ञान में क्या विशेषता है? ज्ञान में विशेषता यह कि जो कुछ हमने जाना है— वह हमारे जीवन में उतर आये। जो कुछ हमने जाना है, उसका हमको अनुभव भी हो। विज्ञान का मतलब यह कि हम सिर्फ रट्टू तोते न रह जाएँ। *सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै* — सुनते हैं, और उसपर विचार भी करते हैं, हम समझ भी लेते हैं और समझा भी देते हैं। मैं भी यही धृष्टता कर रहा हूँ कि नहीं? आपलोगों को समझाने की चेष्टा कर रहा हूँ कि नहीं? मैंने अपने गुरु से सुना, उसपर विचार किया, अपनी शक्ति भर उसको समझा, और आपलोगों को अपनी शक्ति भर समझा रहा हूँ। प्रश्न है मुझको उसका अनुभव हो गया है कि नहीं? ज्ञान तबतक फलप्रद नहीं होगा, जब तक हम उसका अनुभव नहीं कर लेते। ज्ञान का जो अर्थ है, उसका साक्षात्कार होना चाहिए। शब्द तो घट हैं — घट माने घड़ा। अमृत तो अर्थ में है। शब्द के अर्थ का भी ज्ञान होना चाहिए। शब्द का जो मतलब है, उसका भाव है, वह ज्ञान हमारे अनुभव में उतरना चाहिए। उसके अनुरूप हमारा आचरण होना चाहिए। केवल रट्टू तोता नहीं बनना चाहिए।

'परउपदेश पाण्डित्यम्' नहीं 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।'

दूसरे को उपदेश देने के लिए सभी पंडित हैं, लेकिन हम दूसरों को जो उपदेश दे रहे हैं, उसके अनुसार स्वयं भी आचरण कर सकें।

ज्ञान भी हमको प्राप्त हो और उस ज्ञान को अपने चरित्र में उतार लेने की क्षमता – वह विज्ञान भी, हमको प्राप्त हो। कुछ कहते हैं कि ज्ञान का मतलब, वह एक तत्त्व जो सबके मूल में है। विज्ञान का मतलब, वह एक अनेक कैसे हो गया। उस एक के अनेक होने की प्रक्रिया को जान लेना— यह विज्ञान है, और सारी सृष्टि के नाना असंख्य नामरूपों के भीतर एक ही तत्त्व विद्यमान है, इसका बोध हो जाना ज्ञान है। तो ज्ञान और विज्ञान दोनों प्रदान करना चाहते हैं प्रभु। ब्राह्मण का वर्णन करते हुए उसके स्वभाव में भी ज्ञान विज्ञान की बात कही गई है :

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। (१८/४२/२)

जो ज्ञान है उसका विज्ञान भी है। जो ज्ञान है उसका अर्थ भी जानते हैं, उसको समझा भी सकते हैं। किन्तु यहां वेदान्त में अर्थ यही है कि उस एक तत्त्व को पूरा जान लेना। जो त्रिगुणातीत है, सर्वव्यापी है, वह कैसे अनेक हो गया। उस एक तत्त्व का अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना ही ज्ञान-विज्ञान है। साक्षात् अपरोक्ष अनुभव कर लेना।

प्रत्यक्ष— माने जो हमारी इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात है, जो हमारी आँख से दिखता है, जिसे हम छू सकते हैं, जिसका हम स्वाद ले सकते हैं। परोक्ष— अर्थात् जो हमारी आंखों से परे है। अपरोक्ष— माने जो इस चित्र के समान सामने भी नहीं है और स्वर्ग-नरक के समान परोक्ष भी नहीं है ; जो अपने मन में है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, उत्साह, उल्लास, ज्ञान, चेतना – ये सब अपरोक्ष हैं। आँख के सामने भी नहीं हैं और पीछे भी नहीं हैं मगर अपने शरीर के भीतर हम उनका अनुभव भी कर रहे हैं — लेकिन ये अपरोक्ष भी कभी है, कभी नहीं। अभी चेतना है, अभी आलस्य आ गया, अभी उत्साह है, अभी क्रोध आया। साक्षात् अपरोक्ष जो सदा बनाये रखता है जो कभी मिटता नहीं — खोता नहीं — सदा रहता है — इसे जान लेना परम सत्य का अनुभव कर लेना, यह विज्ञान है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।। (७/२)

"जिसको जान लेने के बाद कुछ और जानना शेष नहीं रह जाता" यह उपनिषद् की प्रतिज्ञा है। *यस्मिन् विज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति।* जिसको जानने से सब कुछ जान लिया जाता है। अलग-अलग चीजों को कहाँ तक जानोगे भाई! असंख्य हैं। कोई एक ऐसी चीज है जिसको जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है। कैसे जान लिया जाता है? अधिष्ठान का ज्ञान होने पर अधिष्ठान पर आश्रित सब का ज्ञान हो जाता है।

जैसे यदि सोने का ज्ञान तुमको हो गया कि सोना क्या चीज है तो सोने की अँगूठी, हार, बाजूबंद, सोने के कड़े का, सोने की चूड़ी का, सोने की करधनी का सबका ज्ञान हो गया कि नहीं? सबमें सोना ही है। क्या बदल रहा है? नाम बदल गया। किसी का नाम चूड़ी, किसी का नाम अंगूठी, किसी का नाम बाजूबन्द। रूप बदल गया कोई गोल, कोई छोटा, कोई बड़ा लेकिन सबमें सोना है। सोना जान लेने के बाद तुमने चूड़ी, कड़ा, बिछुआ, हार, सब कुछ जान लिया।

मिट्टी को जान लिया तो मिट्टी से बने सब पात्रों को जान लिया। जो परमात्मा इस सृष्टि के मूल में है, जिस परमात्मा से यह सारी सृष्टि प्रकट हुई, जिसमें है, जिसमें जायेगी, उस परमात्मा को, उस मूल वस्तु को जान लिया तो सब कुछ को जान लिया। भगवान् कहते हैं– मैं वह ज्ञान तुमको दूँगा, जिसको पाकर इस लोक में जानने के लिए कुछ बाकी बचता ही नहीं। इस सम्पूर्ण सृष्टि का जो मूल तत्त्व है, जिससे यह सारी सृष्टि बनी, जिसमें यह स्थित है, जिसमें यह विलीन होगी, मैं उसका ज्ञान तुमको करा दूँगा। उस एक सत्य को उस तत्त्व को, जान लेने के बाद और कुछ बाकी नहीं रहेगा। इतना बड़ा ज्ञान, उसकी महत्ता का निरूपण करने के बाद, अब प्रभु उसकी दुर्लभता का निरूपण करते हैं।

देखो भाई! दुनिया में कई प्रकार के लोग होते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनको कठिन काम पसन्द आता है। जो कठिन काम है वही करेंगे, आसान काम तो सभी करते हैं। तो भगवान् यहाँ चुनौती देते हैं। यह कितना कठिन काम है यह बताते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। (७/३/१)

हजारों, लाखों आदमियों में से कोई एक आदमी इस रास्ते पर आना चाहता है, इसका ज्ञान सिद्ध करना चाहता है, इसकी प्राप्ति करना चाहता है। लाखों आदमियों में एक।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः। (७/३/२)

जो प्रयत्नशील हैं और जो सिद्ध हो गये हैं, उनमें से कोई विरला व्यक्ति ही मुझको तत्त्वतः जान पाता है। यह उस ज्ञान एवं श्रेष्ठता का निरूपण है। यह निरूपण इसलिए कि जो सचमुच इस रास्ते पर चलना चाहते हैं, जो तेजस्वी हैं – वे इस चुनौती को स्वीकार करें।

"असम्भव तो नहीं है ना! ज्ञान प्राप्त तो किया जा सकता है ना! लाखों में से एक को मिलता तो है ना! मैं लाखों मे से एक बनूंगा।" यह भाव रखकर जिसमें तेजस्विता है, जिसमें दृढ़ता है, उसका आह्वान कर रहे हैं प्रभु।

हर लल्लू-बुद्धू को यह ज्ञान प्राप्त हो जायेगा, ऐसा नहीं है। किन्तु जो भी इस मार्ग पर आना चाहते हैं, वे सँभल कर आयें, समझ-बूझ कर आयें ; वे यह जान कर आयें कि यह मार्ग दुर्गम है, कठिन है, कल्याणकृत है, कभी अकल्याण नहीं होगा। यह सोच कर न आयें कि इसी जीवन में हमें ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। अहंकार करके मत आओ, विनम्रता के साथ आओ, धीरज के साथ आओ, सहिष्णुता के साथ आओ, आने की हिम्मत हो तो आओ – इस प्रकार प्रभु आह्वान करते हैं।

अब इस आह्वान के बाद प्रभु बता रहे हैं — *समग्रं मां* — अपने को समग्रता के साथ बता रहे हैं। समग्रता का मतलब यह हुआ कि भगवान् का ज्ञान तो हो ही और भगवान् जिस रूप में अभिव्यक्त होते हैं, उसका भी ज्ञान हो। भगवान् जिस प्रक्रिया से अभिव्यक्त होते हैं उसका भी ज्ञान हो। कहते हैं –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। (७/४-५)

इसमें सृष्टि के विस्तार के वर्णन की प्रक्रिया तो सांख्य शास्त्र से ली है ; और सांख्यशास्त्र की प्रक्रिया को वेदान्त में समाहित किया है। गीता दर्शन, साँख्य दर्शन नहीं है। कपिल मुनि ने सांख्यशास्त्र का निरूपण किया था। 'सांख्य' का मतलब होता है संख्या का, गिनती का। उन्होंने गिनती गिनाई। उन्होंने बताया कि सारी सृष्टि पचीस तत्त्वों का खेल है। उसमें एक प्रकृति है, जो अनादि है; और एक पुरुष है, जो असंख्य है। जो मूल प्रकृति है, जब वह आत्मविस्तार करना चाहती है तो उसका साम्य भंग होता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, त्रिगुणमयी है। सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों का जब समान भाव रहता है, जब गुणों का साम्य रहता है, तब प्रकृति अव्यक्त रहती है। जब उसकी साम्यावस्था भंग होती है, सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों में जब कोई कम, कोई अधिक होता है, तो अव्यक्त प्रकृति अपने को प्रकट करने की ओर अग्रसर होती है।

अच्छा हम आप कैसे काम करते हैं? बुद्धिमान लोग कैसे काम करते हैं? पहले बुद्धि से सोचते हैं कि क्या करेंगे क्योंकि —

बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हँसाय।।

हमलोग बिना बिचारे काम नहीं करते। बुद्धिपूर्वक काम करना चाहिए, बुद्धिहीन

होकर काम नहीं करना चाहिए। तो अव्यक्त प्रकृति का उसकी साम्यावस्था के भंग होने पर जो पहला रूप होता है उसको कहते हैं 'महत्'; अर्थात् मूल बुद्धि। सबकी बुद्धियों का मूल, सबकी बुद्धि जिसमें समाहित है उसको कहते हैं महत् तत्त्व और जब वह बुद्धि आती है कि हम अपना विस्तार करेंगे तो फिर अपनी भिन्नता का बोध होता है, उसको कहते हैं 'अहंकार'। मैं अमुक, मैं अमुक, मैं अमुक। मैं अपने को अलग मान रहा हूँ तो यह अहंकार सामूहिक अहंकार है; और फिर उससे निकलता है सामूहिक 'मन'।

प्रकृति की साम्यावस्था भंग हुई। पहला तत्त्व बना महत् तत्त्व। सबसे बड़ा तत्त्व, मुख्य तत्त्व, बुद्धि तत्त्व। फिर बना अहंकार। उससे बना मन; और इसमें सत्त्वगुण से बनीं दस इन्द्रियाँ और एक मन। तमो गुण से बनी, पहले पंचतन्मात्राएँ। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। इन तन्मात्राओं से बने पंच महाभूत— क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर। इसके साथ जोड़ लो उस परम पुरुष को जिसकी सन्निद्धि में प्रकृति काम करती है। तो (३+११+१०+१+२५) पच्चीस तत्त्व हो गये।

वेदान्त इस प्रक्रिया को मानता है; किन्तु इस बात को नहीं मानता कि द्वैत है। सांख्य दर्शन मानता है कि एक प्रकृति है जो जड़ है। वह काम करती है, पुरुष की सन्निद्धि में। जड़ प्रकृति कैसे काम करेगी? तो उसमें समझाते हैं कि जैसे चुम्बक के निकट आने पर लोहे के चूरे में गति आ जाती है। वैसे ही जड़ प्रकृति भगवान् की, पुरुष की सन्निद्धि के कारण सक्रिय होती है; और सारी सृष्टि रच डालती है।

गीता कहती है कि पुरुष और प्रकृति— ये दो नहीं, ये दोनों परमात्मा के रूप हैं। सांख्य में प्रकृति स्वतन्त्र है, किसी की अधीनस्थ नहीं है। लेकिन पुरुष की सन्निद्धि में काम करती है। पुरुष असंख्य हैं, प्रकृति के साथ जुड़कर सृष्टि के विस्तार में सहायक होते हैं; पर स्वयं असंग रहते हैं।

गीता कहती है कि नहीं! ये जो अपरा जड़ प्रकृति है; अपरा अर्थात् जो गौण है, जो छोटे दर्जे की है, जो निकृष्ट है। परा माने जो उत्कृष्ट है, श्रेष्ठ है। तो जो जड़ प्रकृति है, वह आठ प्रकार की है। *'भिन्नाप्रकृतिरष्टधा'* — मूल तत्त्व जब फूटा, घड़ा फूटा तो उसके टुकड़े हो गये या बीज फूटा तो बीज फूटकर उसके आठ प्ररोह निकले, *'भिन्ना'* — फूट गये, अलग-अलग हो गये। प्रकृति अष्टधा हो गयी, आठ भागों में विभक्त हो गयी। किसमें-किसमें बँटी, अब इसमें इन्होंने महाभूतों का नाम लिया है।

पांच महाभूतों का नाम लेते हुए भी मूलतः पंचतन्मात्राओं की ओर संकेत कर रहे हैं; और पंचतन्मात्राओं की ओर संकेत करने के कारण फिर वे मानते हैं कि यह

जो मन है, यह मूल अव्यक्त प्रकृति का पहला महत् तत्त्व है। बुद्धि के द्वारा उन्होंने अहंकार को बताया है और अहंकार के द्वारा उन्होंने मन को बताया है। ऐसा उन्होंने बताने की चेष्टा की है। यानी सांख्य शास्त्र के साथ उसे मिलाने की चेष्टा की है। कहने का मतलब यह कि जड़ प्रकृति है चाहे इसको पंचमहाभूतों, अहंकार, मन और बुद्धि के साथ आठ मान लो चाहे सांख्य के चौबीस तत्त्व मान लो। यह जड़ प्रकृति अपरा है। लेकिन यह अपरा प्रकृति किसकी है? मेरी है। इस अपरा प्रकृति का स्वामी कौन है? मैं हूँ। और जो दूसरी प्रकृति है — *'अपरेयमितस्त्वन्यां'* यह परा है। दूसरी प्रकृति है *'जीवभूतां महाबाहो'*। अब देखिए इसमें दोनों नाम लिये है; प्रकृति भी नाम लिया है और *'जीवभूतां'* भी कहा है। *जीवभूतां पराप्रकृतिम् जीवश्वरूपिणि पराप्रकृति*— इसका मतलब यह है कि हर शरीर में जो क्षेत्रज्ञ है वह तो है जीव; लेकिन स्वयं को शरीर वाला समझ बैठता है तो वह जीवभूतां पराप्रकृति अज्ञान का आश्रय बन जाती है। इसलिए वह चेतना से युक्त होते हुए भी प्रकृति ही है। एक तीसरा तत्त्व है, जो पुरुषोत्तम है, जिसकी यह पराप्रकृति भी है और अपरा प्रकृति भी। देखिये—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। (७/५)

जो जीवभूता पराप्रकृति इस सारी सृष्टि को धारण करती है। यह भी जैसे उन्होंने चौथे श्लोक में कहा कि अपराप्रकृति मेरी है, वैसे ही यह भी मेरी है— *विद्धि मे पराम्* — यह पराप्रकृति भी मेरी है। यह नहीं कि पराप्रकृति जीवात्मा स्वाधीन है। यह नहीं कि अपरा प्रकृति, जड़ प्रकृति स्वाधीन है। अपरा प्रकृति, जड़ प्रकृति किसकी है? मेरी है। जीवभूता परा प्रकृति शरीर में क्षेत्रज्ञ के रूप में रहनेवाली जीवात्मा जो अपने को शरीर के साथ युक्त मान लेती है, वह आत्मा भी किसकी है? मेरी है। न तो जीवात्मा स्वाधीन है; और न प्रकृति स्वाधीन है।

मेरे गुरुजी इसको समझाते थे कि एक ही परमात्मा, जब शरीर में शरीर को अपना मान लेता है, तो अज्ञान का आश्रय बन जाता है। जब तक वह अज्ञान का आश्रय बना हुआ है, तब तक प्रकृतिबद्ध जीवात्मा है। अज्ञान किसमें है? जीवात्मा में है वह अपने को क्या मान रहा है? नामरूप मान रहा है, शरीर मान रहा है। इस शरीर से अपने को सीमित मान रहा है, परिच्छन्न मान रहा है। इस अज्ञान के आश्रय के कारण यह जीवात्मा बद्ध है, बँधा हुआ है। और यह प्रकृति भी मेरी है। मैं इसका स्वामी हूँ। मैं जड़ प्रकृति का भी स्वामी, मैं इस जीवात्मा का भी स्वामी।

अब आप देखिए क्या मजा है। एक ही परमात्मा अपने को शरीर में आबद्ध

मानकर जब अज्ञान का आश्रय बनता है, तो जीवात्मा हो जाता है; और वही परमात्मा जब अज्ञान का विषय बनता है, तो प्रकृति हो जाता है। इस बात को समझिये। यह प्रकृति जो हमारी आँख के सामने सारी दुनिया देख रही है, यह क्या है? यह हमारी पाँचों इन्द्रियों का विषय है।

यह जो दुनिया है, इसी में शब्द है, इसी में स्पर्श है, इसी में रूप है, इसी में रस है, इसी में गंध है। इन पांचों को छोड़ कर कोई छठी बात नहीं है। हजारों नाम रूप हैं; लेकिन जो नामरूप है, उसमें से एक को उसका रूप दिखाई पड़ता है आँख को, अगर उसका स्वाद होगा तो मिलेगा जीभ को, अगर उसमें शब्द होगा तो कान को सुनाई पड़ेगा, स्पर्श होगा तो त्वचा को और सुगन्ध या दुर्गन्ध होगी तो नाक को। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध— इन पांच विषयों के रूप में यह प्रकृति है। वही परमात्मा जब विषय बन जाता है, तो प्रकृति है। जब अज्ञान का आश्रय बनता है, तो जीवात्मा है; और जब दोनों से परे है तब तो शुद्ध परमात्मा है।

एक ही परमात्मा जीवात्मा और प्रकृति जगत् के रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है, यह इसकी बड़ी विचित्रता है। *जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।* यह जीवात्मा सारे जगत् को धारण करता है।

इसमें फिर एक बात आ गयी।

सांख्य में असंख्य पुरुष हैं वेदान्त में असंख्य पुरुष नहीं हैं। असंख्य एक प्रतीत होते हैं। है एक ही तत्त्व; लेकिन जबतक वह अपने को अंश के रूप में, अपने को आबद्ध के रूप में, बँधे हुए रूप में देखता है तो नाना, अलग-अलग प्रतीत होता है। है एक ही, उस एक ही तत्त्व को इस तरह से एकता का संकेत करते हैं। *'ययेदं धार्यते जगत्'* सारी सृष्टि को वह तत्त्व धारण करता है जो जीवात्मा के रूप में ज्ञात है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। (७/६)

अपरा और परा इन दोनों के द्वारा सारे भूत उत्पन्न होते हैं। भूत अर्थात् जिसका हमको डर लगता है वह नहीं, मर के कोई भूत हो गया वह नहीं, भूत माने जो पैदा हुआ। तो जो हुआ, बना, तो किन दोनों चीजों से बना। सारे संसार के नामरूप अपरा प्रकृति और पराप्रकृति से। जो कुछ है सब को यही दो धारण करते हैं। इन दोनों के माध्यम से *'प्रभवः प्रलयस्तथा'*। बड़ी गम्भीर बात है। इसको ध्यान से सुनिये। मैं ही इस सम्पूर्ण जगत का *'अहं कृत्स्नस्य जगतः'*— सम्पूर्ण जगत का अधिभूत का भी, अधिदैव का भी और अध्यात्म का भी, प्रकृति का भी, जीवात्मा का भी— क्या हूँ? *प्रभवः*।

प्रभवः माने— प्रभवतिअस्मात – जिससे होता है। जो बनाता है। यानी कोई चीज कैसे बनती है? इस पर ध्यान दें।

दो चीजें होती हैं— एक निमित्त कारण होता है और एक उपादान कारण होता है – जैसे घड़ा है तो घड़े का उपादान कारण क्या है? मिट्टी है। और घड़ा बनाने का निमित्त कौन है? कुम्हार है, चाक है और वह पतली सी सुतली है जिससे काट कर अलग कर देता है। तो कुम्हार का चाक हाथ से आकार देता है और सुतली से काटता है। यह तो हुआ निमित्त कारण बनानेवाला, तो इस जगत को बनाने वाला कौन है? *'प्रभवः'* मैं हूँ। सारी सृष्टि किससे बनती है? *प्रभवति* - किससे होती है - मुझसे होती है। *प्रभवतिअस्मात्इति* 'प्रभवः'। मैं इस सारी सृष्टि को बनाने वाला हूँ– मैं इस सारी सृष्टि का निमित्त कारण हूँ। और *प्रलयस्तथा* — जिसमें लीन हो जाय वह है प्रलय, मैं ही इसका उपादान कारण भी हूँ।

आप ध्यान दीजिए— मिट्टी के बने हुए पात्र टूट गये तो क्या हो गये? मिट्टी हो गये। सोने के गहने बने— अँगूठी बनी, चूड़ी बनी, हार बना, कड़ा बना, ये महिलाओं को बहुत प्रिय हैं। उसको जरा सी आग लगाई, गलाया तो क्या बना? कुछ और बना? सारे नामरूप पिघल गये क्या बने भाई! अँगूठी, चूड़ी, कड़ा, हार, किसमें लीन हुआ? सोने में। इस बात को समझें कि इस सृष्टि को बनाने वाला कौन? निमित्त कारण कौन? इसका कुम्हार कौन? इसका चाक कौन? परमात्मा – *प्रभवः*। इसका जो इसमें लीन होता है वह उपादान कारण होता है और इसका उपादान कौन? *प्रलयस्तथा*— मैं ही इसका अभिन्न निमित्त उपादान कारण हूँ। बात समझ में आई कि नहीं? इस सृष्टि को बनाने वाला कौन? इसका निमित्त कारण कौन? परमात्मा। किसने ये नामरूप बनाये? पराप्रकृति और अपराप्रकृति की सहायता से ये असंख्य-नामरूप बनानेवाला कौन? परमात्मा। और इन असंख्य नामरूपों में बना कौन? बनाने वाला भी परमात्मा और बननेवाला भी परमात्मा। जैसे अंगूठी, चूड़ी, कड़ा, हार, बिछुआ, बाजूबन्द में बना कौन? सोना ही अंगूठी बनी, सोना ही चूड़ी बना, सोना ही हार बना, सोना ही बिछुआ बना, वैसे ही परमात्मा ही यह सब दृष्टिगोचर होने वाला संसार बना। परमात्मा ही इसका निमित्त कारण और परमात्मा ही इसका उपादान कारण। अभिन्न निमित्तोपादान कारण परमात्मा है। यह भगवान् डंके की चोट पर कहते हैं – *प्रभवः प्रलयस्तथाः*। इस बात को फिर समझाते हैं –

'नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय' — अगर परमात्मा उपादान कारण न होते इस सृष्टि में तो उनके अलावा कुछ और होता। घड़े का निमित्त कारण कुम्हार, कुम्हार अलग

है, घड़ा अलग है क्योंकि घड़े का उपादान कुम्हार नहीं है; घड़े का उपादान है मिट्टी। लेकिन परमात्मा ही इसका बनाने वाला है और परमात्मा ही बना हुआ है इसलिए परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं है। जब हम कहते हैं इस सृष्टि में असंख्य नामरूप दिखने पर भी इस सृष्टि में परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है, तो यह क्यों कहते हैं? यह बात सच कैसे है? यह बात सच इसी कारण है कि परमात्मा ही बनाने वाला है और परमात्मा ही बनने वाला है। जो कुछ बना हुआ है वह सब परमात्मा है लेकिन हमको परमात्मा दिखता क्यों नहीं? यही माया है, देखो! परमात्मा से अपना मन लगाओ यही बताया है न!

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।। (६/४७)

मेरा मत है कि वह मेरा सबसे युक्ततम भक्त है, जिसने अपना अंतःकरण मुझमें प्रवृष्ट कर दिया। अंतःकरण प्रभु में कैसे प्रवृष्ट हो जाय, क्योंकि हम तो असंख्य नामरूप देख रहे हैं। दुनिया में असंख्य आकर्षण हैं, दुनिया में असंख्य वस्तुएँ हैं; इन सबको छोड़ कर परमात्मा में ही हमारा अंतःकरण कैसे लग जायेगा? इसलिए लगेगा कि अगर तुम इसको ठीक-ठीक समझ लोगे कि परमात्मा ही इस सृष्टि को बनानेवाला है, परमात्मा ही इस सृष्टि के रूप में बनने वाला है, परमात्मा के अलावा और कुछ भी नहीं है, तो तुम्हारा मन परमात्मा में लगेगा। जबतक तुम परमात्मा से अलग किसी को मानते रहोगे कि यह मेरा पति है, यह मेरी पत्नी, यह मेरा बेटा, यह बेटी, यह मेरा दोस्त, यह मेरी गाड़ी, यह मेरा घोड़ा, यह मेरा हाथी और यह परमात्मा से अलग— तबतक मेरा मन उसमें लगेगा, परमात्मा में नहीं लगेगा। यह जो बात है कि सबकुछ मैं ही हूँ, मुझसे अतिरिक्त कुछ नहीं, *'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय'* (७/७/१) हे धनंजय! हे अर्जुन! गुरुजी कहते हैं धनंजय का मतलब धन जीतने वाला। धन का यहाँ तात्पर्य है— साधन। समस्त साधनों पर जिसका अधिकार है। ज्ञान पर भी, योग पर भी, कर्मपर भी, भक्ति पर भी। तुम धनंजय हो, साधनों के स्वामी हो, तो इस बात को समझो कि मुझसे भिन्न इस संसार में कुछ भी नहीं है।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। (७/७/२)

ये सब के सब मुझमें उसी प्रकार गुंथे हुए हैं जैसे सूत में मणियां। सूत में मणियां कैसे गुंथ जाती हैं? तर्क देंगे कि जैसे सूत अलग है, मणियाँ अलग हैं। इसलिए एक ही बात कैसे हुई भाई? यह क्या बात हुई इसको समझो। सोने का सूत हो, सोने का मनका हो तो। जो हार है उसका सूत भी सोने का और जो उसमें पिरोया गया वह भी

सोने का। सोने के हार में सोने के मनके पिरोये गए हैं। सूत में मणियाँ पिरोयी गई हैं; लेकिन वे मणियां, वे मनके भी सोने के हैं और सूत भी सोने का है। एक और बात बताई गयी है, सूत्र ही मणि बन गये। माने एक ही सूत है लेकिन उस सूत को इस तरह से कलात्मक ढंग से किया गया है कि उसी सूत में सूत का भी बोध होता है और मणि का भी। सेवाग्राम में गांधीजी का एक चित्र है जिसमें केवल सूत ही बुना गया है।

महिलाएँ ऊन से बुनती हैं। ऊन से बुनती हैं तो ऊन ही ऊन है; लेकिन उसमें एक रूप बन जाता है, आकार बन जाता है कि नहीं? तो ऊन के अतिरिक्त उसमें क्या है? लेकिन उसी ऊन से ही उसमें बंदर, भालू, बच्चा बन जाता है। बच्चा है कि ऊन है?

'सूत्रे मणिगणा इव।' जैसे सारे मनके सोने के, सोने के सूत में पिरोये हुए हैं, जैसे सूत की मणियां सूत में पिरोयी हुई हैं, वैसे ही सारा जगत् मुझमें पिरोया हुआ है। सब कुछ मुझमें ही है। मैं ही सबका आधार हूँ, मैं ही सब कुछ बना हुआ हूँ – सूत्र में मणिगणा की तरह ओतप्रोत है परमात्मा इस सारी सृष्टि में। *मयि सर्वमिदं प्रोतं* — मुझमें ही ये सबकुछ पिरोया हुआ है ; *सूत्रे मणिगणा इव* — जैसे सूते में सारी मणियां पिरोयी जाती हैं।

अब इस बात को समझाने के लिए पन्द्रह उदाहरण अगले पांच श्लोकों (८ से १२) में देते हैं। मूल सिद्धान्त उन्होंने यह बताया कि मैं ही नानारूपों में अपने को अभिव्यक्त कर रहा हूँ। इन नाना रूपों में अभिव्यक्त मैंने कैसे किया है, इसको समझाने के लिए पन्द्रह उदाहरण दिए हैं। ये पन्द्रह उदाहरण भगवान् की विभूतियां हैं, जिनमें भगवान् का विशेष गुण झलक जाता है। भगवान् और भगवान् की विभूति को समझना है, तो ऐसे समझो। दूध है पदार्थ — तो दही, छेना, मावा, लस्सी, खीर, ये सब दूध की विभूतियाँ हो गयीं। एक ही दूध है, वही दूध छेना बन जायेगा, वही दूध मावा बन जायेगा, वही दूध दही बन जायेगा, दूध ही सब कुछ बनता चला जा रहा है। दूध है मूल पदार्थ और इससे बने पदार्थ क्या हैं? विभूतियां। भूत माने होना और वि माने श्रेष्ठरूप से होना। अब ये जो सारी सृष्टि है इसमें कहीं-कहीं भगवान् का अनुभव तत्काल होता है, विशेष रूप से होता है; कहीं-कहीं नहीं होता। जिनमें भगवान् का विशेष रूप से अनुभव होता है, यहाँ उनको बता रहे हैं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।। (७/८)

(१) *रसोऽहमप्सु कौन्तेय* — हे कौन्तेय, हे कुन्ती पुत्र! मैं जलों में रस हूँ।

'अप्सु' - बहुवचन - क्यों कि बूंद-बूंद है न! जल में असंख्य बूंद हैं। इसलिए जल का संस्कृत में बराबर प्रयोग बहुवचन में होता है। लेकिन समस्त प्रकार के जलीय पदार्थ का मूल क्या है, रस। रस कारण है और सारा जितना जल हो, दूध हो, गन्ने का रस हो, फालसे का रस हो, आदि आदि। ये तमाम जितने जलीय पदार्थ हैं, उनकी जड़ में रस है।

(२) *प्रभास्मि शशि सूर्ययोः* यानि चन्द्रमा में, सूर्य में प्रभाके सिवाय क्या है? सूर्य का सूर्यत्व, चन्द्रमा का चन्द्रत्व, उसकी प्रभा के कारण है। वह प्रभा मैं हूँ।

(३) *प्रणवः सर्ववेदेषु* – समस्त वेदों का मूल तत्त्व क्या है? समस्त वेद का मूल है ओंकार। वह मैं हूँ।

(४) *शब्दः खे* यानी सारे आकाश में शब्द ही व्याप्त है। आकाश का बोध कराने वाला जो उसका गुण है वह उसका शब्द है। आकाश न हो तो शब्द न गूंजे, शब्द गूंजता कहाँ है? कहाँ लन्दन से, वाशिंगटन से, दिल्ली से, रेडियो या टी.वी. में शब्द प्रसारित किया जाता है; और यहाँ सब सुन लेते हैं। कैसे आता है? आकाश की जो व्यापिनी शक्ति है, उस व्यापिनी शक्ति के माध्यम से कहीं से प्रसारित किया हुआ शब्द, ठीक उपकरण द्वारा सुना जा सकता है। आकाश का मूलभूत तत्त्व जिससे आकाश की आकाशता है, वह उसका शब्द है। वह मैं हूँ।

(५) *पौरुषं नृषु* – यह बहुत महत्वपूर्ण है। मनुष्य का मनुष्यत्व उसका पौरुष होता है। वह मैं हूँ। गीता पौरुष प्रधान ग्रंथ है। गीता निकम्मे आलसियों का ग्रंथ नहीं है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।। (२/३७)

मरोगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे। जीतोगे तो राज्य प्राप्त करोगे। उठो! क्लीव बने बैठे हुए हो, लड़ोगे नहीं! लड़ो। यह है – *पौरुषं नृषु*। मनुष्यों का मनुष्यत्व किसमें है? उनके उद्यम में, पौरुष में, परिश्रम में। एक बार में काम नहीं होगा, दो बार में करेंगे; दो बार में नहीं होगा, दस बार में करेंगे। मनुष्य की मनुष्यता उसके पौरुष में है, उसके बार-बार बुद्धियुक्त परिश्रम में है। आगे कहते हैं—

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।। (७/९)

(६) *पुण्यो गंधः पृथिव्यां* यानी पृथ्वी का गुण देखो! जो पांच महाभूत हैं, उनकी पांच विशेषताएँ हैं। आकाश में व्यापिनी शक्ति है और उसका विषय है शब्द, एक ही गुण है। वायु में प्राणिनी शक्ति है और उसमें दो गुण आ गये। उसमें शब्द भी जाता है

और स्पर्श भी। अग्नि में दाहिका शक्ति है, तेज है और उसमें तीन गुण आ गये। उसमें शब्द भी होता है, चरचराती है अग्नि शिखा। उसमें स्पर्श भी है और उसमें रूप भी है। जल में आप्यायिनी शक्ति है उसमें चार गुण आ गये। शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पृथ्वी में धारिणी शक्ति है और उसमें पांच गुण आ गये। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। लेकिन पृथ्वी की अपनी विशेषता गंध में है। समस्त फूलों में जो सुगंध है वह पृथ्वी की गंध है। गंध ही पृथ्वी का विशेष लक्षण है। वह मैं हूँ।

(७) *तेजश्चास्मि विभावसौ* – विभा ही जिसका धन है, वसु माने धन। विभा माने प्रवाह - रोशनी, चमक, तेज। तो जिसका धन विभा है। सूर्य को विभावसु कहते हैं, चन्द्रमा को विभावसु कहते हैं, अग्नि को विभावसु कहते हैं। यहाँ चूंकि सूर्य और चन्द्र पहले आ गये हैं इसलिए यहाँ — विभावसु का मतलब है अग्नि। अग्नि में जो उसका तेज है, जो उसकी दाहिकाशक्ति है वह उसको अग्नित्व प्रदान करती है, वह मैं हूँ।

(८) *जीवनं सर्वभूतेषु*— हम सब पैदा हुए हैं और हममें जो जीवन की शक्ति है, हमको जो धारण करती है, वह जीवनी शक्ति मैं हूँ।

(९) *तपश्चास्मि तपस्विषु*— तप ही किसी को तपस्वी बनाता है। तपस्वियों में तप-रूप मैं ही हूँ। भगवान् आगे कहते हैं—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।। (७/१०)

(१०) *बीजं मा सर्वभूतानां* — हे पार्थ ! सब प्राणियों का आदि कारण या सनातन बीज तू मुझे ही समझ। (११) बुद्धिमानों में बुद्धिरूप एवं (१२) तेजस्वियों में तेज-रूप भी मैं ही हूँ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।। (७/११)

(१३) *बलं बलवतां चाहं* — हे पार्थ बलवानों का काम और राग से रहित बल मैं ही हूँ। दो प्रकार के बलवान होते हैं— एक बहुत अच्छा श्लोक है—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्ति परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधु विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

विद्याविवादाय — दुष्टलोग अगर विद्या पढ़ेंगे तो सबके साथ तर्क करेंगे। दूसरे की बात काटना ही जिनका लक्षण है, आधुनिक काल में उनको बुद्धिजीवी कहते हैं। बहुत पहले मैंने कॉफी हाउस के अनुभव पर एक चतुष्पदी लिखी थी–

हर बात औरों की कन्ने से काटी,
खाई सच-झूठ की तर्कों से पाटी।
जीत ली दुनिया कॉफी के प्यालों पर,
शुद्ध बुद्धिजीवी की स्वस्थ परिपाटी।।

कुछ काम नहीं करेंगे केवल बहस करेंगे, दूसरों की बात काटेंगे। *'बुद्धिजीवी और काम? राम-राम'*। तो *विद्या विवादाय धनं मदाय* – धन होता है तो अहंकार होता है और शक्ति आई, बल आया तो दूसरों को तकलीफ देंगे, सबको दबाएंगे। ये तीनों बातें दुष्टों की हैं। साधुओं का क्या लक्षण है?

ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय – विद्या आयेगी तो ज्ञान देंगे, धन होगा तो दान देंगे, और शक्ति आयेगी तो दुर्बल की रक्षा करेंगे।

भगवान् कहते हैं– *'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्'* मैं बलवानों का वह बल हूँ, जिसमें कोई आसक्ति नहीं है, राग नहीं है, कोई कामना नहीं है। दूसरे का लूट लूँ, छीन लूँ, खुद बड़ा हो जाऊँ, यह बात नहीं! दूसरों की रक्षा करूँ, धर्म की रक्षा करूँ। ऐसे बलवान का बल मैं हूँ।

(१४) *धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ*— हाँ, मैं धर्मयुक्त काम हूँ। भगवान् अगर काम नहीं होते तो सृष्टि का विस्तार कैसे होता? लेकिन कौन सा काम? इस बात पर ध्यान दें। हमलोगों के यहाँ जो विवाह प्रथा है, वह क्या है? मन बहुतों की ओर न जाये। एक के प्रति, धर्मपूर्वक जिसका पाणिग्रहण किया है, उसके प्रति ही हम अनुरक्त रहें। धर्म से अविरुद्ध काम, धर्म का विरोधी काम नहीं! धर्म के अनुकूल जो सृष्टि का विस्तार करना चाहते हैं, वह काम हूँ। *धर्माविरुद्धोः भूतेषु*। ये चौदह उदाहरण हैं। इसमें सात्विक, राजस और तामस सब प्रकार के उदाहरण हैं। अब आगे के श्लोक में पन्द्रहवां उदाहरण बताते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।। (७/१२)

(१५) *मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि* – यह बड़ी अद्‌भुत बात कही है। वे कहते हैं कि सृष्टि में सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी तीनों भाव हैं, उनका भी स्रोत मैं ही हूँ। ज्ञान के अनुकूल जो कुछ है वह सतोगुणी। कर्म करने की जो प्रेरणा देता है, वह मूलतः रजोगुणी है और जो अज्ञान और आलस्य का धारक है वह है तमोगुणी। जब अपने हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो, बुद्धि का विकास हो, जानने की इच्छा हो, तो समझो सतोगुण बढ़ रहा है। जब अपनी यह इच्छा हो कि यह भी कर लें,

वह भी कर लें, इसको भी बहला दें, उसको भी बहला दें तो समझो रजोगुण बढ़ रहा है। जब अपने मन में इच्छा हो कि–

किस-किस को याद कीजिए किस-किस को रोइए।
आराम बड़ी चीज है मुँह ढक के सोइए।।

तो समझ लो तमोगुण बढ़ रहा है। तमोगुण सबसे निकृष्ट गुण है। तमोगुण से रजोगुण अच्छा। रजोगुण से सतोगुण अच्छा! लेकिन सत्वगुण भी बंधन ही है।

तीनों गुणों के परे जाने का हमने लक्ष्य कर रखा है। सत्वगुण का भी अतिक्रमण करेंगे। इन तीनों गुणों के जितने भी पदार्थ हैं वे सब मुझसे ही आयें है, मैंने ही दिये हैं। सारी सृष्टि में जो कुछ है, मैं हूँ। प्रभु इसके बाद एक अद्‌भुत बात कहते हैं–

न त्वहं तेषु ते मयि– मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं। ये वैष्णवाचार्यों का प्रधानतः अर्थ है; और वे इसका अर्थ कहते हैं, मैं उनमें नहीं हूँ माने — मैं उनके अधीन नहीं हूँ।

ते मयि– वे मेरे अधीन हैं। वे मुझ पर निर्भर हैं।

न त्वहं तेषु— मैं उनके अधीन नहीं हूँ। मैं उनपर निर्भर नहीं हूँ।

शंकराचार्य ने भी इसी से मिलता-जुलता अर्थ किया है; लेकिन उनकी शिष्य परम्परा में श्री शंकरानंद हुए हैं, उन्होंने एक विचित्र अर्थ किया है – उन्होंने कहा 'न' का अन्वय दोनों से है। *न त्वां तेषु न ते मयि*— न मैं उनमें हूँ न वे मुझमें है। क्या मतलब! रस्सी देखिए, साँप दिखती है लेकिन रस्सी में साँप है? रस्सी में तो साँप नहीं है ; और साँप में रस्सी है? साँप में रस्सी भी नहीं।

न रस्सी में साँप है, न साँप में रस्सी। माया के कारण रस्सी ही साँप दिख रही है। हमको जो ये सब कुछ दिख रहा है, यह वास्तव में है नहीं। यह सब इन्द्रजाल है, यह सब माया है। वही परमात्मा कैसे जीव और जगत् के रूप में दिख रहा है, कैसे असंख्य रूपों में दिख रहा है। यह सारी सृष्टि - यह सूरज, यह चांद, सितारे, ये पहाड़, ये नदियाँ, ये खेत, ये मनुष्य, ये सब वही परमात्मा लेकिन अलग-अलग दिख रहे हैं। यह माया है। '*न त्वहं तेषु ते मयि*'— न मैं उनमें हूँ न वे मुझमें है। अधिष्ठान और उस पर अध्यारोप ; ये बिल्कुल अलग-अलग हैं। अधिष्ठान जो है उसमें जो कुछ दिख रहा है वह उसमें है नहीं – बस दिख रहा है। रात के अंधेरे में, अगर भूमि में दरार है तो दरार साँप दिख सकती है; भूमि में दरार, रस्सी दिख सकती है, लेकिन है तो कुछ भी नहीं। तो जो न होते हुए भी दिखे, वही माया है; और जो न होते हुए भी दिखे और

आकृष्ट करे, और बांधे रखे, वह तो बड़ी प्रचण्ड माया है। वह किसकी माया है। *न त्वहं तेषु न मयि* — वे मेरे अधीन है, मैं उनके अधीन नहीं हूँ। वे मुझपर निर्भर हैं मैं उनपर निर्भर नहीं हूँ। यह बुद्धि में भक्ति का योग है। हम सब भक्त प्रभु पर निर्भर हैं, प्रभु तो हमपर निर्भर नहीं हैं। वे हमारे अधीन नहीं हैं, हम उनके अधीन हैं ; तो इसमें 'न' पहले में आया। *न त्वहं तेषु*– प्रभु कहते हैं मैं उनमें नही हूँ - यानी उनके अधीन नहीं हूँ। *ते मयि*– वे मेरे अधीन हैं। वे मुझपर निर्भर हैं। अगर शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से देखें तो– *न त्वहं तेषु न ते मयि* – 'न' दो बार आ जायेगा। 'न' वे मुझमें है 'न' मैं उनमें हूँ। यह उदाहरण कौन सा दिया? साँप दिख रहा है रस्सी में, लेकिन न तो रस्सी में साँप है और न साँप में रस्सी है। भगवान् आगे कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।। (७/१३)
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। (७/१४/१)

यह सारा जो वर्णन किया, यह जो अपरा प्रकृति है, यह जो जीवभूता परा प्रकृति है और इस जीवभूता परा प्रकृति और अपरा प्रकृति के द्वारा इस सारी सृष्टि का व्यक्त रूप है, प्रकट रूप है — यह सारा का सारा सत्व, रज, तम, ये तीनों गुणों से ओतप्रोत है, यह मेरे द्वारा ही है। मैं सारे जगत् को अभिन्न निमित्तोपादान कारण के रूप में प्रकट करने वाला हूँ। लेकिन ये लोग मोहित हो गये हैं; इसी नामरूप के कारण नहीं जानते कि मैं इस नामरूप का अव्यय हूँ। यह सारी सृष्टि जो दिखाई पड़ रही है, नाशवान है।

एक बात पर ध्यान दीजिए। जगत् का मतलब? *गच्छति इति जगत्* — जो जा रहा है। जिसको कोई पकड़कर रख नहीं सकता, उसका नाम है जगत् और जिसको कोई छोड़ नहीं सकता, उसका नाम है परमात्मा। लेकिन हमारी दुर्बुद्धि ऐसी है कि हम जगत् को पकड़ कर रखना चाहते हैं, जिसको पकड़ कर नहीं रखा जा सकता।

संसार का मतलब है– *संसृति इति संसारः* — जो संसरण कर रहा है। यह शरीर जो बोल रहा है, आप के सामने वह ६८ वर्ष पहले एकदम छोटा सा पैदा हुआ था। वही नाम विष्णुकान्त। वही एक प्रकार का अहंकार शरीर के प्रति, लेकिन कितने रूप बदल गये इस शरीर के! यह शरीर कल ऐसा भी नहीं रहेगा। जो जा रहा है, जिसको कोई पकड़कर रख नहीं सकता, उसका नाम है– जगत्। *गच्छति इति जगतः* — और जिसको कोई चाह के भी छोड़ नहीं सकता है उसका नाम है परमात्मा।

हमारे अविश्वास करने से परमात्मा मर नहीं जाता,
हम नहीं डरें उससे, इससे तो वह डर नहीं जाता।

हम उसपर विश्वास करें, न करें, परमात्मा तो है ही। नीत्शे ने कहा, "ईश्वर मर गया। परमात्मा मर गया।" अरे भइया तुमने उसकी लाश देखी? पोस्टमार्टम करके बताया कि यह परमात्मा ही था कि किसी और को तुम परमात्मा समझ कर मृत घोषित कर रहे हो। किसी के मारे परमात्मा मरता नहीं। परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तो यह जो है *'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्'* सारा संसार परमात्मा के कारण अभिव्यक्त है, किन्तु– *'मोहितं नाभि जानाति मामेभ्यः परमव्ययम्'* – माया के द्वारा मोहित हो जाने के कारण अव्यय परमात्मा को हम देख नहीं पाते। मोहित माने साधारण तौर पर हम लोग कहते हैं – मैं उसपर मोहित हो गया, माने उसपर मेरा मन आ गया, मैं उसपर रीझ गया। मोहित हो गया माने बेवकूफ बन गया, मुग्ध हो गया। *मोहवैचित्ये*– मोह के मूल में है उल्टी समझ। जिसको बहुत सुन्दर समझ कर, जिसको अपना समझ कर, तुम उसपर मोहित हो गये हो, न वह तुम्हारा है, न वह सुन्दर है। वह नाशवान है, बदल जानेवाला है, यह तुम्हारी समझ का खोट है कि तुम उसको बहुत सुन्दर समझकर उस पर रीझ गये हो। मोहित हो जाना माने बेवकूफ बन जाना। मूढ़ हो जाना – *मोह सकल व्याधिन कर मूला। तेहिते पुनि उपजत बहु सूला।।* सारी सांसारिक व्याधियों के जड़ में मोह है। जब हमारी उल्टी समझ होती है तब हम मोहित होते हैं।

हमारे गुरुजी कहते थे– किसी पर कामभाव जाग जाय तो उसका कैसे निराकरण हो भइया। जिसके लिए मन में काम की आसक्ति आ गयी, उसकी हल्की सी पतली चमड़ी की परत हटा दो। यह जो बड़ा गोरा चिकना रंगरूप मोहित करता है, इसके ऊपर एक चमड़ी है पतली सी। उस पतली सी चमड़े की परत को हटा दो तो उसके भीतर क्या है भाई? वही हड्डी है, वही मांस है, वही चर्बी है, वही खून है, वही थूक है, वही मल है, वही मूत्र है। नारायण-नारायण-नारायण.... शरीर से कोई अच्छी चीज नहीं निकलती। आपके शरीर से क्या निकलता है? मल-मूत्र निकलता है। नारायण-नारायण। पसीना निकलता है, नाखून निकलता है, दाढ़ी बढ़ जाती है, दाँत टूट जाते हैं, आँख से कीचड़ निकलता है, शिव-शिव-शिव-शिव....

भीतर तो कूड़ा भरा है, ऊपर से रंग रोगन। इसको सुन्दर समझकर, इसको अपना समझकर जो मूढ़ हो गया, मोहित हो गया – माने बेवकूफ बन गया। मोहित होना है तो भगवान् पर मोहित हो, अपना बनाना है तो राम को अपना बनाओ, *'आराम*

चाहता है तो आ राम की तरफ'। राम की तरफ आ तो आराम मिलेगा। जगत् की तरफ जायेगा तो दुःख ही दुःख मिलेगा। *मोहितं नाभिजानाति....।* मोहित हो जाने के कारण, बुद्धि के उलट जाने के कारण, माया के चमक-दमक भरे रूप के परे जो मैं अव्यय परमात्मा हूँ, इसको देख ही नहीं पाते। क्यों नहीं देख पाते?

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। (७/१४/१)

यह जो पर्दा पड़ा हुआ है यह दैवीय, (परमात्मा का, देवता का) है और दिव्य (चमकने वाला) चमक-दमक वाला है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषंनपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। (ईशावास्योपनिषद्/१५)

सारे संसार के ऊपर एक चमक-दमक का आवरण है—

सोना लावन हे सखी, पिया गये परदेश।
सोना मिला न पिउ मिले, रूपा हो गये केश।।

सोना लाने के लिए प्रीतम परदेश गए; उनकी प्रतीक्षा में मेरे सारे बाल श्वेत हो गये, चाँदी जैसे हो गये। अंततः न सोना मिला न प्रीतम ही मिले। तो यह जो सोने का आकर्षण है, अर्थ का आकर्षण, काम का आकर्षण है – यह जो चमचमाता हुआ आवरण है, इस चमचमाते हुए आवरण का ही नाम माया है। उसी आवरण के ऊपर हम रीझ गये हैं। आवरण पर रीझे हुए हैं, आवरण के पीछे जो है उसे हम जानते ही नहीं। कहा है— *दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।* यह मेरी माया है।

इसमें एक और रहस्य देखिए— हमलोग क्यों बेवकूफ बनते हैं? जो चीज राम की है, उसको अपना मानते हैं। मेरी जमीन, मेरा रुपया, मेरी मोटर, मेरा भाई, मेरा पति, मेरा-मेरा-मेरा-मेरा। कुछ भी तेरा नहीं है, सब रामजी का है। रामजी की चीज को तू अपना-अपना कहकर मर रहा है। दूसरे की चीज को अपना बनाओ तो चोरी हो गयी कि नहीं? तुम राम की चोरी कर रहे हो। यह माया है विलक्षण! *दैवी ह्येषां गुणमयी* – यह गुणमयी माया है। गुणात्मिका है।

"माया महाठगिनी हम जानी।
तिरगुण पाश लिए कर डोले, बोले मधुरी बानी।"

मीठी-मीठी वाणी बोलती है और फँसा लेती है। *माधव असि तुम्हारी यह माया, करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं, जब लग करिय न दाया* – जब तक आप दया नहीं करते तब तक *मम माया दुरत्यया*— यह पार नहीं की जा सकती। केवल अपने पौरुष से तुम माया के पार नहीं जा सकते। परमात्मा की माया है। परमात्मा ने ऐसी माया सब

पर डाल रखी है कि सब पढ़े-लिखे भ्रमित हो जाते हैं। *पढ़ा-लिखा सुग्गा बिलाई खाया, और पंडित के हाथ में रह गई पोथी।* कबीरदास ने लिखा कि पढ़ा-लिखा तोता था, सब जानता था— गीता कंठस्थ थी, उसको भी माया रूपी बिल्ली खा गई। पंडित के हाथ पोथी पड़ी रह गई। पोथी ज्ञान नहीं है। पोथी के द्वारा समझे हुए ज्ञान को जीवन में उतारना, जीवन में उसका अनुभव करना, जीवन में उसके अनुसार आचरण करना आवश्यक है।

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण, भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातिन - तम निवृत्त नहिं होई।

तुमने सारी गीता अट्ठारहों अध्यायों को रट लिया तो तुम पार हो जाओगे? व्याख्यान देते हो तो तुम माया के पार हो जाओगे? ऐसा अहंकार मत करो। कोई वाणी के ज्ञान में अत्यन्त चतुर है, इसलिए क्या कोई संसार के पार चला जायेगा? *निसि गृह मध्य दीप की बातिन, तम निवृत्त नहिं होई*— अंधेरी रात है और दीपक के ऊपर तुम व्याख्यान दिए जा रहे हो तो क्या प्रकाश होगा? हीट और लाइट पर व्याख्यान देने से प्रकाश होगा? जबतक स्विच 'ऑन' नहीं करोगे, बत्ती नहीं जलेगी और अँधेरा नहीं जायेगा। तो अंधेरे में ज्ञान भरा हुआ व्याख्यान तुम दीपक के विषय में दोगे तो प्रकाश नहीं होगा। प्रकाश तब होगा जब दीपक जलेगा। रटी हुई बात को दुहराना और अपने भीतर? भीतर वही काम-क्रोध और लोभ।

रामकृष्ण परमहंसदेव कहते थे कि जो पढ़े लिखे पंडित हैं, वे गिद्ध हैं। गिद्ध कैसे? ठाकुर बोले कि वह उड़ता तो आकाश में है और देखता है कहाँ सड़ी हुई लाश है। जहाँ कहीं लाश देखी तो आकाश से उतर कर मुर्दा खाता है। पढ़ा-लिखा आदमी, पंडित आदमी बड़े-बड़े व्याख्यान देगा और वही *'कौड़ी लागि मोह बस, करहिं विप्र गुरु घात'* — एक कौड़ी के लिए पाप करेगा। ऐसा पंडित किस काम का?

तो प्रभु ने जो अपनी दुर्लघ माया बनाई है, इसके पार जाने का क्या कोई उपाय नहीं है? है। देखिए कैसी अद्‌भुत बातें हैं। इस माया का इतने विस्तार से वर्णन किया है। अपरा प्रकृति भी माया है, जीवभूता परा प्रकृति भी माया है; और यह नाना नामरूपों में असंख्य नामरूपों में सारी सृष्टि दिख रही है, यह भी माया है। इसमें प्रभु ही अपने विविध रूपों में आभासित होते हैं। प्रभु प्रतीत से होते हैं, माया दिखती है, उसका आकर्षण होता है। उसको अपना मान कर हम ठगे जाते हैं। इस माया के पार जाने का एक ही रास्ता है— *मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।* (७/१४/२)

जो मेरी शरण में आ जाते हैं— *प्रपद्यत* कहते हैं, पंजे को, *प्रपद्यन्ते* जो मेरे पाँवों

के पंजों को पकड़ लेते हैं, जो मेरे चरणों को पकड़ लेते हैं, मेरी शरण में आ जाते हैं। *मायामेतां तरन्ति ते।* इस पर कबीरदास का एक बहुत बढ़िया दोहा है—

चलती चाकी देख के, दिया कबीरा रोय।
दुइ पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय।।

तुलसी के नाम से एक दूसरा दोहा है—

जग चक्की प्रभु कील हैं प्राणी भयो अनाव।
तुलसी जो उबरन चहौ सरण कील की जाव।।

हाँ पाट तो हैं दो, और उनमें सब लोग पिस जायेंगे। तुम बचना चाहते हो तो कील के पास चले जाओ। आपलोगों ने पुराने समय में चक्की देखी थी न! एक कील होती थी, मध्य में बड़ा छेद होता था और उसमें अनाज के दाने मुट्ठी से डाले जाते थे, उसको अनाव कहते हैं। तो सारी सृष्टि चक्की है। परमात्मा उसमें कील हैं। *प्राणी भयो अनाव*— उस छेद में जो अनाज डाला जाता था सारे प्राणी वे हैं। *तुलसी जो उबरन चहौ*-– अगर तुम उबरना चाहते हो, अगर तुम चाहते हो कि न पिसो तो *सरण कील की जाव*— प्रभुरूपी कील की शरण में चले जाओ। क्योंकि कील के पास वाला अनाज बचा हुआ रह जाता है।

कोई भी मछुआरा अपने पैर पर जाल नहीं फेंक सकता है। मछुआरे के जाल में सारी मछलियां फँस जाती हैं। किन्तु जो मछली मछुआरे के चरणों के पास आ जाती है, वह उस जाल से बच जाती है।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते — जो मेरी शरण में आ जाते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं। इसका जिक्र अट्ठारहवें अध्याय में करेंगे।

यह सम्पूर्ण गीता का सार है जो भगवान् ने अट्ठारहवें अध्याय में कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (१८/६६)

किन्तु एक बात अभी कर लें। शरण में अपना अहंकार छोड़ना पड़ता है। मैं अपने बल से माया के पार जाऊँगा यह अहंकार छोड़ दो। प्रभु ही मेरे साधन और प्रभु ही मेरे साध्य हैं। यह भावना रखना ही पूरी शरणागति है। राम जी से हमारा तीन प्रकार का संबंध है। एक संबंध यह है कि राम जी को हम साधन बनायें और दुनिया की किसी चीज को साध्य। यह संबंध दुनिया के ९९.९९ लोगों पर लागू है। हे रामजी हमको परीक्षा में पास कर दो, हे रामजी हमको लाटरी दिला दो, मकान दिला दो, किसी का प्रेम दिला दो, इत्यादि। यह शरणागति नहीं है। हालांकि किसी और से मांगने के बजाय रामजी से मांगना हजारगुना अच्छा है।

दूसरे प्रकार का संबंध — मैं रामजी को पाना चाहता हूँ ; किन्तु रामजी को अपनी निष्ठा, कर्मयोग से ही प्राप्त करूँगा। अपनी भक्ति, अपने ज्ञान से प्राप्त करूँगा; अर्थात् साध्य रामजी और साधन हैं दुनिया की चीजें। यह नहीं हो सकता। अपने सीमित ज्ञान, सीमित भक्ति और सीमित कर्म के बल पर असीम प्रभु को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। ठीक है किसी को मिलता होगा - ये लोग ज्ञानी हैं, योगी हैं, किन्तु शरणागत नहीं हैं।

तीसरा जिसका साध्य भी रामजी हों और साधन भी रामजी हों, वही भक्त 'शरणागत' कहलाता है। शरणागत कहता है – "तुमको पाने का कोई सामर्थ्य मुझमें नहीं है, तुम ही कृपा करके मुझको अपना लो।"

भगवान् का यही कहना है कि जो मेरी शरण में आ जायेंगे, केवल वे ही इस माया के पार जा सकते हैं। तो फिर क्यों नहीं हम शरण में जाते? क्योंकि माया से हमारा ज्ञान अपहृत हो गया है। अब ऐसे लोगों का वर्णन है जिनका ज्ञान माया ने अपहृत कर लिया है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।। (७/१५)

जिनके ज्ञान का माया ने अपहरण कर लिया है, वे दुष्कृति मूढ़ मेरे शरण में नहीं आते। दुष्कृति का मतलब जो बुरे काम करते हैं, धर्म-विरुद्ध काम करते हैं, पाप करते हैं, किन्तु उनको लगता है कि यह पाप नहीं है। जो आदमी पहली-पहली बार पाप करता है, उसकी आत्मा धिक्कारती है, उसका विवेक धिक्कारता है। किन्तु कोई आदमी बार-बार दुष्कृत्य करता ही जाय तो वह मूढ़ हो जाता है, उसकी बुद्धि कुंद हो जाती है। फिर उसे उलटा दिखाई देने लगता है। पाप ही पुण्य लगने लगता है ; और पुण्य पाप लगने लगता है। फिर वह नराधम हो जायेगा, पशु से भी गया गुजरा हो जायेगा– अर्थात् असुरभावापन्न हो जायेगा। पापी मूढ़, नराधम और असुर— इस प्रकार क्रम से सारा वर्णन इन श्लोकों में कर दिया भगवान् ने। ऐसा मेरे पास नहीं आयेगा। भगवान् ने यह नहीं कहा कि ऐसे लोग मेरी भक्ति के पात्र नहीं हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। (९/३०)

दुराचारी से दुराचारी व्यक्ति भी जिस दिन भगवान् की शरण में आयेगा, भगवान् उसे अपना लेंगे। वह सदाचारी हो जायेगा। इसलिए यह मत कहो कि हमसे पाप हो गया, अब हमारा क्या होगा। *'जो बीत गई सो बात गई।'*

भक्ति का सबसे बड़ा सामाजिक महत्त्व है, आश्वासन। कई धर्मगुरु छोटे-छोटे पापों के बड़े भयानक फल बताया करते हैं। वे डराते हैं। डराना पाप को रोकने के लिए तो ठीक है; किन्तु पाप हो जाने के बाद तो व्यक्ति को आश्वासन चाहिए, नहीं तो वह सुधरेगा कैसे?

तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाउ रामपद कमल माथ।
जनि डरपहु तोसे अनेक खल अपनाये जानकी नाथ।।

भक्ति का सबसे बड़ा सामाजिक कार्य यह आश्वासन है। इस दुनिया में कौन है जिससे पाप नहीं हुआ हो। बड़े-से बड़े महात्मा ने भी पहले पाप किये हैं, उनका कोई अतीत है ; और इसी तरह बड़े-से बड़े पापी का भी भविष्य है। हार न मानें – सब प्रपंचों को छोड़कर रामजी के चरणों में आ जाएँ; क्योंकि हम जैसे अनेक पापियों को रामजी ने अपनाया है।

जो बीत गई सो बात गई।
'कहे कबीर जान दे बही। जब से चेते तब से सही।।'

अपने पाप भी रामजी को निवेदित कर दो। बता दो रामजी को, कुछ भी छिपाओ मत। *तुलसी राम कृपालु को कहि सुनाव दुख दोष।* रामजी को अपने दुःख सुनाओ तो दोष भी सुनाओ और फिर रामजी से कृपा की मांग करो कि अब आप हमें अच्छे रास्ते पर, सच्चे रास्ते पर, अपने रास्ते पर चलाइए।

तुलसी की यह वाणी हम सबकी रक्षा करे। •

प्रवचन-२२*

शरणागतों की कोटियाँ

भगवान् ने सप्तम अध्याय में ज्ञान और विज्ञान दोनों का निरूपण किया है। इसलिए इस अध्याय का नाम है, 'ज्ञान-विज्ञान योग।'

ज्ञान—परमात्मा का बोध है। अद्वैत सत्ता, जो सत है, चित है, आनन्द है, अद्वय है, इसका बोध - यह तो है ज्ञान। वही सत्ता 'बहु' हो गयी है अनेक रूपों में उसी की अभिव्यक्ति है; और ये सब के सब भगवान् के ही रूप हैं — यह है 'विज्ञान'। ज्ञान और विज्ञान दोनों के समन्वय के साथ समग्र ज्ञान होता है; इसलिए प्रभु ने समग्रता के ऊपर बल दिया है, फिर अंत में उसी को रेखांकित किया है।

इसके पहले वे कह चुके हैं कि जो पापी हैं, वे मेरा भजन नहीं करते। वे आसुर भाव को प्राप्त होते हैं। सृष्टि में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं— सिद्ध, साधक, विषयी और पामर। जो पामर हैं, नीच हैं, वे पापी हैं और वे पापी आसुर भाव को प्राप्त होते हैं, वे भगवान् की ओर नहीं आते ; लेकिन विषयी भगवान् की ओर आ सकते हैं।

प्रश्न यह है कि आप विषय किससे प्राप्त करना चाहते हैं? अगर आप संसार से विषय प्राप्त करना चाहते हैं तो उत्तरोत्तर आपकी पामरता बढ़ जायेगी। संसार से विषय-सुख की प्राप्ति का आग्रह आपको गिरायेगा और आपका अधिकाधिक पतन होता जायेगा।

किससे पाना चाहते हैं? अपना विषय-सुख भी किससे पाना चाहते हैं? अगर भगवान् से आप पाना चाहते हैं, तो आप विषयी होते हुए भी भक्त हैं। आप इस बात पर ध्यान दीजिए कि क्या भगवान् से कुछ माँगना सरल है?

पहले तो भगवान् हैं कि नहीं, इस पर विश्वास ही नहीं होगा। अच्छा होंगे। होंगे तो मेरे साथ युक्त होंगे कि नहीं। मेरे ऊपर कृपा करेंगे कि नहीं, मैं उनसे माँगूँ तो मुझे देंगे कि नहीं, इसका विश्वास नहीं होगा। वह श्रद्धा, जो इस बात का विश्वास उत्पन्न करती है कि मैं यदि भगवान् से याचना करूँ तो वे (मेरे सर्वस्व, मेरे माता-पिता, मेरे

* सप्तम अध्याय (ज्ञान-विज्ञान योग) : श्लोक संख्या १६ से ३०

स्वामी) मेरे अभावों को दूर करेंगे, मेरी इच्छा को पूर्ण करेंगे। यह श्रद्धा अत्यन्त दिव्य है और विषयी को भी भक्त बनाती है।

जिस श्लोक से आज का प्रवचन आरम्भ होता है, उसमें चारों प्रकार के भक्त, भगवान् की शरण में आते हैं ; क्योंकि माया से तो वे ही तर सकते हैं, जो प्रभु की शरण में आयें।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। (७/१६)

हे अर्जुन चार प्रकार के पुण्यात्मा व्यक्ति मेरा भजन करते हैं, मेरी शरण लेते हैं। भगवान् की ओर उन्मुख होना ही पापों का विनाश है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।

भगवान् की ओर उन्मुखता जीव को पापात्मा से पुण्यात्मा बना देती है; और उस जीवात्मा के मन में, भगवान् से याचना की, भगवान् से ही प्राप्त करने की इच्छा होती है, किसी दूसरे से नहीं। साधारण लोग, हमारे जैसे साधारण लोग, क्या करते हैं? हमारे मन में कामना जागती है। कामना जब जागेगी तब हम अपने को कंगाल अनुभव करेंगे। कामना उस वस्तु की होती है, जो हमारे पास नहीं है। जिसका हममें अभाव है; और जब हम अपने को अभावग्रस्त, कंगाल मानने लगते हैं, तब हम दूसरे से माँगते हैं—

घर-घर डोलत दीन ह्वै, जन-जन जाचत जाहि।
दिये लोभ चसमा चखनु लघु पुनि बड़ो लखाहि।।

जब हम अपने को कंगाल अनुभव करते हैं, अभावग्रस्त मानते हैं, तो घर-घर भटकते हैं। *'जन-जन जाँचत जाहि'* – हर जने-खने से हम याचना करने लगते हैं। *'दिये लोभ चसमा चखनु'* – आँखों पर जब लोभ का चश्मा चढ़ जाता है — *'लघु पुनि बड़ो लखाहि'*— जो छोटे हैं, वे भी बड़े लगने लगते हैं। मेरे अभाव को दूर करने की क्षमता अमुक में, अमुक में है – यह मान कर हम उनके पास भटकने लगते हैं। वे क्या दे सकते हैं? क्या देते हैं? भगवान् ने आगे कहा है कि जो मेरे पास आता हैं, मैं उसकी इच्छा पूर्ण करता हूँ। लेकिन वह चाहता क्या है, यह तो उसपर निर्भर है। भगवान् तो तुम्हारी समस्त कामनायें पूर्ण करने वाले हैं, जो चाहो सो मिलेगा। तुम चाहो ही अगर कम तो भगवान् का इसमें क्या दोष है? हम चाहते वही हैं जो उस समय की स्थिति

के दबाव में हम अनुभव करते हैं। भगवान् की ओर उन्मुख होने से पाप तो दूर हुए, लेकिन अभी तक माया निवृत्त नहीं हुई। पाप दूर हुए हैं; लेकिन पाप के दूर होने के बाद भी हम मायाबद्ध प्राणी, हम माया से बँधे हुए जीव अपने को लघु, अपने को अभावग्रस्त मानते हैं। इसलिए हम जिस कष्ट से ग्रस्त हैं, जिस अभाव से ग्रस्त हैं, उसको दूर करने की प्रार्थना करते हैं। अब इसमें अधिकतर आचार्यों ने बताया है कि— *'आर्तो जिज्ञासु अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ'* —इन चार प्रकार के भक्तों में आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी— ये तो हैं गौण भक्त, ये तो हैं सकाम भक्त; और जो ज्ञानी हैं, वे हैं निष्काम भक्त।

आर्त-— आर्त का अर्थ होता है जो आर्ति से फँसा है, छटपटा रहा है ; जो अपने वास्तविक या सम्भावित दुःख से बिल्कुल कातर हो गया है। किसी बीमारी के कारण, किसी भयंकर अर्थाभाव के कारण, किसी आसन्न अपमान के कारण, उस पीड़ा से मुक्ति चाहता है, तो वह आर्त भक्त है। उदाहरण लेते हैं गजेन्द्र का— गजेन्द्र को, गजराज को जब मगर ने पकड़ा और खींचा तथा जब उसकी सारी शक्ति समाप्त हो गई, वह जल में डूबने लगा तो वह आर्त हो गया। उसने अपने प्राण की रक्षा के लिए प्रभु से प्रार्थना की — गजेन्द्र आर्त भक्त था। द्रौपदी आर्त भक्त है, उसको सबों के सामने सभा में निरावृत्त कर रहे हैं। अपनी लज्जा और अपनी मर्यादा के लिए आर्त होकर वह प्रभु से प्रार्थना करती है— 'मैं इस अवस्था को, इस दुरवस्था को प्राप्त हो गई — सनाथ होते हुए अनाथ हो गई, सबके सामने मेरी लज्जा का हरण हो रहा है—तुम कहाँ हो? मेरी रक्षा करो। उसकी छटपटाहट, उसकी पीड़ा, यह उसकी आर्ति है। अपने किसी संकट, दुःख, कष्ट, रोग, अपमान की आशंका से रक्षा करने की छटपटाहट भरी हुई प्रार्थना, यह आर्त भक्त की प्रार्थना है।

इसी के बाद अर्थार्थी आना चाहिए, क्योंकि अर्थार्थी का मतलब होता है— जो कुछ पाना चाहता है। ध्रुव को अपने पिता की गोदी में बैठना था, उसकी विमाता ने उसको उतरवा दिया। वह छटपटाया— 'क्या पिता की गोद मुझको नहीं मिलेगी?' ध्रुव की माँ ने, सुनीति ने उपदेश दिया कि जो सुरुचि कह रही है वह सच है। वे निकले, नारद ने उनको उपदेश दिया, भगवान् की कृपा उनपर हुई और उनको अक्षय राज्य की प्राप्ति हुई। अर्थार्थी थे, यानी वह भक्त जो कुछ पाना चाहता था।

जिज्ञासु (ज्ञातुम् इच्छा) जिज्ञासा — जानने की इच्छा जिज्ञासा होती है। जो भगवान् के बारे में, भगवान् के ऐश्वर्य के बारे में, भगवान् के रूप के बारे में विस्तार से जानना चाहता है। जान नहीं पाया है लेकिन जानने की इच्छा है। आर्त और अर्थार्थी,

ये तो विषयी हुए; जिज्ञासु को आप साधक मान लीजिए। जो भगवान् की ओर उन्मुख हो रहा है, भगवान् के बारे में अधिकाधिक जानना चाहता है, वह जिज्ञासु भक्त है। ज्ञानी के बारे में विस्तार से चर्चा बाद में करूँगा।

अधिकांश आचार्यों ने यह बात कही है। मेरे गुरु स्वामी अखण्डानंदजी ने, अपनी एक पुस्तक में दो स्थानों पर तो आचार्यों की बात कही, पर एक स्थान पर एक विशेष बात कही है। विनोबा भावे ने भी एक विशेष अर्थ किया है— विनोबा भावे ने कहा है कि भगवान् ने इनको भी उदार कहा है— भगवान् ने कहा है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। (७/१८/१)

जो अपनी क्षमता से ऊपर उठकर सर्वतोमुखी–सब प्रकार से देता है, वही उदार है। यह नहीं कि दस लाख रुपया है घर में और दस पैसा दे दिया तो वह उदार हो गया। अपनी क्षमता से अधिक जो देता है, सब समय देता है, सब स्थितियों में देता है – वह उदार है। ये भक्त उदार हैं, तो फिर ये सकाम भक्त कैसे हुए। इसलिए उन्होंने कहा—-कि आर्त का मतलब है, वह भावुक भक्त, जो भगवान् को प्राप्त करने के लिए रोता है, छटपटाता है, प्राप्त तो भगवान् को ही करना चाहता है, लेकिन रो-रोकर पुकारता है— नामदेव की तरह। भगवान् को भगवान् की प्रीति के कारण, जो याद कर-कर के रोता है, आर्त हो जाता है, वह निष्काम भक्त है, वह आर्त है। मेरे गुरुजी ने कहा— जैसे गोपिकायें।

रासलीला के समय राधाजी के मन में गुमान हुआ और उन्होंने कहा—कृष्ण मैं थक गई हूँ, तुम मुझको उठालो। कृष्ण बैठ गये। बोले, 'चढ़ो!' और वे तुरन्त लुप्त हो गये। कृष्ण जब लुप्त हुए तो गोपिकाएँ क्रंदन करने लगीं। यह क्रंदन आर्ति है, छटपटाहट है। वह और किसी को पाने के लिए तो नहीं है, वह भगवान् की ही प्राप्ति के लिए है।

इसलिए आर्त भक्त भी अगर उदार है, तो उसको निष्काम ही मानना चाहिए। आर्ति में भगवान् के विरह की पीड़ा है। भगवद् विरह का अनुभव करके जो भक्त आर्त हो जाते हैं, भगवद् विरह का अनुभव करके जो आँसू बहाते हैं, भगवद् विरह के कारण जो भगवान् को प्राप्त करने हेतु व्याकुल हैं, वे आर्त हैं। भगवद् विरह का अनुभव किसको होता है? हमको, आपको तो भगवद् विरह का अनुभव कुछ भी नहीं होता। पैसे के विरह का अनुभव होता है, नाते-रिश्तेदारों के विरह का अनुभव होता है। बताइए! भगवान् के विरह का अनुभव होता है?

भगवद् विरह का अनुभव उसी को होता है जिसको भगवान् प्राप्त हैं। भगवद्

प्राप्ति के बाद अधिकाधिक प्राप्ति का आग्रह, उनको विरह का अनुभव कराता है; और भक्तों ने तो कहा है— *संगम विरह विकल्पे वरमेः विरहो न संगमस्तस्य।*

अगर हमको संगम और विरह में से एक ही चुनना हो तो भैया! हम विरह को चुनेंगे, संगम को नहीं चुनेंगे। क्यों भई! विरह को क्यों चुनोगे?

संगमे स एव एकः — संगम की स्थिति में, संयोग की स्थिति में तो भगवान् अकेले हैं और— *विरहे तन्मयं जगत।* विरह की स्थिति में तो सारा संसार भगवन्मय हो जाता है—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गयी लाल।।

'जिधर देखिये श्याम विराजे'। विरह में तो सारी सृष्टि भगवन्मय हो जाती है। इसलिए जो बड़े भक्त होते हैं, वे कहते हैं अगर संगम और विरह में से किसी एक को चुनना है, तो हम विरह ही चुनेंगे। हम तो विरही भक्त हैं। तो ऐसे विरही भक्त आर्त हैं, वे भी निष्काम हैं।

अर्थार्थी— पहले भगवान् ही को प्राप्त करना है, तो वहाँ पर 'अर्थ' का मतलब रुपया पैसा नहीं है— जैसे आर्त भी निष्काम है, वैसे अर्थार्थी भक्त भी निष्काम है। लेकिन वह कुछ अर्थ पाना चाहता है, यानी उसे वह विशेष रूप से समझना चाहता है ; और भी अधिक उसको अनुभव करना चाहता है, वह भी निष्काम है। जिज्ञासु भक्त भी निष्काम है; लेकिन वह सारी सृष्टि में प्रभु के स्वरूप का आकलन करना चाहता है। तो एक अर्थ यह भी है। लेकिन परम्परागत अर्थ यही है कि आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी, ये सकाम भक्त हैं, ज्ञानी निष्काम भक्त है। विनोबा भावे ने कहा है कि निष्काम तो ये भी हैं, लेकिन ये तीनों एकांगी भक्त हैं; और ज्ञानी पूर्ण भक्त है। ज्ञानी पूर्ण हैं; इसलिए ज्ञानी विशिष्ट हैं। तो—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। (७/१६)
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।। (७/१७)

ज्ञानी की विशेषता बता रहे हैं। ज्ञानी नित्ययुक्त है। आप याद रखें कि जब आर्ति दूर हो जायेगी तो आर्त फिर से संसार में लिप्त हो जायेगा। परम्परा से जो अर्थ है, वह विषयी है। द्रौपदी ने लज्जा हरण के समय आर्त हो, कृष्ण को पुकारा, और रक्षा हो जाने पर, उसका प्रतिशोध भाव जाग उठा। अपनी आर्ति के निवृत्त हो

जाने के बाद आर्त भक्त चूँकि फिर संसार में चला जाता है ; इसलिए नित्ययुक्त नहीं है। अर्थार्थी अर्थ की प्राप्ति के बाद फिर संसार में गया, इसलिए नित्ययुक्त नहीं है।

परन्तु ज्ञानी सर्वदा नित्ययुक्त होता है। एक बात समझ लीजिए—मेरे गुरुजी कहते थे कि परमात्मा अगर अभी यहीं, इसमें, इनमें, नहीं है तो कहीं नहीं है। यानी परमात्मा सर्वत्र है, सब जगहों पर है। सब देशों में, सब कालों में, सब वस्तुओं में परमात्मा है। अगर एक भी देश या काल या वस्तु ऐसी है, जिसमें परमात्मा नहीं है, तो फिर परमात्मा ही नहीं है। नित्ययुक्त कौन है? जो सब कालों में, सब देशों में, सब वस्तुओं में, सब प्राणियों में परमात्मा को पहचान रहा है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

सारी सृष्टि, चर-अचर सृष्टि, परमात्मा के द्वारा आच्छादित है, परमात्मा का उसमें निवास है, परमात्मा ही है। जो परमात्मा को एक काल विशेष में (सतयुग में) मानेगा, एक देश विशेष में (अयोध्या में, द्वारका में, वृंदावन में) मानेगा, जो एक वस्तु में (मूर्ति में, चित्र में) मानेगा, वह नित्ययुक्त नहीं होगा। दूसरों के साथ उसका व्यवहार होगा तो वह परमात्मा से वियुक्त हो जायेगा, वह नित्ययुक्त नहीं होगा। नित्ययुक्त वही है, जो सब देशों में, सब कालों में, सब वस्तुओं में परमात्मा को पहचानता और उसकी पूजा करता है।

'एकभक्तिः विशिष्यते' — एक भक्ति माने अनन्य भक्ति।

एक भक्ति, माने जो दूसरे को देखता ही नहीं, वह एक भक्ति करेगा। अगर एक से अधिक को कोई देख रहा है, तो उसकी भक्ति 'एक भक्ति' नहीं है, अनन्य भक्ति नहीं है। अनन्य तो वही होगा—

सो अनन्य जाके अस मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।।

यह चराचर जगत् मेरे स्वामी का रूप है। चराचर जगत् को अपने स्वामी का रूप मानने वाला ही अनन्य हो सकता है। एक भक्ति का मतलब हुआ— एक के प्रति, एक को छोड़कर जिसका कोई दूसरा है ही नहीं, उसके प्रति भक्ति अनन्य भक्ति है। वह श्रेष्ठ है, स्वाभाविक रूप से श्रेष्ठ है। जो नित्ययुक्त नहीं है, जिसकी भक्ति अनन्य नहीं है उससे वह व्यक्ति, वह भक्त, निश्चय ही विशेषतायुक्त है, जो नित्ययुक्त है, अनन्य भक्ति वाला है।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं — *अत्यर्थ* शब्द की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा। *अत्यर्थम्* माने अर्थ का अतिक्रमण करके। *अर्थ* माने प्रयोजन।

आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु— ये किसी प्रयोजन से भगवान् की भक्ति कर रहे हैं। या तो अपनी आर्ति को दूर करने के लिए, या राजपाट पाने के लिए, या कुछ जानने के लिए; अर्थात् कोई न कोई प्रयोजन है।

ज्ञानी अत्यर्थ भक्ति करता है, अर्थ का, प्रयोजन का अतिक्रमण करके जो भक्ति करता है, वह प्रयोजनातीत भक्ति है, वह निष्काम भक्ति है, वह किसी फल की प्राप्ति के लिए भक्ति नहीं है। बाबा के शब्दों में— *तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाव।*

अगर मैं राम से प्रेम किसी फल की प्राप्ति के लिए कर रहा हूँ, तो वह फल जल जाये। मैं तो राम से प्रेम, राम से प्रेम के लिए करता हूँ। राम से प्रेम करने का अगर कोई दूसरा फल मुझे मिलने वाला हो तो वह फल जल जाय, मुझको नहीं चाहिए। मुझको तो केवल राम चाहिए, राम का प्रेम चाहिए।

समस्त अर्थों को, प्रयोजनों को, वासनाओं को, कामनाओं को लांघकर जो भगवान् से प्रेम करता है, वह ज्ञानी भक्त है। ज्ञानी भक्त की विशेषता है कि वह नित्ययुक्त है, वह अनन्य भक्तिवाला है, वह प्रयोजनातीत भक्ति करता है। इसलिए एक बड़ी विचित्र बात कही है—

प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं स च मम प्रियः। (७/१७/२)

ज्ञानी मुझको प्रेम करता है और मैं ज्ञानी को प्यार करता हूँ। मैं ज्ञानी का प्रेमी हूँ और ज्ञानी मेरा प्रेमी है। यह भक्ति पूर्णांग भक्ति है। साधारण तौर पर भक्त एकांगी होता है —

इक अंगी बिनु कारने सब रस सदा समान।
गनै प्रियहिं सर्वस्व जो सोही प्रेम प्रमान।।

वे मुझसे प्यार करें, करें; न करें, न करें; मैं उनसे प्रेम करूँगा। यह जो दृष्टि है, यह एकांगी भक्त की दृष्टि है। अब तुलसीदास कहते हैं—

जौ घन बरसै समय सिर जौ भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस।।

बादल अगर अभी-अभी बरस जाए, या जन्मभर उदास रहे, बादल मेरे ऊपर प्रेम करे-करे ; न करे-न करे— *तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस* — मेरे चित्त रूपी चातक को तो तुम्हारी ही आशा है, किसी दूसरे से मेरी आशा पूर्ण होनेवाली नहीं है। तुलसीदास की यह भक्ति एकांगी भक्ति है। मैं रामजी से प्यार करता हूँ; रामजी करें उनकी कृपा, न करें उनकी इच्छा; मैं उनसे प्यार करता हूँ, करता रहूँगा। यह बहुत

जरूरी है। भक्ति की पूर्णता तो सीता-राम की भक्ति है, राधे-श्याम की भक्ति है। भक्ति में कौन चकोर है कौन चन्द्रमा है यह समझ में नहीं आता। *परस्पर दोउ चकोर-दोउ चन्दा* — दोनों एक दूसरे के लिए चकोर हैं और दोनों एक दूसरे के लिए चन्द्रमा हैं। राधा के प्रेम में कृष्ण, कृष्ण के प्रेम में राधा। सीता के प्रेम में राम, राम के प्रेम में सीता समान रूप से मग्न हैं। ये परिपूर्ण प्रेम है। भगवान् ज्ञानी को ऐसा ही प्रेम देते हैं। ज्ञानी मुझसे प्यार करता है और मैं ज्ञानी से प्यार करता हूँ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं स च मम प्रियः। (७/१७/२)

यह उभयनिष्ठ प्रेम है यह केवल एकांगी प्रेम नहीं है।

उभय-उभय भावात्मा, उभय उभय रसात्मा

ज्ञानी भगवान् की आत्मा और भगवान् ज्ञानी की आत्मा। यह बात भगवान् ने कही है— *उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।* (७/१८/१)

ये सब उदार हैं। क्यों उदार हैं भाई ! आर्त कैसे उदार हुआ? अर्थार्थी कैसे उदार हुआ? भगवान् की देखने की दृष्टि हमलोगों से अलग है। भगवान् सोचते हैं कि देखो! उसने माँगा तो थोड़ा सा। ध्रुव ने राजपाट माँगा। क्या चीज होती है राजपाट? द्रौपदी ने लज्जा के निवारण के लिए, गजेन्द्र ने अपने प्राण की रक्षा के लिए याचना की। रामजी की दृष्टि में उसने मांगा थोड़ा और अपने आप को दे दिया, तो वह बड़ा उदार हो गया। रामजी की ओर जो एक पाँव चलता है, रामजी उसके कृतज्ञ हो जाते हैं। रामजी कृतज्ञ हैं, रामजी से बढ़कर कोई कृतज्ञ नहीं। एक बार रामजी का नाम तो लो। रामजी आँख की देखी को अनदेखी करते हैं; और सुनी हुई बात को प्रमाण कर देते हैं। भक्तों को इतना प्यार करते हैं। तो उन्होंने कहा कि नहीं नहीं सब उदार हैं। यह क्या बात हुई? हो गया अर्थ। मांग रहा हूँ मैं कुछ, लेकिन थोड़ा सा मांगते अपने को पूरा दे देते हैं। उनसे बढ़कर उदार कौन होगा। भगवान् की दृष्टि में आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी सब उदार हैं। भगवान् की ओर चलो, भगवान् सहर्ष स्वीकार करेंगे।

उदाराःसर्व एवैते— सब के सब उदार हैं। अपने भक्तों को इतना प्यार करते हैं। यानी कामनावशवर्ती होकर भी जो भगवान् से प्रेम करता है, भगवान् उसको भी उदार ही मानते हैं, ऐसे कृतज्ञ हैं। हनुमानजी ने रामजी का जरा सा उपकार किया तो रामजी ने कहा — *धनिक तु पत्र लिखाउ* — मैं तुमसे छोटा हो गया हूँ। मैं तुमको क्या दूँ। मैं तुम्हारा कर्जदार हूँ। तू मेरा साहूकार है। ऐसे कृतज्ञ हैं रामजी।

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। लेकिन ज्ञानी तो मेरी आत्मा हैं। ज्ञानी और प्रभु अभिन्न हैं — *सोइ जानत जेहि देहु जनाई। जानत तुमहि तुमहिं होइ जाई।।*

ब्रह्मवेत् ब्रह्मैव भवति — ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। जो परमात्मा का ज्ञानी है, जिसने परमात्मा को जान लिया, वह परमात्मा का अभिन्न हो जाता है, वह परमात्मा की आत्मा हो जाता है।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। (७/१८/२)

वह मुझमें ही निवास करता है, मुझमें ही स्थित है, वह युक्तात्मा है। वह मुझमें जुड़ गया है, अनुत्तमागति उसको प्राप्त होती है। उत् – उत्तर – उत्तम और फिर अनुत्तम। उत् - माने जो ऊँची हो, जो उससे ऊँची – उत्तर, जो सबसे ऊँची है उत्तम। उत्तम से भी श्रेष्ठ जिसके सामने उत्तम भी कुछ नहीं, वह हुई अनुत्तम। यह जो अनुत्तमा गति है सबसे ऊँची गति, ज्ञानी को प्राप्त होती है ; क्योंकि वह परमात्मा की आत्मा है। परमात्मा सबकी आत्मा और वह परमात्मा की आत्मा है, इससे बढ़कर क्या गति होगी। वे उनसे अभिन्न हो जाते हैं। उसे अभेद प्राप्त हो जाता है। क्या ज्ञानी होना सरल है? नहीं! ज्ञानी होना सरल नहीं है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। (७/१९)

यह एक जन्म का पुण्य नहीं है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए देखिए कितने साधन चाहिए। विवेक चाहिए, वैराग्य चाहिए, शम - दम चाहिए, षट् सम्पत्ति चाहिए, मुमुक्षा चाहिए। कितने लोगों के मन में विवेक है— नित्य और अनित्य का, सत् और असत् का, नश्वर - अनश्वर का भेद कितने कर सकते हैं? अगर असत्य अनश्वर से लाभ होता हो तो विवेक के रहते हुए गलत काम करेंगे, उसके लिए वैराग्य चाहिए, षट् सम्पत्ति चाहिए, मुक्त होने की इच्छा चाहिए और फिर इतने से काम नहीं होगा, फिर श्रवण चाहिए, मनन चाहिए, निदिध्यासन चाहिए। ये सारे साधन जब पूर्ण होते हैं, तब ज्ञान होता है। ये सारे साधन एक जन्म की साधना में प्राप्त होने कठिन हैं। इसलिए-

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। (७/१९/१)

एक नहीं असंख्य पूर्व जन्म की साधना का फल जब मूर्तिमान होता है, तब ज्ञान प्राप्त होता है ; और वह ज्ञानी मेरी शरण में आता है— *ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*— वह मेरी शरण में मेरी प्रपत्ति ग्रहण करता है। मधुसूदन सरस्वती ने प्रपत्ति के तीन भेद बताए हैं—मृदु, मध्य और अवधि। उनका सुप्रसिद्ध श्लोक है—

तस्यैवाहं ममैवासो स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाध्यासपाकतः।।

इसका अर्थ है कि शरणागति की साधना का जैसे-जैसे परिपाक होता जाता है

वैसे-वैसे शरणागत को शरण्य प्रभु से अपनी अधिकाधिक निकटता की प्रतीति होती जाती है, जिसकी चरम परिणति अभिन्नता की अनुभूति में होती है।

शरण ग्रहण करने पर अपने और सभी सम्बन्धों को छिन्न कर अपना सारा भार प्रभु को सौंप कर प्रभु से ही अपना सम्बन्ध जोड़ता है शरणागत। ऐसी स्थिति में स्वभावतः वह अपने को प्रभु का दास कहता है। तुलसीदास की मार्मिक पंक्तियाँ हैं-

नातो नेह नाथ सो करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।। (वि० प० १०४.७-८)

यह आरम्भिक स्थिति है। इसमें प्रभु पर अपना जोर है, ऐसा शरणागत को नहीं लगता है। *'तस्यैवाहं'* में उसका हूँ, उसकी कृपा पर आश्रित हूँ, यह भाव शरणागति की मृदु स्थिति का परिचायक है। इसका उदाहरण देते हुए मधुसूदन सरस्वती ने शंकराचार्य की शरणागति-विषयक षट्पदी का यह श्लोक उद्धृत किया है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं, न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः।।

अर्थात् हे नाथ! (बोध के स्तर पर) भेद का अपगमन, निरसन हो जाने पर भी (व्यवहार के स्तर पर) मैं तुम्हारा ही हूँ, तुम मेरे नहीं, देखो (समुद्र और तरंग में भी तो तत्त्वतः अभेद है किन्तु व्यवहार में) तरंग को ही सामुद्र (समुद्र की) कहा जाता है। समुद्र को तारंग (तरंग का) नहीं कहा जाता। इस स्तोत्र के अन्त में आचार्य शंकर ने *'नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ'* (हे करुणामय नारायण, मैं आपके चरणों की शरण हूँ) की स्पष्ट घोषणा कर यह कामना की है कि यह षट्पदी सदा मेरे मुख कमल में निवास करे। चूँकि इस पूरे स्तोत्र का मथितार्थ शरणागति है, अतः इसके एक छन्द के द्वारा शरणागति के एक विशिष्ट भेद का निर्देश करना सुसंगत है।

शरणागति-साधना की अधिक ऊँची स्थिति में शरणागत को यह लगने लगता है कि शरण्य मेरा है, इतना और ऐसा पक्का मेरा कि भले वह मुझसे दूर हो, भले वह औरों का बन जाये, फिर भी वह मेरा है। कैसे बाँके तेवर से गोपियों ने ऊधो से कहा था, *'ब्याहो लाख धरो दस कुबरी अन्तहु कान्ह हमारो।'* इसी स्थिति को मधुसूदन सरस्वती ने मध्य शरणागति की आख्या दी है। इसके उदाहरण में उन्होंने अन्धे भक्त बिल्व मंगल की उक्ति उद्धृत की है जिसे प्रभु ने कुएं से हाथ पकड़ कर निकाला ; किन्तु पहचान लिए जाने पर हाथ छुड़ाकर अन्तर्धान हो गये—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयासि ते।।

अर्थात् हे कृष्ण, यह कौन सी बड़ी बात है कि तुम हाथ झटक कर चले गये, मर्दानगी तो तुम्हारी मैं तब समझूँ जब तुम मेरे हृदय से निकल जाओ। *'ममैवासौ'* वह मेरा है, अब वह चाहे तो भी मेरे हृदय से जा नहीं सकता, इस मनोभाव में पहली स्थिति से निश्चय ही अधिक सान्द्रता है। इसी का भावार्थ लेकर रचित दोहा सूरदास के नाम पर हिन्दी में प्रचारित किया गया है—

हाथ छुड़ाए जात हो निबल जानकर मोहिं।
हिरदै से जब जाओगे मरद बदौंगो तोहिं।।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार शरणागति की अवधि.... चरम सीमा यह है कि शरणागत को भान होने लगे कि वह मैं ही हूँ *'स एवाहं'*। इसके परम प्रमाण के रूप में उन्होंने यमराज-कथित वह श्लोक विष्णु पुराण से उद्धृत किया, जिसमें उन्होंने अपने दूतों को वैष्णव का लक्षण बताकर उनसे सम्मानपूर्वक दूर रहने का आदेश दिया है-

सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान्परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्वनन्ते हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात्।।

यमराज अपने भक्त, यमदूतों से कह रहा है— कि भाई! सबके पास जाना लेकिन उस महात्मा संत के पास न जाना जिसकी दृष्टि यह है कि परमात्मा तो एक ही है, उसके सिवाय कुछ नहीं है। सब कुछ वासुदेव है, मैं भी वासुदेव हूँ— ऐसी मति। अनंत के प्रति यदि यह दृष्टि है, तो हे यमदूत तू उसके पास न जा।

वही बात इसमें है— *वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*। —वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है, जिसकी बुद्धि, जिसकी यह भावना होती है कि सब कुछ वासुदेव है।

वासुदेव का साधारण अर्थ हमलोग समझते है वसुदेव का पुत्र। *वसुदेव सुतं देवं*.... ठीक है, पौराणिक है ; लेकिन वासु का अर्थ क्या होता है— *वसति अस्मिन्*- —जिसमें सब बसते हैं, वह है वासु। और देव का मतलब होता है जो स्वयं प्रकाश हो। वासुदेव का मतलब हुआ—जिसमें सब कुछ समाया हुआ है, वह स्वयं प्रकाश है। दूसरी इसकी व्युत्पत्ति है *वसति सर्वस्मिन्निति वासुः*। जो सबमें बसता है वह है वासु। जिसमें सबका सब समाया हुआ है और जो सब में है—वह वासु है। परमात्मा में सब हैं; और सब में परमात्मा है। तो वासु का क्या मतलब हुआ? वासु का मतलब हुआ जिसमें सारा संसार, सारी सृष्टि समाई हुई है और जो सारी सृष्टि में समाहित है, ऐसा जो स्वयं प्रकाश देवता है।

वासुदेवः सर्वमिति—यह सारी सृष्टि सब कुछ दिखती है हमलोगों को नाना नामरूपों में, लेकिन नाना नामरूपों का अतिक्रमण करके, जो अधिष्ठान, जो

वास्तविक तत्त्व है, उसको सब समय जो अनुभव करता रहता है वह महात्मा दुर्लभ है। हमलोगों को तो दिखता है गहना, कोई अंगूठी, कोई चूड़ी, कोई हार, कोई कंगन, कोई बिछुवा ; लेकिन जिसको सब कुछ सोना ही दिखे; चाहे उसका नाम अंगूठी हो, चाहे उसका नाम चूड़ी हो, चाहे उसका नाम कंगन हो, चाहे उसका नाम हार हो, चाहे उसका नाम बाजूबंद हो, चाहे उसका नाम करधनी हो, है सोना ही। जिसको नामरूप का अतिक्रमण करके सोना दिख रहा है, वैसे ही जिसको असंख्य नामरूपों में, वही परमसत्य प्रतिभासित होता है ; वह ज्ञानी है, ऐसा ज्ञानी सुदुर्लभ है।

भगवान् ने गीता में कहा है कि मैं सुलभ हूँ। लेकिन महात्मा दुर्लभ हैं; दुर्लभ ही नहीं, सुदुर्लभ हैं। सारी सृष्टि में परमात्मा का अनुभव करने वाला वह महात्मा। वह ज्ञानवान, वह प्रेम करे या भक्ति करे। बहुत से लोगों का ख्याल है कि ज्ञानी हो जाने के बाद, भक्ति का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। ऐसा सोचना ठीक नहीं है। आखिर क्यों नहीं होना चाहिए ज्ञान के बाद भक्ति का अनुभव? चूँकि प्रवृत्ति प्रधान होती है अतः ज्ञान के बाद भी भक्ति संभव है। एक बढ़िया श्लोक है—

सर्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदे, भावेन भक्ति सहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते, चैलांचलव्यवहितेन निरीक्षणीयः।।

प्राणेश्वर से चित्त मिल जाने पर भी जैसे आंचल की ओट से, पर्दे की ओट से प्रियतम को देखना विशेष रसानुभव कराने में समर्थ है, वैसे ही ज्ञान के अभेद हो जाने पर भगवान् की भक्ति करते रहना, यह विशेष रस की अनुभूति कराने में समर्थ है, इसलिए ऐसा महात्मा, ऐसा ज्ञानी दुर्लभ है।

गीता को शुष्क ज्ञानी प्रिय नहीं है। ज्ञान में भी प्रेम, ज्ञान में भी भक्ति का पुट होना चाहिए। ज्ञान मिश्रित भक्ति या भक्ति मिश्रित ज्ञान, जो भी आप कह लीजिए। अब देखिए क्या होता है, भगवान् से भक्त को कौन अलग करता है –

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।। (७/२०)

जिसकी जैसी प्रकृति है, उसको वैसा देवता अच्छा लगता है। उसे प्राप्त करने के लिए भी नियम, कानून, कायदे हैं। उन नियमों के अनुरूप उनकी साधना करनी होती है। अब किसी को अगर धन चाहिए तो लक्ष्मी की उपासना करेगा, ज्ञान चाहिए तो सरस्वती की उपासना करेगा, शक्ति चाहिए तो दुर्गा की उपासना करेगा, काली की उपासना करेगा, आरोग्य चाहिए तो भास्कर (सूर्य) की उपासना करेगा, सिद्धि चाहिए तो गणेश की उपासना करेगा। अनेक प्रकार की कामनाओं से भिन्न-भिन्न देवताओं की

उपासना करने वाला, उन-उन देवताओं की उपासना के जो नियम हैं, उन नियमों का पालन करते हुए उन देवताओं से अपनी कामना पूर्ण करने की प्रार्थना करेगा। हर देवी देवता की उपासना के भिन्न-भिन्न नियम हैं। शिवजी को तो आप बेल ही चढ़ायेंगे, धतूरा ही चढ़ायेंगे, भाँग चढ़ायेंगे। विष्णु भगवान् को बेल नहीं चढ़ायेंगे, तुलसी चढ़ायेंगे। गणेशजी को दूर्वा चढ़ायेंगे। अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप देवता प्रिय होता है (इष्ट देव का जो साधारण अर्थ होता है, ईश-इच्छति– जो हमारा प्रिय है, इच्छा जिसके साथ हमारी मिल जाती है, यह इष्टदेव का छोटा अर्थ है)। अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप, जो स्वयं जैसा है, उसका देवता वैसा ही होगा। यानी अपनी प्रकृति के अनुरूप हमारा इष्टदेव होगा। जो सात्विक हैं, सात्विक देवता उनके इष्ट होंगे, जो तामसी हैं, तामसी देवी-देवता उनके इष्ट होगें। लेकिन उनके भी नियम कानून हैं। उन नियम कायदे कानूनों के अनुसार उनकी उपासना करने पर वे आपको आपकी काम्य, आपकी इच्छित वस्तु देंगे, इस अर्थ में इष्टदेव हुए। लेकिन इष्टदेव का एक ऊँचा अर्थ है – यज्ञ। यज्ञ के अर्थ में इष्टदेव यज्ञदेव हैं। जिसमें हम अपनी आहुति देते हैं। इष्टदेव का चरम अर्थ है, यज्ञदेव। यज् धातु से जब इष्ट बनता है इसीलिए अंत्येष्टि–अन्तिम यज्ञ, इसमें हम चिता में शरीर की आहुति देते हैं। हमारा सारा जीवन यज्ञमय होना चाहिए। इष्ट का अर्थ यज्ञ होता है तो इष्टदेव में अपनी आहुति देता है भक्त।

तभी सफल आराधन होता, जब आराधक अपना रूप।
धीरे-धीरे तजता जाता, बन जाता आराध्य स्वरूप।।

आराधक जब आराध्य बन जाता है, तो आराधना सफल होती है। जिसमें हमारी सत्ता का विलोप हो जाय, आराधक ही आराध्य बन जाय। *वासुदेवः सर्वमिति। सकलमिदमहं च वासुदेवः* मैं भी वासुदेव हूँ। इस अर्थ में इष्टदेव बहुत ऊँचे अर्थ को अपने में छिपाये हुए है। जो-जो आपका इच्छित देव है, उसी से आपने प्रार्थना की। वह आपको उतनी वस्तु देने में समर्थ होगा, अगर आपने उसकी प्रकृति के अनुरूप, उसकी साधना के नियम के अनुरूप, उपासना की। भगवान् कहते हैं कि जिसकी जिसमें श्रद्धा होती है, मैं उसकी श्रद्धा को दृढ़ करता हूँ। *यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति* (७/२१/१)— अपनी श्रद्धा से जो जो जिस-जिस रूपधारी देवी-देवता का यजन करता है, पूजन करता है, उपासना करता है, मैं उसकी श्रद्धा को दृढ़ करता हूँ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। (७/२१/२)

मैं उस-उस देवता में उसकी श्रद्धा को और दृढ़ करता हूँ। किसी की श्रद्धा को खण्डित नहीं करना चाहिए। हमारी जो श्रद्धा है हमको वह वहाँ ले जायेगी। आपने वह

श्रद्धा खण्डित कर दी और दूसरा कोई आधार नहीं दिया, तब तो पतन हो जायेगा न! भगवान् या हिन्दूधर्म कभी किसी की श्रद्धा को खण्डित नहीं करता। जब आपको उन्नततर आधार प्राप्त होगा, आप निम्नतर भूमिका से ऊपर जाएँगे, तो आपका इष्ट बदल जायेगा। तब आपको अलग दृष्टि प्राप्त होगी। आपका अलग काम्य हो जायेगा। तो भगवान् सबकी श्रद्धा को दृढ़ करते हैं, और श्रद्धा को दृढ़ करने से—

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। (७/२२/१)

उस श्रद्धा से युक्त होकर वह अपने इष्ट देवी-देवता की आराधना कर, अपनी कामनाओं की पूर्ति करता है— *लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।* (७/२२/२)

लगता तो है कि वे देवी-देवता मेरी कामना पूर्ण कर रहे है ; लेकिन वास्तव में भगवान् ही उस देवी देवता के माध्यम से आपकी कामना पूर्ण करते हैं। तुलसी बाबा का एक बहुत अच्छा छन्द है—

दानव देव अहीस महीस महारिषि साधक सिद्ध समाजी।
जग जाचक दान द्वितीय नहीं तुमही सबकी सब राखत बाजी।

इस संसार में कोई दूसरा दाता नहीं है, कोई दूसरा दानी नहीं है। तुम्ही सबकी बाजी रखते हो। किसी को दानव के माध्यम से, किसी को देव के माध्यम से, किसी को अहीश यानी शेषनाग के माध्यम से, किसी को देवी-देवता के माध्यम से, तुम्हीं सबको देते हो। माध्यम अलग-अलग होंगे दाता एक ही है। प्रभु के अलावा और कौन दाता है? यह छन्द बहुत ही अच्छा है, पूरा छन्द सुनिये—

दानव देव अहीस महीस, महारिषि साधक सिद्ध समाजी
जग जाचक दान दुतीय नहीं, तुमही सबकी सब राखत बाजी।
एते बड़े तुलसीस तऊ सबरी के दिये बिनु भूख न भाजी
राम गरीब निवाज भये हो गरीब निवाज गरीब निवाजी।।

तुम इतने बड़े हो, फिर भी शबरी के फलों के बिना तुम्हारी भूख दूर नहीं हुई। तुम परमदाता, चरम दाता। लेकिन तुम दाता से याचक हो गये। तुमने शबरी के दान को, शबरी के दिये हुए फलों को स्वीकार किया और शबरी के फलों से तुम्हारी भूख मिटी। क्या भगवान् भूखे थे? भाव के भूखे हैं भगवान्! शबरी का जो भाव था, वह भाव कहीं नहीं मिला। कितने कृतज्ञ हैं हमारे रामजी। शबरी ने क्या दिया होगा उनको? थोड़ा सा फल। कहते हैं जूठे बेर। तुलसी बाबा ने लिखा है—

घर गुरुगृह-प्रियसदन सासुरे भई जब जहँ पहुनाई।
तब तँह कहि शबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई।

शबरी के बाद भी तो भगवान् को बहुतों ने खिलाया। माता कौशल्या ने खिलाया, सीता माता ने खिलाया। घर कहने में दोनों आ गये। गुरुगृह—अरुंधती ने। प्रियसदन—नाते रिश्तेदारों के यहाँ। सासुरे—ससुराल में सुनयनाजी ने। जहाँ-जहाँ उनका आतिथ्य हुआ— *तब तहँ कहि शबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई।* कितने कृतज्ञ हैं रामजी। बेर खाये लेकिन इतनी कृतज्ञता।

कपि सेवा बस भए कनौड़े, कहेउ पवनसुत आउ।
देइबे को न कछू, रिनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ।।

हनुमानजी की सेवा के कारण श्रीराम उनके कनौड़े हो गये। छोटे हो गये। कहा — हे हनुमान! तू मेरा साहूकार है। तूने सीता का संवाद मुझे दिया है। तूने लक्ष्मण को संजीवनी दी। मैं तुझे क्या दे सकता हूँ? मेरे पास तुझे देने के लिए कुछ नहीं है। मैं तेरा कर्जदार हूँ। तू मेरा साहूकार है, तू मुझसे पत्र लिखवा ले। कितने कृतज्ञ हैं। रामजी से प्रेम तो करो। हम रामजी से थोड़ा प्रेम करें तो राम जी हमसे कितना प्रेम करेंगे। तो इसमें कहा कि देते तो रामजी ही हैं ; लेकिन माध्यम चुन लेते हैं औरों को, माध्यम चुन लेते हैं अन्यान्य देवी देवताओं को।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्। (७/२२/२)

मैंने ही जो उनके लिए प्रस्तुत किया है, उन कामनाओं की पूर्ति मेरे द्वारा विहित है ; लेकिन माध्यम सबका है। दुःख है रामजी को। रामजी खुश नहीं हैं। क्योंकि उसको तो सब कुछ मिल सकता था उसने मांगा क्या?

अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।। (७/२३)

उनको मिला क्या? उनको निमित्त फल मिला। उनको तो अन्तवान नाशवान फल मिला। किसी को रुपया पैसा मिल गया। किसी को आरोग्य मिला। फिर भी मांगने में पड़े हो? मृत्यु तो होगी ही। किसी का प्रियजन से मिलन हुआ, फिर वियोग नहीं होगा क्या? वियोग तो होगा ही। तो जो भक्त देवी-देवताओं से छोटी-छोटी चीजें मांगता है, इससे उनको दुःख होता है। ये जो आर्त हैं, ये जो जिज्ञासु हैं, ये जो अर्थार्थी हैं ; पूर्ण से अपूर्ण मांग रहे हैं। गये कल्पवृक्ष के नीचे और कहा कि हमको पांच सेर बैगन दे दो। क्या मांगा यार! कल्पवृक्ष के नीचे पांच सेर बैगन मांग लिया, बहुत मांग लिया। पूर्ण से उसने अपूर्ण को मांगा। तुच्छ को मांगा। क्या मांगा? फिर भी परमात्मा, फिर भी भगवान् कहते हैं, बड़ा उदार है, बड़ा उदार है। थोड़ा सा माँगा लेकिन उसने अपने को पूरा ही दे दिया। ज्ञानी पूर्ण से पूर्ण को मांगता है ; और इसलिए स्वयं भी पूर्ण हो जाता है।

पूर्णात् पूर्णमुदच्यते- पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते

पूर्ण से पूर्ण मांग लेने पर भी पूर्ण ही रहता है। परमात्मा भी पूर्ण रहता है ; और ज्ञानी भी पूर्ण रहता है। इसलिए परमात्मा की आत्मा है ज्ञानी। अपूर्ण को, तुच्छ को, मांग रहे हैं लोग। क्या मांगा तुमने? तुच्छ चीजें मांगीं, जिनका फल नाशवान है। वे अल्पबुद्धि लोग हैं, क्योंकि जिन नियमों को मानके, जितना परिश्रम करके, जितनी साधना करके देवी-देवता को रिझाया था ; उससे तो बहुत कम साधनों से रामजी रीझ जायें। क्या किया? *देवान्देवयजो यान्ति*— देवता और उनके भक्त उन-उन देवताओं को प्राप्त करते हैं। फिर देवताओं के माध्यम से मेरे पास आना ही पड़ेगा। *मद्भक्ता यान्ति मामपि*— और मेरे भक्त तो मेरे पास आते हैं। इसलिए वे समझा रहे हैं कि ठीक है, तुम्हारी अपनी-अपनी श्रद्धा होगी, तुम्हारी श्रद्धा को मैं खण्डित नहीं करूँगा।

एक बात और ध्यान देने की है। ये जो देवी देवताओं के भक्त होते हैं न, ये एक-भक्ति नहीं होते। अगर उनको धन चाहिए, लक्ष्मी की उपासना की। और कल उनको ज्ञान की इच्छा हुई तो किसकी उपासना करेंगे? सरस्वती की। तो उनकी भक्ति लक्ष्मी के प्रति भी हुई और सरस्वती के प्रति भी। इस प्रकार उनकी एक-भक्ति नहीं हुई। जो टुकड़े-टुकड़े में चीज माँगेंगे, बार-बार माँगेंगे, और कई चीज माँगेंगे, तो सब देवी-देवताओं के प्रति उनकी एक भक्ति होगी। सबके प्रति अपूर्ण भक्ति होगी, सबके प्रति खण्डित भक्ति होगी। इसलिए पूर्ण से पूर्ण की याचना, यही ज्ञानी का लक्षण है और उससे वह पूर्ण ही हो जाता है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। (७/२४)

क्या कृष्ण को दुर्योधन ने नहीं देखा? देखा। पर क्या दुर्योधन ने कृष्ण को पहचाना? नहीं पहचाना। रामजी को कितने लोगों ने देखा होगा। अवतार काल में सबों ने रामजी को पहचाना? रावण ने भी नहीं पहचाना, जो परमज्ञानी था। नहीं पहचानते लोग। क्यों नहीं पहचानते? जब वे आते भी हैं, तो व्यक्त के रूप में प्राप्त होते हैं, हैं वे अव्यक्त ही। *अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं*— मैं तो अव्यक्त हूँ, लेकिन मैं अपने को अभिव्यक्त भी करता हूँ। व्यक्त, अभिव्यक्त। अभिव्यंजना से युक्त भी होता हूँ। तो जो अबुद्धि लोग हैं, निर्बुद्धि लोग हैं, मेरे सगुण साकार रूप को देखकर कहते हैं कि अरे! अरे! यह कृष्ण! यह तो ग्वाला है ग्वाला, इसको क्या अकल। हम राजा के बेटे हैं। कृष्ण को देखकर कृष्ण को पहचान लेना, राम को देखकर भी राम को पहचान लेना, यह सम्भव नहीं होता। अल्पबुद्धि, अबुद्धि, निर्बुद्धि के कारण वे मुझको उसी नामरूप में सीमित

मानते हैं। ये मुझको समझते हैं कि मैं भी नाशवान हूँ, वे मेरे अव्यय, अविनाशी, सर्वश्रेष्ठ परमभाव को जानते ही नहीं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।। (७/२५)

वे क्यों नहीं जानते? क्योंकि मैं सबके सामने अपने को प्रत्यक्ष प्रकट नहीं करता, प्रकाशित नहीं होता। मैं योगमाया से समावृत्त हूँ इसलिए अजन्मा, अव्यय, अविनाशी के रूप में यह मूढ़ संसार मुझे नहीं जानता। इस बात को समझिए कि योगमाया क्या चीज है। भगवान् सगुण साकार कैसे बनते हैं? गीता में चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने कहा है–

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।। (४/६)

इसके बाद ही है *'यदा-यदा हि धर्मस्य.....'*

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा— अजन्मा होते हुए भी, अव्यय होते हुए भी लोक-कल्याण के हेतु मैं जन्म लेता हूँ। व्यय–माने–विरुपतांऽपि। आपने रुपया कमाया, रुपया कमाया तो रुपया रहना चाहिए ; लेकिन रहने की जगह जब वह चला जाता है तो उसको कहते है व्यय हो गया। उलटी दिशा में चला गया। रुपया आपकी दिशा में आता रहे तो आय, और उलटी दिशा में चला जाय तो, व्यय। व्यय का मतलब हुआ खर्च हो जाना, खतम हो जाना, नष्ट हो जाना ; और अव्यय का मतलब हुआ जिसका कभी नाश नहीं होता।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् — मैं अजन्मा हूँ, मैं अविनाशी हूँ, मैं समस्त भूतों का स्वामी हूँ। यह होता हुआ भी, ('सन्न'—माने होता हुआ भी) *प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममामया* — अपनी प्रकृति का आधार बनाकर आत्म-माया के द्वारा मैं स्वयं को अभिव्यक्त करता हूँ।

आत्म-माया प्रभु की वह शक्ति है जो अज को, अव्यय को, अव्यक्त को व्यक्त करने में समर्थ है। व्यक्त होते हुए भी वे अज हैं, व्यक्त होते हुए भी वे अव्यय हैं, व्यक्त होते हुए भी वे अव्यक्त हैं। इस बात को समझना है। अधिकतर लोगों ने यह बात नहीं समझी है। यहाँ पर तुलसी बाबा शंकराचार्य और बल्लभाचार्य दोनों से अलग हो जाते हैं। शंकराचार्य कहते हैं कि परमात्मा का निर्गुण निर्विकार रूप जो है, वही पारमार्थिक रूप है और सगुण साकार रूप मायोपाधिक है। बल्लभाचार्य जी कहते हैं कि परमात्मा का जो रसरूप पुरुषोत्तम ब्रह्म सगुण साकार रूप है वही पूर्ण है; और जो उनका

अव्यक्त निराकार रूप है, वह गणितानंद है। आनंद को सीमित करने वाला है, इसलिए वह रस रूप है।

भगवान् से बड़े थोड़े हैं कि भगवान् को उठा लेंगे। लेकिन हमारी आँख के ऊपर उस योगमाया का पर्दा पड़ गया है, जिससे हम योगमाया के कारण भगवान् को पहचान नहीं पाते हैं। मेरे गुरुजी ने कहा है कि योगमाया का एक अर्थ यह भी होना चाहिए 'योगायमाया' जो योग कराने वाली माया है। भगवान् छिप गये हैं और भगवान् चाहते हैं कि लोग भगवान् को खोजें। जैसे आँख मिचौली का खेल खेलते हैं ; आँख मिचौली खेल में भगवान् छिप गये हैं, खोजो भगवान् को। तो भगवान् के खोजने के स्थान पर हमलोग संसार में लिप्त हो गये हैं। इससे भगवान् दुखी होते हैं कि ये मेरे भक्त जिनको मैंने अवसर दिया था कि मुझे खोजें, पर मुझे न खोजकर ये संसार में लिप्त हो गये हैं। योगमाया तो एक ऐसा आवरण है, जिसको पार कर भगवान् को पाने की चुनौती स्वीकार करनी चाहिए भक्तों को। तो हमारी चेष्टा तो यह होनी चाहिए कि हम इस योगमाया से पार जायें—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। (७/१४)

इस माया के पार जायें। लेकिन संसार के लोग चूँकि छोटी-छोटी लालसाओं से वशीभूत होकर छोटे-छोटे सुखों के लिए अटक जाते हैं, इसलिए भगवान् को नहीं जानते, भगवान को प्राप्त नहीं कर पाते, यह भगवान् को पीड़ा देने वाली बात है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।। (७/२६)

काल केवल हमारे-आपके लिए है। काल की गणना हम करते हैं कि यह भूत है, यह वर्तमान है, यह भविष्यत है। जब काल की गणना शुरू नहीं हुई थी तब?

जब मिले काल जय महाकाल बोलो रे,
सतश्री अकाल सतश्री अकाल बोलो रे।

तो अकाल जो है काल के परे है। महाकाल जो है, काल का भी जो काल है उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान कुछ नहीं है। भूत, भविष्य, वर्तमान, ये केवल हमारे आपके लिए है। हम काल के अधीन हैं। हम काल के ग्रास हैं हमारे लिए बीता हुआ समय भूत है, जो बीत रहा है वर्तमान है, आनेवाला समय भविष्य है — ये खण्डकाल हैं। भगवान् काल से बड़े हैं—

लव निमेस परमानु जुग बरस कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम को कालु जासु कोदंड।।

(श्रीरामचरितमानस ६/०)

जो अखण्डकाल है, वह तो भगवान् के हाथ का धनुष है, जो खण्ड-खण्ड काल हैं – ये घड़ी, ये मिनट, ये पहर, ये दिन, ये सप्ताह ; ये उनके बाण हैं। उस बाण से वे हमको मारते हैं। तो जिसके हाथ में काल है, वह काल से परे है। तो काल से जो परे है, वह सबको जानता है। लेकिन काल में जो स्थित है, वे लोग, काल से जो परे है, उनको नहीं जानते। भगवान् हम सबको देखते हैं। जैसे बच्चों को खेलते समय भी मां देखती रहती है। वह जानती है कि खेल में उलझ गये बच्चे मां को भूल जाते हैं। लेकिन मां तो बच्चों को नहीं भूलती। वैसे ही भले भगवान् को लोग न जाने, लोग भूल जाएँ ; परन्तु भगवान् किसी को नहीं भूलते।

भगवान् के लिए कोई काल, काल नहीं, उनके लिए सब कुछ यथावत् है। इसलिए वे सब, जो हमारी आपकी गणना के अनुसार भूत काल में हो गये, जो भी है, जो आनेवाले हैं, भगवान् के लिए सब समवर्ती हैं।

इच्छा द्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।। (७/२७)

भगवान् को लोग क्यों भूल गये? इच्छा के कारण, चाह के कारण। मेरे गुरुजी कहते थे कि भगवान् ने 'आह' को पैदा किया। 'आह' सबके पास गयी, कोई आह को स्वीकार ही नहीं करे, बेचारी कुँआरी रह गई। बड़ी दुःखी हुई। आकर लड़ने लगी भगवान् से। तुमने अच्छा पैदा किया हमको, कोई वरता ही नहीं, क्या मैं कुँआरी रहूँगी? भगवान् ने आह के ऊपर एक पर्दा डाल दिया 'च' का। 'च' की ओढ़नी ओढ़ा दी। तो हो गई 'चाह'। सब चाहने लगे। और जब आप चाहेंगे तो आह-आह करेंगे। क्योंकि हम चाहते हैं कि यह चीज हमको मिले, हम चाहते हैं कि यह हमारे पास न आये। जिसको हम चाहते हैं कि हमारे साथ जुड़ा रहे, वह हमको छोड़ कर जायेगा ही जायेगा। जिसको हम चाहते हैं वह हमारी आँख के सामने कभी न आये, वह हमारी छाती पर मूंग-दलेगा ही दलेगा। राग और द्वेष से ग्रसित होने पर दुःखी होना अनिवार्य है।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप।। (८/२७)

'सर्गे' माने सृष्टि—इस सृष्टि में *'भूतानि'*—माने 'भवति' जो होते हैं, जो पैदा

होते हैं। मनुष्य, पशु-पक्षी सब। ये सब लोग इस सृष्टि में मोह के वशवर्ती होते हैं, केवल इच्छा और द्वेष द्वारा। जब तक यह इच्छा-द्वेष होगा, जब तक हम खिलौने से खेलते रहेंगे, रामजी नहीं मिलेंगे। *तमन्नाओं में उलझाया गया हूँ, खिलौने देके बहलाया गया हूँ।* हर प्रकार की तमन्ना, इच्छा में उलझ गया हूँ। खिलौना उन्होंने हाथ में पकड़ा दिया और हम खिलौने से खेल रहे हैं। रामजी छिप गये हैं। योगमाया से उन्होंने अपने को ढाँप लिया है। कबीरदास का बड़ा अच्छा दोहा है—

पूत पियारो पिता को गौंहनि लागा धाय।
लोभ मिठाई हाथ दे आपुन गया लुकाय।।

यह जो प्यारा पुत्र है पिता का, (हम, आप, सब) दौड़ कर अपने पिता के साथ जुड़ना चाहता था। उसके हाथ में लोभ की मिठाई दे दी। आजकल माताएँ सिनेमा जाती हैं, तो बच्चों को बहलाने हेतु चाकलेट की एक डिब्बी दे जाती हैं। *लोभ मिठाई हाथ दे आपुन गया लुकाय।* आप योगमाया से छिप गये हैं। जब तक लोभ की मिठाई से, जब तक इच्छा से मनुष्य उलझा रहेगा, तब तक प्रभु उसको नहीं दिखेंगे, नहीं प्राप्त होंगे। उन-उन कामनाओं से ज्ञान अपहृत हो गया। कबीर बाबा कहते हैं—

डारी खाँड़ पटक्क करि, अन्तरि रोस उपाय।
रोवत-रोवत मिलि गया पिता पियारा आय।।

जब वह जो मीठा देकर गया है, फेंक दिया— हृदय में क्रोध उत्पन्न किया। कौन मां है जो अपने बेटे को छोड़कर चली जायेगी। एक बार बेटा फेंक तो दे चाकलेट की डिबिया। जिन छोटे-छोटे प्रलोभनों से उलझ गये हैं और वे जो छोटे-छोटे प्रलोभनों के कारण भगवान् को भुला बैठे हैं, एक बार हम उन प्रलोभनों को फेंक दें, तो परमात्मा हमको जरूर मिलेंगे।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।। (७/२८)

दुनिया में जब तक पाप रहेगा तब तक परमात्मा की ओर जाने की इच्छा नहीं होगी, तब तक छोटे-छोटे प्रलोभनों की ओर हम आकृष्ट होते रहेंगे। *येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्*—जिन पुण्यकर्मा भक्तों के पाप समाप्त हो जाते हैं, वे द्वंद्व के मोह से निर्मुक्त होते हैं। तब उनको न राग रहता है, न द्वेष रहता है। तब न उनको मान की इच्छा होती है, न अपमान का भय होता है। तब उनको न सुख प्रीतिकर है न दुःख प्रीतिकर। सुख दुःख दोनों से ऊपर उठ गये हैं। दोनों उनके लिए समान हैं। द्वंद्व के मुंह से जो निर्मुक्त हो जाते हैं, वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। वे कौन होते

हैं? जिनके पापों की समाप्ति हो जाती है। पापों की समाप्ति कैसे होती है? जो निरन्तर पुण्य कर्म करते रहते हैं। पुण्य कर्म का मतलब क्या होता है? जो हमको पवित्र करता है। एक बात पर ध्यान दीजिए आप कि सारी साधना मूलतः चित्तशुद्धि के लिए होती है। जब तक चित्त शुद्ध नहीं होगा, तब तक भगवद् प्राप्ति की इच्छा ही नहीं होगी? अशुद्ध चित्त में कामनाएँ वास करती हैं। जब तक हमारे चित्त में राग होगा, द्वेष होगा, काम होगा, क्रोध होगा, लोभ होगा, मोह होगा, मद होगा, मत्सर होगा तब तक भगवान् की याद नहीं आयेगी।

मोह के कारण हम पाप करते रहते हैं, कामनाएँ हमको फँसाती रहती हैं। जब पाप की निवृत्ति होगी, पुण्य कर्म करते रहेंगे। जब हमारा चित्त शुद्ध होगा, जब हमारा राग-द्वेष दूर होगा, जब काम, क्रोध, लोभ दूर होगा, तब पुण्य के द्वारा, पवित्रता के द्वारा जब पाप की समाप्ति होगी तब हम मोह से दूर होंगे, द्वंद के मोह से निर्मुक्त होंगे, तब दृढ़ व्रत धारण करके भगवान् को भजेंगे। भगवान् के भजन में सबसे बड़ी बाधा हमारी अपनी कामनायें हैं, हमारे अपने छोटे-छोटे लोभ हैं, हमारी अपनी छोटी-छोटी लालसायें हैं। जब तक ये लालसायें रहेंगी, हमारा व्रत खण्डित होता रहेगा, हम दृढ़ नहीं हो सकेंगे। हम एक बार रामजी की ओर जायेंगे, एक बार काम की ओर जायेंगे। पेण्डुलम की तरह हमारा मन राम से काम की ओर, काम से राम की ओर जाता रहेगा।

जहाँ राम तँह काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी दोऊ ना मिलै, रवि रजनी इक ठाम।।

जिनके हृदय में कामनाएँ हैं उनके हृदय में राम नहीं आयेंगे। इसलिए निष्कामता के लिए, चित्त की शुद्धि की साधना करते रहो। जब पुण्य कर्मों के द्वारा पाप की समाप्ति होगी, तब हम द्वंद्व के मोह से मुक्त होंगे, तब हम राग-द्वेष से, सुख-दुख से, पाप-पुण्य से, ऊपर उठेंगे ; और तब दृढ़ व्रत धारण करके केवल भगवान् को भजते रहेंगे।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।। (७/२९)

देखिये! भगवान् बड़े चतुर हैं। एक अध्याय समाप्त करने के साथ-साथ अगले अध्याय का बीज डालते हैं। आप लोगों को याद होगा कि छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में उन्होंने भक्ति का बीज डाला ; और भक्ति के बीज से सातवां अध्याय विकसित हुआ। सातवें अध्याय के अंत में दो बातें कही गयी हैं।

पहली बात तो यह– यदि तुम जरा (वृद्धावस्था) और मरण (मृत्यु) के चक्र से मुक्ति चाहते हो तो मेरा सहारा लेकर प्रयास करो।

कोई भी बुढ़ापे को नहीं चाहता है। परन्तु *देखत ही आयी वृद्धाई*। देखते-देखते बुढ़ापा आ गया। वृद्धावस्था आ गयी – *जो तुम सपनेहु नाहिं बुलाई* – तूने सपने में भी उसे नहीं बुलाया। *'जो जाके न आये वह जवानी देखी, जो आके न जाये वह बुढ़ापा देखा'*। बुढ़ापा एक बार आ जाता है तो वह जाता नहीं, साथ ले के जाता है। तो कोई बुढ़ापा नहीं चाहता, कोई मरना नहीं चाहता है; लेकिन हम नहीं जानते कि कैसे बुढ़ापे और मृत्यु से हम बच सकते हैं। जन्म-मरण के चक्र से अगर आप मुक्त होना चाहते हैं; यदि आप आलस्य से, तमोगुण से मुक्त होना चाहते हैं, तो आप जो प्रयास करें अपने बलबूते पर मत करें। *मामाश्रित्य यतन्ति ये*— मेरा आश्रय लेकर, मेरा सहारा लेकर तुम प्रयास करो। प्रयास तो तुम करो।

गीता पौरुष प्रधान ग्रन्थ है। इसी सातवें अध्याय के आठवें श्लोक में बताया है— *पौरुषं नृषु*। मनुष्य जाति का भेदक लक्षण क्या है? पौरुष! प्रयास, बार-बार प्रयास। तुम किसके बल पर प्रयास कर रहे हो, अपने बल पर, सब खण्डित हो जायेगा। *मामाश्रित्य यतन्ति ये*— जो मेरा आश्रय लेकर मेरे भरोसे प्रयास करते हैं, वे जरा और मरण के मोह के चक्र से मुक्त होते हैं।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नम्– वे सम्पूर्ण ब्रह्म को जानते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्म को जानने के लिए क्या-क्या जानना होता है– *अध्यातं - कर्मचाखिलं/'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः'*– ब्रह्म को जानने के लिए, अध्यात्म को जानना होता है, सम्पूर्ण कर्म को जानना होता है, अधिभूत को जानना होता है, अधि दैव को जानना होता है, अधियज्ञ को जानना होता है। ये क्या हैं? अध्यात्म किसको कहते हैं? अधिभूत किसको कहते हैं? अधियज्ञ कौन है? कर्म क्या चीज है? उन सब की व्याख्या अगले अध्याय में की जायेगी। अष्टम अध्याय का बीज इसमें डाला है।

बाबा कह गये हैं – *जनम-जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं।* जन्म-जन्म के प्रयास के बाद भी अन्तिम समय में राम का नाम मुख से नहीं निकलता; और जिसकी अंतिम समय की जो वासना होती है, उसी वासना के अनुसार शरीर शान्त होता है। मृत्यु के समय तुम्हारी वासना कैसी है। मृत्यु के समय आप क्या सोच रहे थे? क्या चाहते थे आप? क्या कर रहे थे? मृत्यु के समय जिसकी वासना पुत्र में, पौत्र में, पत्नी में, पति में है, अर्थ में हैं, यश में है, उसके मरने के बाद वही होगा। पशु पक्षी होगा। सारा जीवन हम अंतकाल को सुधारने के लिए प्रयास करते हैं।

मेरे पिताजी (पं. गांगेय नरोत्तम शास्त्री) की कविता है – *जीना हो मरने की तैयारी।* मरने की तैयारी। कैसे मरोगे तुम? रस है हँस के मिलने में। इसलिए मौत से भी हँस के मिलो। मौत के समय रोना, यह अच्छी बात नहीं है। मृत्यु का स्वागत करो, हंसकर स्वागत करो। मृत्यु में प्रभु को पहचानो।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।। (७/३०)

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ— इन तीनों रूपों में जो मेरी सत्ता का निरन्तर अनुभव करते हैं, जिनकी चेतना, जिनका चित्त मुझसे युक्त हो गया है ; वे प्रयाण के समय भी, मृत्यु के समय भी, मेरी स्मृति जगाये रखते हैं, जानते रहते हैं मुझको और प्रभु का नाम लेते हुए, प्रभु का स्मरण करते हुए, प्रभु का ध्यान करते हुए जब मृत्यु होती है, तो दिव्य गति, सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त होते हैं। यह तब संभव होगा जब कि पुण्य कर्म के द्वारा पापों का क्षरण होगा, पापों के क्षरण के द्वारा द्वंद्व के मोह से निर्मुक्त होगा साधक, दृढ़व्रत होगा। जन्म मरण के चक्र से छूटने के लिए भगवान का आश्रय लेकर साधना करेगा। *मामाश्रित्य*– भगवान् का आश्रय लेकर, भगवान् का सहारा लेकर, भगवान् के बल से बली होकर, जब साधना करेगा तो समग्र को जानेगा और समग्र को जिसने जान लिया, वह मृत्यु के समय भी मुझको पहचानेगा। मृत्यु के समय भी मेरी स्मृति उसके मन में अक्षुण्ण रहेगी, क्योंकि वह युक्त चेतन हो गया है उसका चित्त मुझसे युक्त हो गया है, मिल गया है। समग्र की जानकारी, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ इन सबकी चर्चा अगले अध्याय में, अगले व्याख्यान में करेंगे। •

प्रवचन-२३*

प्रभु सुलभ हैं

प्रभु की कृपा है कि हमलोगों का यह क्रम चल रहा है। उन्हीं के अनुग्रह से, उन्हीं के आशीर्वाद से यह क्रम चलता रहे, मैं यही प्रार्थना करता हूँ। आठवें अध्याय का बीज प्रभु ने सातवें अध्याय के अन्त में डाल दिया।

कभी आप लोगों ने ध्यान दिया है कि कोई बात आप लोगों को कब अच्छी लगती है ; कोई बात आपको कब समझ में आती है? जिस बात के बारे में आपके मन में सच्ची जिज्ञासा उठती है, तब उस बात को जानने की वास्तविक चेष्टा होती है ; और तभी वह बात समझ में आती है। जब तक मन में, जिज्ञासा नहीं होती, तब तक बात सुनने पर भी प्रीतिकर नहीं लगती ; और समझ में भी नहीं आती। वह सिर के ऊपर से निकल जाती है। अच्छे गुरु का लक्षण है कि जिस बात को वह अपने शिष्य के लिए मंगलमय माने, उसको जानने की इच्छा उसके मन में पहले उत्पन्न करे। जब उसके मन में इच्छा जागेगी, तब श्रोता प्रेरित होकर प्रश्न करेगा। जब उसको समझाया जाएगा, तब बात उसकी समझ में आएगी।

भगवान् ने सप्तम अध्याय के अंत में इसीलिए जिज्ञासा का बीज डाल दिया। भगवान् ने कहा कि मुझको और कोई नहीं जानता, मुझको ठीक-ठीक मैं ही जानता हूँ। अर्जुन ने कहा कि यदि स्वयं को ठीक-ठीक आप ही जानते हैं, तो आपने विषय में ठीक- ठीक आप स्वयं ही बता सकते हैं। यदि मेरा कल्याण इन बातों के जानने पर निर्भर है, तो आप ही कृपापूर्वक यह बतलाएँ कि इन बातों को मैं ठीक-ठीक कैसे जान सकता हूँ?

आप ध्यान दें, कि सात प्रश्न हैं और इन सातों प्रश्नों के सही उत्तर यदि हमें स्मरण रहें, यदि हम इन उत्तरों के मर्म में प्रवेश कर सकें, तो हमारा भी परम कल्याण होगा, इसमें कोई संशय नहीं। सात प्रश्न हैं—

* अष्टम अध्याय (अक्षर ब्रह्म-योग) : श्लोक संख्या १ से १४

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।। (८/१)
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन। (८/२/१)

१. *किं तद्ब्रह्म* – वह ब्रह्म कौन है?
२. *किमध्यात्मं* – अध्यात्म किसको कहते हैं?
३. *किं कर्म पुरुषोत्तम* – हे पुरुषोत्तम! कर्म किसको कहते हैं?
४. *अधिभूतं च किं प्रोक्तम्* – अधिभूत कौन है?
५. *अधिदैवं किमुच्यते* – अधिदैव किसको कहते हैं?
६. *अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन* – हे मधुसूदन इस शरीर में अधियज्ञ के रूप में कौन विराजमान है?

ये छहों सैद्धांतिक प्रश्न हैं और सातवाँ प्रश्न है व्यावहारिक—

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः। (८/२/२)

जो जितात्मा है, जितेन्द्रिय है, वह अपने अंतिम समय में इस लोक से प्रयाण करते समय आपको किस प्रकार जानता है? कैसे जान सकता है? भगवान् ने सूत्र रूप में तो छह प्रश्नों के उत्तर दिए; और सातवें प्रश्न का उत्तर विस्तार से दिया। सूत्र रूप में छह प्रश्नों के उत्तर दिये क्योंकि उन सूत्रों की व्याख्या अर्जुन स्वयं अपनी बुद्धि से कर ले, या किसी दूसरे जानकार से समझ ले। सातवाँ प्रश्न व्यावहारिक प्रश्न है। वह हमारे आपके जीवन के मंगल को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। इसलिए उन्होंने उसका विस्तार से, कई-कई प्रकार से निरूपण किया है।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।। (८/३)

पहली बात *'अक्षरं परमं ब्रह्म'*— अक्षर ही परम ब्रह्म है। 'ब्रह्म' शब्द के आगे 'परम' विशेषण क्यों लगाया गया है? क्योंकि ब्रह्म शब्द का प्रयोग गीता में और दूसरी कृतियों में भी, एकाधिक अर्थों में होता है। ब्रह्म का प्रयोग वेद के अर्थ में भी होता है। ब्रह्म शब्द का प्रयोग कभी-कभी महद् ब्रह्म के रूप से, प्रकृति के अर्थ में भी होता है, बुद्धि के अर्थ में भी होता है। किंतु ये सब न परम हैं न अक्षर; इसलिए परम ब्रह्म को अक्षर कहा है। अक्षर शब्द के दो अर्थ होते हैं – जो व्याप्त है, सर्वत्र व्याप्त है। *न क्षरति इति अक्षरः* जिसका क्षर नहीं होता। जो व्याप्त है, उस अर्थ में भी और जिसका कभी क्षर नहीं होता, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता, जिसमें कभी कोई अंतर नहीं आता, वह अक्षर परम ब्रह्म है। अक्षर की अभिव्यक्ति में पार्थक्य होता है। अक्षर में

अंतर नहीं आता। एक छोटा उदाहरण दूँ। हमलोग कहते हैं – अ, आ, क, ख – यह अक्षर है, इसकी लिपियाँ अनेक हैं। एक ही 'अ' नागरी लिपि में अलग, बंगीय लिपि में अलग, गुजराती लिपि में अलग, गुरुमुखी लिपि में अलग, यानी लिपियाँ अनेक - - अक्षर एक। इसी तरह से परमात्मा की अभिव्यक्ति के स्वरूप अलग-अलग हो सकते हैं, लेकिन परम ब्रह्म अक्षर वह एक ही है। *'अक्षर ब्रह्म परमं'* –वह परब्रह्म है। उसके परे और कुछ नहीं है, वह अंतिम सत्य है।

अब एक बात पर ध्यान दीजिए – वही अक्षर ब्रह्म सारी सृष्टि में कैसे रूपांतरित होता है, इस बात का भी संकेत दिया गया है। हमलोग यह मानते हैं कि परमात्मा इस सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। अभिन्न निमित्तोपादान कारण किसको कहते हैं? साधारण तौर पर दुनिया में जो वस्तुएँ बनती हैं, उनका उपादान कारण अलग होता है, निमित्त कारण अलग होता है। उदाहरण के लिए 'कुम्हार'— कुम्हार, चाक और उसका वह काट लेने वाला सूत – ये तो हैं निमित्त कारण ; और घड़ा या पुरवा या परइ – इन सबका उपादान कारण है मिट्टी। मिट्टी से कुम्हार घड़ा बनाता है – घड़े का उपादान कारण क्या है – मिट्टी, और घड़े का निमित्त कारण है – कुम्हार। संसार रूपी जो सृष्टि है, उसमें हम आप, सब ये अनेक नाना नाम और रूप धारी व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ – इन सबके उपादान के रूप में भी परमात्मा, निमित्त के रूप में भी परमात्मा; यानी परमात्मा ही बनाने वाला है और परमात्मा ही बनने वाला है। उपादान के रूप में परमात्मा ! मतलब? परमात्मा ही इन सब रूपों में बनता है। हाँ, परमात्मा ही बनता है।

सृष्टि की प्रक्रिया को दो प्रकार से समझना होता है – एक अन्वय की पद्धति से; और एक निषेध की पद्धति से यानी व्यतिरेक की पद्धति से। अन्वय और व्यतिरेक – इन दोनों पद्धतियों से जब हम किसी विषय को समझते हैं, तो हम ठीक-ठीक समझते हैं। व्यतिरेक किसको कहते हैं – यह भी नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं, इससे अलग, इससे अलग, इससे अलग। तो यह जो 'न', 'न' करके समझना है – यह व्यतिरेक पद्धति है। परमात्मा निर्गुण है, निराकार है, निर्मम है, निर्लेप है, अशब्द है, अरूप है अ, अ, न, न करके समझना है, यानी सबका निषेध कर देने के बाद जो बचता है, वह परमात्मा है। यह समझने की पद्धति, व्यतिरेक पद्धति है। *'नेह नानाति किंचन'* - — यहाँ नानात्व नहीं है — इस बात की स्थापना वेद मंत्र करते हैं; और वह व्यतिरेक पद्धतिमूलक निरूपण है। यह भी परमात्मा, यह भी परमात्मा, यह भी परमात्मा - यह अन्वय पद्धति है। *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* – यह सब का सब ब्रह्म है – यह कह करके

उसको समझना, उसको समझाना – यह अन्वय पद्धति है। तो अन्वय, व्यतिरेक दोनों पद्धतियों से सारी सृष्टि की प्रक्रिया को कैसे समझा जाए? पहली बात तो यह कि परमात्मा के रूप में जो परम सत्य है– *'अक्षरं ब्रह्म परमं'*— वह परम ब्रह्म अक्षर है, भावातीत है, उसका क्षर नहीं होता, वह सर्वत्र व्याप्त है, उसको हम किसी दूसरी तरह से नहीं समझ सकते। अक्षर है यह – निषेधमूलक – 'अ' के द्वारा उसका बोध कराया – लेकिन वही सब कुछ बनता है। वह कैसे सब कुछ बनता है? जो भावातीत है, वह भाव के मध्य कैसे आता है? देखिए पहले यह बात है - *अक्षरं ब्रह्म परमं* - - वह परब्रह्म जो अक्षर, तत्त्व है, अक्षर है वही *'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'* – वही जीव के रूप में, हमारे आपके भीतर जब आता है - तो इस सत्ता का जो अपना भाव है, वही अध्यात्म है *'स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते'*। अध्यात्म किसको कहते हैं? अध्यात्म कहते हैं स्वभाव को। अपनेपन को कोई नकार सकता है? 'स्व' का मतलब क्या है, इसपर ध्यान दीजिए। कभी ध्यान दिया है? स्व शब्द बनता है 'सु' जोड़ 'अ' – सु माने सुष्ठु रूप से, अ माने अस्तित्व – जिसके अस्तित्व को सुष्ठु रूप से स्वीकार किया जाय, जिसको कोई नकार नहीं सकता। आप सारी दुनिया को नकार दें, आप परमात्मा को नकार दें, आप दूसरों को नकार दें – आप अपने को नकार सकते हैं? 'स्व' को कोई नकार नहीं सकता। तो स्व सुष्ठु रूप में जिसका अस्तित्व है, सुष्ठु रूप से जिसकी अनिवार्य सत्ता है, उस स्व का जो भाव है, उस स्व की जो सत्ता है, वह है अध्यात्म। अध्यात्म का क्या मतलब होता है? *आत्मने अधि* – अपने भीतर जो है। अपने भीतर के भीतर के भीतर। शरीर में क्या है? शरीर में इन्द्रियाँ हैं। *इन्द्रियाणि पराण्याहु।* शरीर के भीतर इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं। *इन्द्रियेभ्यः परं मनः* – इन्द्रियों से सूक्ष्म, इन्द्रियों के भीतर कौन है? मन है। *मनस स्तु पराबुद्धि* — मन के भीतर, मन से भी सूक्ष्म कौन है? बुद्धि है। *यो बुद्धेः परतस्तु सः* — उपनिषद् में और भी कई बातें बताई है, गीता में 'उसे' संक्षेप में कह दिया।

बुद्धि के भी परे जो है उसको कहते हैं – 'प्रत्यगात्मा'। आपलोगों ने प्रत्यगात्मा शब्द सुना होगा। वह ब्रह्म जो अंतरतम में है, उसको हम प्रत्यगात्मा कहते हैं। *'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'* — अध्यात्म विद्या, अध्यात्म हमारे भीतरतम की - भीतर के भीतर के भीतर की वास्तविक सत्ता है। *'स्वभावः अध्यात्म मुच्यते'* – हम अपने अस्तित्व को, अपनी सत्ता को नकार नहीं सकते। जो भावातीत था, जो अक्षर ब्रह्म था, वही अक्षर ब्रह्म, सृष्टि के रचनाक्रम में जीवात्मा के रूप में अपने को स्वभाव के रूप में स्थित रखता है। भावातीत जो था, वह भाव के अन्तर्गत आता है; और

वह भी अभी निराकार है– सगुण निराकार। परमात्मा अक्षर ब्रह्म है – निर्गुण निराकार और उसकी जो सत्ता है, अभाव के निषेध के रूप में, अपने भीतर जो उसकी सत्ता है– वह स्वभाव, वह अध्यात्म, (आत्मने अधि), अपने भीतर, वह अपना जीवात्मा, अपना रूप –वह है तो वस्तुतः परमात्मा ही। लेकिन वह भावातीत अब भाव के अन्तर्गत आता है, स्वभाव के रूप में। हमारे जीवात्मा के रूप में वह अपने को प्रकाशित करता है।

आप देखिये कि गलती कहाँ होती है? हम अपने आप को क्या मानते हैं? हम कौन हैं? स्व – मेरा स्व क्या है? अपने को अगर शरीर ही मानूँगा, नाम रूप मानूँगा, देह मानूँगा, इन्द्रिय मानूँगा, मन मानूँगा, बुद्धि मानूँगा – तो मैं अपने को जड़ मानूँगा। इन जड़ों के भीतर जो चेतन तत्त्व है वह मेरा, स्व-भाव है। वह अध्यात्म है। देखिए हम अपने को उस अध्यात्म के साथ एक करते हैं। अपनी प्रत्यगात्मा के साथ एक करते हैं कि अपने नामरूप के साथ। अपने शरीर, अपनी इन्द्रियों, अपने मन, अपनी बुद्धि के साथ एक करने का हमारा बहुत गलत अभ्यास पड़ा हुआ है – इस अभ्यास के कारण हम अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर, अपने नाम रूप को, अपने शरीर को ही आप मान लेते हैं। *स्वभावोध्यात्ममुच्यते* – भगवान् कहते हैं कि अपना जो भाव है, अपनी जो वास्तविक सत्ता है, वही हम अध्यात्म के रूप में, जीवात्मा के रूप में अपने भीतर अनुभव करें।

'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः' और कर्म क्या है? विसर्ग ; सर्ग माने सृष्टि, सर्ग माने रचना। लेकिन परमात्मा अद्भुत हैं, कहते हैं कि परमात्मा रचना भी करता है, त्याग के द्वारा रचना करता है। *'विसर्गः'* - विसर्ग माने जो त्याग है, जो सर्ग नहीं हैं, सर्ग के विपरीत है। त्याग के द्वारा कर्म होता है, अद्भुत है। भगवान् जो सारी सृष्टि की रचना करते हैं, किसलिए करते हैं? *'भूतभावोद्भवकरो'* – पहले तो भूत भाव - सबका जो अस्तित्व है, उस सबके अस्तित्व में, सबकी सत्ता में (समस्त प्राणियों की, समस्त जीवों की, समस्त पदार्थों की जो सत्ता है) ; भाव – उसमें जो नई-नई बात उत्पन्न कर रहा है, उद्भव कर रहा है। उसमें नई-नई विशेषताओं को उत्पन्न करने के लिए, हम जब अपनी शक्ति का, अपनी बुद्धि का, अपनी मानसिकता का उपयोग करते हैं, विनियोग करते हैं, एक तरह से उसका त्याग करते हैं, तो वह कर्म बन जाता है। परमात्मा कर्म करता है और उसका कर्म भी अकर्म है; क्योंकि वह कुछ करता नहीं है। सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। इसलिए परमात्मा के सारी सृष्टि रचना के क्रम को भी गीता में विसर्ग कहा गया। कहने के लिए सृष्टि रचना, लेकिन वास्तव

में सृष्टि रचना के बावजूद वह त्याग है। वह विसर्ग है। उससे प्राणियों की सत्ता का अनुभव होता है लोगों को, और प्राणियों में नवीनता का उद्‌भव होता है। नई नई बातें उत्पन्न करने की क्षमता कर्म देता है, लेकिन उस कर्म को भी ग्रहण करके जोड़ोगे तो वह कर्म लिप्त होगा। त्याग के भाव से करोगे तो कर्म लिप्त नहीं होगा। भगवान् कर्म करते हैं त्याग के भाव से, ग्रहण के भाव से नहीं। हम आप कर्म करते हैं तो हम उसका फल पाना चाहते हैं, हममें अहंकार रहता है; और इसलिए वह कर्म हमको बाँधता है। *'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'* – त्याग के द्वारा जब भोग होता है तो वह कर्म हमको बाँधता नहीं। *न कर्म लिप्यते नरे* – कर्म लिप्त नहीं होता। तो विसर्ग के द्वारा परमात्मा इस सारी सृष्टि की रचना करता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।। (८/४)

'अधिभूतं क्षरो भावः' – अधिभूत क्या है? जो क्षरतीति, जो परिवर्तनशील है, वह विनाशशील है। यह जो सारी सृष्टि है, जो निरंतर बदल रही है – यह अधिभूत है। तो इसका स्वभाव बताया गया। तुलसी बाबा ने कहा है – *'धरा को स्वभाव यहै तुलसी, जो फरा सो झरा, जो जरा सो बुताना।'* धरा का, अधिभूत का यह स्व भाव है, अपना भाव है कि जो फलेगा वह झरेगा। जो जलेगा दीपक, वह बुतेगा। *यद् जन्मम्, तदनित्यम्* — जो पैदा हुआ है वह अनित्य है। *'यद् दृष्टम् तद् नष्टम्'* – जो दिखाई पड़ रहा है, वह नष्ट होने वाला है।

आया है सो जाएगा, राजा रंक फकीर।
इक सिंघासन चढ़ि चला, इक बँधि जात जंजीर।।

जो आया है वह जाएगा ही जाएगा – यह अधिभूत है, यह क्षर भाव है। *'अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्'* – (८/४) और जो अधिदेवता है– अधि माने जो भीतर रहने वाला देवता है – वह पुरुष है। हमलोग मानते हैं कि कोई कर्म तीन चीजों से होता है। जैसे देखने की क्रिया है, तो इसमें तीन चीजें होनी चाहियें — जिसको हम देख रहे हैं वह तो है अधिभूत ; जो देख रहा है – वह है अध्यात्म ; और अधिभूत और अध्यात्म के बीच में अगर अधिदैव की शक्ति नहीं होगी तो हम नहीं देख सकेंगे। जैसे देखने का उदाहरण दिया तो प्रकाश होना चाहिये कि नहीं? कहते हैं न सूची-भेद्य अंधकार – जिसमें अपना हाथ ही न दिखाई पड़े – तो हाथ नहीं है क्या? हाथ तो है। आँख नहीं है क्या? आँख तो है। दिखाई क्यों नहीं पड़ रहा? प्रकाश नहीं है - इस प्रकाश को हम अधिदैव कहते हैं। सारा प्रकाश सूर्य से है, तो आँखों का देवता

सूर्य है, सूर्य की कृपा से, प्रकाश से हम देख पाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का एक देवता माना गया है – आँखों का देवता सूर्य है, हाथों का देवता इन्द्र है, कानों का देवता दिशा है, पाँव के देवता विष्णु ; इस तरह से – ये जो अपने भीतर इन्द्रियों के देवता हैं, या सारी सृष्टि की रचना करने के लिए जो हिरण्य-गर्भ ब्रह्म है उनको कहा अधिदैव। उन सारे देवताओं को अधिदैव मानकर पुरुष कहा गया।

'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर' – हे श्रेष्ठ देह धारण करने वाले अर्जुन, समस्त देहों के बीच में अधियज्ञ हूँ *'अधियज्ञः अहम् एव अत्र'* – अधियज्ञ तो मैं ही हूँ। अध्यात्म और अधियज्ञ का अंतर समझिए। अध्यात्म में हम अपने को जीव मान लेते हैं। अध्यात्म में हम अपने को बंधन में बांध लेते हैं, अध्यात्म में हम अपने को नाम रूप से युक्त मान लेते हैं; और इसलिए हम बँध जाते हैं। *'भोक्तारं यज्ञ तपसाम्'*— जो यज्ञ और तप के भोक्ता हैं, वे श्रेष्ठ यज्ञ के भीतर रहते हुए, यज्ञ के फल को ग्रहण करने वाले परमात्मा अधियज्ञ हैं। वे ही पुरुषोत्तम हैं। अब आप देखिए – एक हुआ अधिभूत, एक हुआ अधिदैव, एक हुआ अध्यात्म जो अपने को नाम रूप से बांध लेता है। इन सबों के साथ जुड़ा हुआ है अधियज्ञ, जो सारी सृष्टि के तप और यज्ञ का फल भोगता है, जिसकी हम पूजा करते हैं। एक हुआ परम ब्रह्म और एक हुआ कर्म। यह वही परम ब्रह्म ; किस प्रकार कर्म के द्वारा सारी सृष्टि के रूप में हमारी आँखों के सामने आता है और वह सारी सृष्टि में अपने को अभिव्यक्त करते हुए भी सारी सृष्टि की पूजा को, सारी सृष्टि की तपस्या को, सारी सृष्टि के यज्ञ को स्वयं ग्रहण करता है; और उसका फल देता है – वह अधियज्ञ मैं ही हूँ। यानी मोटे तौर पर यह बताया गया है कि अपनी-अपनी मर्यादा में, सीमा में रहकर भी हमको जो काम करना चाहिए, वह कैसे करना चाहिए और उसका चरम लक्ष्य क्या होना चाहिए। चरम लक्ष्य है परमात्मा से मिलना, उस मिलने के क्रम में अपने भीतर के जो समस्त उपकरण हैं उनको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, अपने अध्यात्म भाव को समझ लेना चाहिए। सारी सृष्टि में जिसको हम अधिभूत के रूप में देख रहे हैं वह क्षर है, उससे अपने को जोड़ेंगे तो हम अक्षर को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। उससे अपने को मुक्त करना है। उससे कैसे मुक्त होंगे, उसके उपाय, उसके सारे तरीके बताए गए हैं। उस तरीके और उस क्रम को बताते हुए पहली बात यह बताई है कि आजीवन मृत्यु की तैयारी होनी चाहिए।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।। (८/५)

'अन्तकाले' – मृत्यु के समय, *'माम एव'* – मुझको ही *'स्मरन्'* – याद करता

हुआ, *'मुक्त्वा कलेवरम्'* – जो कलेवर से मुक्त होता है, जो शरीर त्याग करता है *'यः प्रयाति'* – जो इस तरह से शरीर त्याग करता है *'स मद्भावं याति'* – वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें कोई भी संशय नहीं। विनोबा भावे ने इसको बहुत अच्छे ढंग से समझाया है। आपमें से बहुत लोग हिसाबी-किताबी लोग हैं, हम लोग प्रतिदिन बहुत जमा करते हैं, खर्च करते हैं। सारा जमा खर्च करके एक दिन की रोकड़ निकालते हैं, तो दूसरे दिन पूरा जमा खर्च ले जाते हैं कि केवल रोकड़ ले जाते हैं? रोकड़ ले जाते हैं। फिर पूरे महीने की रोकड़ निकालते हैं, तो अगले महीने प्रतिदिन की रोकड़ ले जाते हैं कि महीने की रोकड़ ले जाते हैं? अगले वर्ष? वर्ष की रोकड़ ले जाते हैं। इसी प्रकार मृत्यु के समय जीवन की रोकड़ ले जाते हैं। बात समझ में आ रही है? जो हमारा जमा-खर्च है, उस जमा-खर्च से सैकड़ों काम किए। सैकड़ों काम का हमने संस्कार प्राप्त किया, वही संस्कार हमारे साथ अगले दिन जुड़ेगा। अगले दिन के या अगले महीने के जो संस्कार प्राप्त किए, वे अगले वर्ष जुड़ेंगे और सारे जीवन में जो संस्कार प्राप्त किया, वह मृत्यु के समय याद आएगा। मृत्यु के समय हम जो याद करते हैं, वही हो जाते हैं – इस बात को बार-बार उन्होंने कहा है। छठा श्लोक है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। (८/६)

जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए मनुष्य शरीर त्याग करता है, उस भाव से भावित होने के कारण, जब उसका पुनर्जन्म होगा, तो उसी भाव के अनुरूप होगा। मृत्यु के समय जो भाव लेकर जीवात्मा शरीर से निकला है, उसी भाव से भावित है। उस भाव से भावित होने के कारण, अगला जन्म होने तक तो कोई नया भाव आएगा नहीं। नया कर्म होगा नहीं, तो जिस भाव से भावित होकर हमारा बद्ध जीवात्मा यह शरीर छोड़ता है, वही शरीर उसको प्राप्त होता है। आप लोगों ने जड़ भरत की कहानी सुनी होगी - बड़े महात्मा थे। मरते समय उन्हें हिरण का बच्चा याद आया, उन्होंने नहाते समय हिरण का बच्चा पाया था, उसको पाला पोसा था, तो अगले जन्म में वे हिरण हुए।

एक दूसरे उदाहरण पर ध्यान दीजिए – तोते को आप सिखाइए – 'हरे राम! हरे राम, राम राम हरे हरे'। वह आपके द्वारा दिया गया जो फल/मेवा है उसको खाने के लिए हरे राम हरे राम बोलेगा। लेकिन रोज तो बोलता है टीं टीं, टीं टीं। बोलता है कि नहीं? बिल्ली अगर उसको पकड़ेगी तो उसके मुँह से हरे राम हरे राम निकलेगा कि टीं टीं निकलेगा? बिल्ली जब तोते को पकड़ेगी और कसकर दबोचेगी तो उसके

मुँह से 'हरे राम' नहीं निकलेगा। ऐसे ही जब मौत हमको दबोचती है, तो हम दिखावे के लिए मंदिर चले जाएँ, थोड़े से समय के लिए ; लेकिन सारा मन अगर लगा हुआ है रुपए पैसे में, विषय-भोग में, किसी हिसाब के पन्ने में – तो उसी में मन जाएगा, परमात्मा में नहीं जाएगा। हमारे जीवन के संस्कारों की रोकड़ क्या है? इस बात को अच्छी तरह समझ लीजिए। बिना किए इस जीवन में जो सुख मिलता है, वह होता है तामस सुख। बिना किए कैसे सुख मिलता है? पड़े रहो, कुछ मत करो – आलस्य में जो सुख है वह तमोगुणी सुख है। आज का काम कल करेंगे, कल का काम परसों करेंगे – टालने में जो सुख मिलता है, वह तमोगुणी है। गलत काम करना – यह तमोगुणी व्यापार है। प्रमाद, आलस्य और निद्रा से जो सुख मिलता है – वह है तमोगुणी सुख। बिना कुछ किए अगर सुख मिलेगा तो वह सुख अच्छा नहीं करेगा ; वह बांधेगा। उससे संस्कार खराब होंगे, उन संस्कारों से मृत्यु के समय गलत ही बात आएगी।

इन्द्रिय और विषय के संयोग से जो सुख मिलता है, वह राजस सुख है। यह पहले अमृत जैसा लगता है, बाद में विष जैसा होता है। आँख रूप को देखकर सुख पाती है, रसना स्वाद प्राप्त करके सुख पाती है, त्वचा कोमल स्पर्श प्राप्त करके, कान मीठा शब्द सुनकर, नाक अच्छी गन्ध सूँघकर सुख प्राप्त करते हैं। यानी इन्द्रिय और विषय के संयोग से जो सुख मिलता है, वह आरम्भ में अमृत जैसा लगता है, पर परिणाम में विष जैसा होता है, बाँधता है। अगर राजस सुख आपके जीवन का ध्येय रहा है – तो मरने के समय आपको वह राजस सुख ही याद आएगा।

जो अभ्यास से मिलता है, जो पहले विष के रूप में लगता है, बाद में वह अमृत की तरह होता है ; वह है सात्विक सुख। इस सात्विक सुख में दो भेद हो गए। अगर यह सात्विक सुख आपको विद्या-चर्चा में, व्याख्यान देने में केवल यश प्राप्त करने के लिए आता है, तो भी बँधेंगे आप। इसी सात्विक सुख का जब रूपान्तरण परमात्मा की ओर जाने के लिए होता है (वह भी अभ्यासजन्य है, वह भी पहले अच्छा नहीं लगता); और उसके संस्कार प्रबल होते हैं, तो हमारी रोकड़ अंत में परमात्मा का स्मरण कराती है। इसलिए परमात्मा का अंतिम समय में जो स्मरण होगा, उसी भाव से भावित होकर हमको नया जीवन मिलेगा। नया शरीर मिलेगा।

अच्छा एक बात बताइए कि क्या आपको मालूम है कि मृत्यु कब होगी? मुझको तो नहीं मालूम। किसी को नहीं मालूम कि उसकी मृत्यु कब आएगी। मृत्यु के समय तो वही बात आएगी जो जीवन भर की है। मृत्यु के समय तो जीवन भर के संस्कार की रोकड़ आएगी। तो मृत्यु के समय परमात्मा याद आए, इसके लिए क्या करना होगा?

मेरे गुरुजी कहते हैं कि सातवें श्लोक का जो पहला वाक्य है, वह महावाक्य है। गीता के कुछ महावाक्य हैं, उन महावाक्यों में से एक महावाक्य मैं आपको सुनाने जा रहा हूँ। महावाक्य का मतलब होता है, ऐसा वाक्य जिसमें जीवन के किसी बड़े सत्य का निर्देश हो और जिस महान सत्य का अनुगमन करने पर जीवन का परम कल्याण हो। हमको आपको किसी को नहीं मालूम कि मृत्यु कब आएगी। मृत्यु के समय जिसका हम स्मरण करेंगे, मरने के बाद हम वही होंगे। आप अगर कुत्ता, घोड़ा, बैल होना चाहते हैं तो कुत्ते, घोड़े, बैल से प्रेम कर लीजिए। आप अगर विषय, वस्तु, भोग का सुख प्राप्त करना चाहते हैं, तो वैसे कर लीजिए। परन्तु अगर आप अपने को मुक्त करना चाहते हैं, परमात्मा के साथ युक्त होना चाहते हैं, तो अंतिम समय परमात्मा की याद आनी चाहिए। परमात्मा की याद तभी आएगी, जब हम जीवनभर परमात्मा को याद करेंगे।

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' (८/७/१)

यह महावाक्य गीता के कई महावाक्यों में से एक है। *'तस्मात्'* – इसलिए। किसलिए? कि अंतिम समय में परमात्मा की याद आए। कब है अंतिम समय? यह मालूम नहीं। मैं अभी व्याख्यान दे रहा हूँ। रात कटेगी कि नहीं कटेगी – यह मालूम है? नहीं। 'श्री राम नाम सत्य' उसके पहले नहीं हो जाएगा कोई जानता है? चूँकि हमको मालूम नहीं कि हमारी मृत्यु कब आएगी – *'तस्मात्सर्वेषु कालेषु'* – इसलिए सब समय *'मामनुस्मर'* — मेरा अनुस्मरण करो। अभी इस अनुस्मर शब्द के ऊपर बहुत लोगों ने विचार किया। मेरे गुरु कहते हैं परमात्मा हमको स्मरण करते रहते हैं। परमात्मा हमको याद करते रहते हैं; परन्तु हम परमात्मा को याद नहीं करते। परमात्मा हमको याद करते हैं, परमात्मा हमको प्यार करते हैं, परमात्मा ने हमको बुद्धि दी, परमात्मा ने हमको मन दिया, परमात्मा ने हमको शास्त्र दिए, उपदेश दिया। परमात्मा क्यों यह कर रहा है भाई? परमात्मा ये सब केवल अर्जुन के लिए कर रहा था कि हमारे आपके लिए भी कर रहा है? हमारे आपके लिए भी कर रहा है। तो सबको परमात्मा स्मरण करता है, हम ही अभागे उसको स्मरण नहीं करते। परमात्मा के स्मरण के बाद हम करते हैं, तो यह अनुस्मरण हुआ। अनु माने पीछे, बाद में – परमात्मा ने हमको पहले से स्मरण कर रखा है। हम बाद में स्मरण कर रहे हैं; इसलिए वह है अनुस्मरण। जो परमात्मा तुमको इतना प्यार करता है, जो परमात्मा तुम्हारा इतना भला चाहता है, जो तुमको याद रखता है, तुम उसका स्मरण करो – यह कहा गया है।

दूसरा है कि स्मरण के बाद स्मरण—अनुस्मरण। एक बार स्मरण करके चुप

नहीं रह जाओ। स्मरण करने के बाद फिर क्या करोगे? फिर स्मरण करो। फिर क्या करो? फिर स्मरण करो। याद रखो कि पुनरुक्ति अन्यत्र दोष है, केवल भगवान् का स्मरण करने में पुण्य है, गुण है। कितनी बार राम का नाम लो? जितनी बार ले सकते हो। 'उसमें पुनरावृत्ति हो गई' – अरे यह पुनरावृत्ति ही गुण है। भगवान् का नाम लेने में पुनरुक्ति दोष नहीं है। भगवान् का नाम लेने में, भगवान् का स्मरण करने में पुनरावृत्ति, पुनरुक्ति परम गुण है। *मामनुस्मर* — उसको बार-बार स्मरण करो। *'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'*— बराबर भगवान् का स्मरण करते रहो। भगवान् का स्मरण बराबर कैसे होगा? बराबर का क्या मतलब है, यह आगे बताया है : सतत्, सर्वदा, बताया है *नित्यशः* प्रतिदिन। प्रतिदिन बराबर भगवान् को स्मरण करो। भगवान् का स्मरण करो, मतलब क्या करो?

देखिए अन्तःकरण के चार तत्त्व माने गए —मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। लेकिन इसमें दो ही प्रधान हैं — एक है मन, एक है बुद्धि। भगवान् ने आगे भी कहा है–

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्'। (८/७/२)

मय्यर्पितमनोबुद्धि – जो अपना मन मुझमें अर्पित कर देता है। जो अपनी बुद्धि मुझमें अर्पित कर देता है, वह निस्संशय मुझमें ही लय होता है। मन को अर्पित करने, बुद्धि को अर्पित करने से क्या मतलब है? मन को अर्पित करने का मतलब होता है कि भगवान् को ही सबसे ज्यादा प्यार करो। तुमको याद कौन आता है? सबलोग याद आते हैं क्या? जो तुम्हारा जितना अंतरंग हो, जो तुम्हारा जितना प्यारा हो, वह उतनी बार याद आता है। तुमको परमात्मा याद तभी आयेंगे, जब तुम उनको याद करोगे, जब तुम्हारा मन उनमें लगेगा। परमात्मा में मन लगने का मतलब क्या? परमात्मा की बनाई हुई सृष्टि को परमात्मा-पूरित मानकर सबसे प्रेम करो – तो परमात्मा से प्रेम करोगे। केवल अपने से प्रेम करना, केवल इस शरीर से जिनका सम्बन्ध है, उनसे प्रेम करना — यह बाँधता है। जो सबसे प्रेम करता है वह किसी एक के प्रति बँधता नहीं है। जो सबका है, वह किसी का नहीं है। आप इस बात पर ध्यान दीजिए — जो सबका है, दूसरे का अहित करते हुए किसी एक का नहीं होगा। जो सबका भला चाहेगा, जो सबसे प्रेम करेगा, वह किसी एक से नहीं बंधेगा। *'मय्यर्पितमनोबुद्धि'*— अपना मन, अपना प्रेम परमात्मा की बनाई हुई सृष्टि को अर्पित करो।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्।।

कोई दुखी न हो, इसका भाव तुम्हारे मन में जागना चाहिए – यह है मन को लगाना परमात्मा में ; सबके माध्यम से परमात्मा में मन लगेगा। बुद्धि का क्या मतलब हुआ? बुद्धि रूपी बर्तन में उत्तम विचार रखे जाते हैं। गुरुजी ने कहा है कि बुद्धि रूपी पात्र में विचार रूपी रत्न है। तो बुद्धि कैसे लगेगी परमात्मा में? बुद्धि लगेगी कि सबका भला हो, इसका विचार करो। मन जब परमात्मा से लगता है तो आनन्द स्वरूप का अनुभव होता है। बुद्धि जब परमात्मा से लगती है, विचार जब परमात्मा से लगता है तो चिद् स्वरूप का अनुभव होता है और कर्म जब परमात्मा से लगता है तब सत् स्वरूप का अनुभव होता है। परमात्मा है सच्चिदानंद। सच्चिदानंद से जोड़ने के लिए क्या करना चाहिए? जैसे भगवान् ने कर्म किया – *विसर्गः कर्म संहिताः*, जैसे परमात्मा कर्म करते हैं तो हम भी परमात्मा के कर्म के साथ अपना कर्म लगा दें। आप लोगों ने एक चित्र देखा होगा कि भगवान् ने जब गोवर्धन धारण किया अपनी कानी उँगली पर, तो ग्वाल-बालों ने कहा – कि अरे! कन्हैया की उँगली तो थक जाएगी, इतना भारी है पहाड़, तो सबों ने अपनी-अपनी लठिया लगा दीं। पहाड़ किस पर टिका था? ग्वालों की लठियाओं पर कि भगवान की उंगली पर? लेकिन ग्वाल-बालों को लगा कि कन्हैया थक जाएगा – कन्हैया के कर्म में अपने कर्म को जोड़ देना – यह सत् स्वरूप से अभिन्न होना है। हम कर्म कर रहे हैं तो जीवित हैं। मैं बार-बार एक बात कहता हूँ कि वृद्ध कौन, युवा कौन? जो कृति में जीवित है, कर्म में जीवित है वह युवा है; और जो स्मृति में जीवित है वह बूढ़ा है। निराला की पंक्तियाँ हैं— *"आग सारी फुँक चुकी है, रागिनी वह रुक चुकी है। स्मरण में है आज जीवन, मृत्यु की है रेख नीली"*— यह बुढ़ापे की आदर्श छवि है। जिसके जीवन की आग फुँक जाए, जिसके जीवन की रागिनी रुक जाए; जिसका जीवन कर्म में न हो, स्मरण में हो -- उसके चारों तरफ मृत्यु की नीली रेखा नहीं बढ़ेगी तो क्या बढ़ेगा? जीवन बढ़ेगा? जीवन का अस्तित्व तो कर्म से है। तो अस्तित्व माने सत्। हम अपना कर्म परमात्मा के कर्म के साथ जोड़ दें। परमात्मा ने सबके सुख के लिए, सबके मंगल के लिए, सारी सृष्टि की रचना का विधान किया है। हमारा कर्म परमात्मा के कर्म के अनुरूप हो; परमात्मा की इच्छा, परमात्मा के निर्देश के अनुरूप हो; हमारा कर्म स्वार्थवश न हो। केवल अपने लिए न हो, दूसरों को दुख देने के लिए न हो – *'परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई'*। हमारा सारा कर्म परहित के लिए हो।

जब हमारा कर्म परमात्मा के कर्म से मिलता है, तो हम सत्स्वरूप का अनुभव करते हैं। जब हमारा विचार, जब हमारा ज्ञान, जब हमारी बुद्धि परमात्मा के ज्ञान से

मिलती है तो हम चित् स्वरूप का अनुभव करते हैं। जब हमारा मन, हमारा प्रेम परमात्मा से मिलता है, तो हम आनन्दस्वरूप का अनुभव करते हैं।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर — सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो, अपने कर्म को परमात्मा के कर्म के अनुरूप, अपनी बुद्धि को परमात्मा के ज्ञान के अनुरूप, अपने मन को, अपने प्रेम को परमात्मा के आनन्दस्वरूप के अनुरूप बनाओ – यह तो हुआ – क्या करो!

'युध्य च' – और उसके साथ-साथ युद्ध भी करो। यह युद्ध केवल कुरुक्षेत्र का युद्ध नहीं है। गीता क्या केवल अर्जुन के लिए कही गई है? – *पार्थो वत्सः सुधी र्भोक्ता दुग्धं गीतामृतंमहत्। सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः* — सारे उपनिषद् हैं गाय, और ग्वाला कौन है? गोपालनन्दन कन्हैया। पार्थ कौन है? *'वत्सः'*— बछड़ा जब तक थन में मुँह नहीं मारता, दूध उतरता नहीं – तो पार्थ के माध्यम से गीता कही गई है। उसका भोक्ता कौन है? *सुधीः भोक्ता*— जिनकी अच्छी बुद्धि है – अगर हमलोगों की बुद्धि अच्छी है तो हमलोग भी भोक्ता हैं। अगर हमारी बुद्धि अच्छी नहीं है तो.... नारायण! हम भोक्ता नहीं हैं। भगवान्! हमारी बुद्धि अच्छी हो। भगवान् ने गीता हमारे आपके लिए कही है। हम आप क्या कुरुक्षेत्र में लड़ रहे हैं? नहीं! हम आप अपने जीवन में जो कर्म करें, सत्कर्म करें, कर्तव्य कर्म करें। दूषित कर्म न करें, अपकर्म न करें, बुरे काम न करें। बुरे कामों का जो आकर्षण हमको अपनी ओर खींचता है, हम उससे लड़ें। *"तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च"*— युद्ध किससे करें? युद्ध बाहर और भीतर की आसुरी शक्तियों से करें। एक दोहा है—

सबको लड़ने ही पड़े, अपने अपने युद्ध।
चाहे राजा राम हों, चाहे गौतम बुद्ध।।

कौन ऐसा है जिसको अपना युद्ध न लड़ना पड़ा हो? राजा राम की तरह बाहरी शक्तियों से, रावणी शक्तियों से लड़ाई करनी पड़े। लेकिन रावणी शक्ति से लड़ाई वही कर सकता है, जिसने पहले अपने को जीता हो। जो आत्मजयी होता है, वही लोकजयी हो सकता है। बिना आत्मजयी हुए लोकजयी बनने की कल्पना केवल निस्सार कल्पना है। गौतम बुद्ध ने अपने भीतर के शत्रुओं से युद्ध किया और उन्हें जीता। तुकाराम जी की बात याद आती है। तुकाराम ने कहा *"रात्री दिवसआम्हा युद्धा चा प्रसंग अन्तर्बाह्य जग आणिमन"* – रात दिन हमारा जीवन तो युद्ध के प्रसंग के समान है। *'अन्तर्बाह्य जग'* – भीतर भी संसार भरा हुआ है और बाहर भी संसार है। सारे बाहरी संसार को जो भीतर लाता है, वह है अन्तःकरण। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार

— जो भीतरी उपकरण, औजार हैं, इनका काम क्या है? ये बाहर के संसार को भीतर लाते हैं। हमारे अन्तःकरण के कारण संसार हमारे भीतर भी आया हुआ है, हमारे बाहर भी संसार है। इस भीतरी और बाहरी संसार की उपस्थिति में मैं निषिद्ध कर्म की ओर आकृष्ट न हो जाऊँ। मैं दुष्कर्म न करूँ, मैं पाप न करूँ, मैं निरन्तर कर्तव्य कर्म करूँ, मैं निरन्तर तदर्थ कर्म करूँ, मेरे कर्म भगवत् कर्म के अनुरूप हों ; इसके लिए युद्ध करो। हमारा जीवन एक सतत युद्ध है। विषयों के, भोगों के, निषिद्ध आचरण लगातार हमको अपनी ओर खींचते हैं। उस समय हम भगवान् की कृपा से सचेत रहें, सावधान रहें। हम तो बिगड़ने के लिए तैयार हैं, भगवान् की कृपा ही हमको बचाती है। लेकिन हम भी भगवान् की इस कृपा का अवलम्बन प्राप्त करने योग्य अपने को बनाएँ। रात दिन बाहरी और भीतरी संसार के आकर्षण से दुष्कर्मों की ओर आकृष्ट न होने के लिए हम युद्ध करते रहें। सत्कर्म के लिए अपने मन को प्रेरित करते रहें – यह युद्ध से कम नहीं है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च – इस महावाक्य को हमें स्मरण रखना है। बराबर भगवान् का स्मरण करना चाहिये। हम जो कर्म कर रहे हैं, वह भगवान् का कर्म कर रहे हैं, भगवदीय कर्म कर रहे हैं, भगवान् के लिए कर रहे हैं, भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर रहे हैं। अपने लिए करने का मतलब ही होता है कि फँसना। भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करें तो निरन्तर भगवान् को स्मरण करें— यह वाक्य हमारे आपके जीवन में उतर आए – मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ।

मय्यर्पित मनोबुद्धिः — मैंने आपको बताया कि कैसे भगवान् को अपना मन अर्पित किया जाता है, कैसे भगवान् को अपनी बुद्धि समर्पित की जाती है। क्या यह एक दिन में होगा? नहीं होगा, इसलिए –

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।। (८/८)

तीन बातें – यह कैसे हो? गीता योगसूत्र से एक कदम आगे है। योगसूत्र कहता है *'अभ्यास वैराग्याभ्यासनिरोधाः'*— मन का निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा होता है। *'अभ्यासयोगयुक्तेन'* — गीता उस बात को दोहराती है — अभ्यास के योग से युक्त होकर। अभ्यास किसको कहते हैं? अभ्यास कहते हैं किसी एक अच्छे काम को बार-बार, बार-बार करना। बुरे काम के अभ्यास के लिए कभी कोई कह सकता है? नहीं। गीता में अभ्यास अच्छे ही अर्थ के लिए आया है। प्रजातीय प्रत्यय का निरन्तर जो प्रवाह हो, उसमें कोई दूसरी बात न आए, एक ही बात बार-बार मन में आए, बार-बार भगवान्

का नाम स्मरण करें, बार-बार मन भगवान् से लगता रहे, मन में भगवान् का स्मरण करते रहें, भगवान् से मन को जोड़ते रहें – यह हुआ अभ्यास। उसका योग हो जाए ; योग है – भगवान् ने गीता में कहा है *'समत्वं योगमुच्यते'*। राग-द्वेष से ऊपर उठकर, बिना किसी आकर्षण-विकर्षण के, समता रखते हुए, सुख-दुख को भोगते हुए भगवान् से जुड़ें— तो वह अभ्यास का योग हो जाता है। लगातार भगवान् का स्मरण— यह अभ्यासयोग हुआ। *चेतसा नान्यगामिना*— अपने चेतस से, अपने ज्ञान से किसी दूसरे की ओर न जाएँ, केवल भगवान् की ओर जाएँ। 'अनन्यता' किसको कहते हैं? *'अन्याश्रयाणं त्यागः अनन्यता'* – दूसरे समस्त आश्रयों के त्याग को कहते हैं अनन्यता। अनन्य भक्त भगवान् को छोड़कर किसी दूसरे का सहारा नहीं लेता। जो दल का सहारा लेगा, जो बैंक बैलेन्स का सहारा लेगा, जो नेता का या गुण्डे का सहारा लेगा, वह अनन्य नहीं है। भगवान् के अतिरिक्त और सबके सहारे का त्याग कर देना - *चेतसा नान्यगामिना।* 'अनन्य चित्त'— जो दूसरे की ओर नहीं जाता, किसी दूसरे की ओर उन्मुख नहीं होता, ऐसे चित्त से और सबसे विरक्त होकर, सबसे वैराग्य प्राप्त कर केवल भगवान् की ओर जाना।

योग यहीं समाप्त नहीं होता है। गीता कहती है— नहीं नहीं, इसके साथ *अनुचिन्तयन्* — अभ्यास भी करो, वैराग्य भी करो; और गुरुजी ने जो बताया, सत्संग में जो सीखा, बड़ी पुस्तकों में जो पढ़ा, उसका अनुचिन्तन करते रहो। अपने मन से चिन्ता करने से खतरा है। रामचरितमानस में तुलसीदासजी ने कहा है– *'मुनिहि प्रथम हरि कीरति गाई, तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई'*— बड़े-बड़े कवियों ने भगवान् की कीर्ति का जो गान किया है (महर्षि वाल्मीकि ने, वेदव्यास ने, दूसरे भक्त कवियों ने) उसी के अनुसार चलना – यह हुआ अनुगमन, अनुचिन्तन। तो भगवान् का अनुचिन्तन भी करता रहे, अभ्यास के साथ-साथ, अनन्यता के साथ-साथ अनुचिन्तन करता हुआ– – वह परम पुरुष की ओर जाता है, परम पुरुष को प्राप्त होता है।

रामानुज ने कहा है कि परमात्मा के कई रूप हैं – परमात्मा का निर्गुण निराकार रूप है, परमात्मा का सगुण निराकार रूप है, परमात्मा का सगुण साकार रूप है– तो इन रूपों का भी वर्णन है। परमात्मा के भक्त भी कई प्रकार के होते हैं – कुछ लोग ऐश्वर्य चाहते हैं, कुछ लोग मुक्ति चाहते हैं, कुछ लोग परमात्मा को चाहते हैं। तो रामानुजाचार्य ने कहा कि तीन बातें अलग-अलग लोगों में हैं – ऐश्वर्य को चाहने वाले अलग, मुक्ति चाहने वाले अलग और भगवान् को चाहने वाले अलग। तो तीन बातों

का वर्णन है – कुछ लोग कहते हैं कि नहीं पहले परमात्मा का रूप संक्षेप में बता दिया और फिर कुछ लोग योग के बल से निर्गुण निराकार को चाहते हैं। कुछ लोग भक्ति से चाहते हैं – इसको बताया गया है। इन अंतरों को समझने के बाद ही संक्षेप में थोड़ी थोड़ी बात बताई जाती है। नवें श्लोक में भगवान् के स्वरूप का, भगवान् के गुणों का निरूपण है—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।। (८/९)

'कवि' —कवि कहते हैं क्रांतदर्शी को। जो हमारी आँखों के सामने नहीं है, उसको भी जो समझ ले। यहाँ कवि का मतलब है सर्वज्ञ। परमात्मा सर्वज्ञ है। *'पुराणम्'* – परमात्मा पुराण हैं। 'पुराण' शब्द का मतलब केवल पुराना नहीं होता। *पुरा अपि नवम्।* इतिहास और पुराण का मौलिक अंतर समझ लीजिए। इतिहास कालबद्ध है। ऐसा हुआ था। पुराना पड़ जाता है। पुराण *'पुरा अपि नवम्'* –पुराना होता हुआ भी नया है। पुराणों में जो नई-नई बातें संकेत के रूप में हैं, वे कालातीत सत्य हैं। तो परमात्मा *'पुराणं*— यानी पुराना होता हुआ भी नया है। *'अनुशासितारम्'*—सबका अनुशासन करने वाला, सबका स्वामी है, वे *'अणोरणीयां'*– वो अणु से, जीव से भी छोटा है, जीव से भी परे, अणु से भी अणु है; और *'महतो महीयाम्, अणोरणीयां'*-- वह-बड़े से भी बड़ा है। जब वह छोटा होना चाहता है, तो उससे छोटा और कोई नहीं हो सकता — अणु से भी अणुतर हो जाता है। जब वह बड़ा होना चाहता है, तो उससे बड़ा कोई नहीं हो सकता। तो *'अणोरणीयांसम्'* उसको *अनुस्मरेद्यः* –जो अनुस्मरण करता रहता है। *अनुस्मर* —परमात्मा तुमको स्मरण करता रहता है, तुम परमात्मा को स्मरण करो—

सर्वस्य धातार— सबको धारण करने वाला। *अचिन्त्यरूपं* – जो अपने पर अहंकार करता रहता है कि मैं उसको कुछ समझ लेता हूँ.... मैं इसको समझ लेता हूँ.... मैं सबको समझ लेता हूँ.... उसको समझ में नहीं आता। बाबा बोल रहे हैं—

साहिब अतिहि बड़ो सील सरल सुठि।
ध्यान अगम सिवहूँ भेंट्यो केवट उठि।।

हम आप किस खेत की मूली हैं। शिव भी अगर दावा करें कि उनको ध्यान में प्राप्त कर लेंगे – तो उनके लिए भी अगम्य, अचिन्त्य हैं – और सरल इतने हैं कि बेचारा सरल, बिल्कुल गँवार केवट, उसको उन्होंने गले से लगा लिया। केवट उनके पास नहीं गया था, वे केवट के पास आए थे। उन्होंने केवट की मनुहार की.....और

केवट की जिद की रक्षा भी की। वे शील में इतने सरल हैं। साथ ही वे महान् से महान् हैं, और छोटे से छोटे हैं।

'धातारं अचिन्त्यरूपं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' अंधकार के परे– अज्ञान के परे – स्वयं प्रकाश – आदित्यस्वरूप हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र - ये सारे बल्ब – सारी रोशनियाँ उनके द्वारा ही प्रकाशित हैं। ये सब पर-प्रकाश्य हैं, ये सब दूसरों के प्रकाश से प्रकाशित हैं। परन्तु परमात्मा स्व-प्रकाशित हैं – स्वयं प्रकाश हैं - अपने आप प्रकाशित हैं – उसके लिए किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं। वे आदित्यस्वरूप – अज्ञान के परे हैं। ऐसे परमात्मा का जो स्मरण करता है—

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यं।। (८/१०)

प्रयाण के समय, मृत्यु के समय, अचल मन से, भक्ति से युक्त होकर, योग के बल से भी जुड़कर परमात्मा का ध्यान करता हुआ उस परम दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है। कई लोग समझते हैं कि भक्ति और योग में ३६ का आँकड़ा होता है। तुलसी बाबा की एक पंक्ति को लेकर लोग उनको लाठी से पीटते ही रहते हैं–

गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग,
निगम नियोग तेतो कलि ही छरो सो है,

यानी गोरख ने योग जगाया लोगों ने भक्ति को भगाया और निगम के नियोग को कलिकाल खेलखेल में छल लेता है। तो कहा जाता है कि तुलसीदास योग के विरोधी थे। नहीं नहीं, ऐसा नहीं है, तुलसीदास ने बारबार योग की बात कही है।

गीता कहती है तो तुलसी बाबा कैसे नहीं कहेंगें – गीता के अनुगामी हैं वे। तो योग और भक्ति में विरोध नहीं है, लेकिन कोई भक्ति पर बल देता है – कोई योग साधना पर बल देता है। कालिदास ने रघुकुल के राजाओं का वर्णन किया है। कैसे थे रघुकुल के राजा –

शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।। (रघुवंशम् १/८)

शैशव में विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन में विषयों का आनंद प्राप्त करते थे, (क्योंकि परमात्मा की बनाई हुई सृष्टि का भी विस्तार होना चाहिए, वंशानुक्रम चलना चाहिए) और *'वार्द्धके मुनिवृत्तीनां'*— वृद्धावस्था में मुनि की वृत्ति से जीते थे। *'योगेनान्ते तनुत्यजाम्'*— अन्तमें जब शरीर छोड़ते थे तो योगसाधना से छोड़ते थे। योगसाधना के द्वारा शरीर त्याग करने का वर्णन इसमें भी है – आगे भी है। लेकिन

हरेक आदमी योगसाधना के द्वारा शरीर त्याग कर सकता है क्या? तो उसमें कर्म विकल्प हैं, उन विकल्पों की ओर ध्यान दीजिए।

'प्रयाणकाले मनसाचलेन'– अचलमन से, भक्तिसे युक्त होकर योगबल से समृद्ध होकर – *'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्'* – दोनों भृकुटी के बीचमें अपने प्राण को सम्यक् रूप से, ठीक-ठीक आविष्ट करने की बात कही गई है। मन भावप्रधान है; प्राण क्रियाप्रधान है; बुद्धि चिन्तनप्रधान है।

तो प्राण को लेजाना – अर्थात् अपनी क्रिया को एकाग्र करना ; मन को ले जाना – माने अपने भावों को एकाग्र करना ; चिन्तन, अनुचिन्तन – माने अपनी बुद्धि को लगा देना। *'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्'*— दोनों भवों के बीचमें वाराणसी की कल्पना की गई है। काशी में मरना – *'काश्यां मरणां मुक्तिः'* काशी में मरने से मुक्ति होती है। तो काशी की भोगौलिक स्थिति में न हो तो योग से - दोनों ध्यान लगाओगे – तो वह काशी ही है। उसमें अगर तुम शरीर-त्याग करोगे, तो तुम परमपुरुष, दिव्य पुरुष – (जिसका वर्णन नौवें श्लोक में किया है) उसको प्राप्त करोगे। अब इसके बाद कहते हैं कि अगर उससे भी परे तुम जाना चाहते हो तो—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।। (८/११)
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। (८/१२)
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। (८/१३)

अगर सगुण निराकार के परे निर्गुण निराकार से तुम जुड़कर मुक्ति पाना चाहते हो तो उसका यहाँ वर्णन है। *'यदक्षरंवेदविदो वदन्ति'*— वेदवेत्ता जिसको परम अक्षर मानते हैं। *'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः'* वीतराग जिसमें प्रवेश करते हैं। 'वीतराग' शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझ लें। वीतराग का मतलब वैराग्य नहीं होता। राग और विराग – दोनों से जो ऊपर उठ जाता है – वह वीतराग होता है। एक हुआ रागी – जो आसक्ति में लगा है। एक हुआ विरागी – जो आसक्ति से डरता रहता है; और वैराग्य-वैराग्य चिल्लाता रहता है। वीतराग कौन है? राग और विराग- दोनों से जो ऊपर उठ जाता है, वह वीतराग होता है। तो *'वीतराग यति'* जिसमें प्रवेश करते हैं। *'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'*— जिसको प्राप्त करने की इच्छा से साधक ब्रह्मचर्य धारण करते हैं। उस पद को तुम्हारे लिए – *संग्रहेण प्रवक्ष्ये* – मैं संक्षेप में कहता हूँ। एक ऐसा परम तत्व है, जिस

परमतत्व को वेदवेत्ता अक्षर के रूप में पुकारते हैं ; वीतराग यति – जिसमें अपने को सन्निविष्ट करना चाहते हैं ; जिसको प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े साधक ब्रह्मचर्य धारण करते हैं ; उस महान् पद को मैं संक्षेप में तुम्हारे लिए बताता हूँ। १२वें और १३वें – इन दोनों श्लोकों में निर्गुण निराकार का वर्णन है। रामानुजाचार्य ने कहा कि १०वें श्लोक में जो ऐश्वर्य पाना चाहते हैं– उनकी बात है। अब जो मुक्ति पाना चाहते हैं - - उनकी बात आगे कही है। कुछ लोगों ने कहा कि १०वें श्लोक में सगुण निराकार की प्राप्ति का वर्णन है, १२वें, १३वें श्लोक में निर्गुण निराकार की प्राप्ति का संकेत हैं। जिसमें *'परमां गतिम्'* परम पद की प्राप्ति कैसे हो, इसका वर्णन है।

दस द्वारे का पिंजरा तामें पंछी पौन।
रहिबै को आचरज है, जाय तो अचरज कौन।।

दस दरवाजे का यह शरीर है – और इसमें प्राणरूपी पक्षी है। कहते हैं न कि प्राण-पखेरू उड़ गये। पिंजरे में रहने वाला जो पक्षी है, वह पवन स्वरूप है। *'रहिबै को आचरज'* – रहने का आश्चर्य है। *'जाय तो अचरज कौन'* – जाये तो क्या आश्चर्य? तो इन दसों द्वारों को बन्द कर दो। *सर्वद्वाराणि संयम्य* – पहली बात - कि तुम्हारे ये दसों द्वार निरुद्ध होने चाहिए। आँख किसी और को न देखे, कान किसी और को न सुनें, नाक कुछ और न सूंघे, रसना किसी का स्वाद लेना न चाहे, हाथ कोई काम न करना चाहें – दसों द्वार तुम्हारे संयत रहें।

नवद्वारे पुरा देही— नौ द्वार तो दिखाई पड़ते हैं— दो आँख, दो कान, दो नासा-रंध्र, मल द्वार, मूत्र द्वार, और मुख – तो नौ द्वार तो सबको मालूम है। दसवाँ द्वार एक ब्रह्मरंध्र है, जो गुप्त द्वार है। *'मनो हृदि निरुध्य च'*— अपने मनको अपने हृदय में निरुद्ध करो – मन कहीं भागने न पाये। यह तो जबरदस्ती का निरोध है। बलपूर्वक हृदय में उसको बंद कर दो। तुलसी बाबा ने मनको प्रेमपूर्वक बंद किया। तुलसी ने कहा—

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिरि न डसैहौं।
पायो नाम चारुचिन्तामनि उर कर ते न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन्ह निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पनकर तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।

भँवरा बहुवल्लभ होता है। भ्रमर कब एक कली का है? भ्रमर कभी इस कली, कभी उस कली पर। लेकिन भ्रमर की एक विशेषता है। पुष्प का सौंदर्य सब

देखते हैं, पुष्प की सुंगध सब सूंघ लेते हैं – पुष्प का मकरंद कौन पान कर सकता है? पुष्प के मकरन्द का पान हम आप कर सकते हैं क्या? पुष्प के मकरन्द को, उसके अन्तरतम को, केवल भँवरा ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए मनरूपी भँवरे को मैं प्रभु के चरणकमल में बसा दूँगा। चरण कमल में बसा हुआ, कमल से बँधा हुआ मन कहीं नहीं जाएगा।

जैसो बंधन प्रेम को, तैसो बंधन और।
काठहिं भेदै, कमल को भेद सकै नहिं भौंर।।

काठ को भेद कर जो भंवरा निकल जाता है, वह कमल को भेदकर नहीं निकल सकता। तो भक्तिमें प्रेमसे, भगवान् के चरणकमल में मनरूपी भँवरे को बसा देना— प्रेम से बंधना है।

जरि जाय सो जीह जो जाचत औरहिं। जानकी-जीवन भगवान् श्रीराम का सेवक होकर किसी और से याचना करने वाले की जीभ जल जाये। रामके भक्त होकर, तुम दूसरे से मांगोगे? दूसरा कोई क्या देगा? कुत्ते का कौर देगा–और क्या देगा।

तू लजाहि न मांगत कूकर कौरेंहिं।
जानकी जीवन को जनु ह्वै जरि जाय सो जीह जो जाचत औरहिं।

जानकी-जीवन भगवान् श्रीराम का दास होने के बाद किसी दूसरे से मांगने का दुष्प्रयास करने वाली जीभ जल जाये। *अनन्यचेताः सततं*— अनन्यचित्त हो, एकमात्र भगवान् का ही सहारा—

बनै तो रघुबर से बनै, कै बिगरै भरपूर।
तुलसी बनै जो और तें, ता बनिबै सिर धूर।।

मेरी बात बननेवाली हो तो भगवान् से बने – नहीं तो बिगड़ जाये। दूसरे किसी से मेरी बात बनने वाली हो तो उस बनने की ऐसी की तैसी। *अनन्यचेताः* — एकमात्र भगवान् का आश्रय।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। (८/१४)

सततं यो मां स्मरति नित्यशः। सतत—माने लगातार - तत्सम। *नित्यशः* —माने प्रतिदिन – आजीवन, बल्कि यूं कहो आमरण। जो स्मरण है – कहने के लिए कहते हैं आजीवन स्मरण।

मरने के पहले (तक) भगवान् का स्मरण। जीवन के रोकड़ भगवान् होने चाहिए। सारा जमाखर्च एकतरफ, रोकड़, एक तरफ – हमारे जीवन की फलश्रुति,

हमारे जीवन के रोकड़, रामजी का नाम। रामजी अन्तसमय में हमको तभी याद आयेंगे, जब हम सब समय भगवान् को याद करते रहेंगे। अन्तिम समय इस नियम का व्यतिक्रम हो सकता है। भगवान् को किसी नियम में कोई नहीं बाँध सकता। भगवान् नियमातीत हैं। भगवान् की मौज, भगवान् की कृपा – अजामिल को अन्तसमय में भगवान् याद आ गये। लेकिन तुम क्या उसी तरह से छोड़ दोगे अपने को? इसलिए अपनी तरफ से साधना.... कि हम नित्य, सतत भगवान् का स्मरण करेंगे, हम नित्य भगवान् से युक्त रहेंगे। प्रेम के द्वारा – जो नित्ययुक्त योगी है – भक्तयोगी – जो अपने भक्तों में प्राण को ले जाकर या स्थित हो – हो भैया? हम तो नहीं हो सकते। तो हम क्या करें? हमारे लिए तो रामजी ने सीधा एक तरीका बता दिया कि लगातार राम का स्मरण करते रहो – लगातार उनसे जुड़े रहो – केवल उन्हीं पर आश्रित रहो। तीन बातें हुई – उन्हीं का आश्रय, उन्हीं का सहारा, उन्हीं पर अवलम्बन।

'तस्याहं सुलभः पार्थ' — हे पार्थ। मैं उसके लिए सुलभ हूँ। परमात्मा हमको, आपको, सहज में प्राप्त हो सकते हैं, अगर हम अपने सारे जीवन को प्रभु की ओर मोड़ दें। जो सर्वत्र हो, जो सबमें है, जो सब काल में है – सब देश में है, सब वस्तुओं में है, हम उसको प्राप्त करने के लिए केवल अपने को उसकी ओर मोड़ दें, उससे जुड़ें।

उससे भिन्न जो और कुछ है उससे जुड़ेंगे – जड़ से जुड़ेंगे तो जड़ बनेंगे। चेतन से जुड़ेंगे तो चेतन बनेंगे। रामजी से जुड़ते हुए हम अपना शरीर छोड़ें, रामजी में मिल जाएं। ज्ञानियों ने उसमें जरा एक पंख लगाया है कि ऐसे जो रामजी से मिल जाएगा, उसका ब्रह्म निर्वाण नहीं होगा। ब्रह्म निर्वाण तो केवल ब्रह्मज्ञान से होता है। तो ऐसे जो रामजी में लय हो जाएगा उसका क्या होगा? उसकी क्रम मुक्ति होगी। जिसभी इष्टदेव में मिला, वह इष्टदेव भी परम में जाकर परमात्मा में मिलेंगे। तो उनकी वह सद्यः मुक्ति नहीं होगी – क्रम मुक्ति होगी। ब्रह्मनिर्वाण में सद्यः मुक्ति तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने से ही हो सकती है।

चलो भई उनको भी हम हाथ जोड़ लेते हैं – नमस्कार कर लेते हैं – बड़े हैं। बड़ों की बातका क्या खंडन करें – मान लेते हैं। लेकिन अपनी-अपनी भूमिका के अनुरूप ही हम काम करें। जो योगी हैं – वे योगसाधना करें; जो ज्ञानी हैं— वे ज्ञान साधना करें और जो प्रेमी भक्त हैं, वे निरन्तर उनका स्मरण करते हुए, उनसे नित्ययुक्त होते हुए, उनपर आश्रित रहते हुए जीवन जीएँगे तो मरने के समय उन्हीं से मिल जायेंगे।

परमात्मा प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि ऐसे भक्तों के लिए मैं सुलभ हूँ।

प्रभु! हमारे, आपके, सबके लिए सुलभ हों। •

प्रवचन-२४*

अपना मार्ग चुनिये

भगवान् की कृपा है कि अनेक प्रकार के वात्याचक्रों में पड़े रहने पर भी यह क्रम चल रहा है। उन्हीं की कृपा से यह क्रम चलता रहेगा। *'अपना मार्ग चुनिये'* – यह शीर्षक सहज संकेत करता है कि कई मार्ग होते हैं। उन मार्गों में से हम किस मार्ग पर चलना चाहते हैं, उसका पहले निर्णय होना चाहिये। मार्गों का ज्ञान होना चाहिये, मार्गों के फलाफल का ज्ञान होना चाहिये, अपनी शक्ति को तौलना चाहिये और फिर मार्ग चुनना चाहिये। चलने का प्रयास करना अपने हाथ में है, प्रभु कृपा से वह प्रयास सिद्ध होता है।

मोटे तौर पर देखने से लगता है कि दो ही मार्गों की बात कही गई है -- एक शुक्ल मार्ग है और एक कृष्ण मार्ग है। लेकिन आप विचार करके देखेंगे तो इसी अध्याय में तीन मार्गों की बात कही गई है। एक चौथे मार्ग की बात सोलहवें अध्याय में भी कही गई है। चौथा मार्ग तो अत्यन्त दुस्साध्य मार्ग है। भगवान् ने १६वें अध्याय में कहा है —

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। (१६/२१)

आत्म-विनाश के द्वार तीन हैं – काम, क्रोध और लोभ। वे नरक के दरवाजे हैं। आत्मनाश के मार्ग पर जो चलता है, उसको नरक की प्राप्ति होती है। इस मार्ग पर तो गीता सुनने वालों को नहीं ही चलना चाहिये। यह चौथा मार्ग इसलिये इन तीन मार्गों के साथ नहीं कहा गया है। चूँकि *'अपना मार्ग चुनिये'* शीर्षक दिया गया है, इसलिये उस चौथे विकल्प की भी चर्चा प्रारम्भ में ही कर दी। इस सावधानी की वाणी के साथ कि ये मार्ग गीता के श्रोताओं के चलने लायक नहीं है। यद्यापि यह चेतावनी भी ध्यान में रखनी चाहिये कि हम चाहें, न चाहें – काम, क्रोध, लोभ का प्रादुर्भाव होता ही है। काम, क्रोध, लोभ के हम वशीभूत होते हैं; और यह खतरा वास्तविक खतरा है, कि न चाहते हुये भी हम इस चौथे

* अष्टम अध्याय (अक्षर ब्रह्म-योग) : श्लोक संख्या १५ से २८

रास्ते पर चल सकते हैं। इसलिये उससे सावधान रहना चाहिये। दो रास्ते विस्तार से आगे कहे हैं – स्पष्ट रूप से। लेकिन इसके पहले जिस मार्ग की चर्चा है उस पर ध्यान दीजिये। पिछला प्रवचन जिस श्लोक पर समाप्त हुआ था वह है–

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। (८/१४)

जो अनन्य चेता है, जिसके विचार में, चैतन्य में, चित्त में, दूसरा कोई आता ही नहीं, जो मुझे नित्य स्मरण करता है, ऐसे नित्ययुक्त योगी के लिए मैं सुलभ हूँ। कहाँ सुलभ हो प्रभु? ब्रह्म लोक में? नहीं, यहीं सुलभ हूँ। कब सुलभ हो प्रभु? अभी सुलभ हूँ। तुलसीबाबा की दो पंक्तियाँ मुझको बार-बार याद आती हैं। बाबा ने लिखा है —

को जाने को जइहै जमपुर को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को।।

देखिये इसमें चार रास्ते हैं :

१) *को जाने को जइहै जमपुर* – कौन जाने मरने के बाद कौन यमपुर - नरक जायेगा?

२) *को सुरपुर* – कौन स्वर्ग जायेगा? सब देवताओं के अलग-अलग लोक। इन्द्र लोक को स्वर्ग कहते हैं। ब्रह्मलोक की चर्चा इन्द्र से भी ऊपर।

३) कौन *परधाम* को प्राप्त करेगा? तीन मार्ग तो प्रथम पंक्ति में वर्णित हैं– यमपुर, सुरपुर, परधाम – ये तीनों मार्ग तुलसीदास को स्वीकार नहीं है। मरने के बाद नरक, मरने के बाद स्वर्ग, मरने के बाद परमधाम। अरे जीते जी क्या?

४) चौथा रास्ता है – *तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को।।*

जो राम का सेवक होकर जीता है, राम के भक्त का इस संसार में जो जीवन है, वह मुझको अच्छा लगता है। मरने के बाद मुझको परमधाम की, मुक्ति की प्राप्ति होगी, यह भी कल्पना मुझको प्रीतिकर नहीं है। मरने के बाद नहीं! जीवन मुक्ति। सद्यः मुक्ति, यहीं इसी समय यहीं। यही मार्ग चौदहवें श्लोक का मार्ग है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।

'तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को'। कैसा है राम गुलाम का जीवन? जो अनन्य है। अनन्यता की बात आगे भी कही गई है – बार-बार। कौन होता है अनन्य? लक्ष्मणजी की उक्तियाँ याद आती हैं —

गुरु पितु मातु न जानिय काहू। कहहुँ सुभाव नाथ पतियाहू।।
जँह लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई।।
मोरे सबहिं एक तुम स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरजामी।।

अद्‌भुत पंक्तियाँ हैं *'गुरु पितु मातु न जानिय काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू'* – मैं नहीं जानता कौन माता, कौन पिता – यह बात मैं केवल कहने के लिये नहीं कह रहा हूँ – दिखाने के लिये नहीं कह रहा हूँ – आपको रिझाने के लिए नहीं कह रहा हूँ। *कहहुँ सुभाव*–स्वभाव से कह रहा हूँ। आप विश्वास कीजिये – वेदों ने इस संसार में जहाँ तक स्नेह के रिश्ते, नाते - रिश्ते बताये, प्रीति के स्थान बताये – प्रतीति के बताये ; तुम, केवल तुम, मेरे समस्त नाते रिश्तों के, समस्त प्रीति-प्रतीति के आधार हो। आप दीनबन्धु हैं, आप प्रत्येक के हृदय को अच्छी तरह जानते हैं। मैं बना कर बात कह रहा हूँ तो मेरी जीभ गिर जाये। यह अनन्यता है। मेरे गुरुजी कहते थे जो अन्य को जाने ही नहीं, वह अनन्य। यह भी है, वह भी है; और ये भी हैं। जो अनेकों को जानता है वह कैसा अनन्य? अनन्य कौन है? जो अपने को उससे अभिन्न मान ले, वह अनन्य है। अपने को जो अलग न माने वह अनन्य है।

तभी सफल आराधन होता, जब आराधक अपना रूप।
धीरे-धीरे तजता जाता, बन जाता आराध्य स्वरूप।।

जो सबसे बड़ा रास्ता, सबसे प्रशस्त मार्ग गीता की दृष्टि में है, जो क्रम मुक्ति की बात नहीं करता, जो मरने के बाद की बात नहीं करता *'तस्याहं सुलभः पार्थ'* – उसको मैं अभी इसी जीवन में, यहीं सुलभ हूँ। उस अनन्य चेता, अनन्य भक्त की बात यहाँ पर की गई है। तो पहला और वास्तविक बड़ा रास्ता जो हमको सबसे अधिक प्रीतिकर लगना चाहिये, जो हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिये वह प्रभु ने पहले ही कह दिया। उन्होंने कहा कि यह चौदहवाँ श्लोक जिस महात्मा का वर्णन करता है, महात्मा दुर्लभ हैं, प्रभु सुलभ हैं। *'स महात्मा सुदुर्लभः'* – ऐसा महात्मा दुर्लभ नहीं सुदुर्लभ है। अत्यन्त दुर्लभ है, वह महात्मा जो अनन्य चेता हो ; वह महात्मा जो सब समय भगवान् को स्मरण करे ; जो सब समय भगवान् से युक्त हो। *सुदुर्लभः*, वह महात्मा सुदुर्लभ है। लेकिन महात्मा के प्रभु सुलभ हैं। ऐसा जो महात्मा है, उसके मेरे साथ अनन्य हो जाने का परिणाम क्या होगा –

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।। (८/१५)

'माम उपेत्य' – इस मार्गपर चलने पर, मुझे प्राप्त कर लेने पर, वे परमसिद्धमहात्मा

'पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्' – पुनर्जन्म जो दुःख का घर है, उसे प्राप्त नहीं करते। हमलोग अपने मन में एक बार आँख मूँदकर, छाती पर हाथ रखकर सोचें कि जीवन में कितना सुख मिलता है और कितना दुःख मिलता है। महाभारत में कहा गया है —

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशय

इस जीवन में कोई संशय की बात नहीं कि सुख से कहीं ज्यादा दुःख है। यह जन्म दुःखालय है – दुःख का घर है। तीन प्रकार के दुःख होते हैं – आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक।

इस संसार में कोई लाठी लेकर मार दे, कोई पशु मार दे – आधिभौतिक है। बिजली गिर जाये, सूखा पड़ जाये, बाढ़ में बह जाये – आधिदैविक है। अपना जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर भीतर जलाता रहता है; यह जो ईर्ष्या, द्वेष, अभाव, अभियोग आदि हैं – ये आध्यात्मिक दुख है। कोई बाहर वाला दुःख नहीं देता अपने भीतर वाला दुःख देता है। असली दुःख यही है। तो यह *'दुःखालयम्'* – दुःखों का घर है। यह *'अशाश्वतम्'* – यह अस्थिर है, अनित्य है। मरे फिर जन्मे ; मरे फिर जन्मे, यह जो अस्थिर जन्म, अशाश्वत पुनर्जन्म, फिर-फिर होने वाला अस्थिर, अशाश्वत – पुनर्जन्म, उसको प्राप्त नहीं होते वे महात्मा, जिन्होंने परमा संसिद्धि प्राप्त कर ली है – *'संसिद्धि परमां गताः'*। अणिमा, गरिमा, लघिमा - अष्टसिद्धि - ये तो साधारण सिद्धि है। संसिद्धि - चित्तशुद्धि कहलाती है। अपने भीतर जो कालुष्य है, उससे जब चित्त निर्मल हो, प्रसाद हो, निर्मलता प्राप्त हो, तो संसिद्धि। और उसमें भी परमां संसिद्धि, यानी स्वयं परमात्मा, स्वयं मुक्ति, स्वयं मोक्ष। शंकराचार्य ने मुक्ति को परमां संसिद्धि बताया है। रामानुजाचार्य ने प्रभु को बताया है। अब इसके बाद उन्होंने कहा, कई लोक हैं भाई। सात लोक ऊपर हैं, सात लोक नीचे हैं, चौदह भुवन कहते हैं न! और भी लोक होंगे। सभी देवताओं के लोक होंगे।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (८/१६)

अपने-अपने सत्कर्मों के द्वारा जो जिस लोक को प्राप्त करता है, उतना ऊँचा जा सकता है— सबसे ऊँचे ब्रह्म लोक में भी। वह ब्रह्म लोक प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी पुनः लौट कर इसी संसार में आता है। मेरे गुरुजी कहते थे – ये सब स्वर्गादि लोक 'फाइव स्टार होटल' हैं। 'फाइव स्टार होटल' में कब तक रहोगे भइया? जब तक रुपया है। जितना रुपया जमा कराया, उतने दिन उसमें रहे; और रुपया खत्म हुआ तो? जितना पुण्य है उतना काल तुम वहाँ व्यतीत कर लो। जिस भी लोक में

रहो, पुण्य समाप्त हुआ तो फिर इसी लोक में सबके सब पुनः लौट कर आते हैं। किन्तु *'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'* – मुझको प्राप्त कर लेने के बाद कौन्तेय! पुनर्जन्म नहीं होता।

क्यों नहीं होता पुनर्जन्म प्रभु को प्राप्त करने के बाद? जितने भी लोक हैं सब देश में हैं, सब काल में है, एक निश्चित् काल में उनकी सृष्टि ; एक निश्चित् काल के बाद उनका लय ; एक निश्चित् स्थान पर उनकी अवस्थिति है। प्रभु देशकालातीत हैं – जो देश-काल के परे हैं, यह उससे अभिन्न हो जाने पर कहाँ लौट कर आयेगा, कब लौट कर आयेगा? देश होगा तब ना लौट के आयेगा। यह भू लोक है ना! देश ही कल्पना सिद्ध है। यह देश की कल्पना अज्ञानी के चित्त में है। ज्ञानी के चित्त में न देश की कल्पना है, न लोक की कल्पना है, न काल की कल्पना है। तो जो देशकालातीत हैं – जो काल का भी काल है, वहाँ से कौन-कैसे लौट कर आयेगा? जो देश-काल बद्ध हैं, वे किसी विशेष देश से इस देश में लौट कर आयेंगे। कुछ काल, सीमा तक वहाँ रहेंगे उसके बाद यहाँ लौट कर आयेंगे। जो देश-काल के परे चले जायेंगे, जिनके लिये न कोई देश है, न कोई काल है, वे कहाँ लौट कर आयेंगे, कब लौट कर आयेंगे – यानी वे लौट कर नहीं आयेंगे। वे मुझसे अभिन्न हो जायेंगे। *'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'* — उनका जन्म फिर होता ही नहीं।

अच्छा! जन्म क्या मृत्यु के बाद ही होता है? एक बार पैदा हुये फिर मर गये। फिर दूसरी बार जन्म होगा। क्या इसी शरीर में अनेक जन्म नहीं हो जाते। जब द्विज कहते हैं, तो द्विज का मतलब क्या हुआ? जिसका जन्म दो बार हुआ। पक्षी का जन्म दो बार होता है – माँ के गर्भ से अण्डा निकला, अण्डा फोड़कर फिर पक्षी बाहर निकला। तो उसका दो बार जन्म हुआ। जो यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारी हैं, वे पहले माँ के गर्भ से निकलते हैं; और जब उन्होंने संस्कार प्राप्त किया, व्रत में दीक्षा ली, तो उनका दूसरा जन्म हुआ। और फिर वे ही जब संन्यास लेते हैं, तो फिर जन्म होता है। संन्यास लेने के समय नाम बदल जाता है। अपना ही श्राद्ध कर लेते हैं। केवल यज्ञोपवीत से, केवल संन्यास लेने से जन्म हो जाता है क्या? जब हमारे भाव बदलते हैं, भावान्तर होता है तब हमारा नया अवतार होता है कि नहीं? होता है। एक भाव से दूसरे भाव में जब हम प्रवेश करते हैं, तो यही शरीर रहता है; लेकिन हमारा नया जन्म होता है। हम जब तक इसी शरीर में अनेक प्रकृतियों के द्वारा परिचालित होते हुये उन-उन प्रकृतियों के अनुसार जीवनयापन करते हैं, तब एक-एक प्रकार का जीवन जीते हैं। राजनीति में जाने पर भी तो एक नया जन्म होता है। यानी भाव से भावान्तर की प्राप्ति,

यह भी जन्मान्तर की प्राप्ति के सदृश है। जो साधारण लोग हैं वे एक ही दिन में कई बार जन्मते हैं, कई बार मरते हैं। जिन चार श्लोकों में, महाभारत का सार कहा गया है, उनको भारत सावित्री कहते हैं। सावित्री माने गायत्री मन्त्र। महाभारत तो एक लाख श्लोकों का महाग्रन्थ है, उसका सार तत्त्व चार श्लोकों में। उन श्लोकों मे से एक श्लोक सुनाता हूँ —

हर्षस्थान सहस्राणि, भयस्थान शतानि च।
दिवसे-दिवसे मूढं, आविशन्ति न पण्डितम्।।

दिवसे-दिवसे मूढं – अज्ञानियों के लिये प्रतिदिन *हर्षस्थान सहस्राणि* – हर्ष के हजार-हजार स्थान। *भयस्थान शतानि च* – भय के, शोक के सैकड़ों स्थान। कभी वे हर्षित हो जाते हैं कभी शोकान्वित हो जाते हैं, कभी गुस्सा होते हैं, घड़ी में तोला घड़ी घड़ी में माशा। प्रसिद्ध उक्ति है –

क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः रुष्टः तुष्टः क्षणे क्षणे
अव्यवस्थित चित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः।

क्षण में रुष्ट, क्षण में तुष्ट, कभी रुष्ट कभी तुष्ट; *अव्यवस्थित चित्तानाम्* – – जिनका चित्त अव्यवस्थित है, उनकी कृपा भी भयंकर होती है। हम लोग ही प्रतिदिन कई-कई जीवन प्राप्त करते हैं। ये निरन्तर बदलने वाला मन, निरन्तर भयकातर होता हुआ मन, निरन्तर कामातुर मन, लोभातुर मन, क्रोधातुर मन, कभी ज्ञानी, कभी पापी। मन विषयों के साथ जुड़ने पर ऐसा होता है ; बार-बार जन्म लेना पड़ता है। गुरुजी कहते थे, जब किसी से तुम मीठा बोलते हो तो कोयल का जन्म ले लेते हो। जब किसी को काटने दौड़ते हो तो साँप बन जाते हो। जब किसी को सींग गड़ाते हो तो बैल बन जाते हो। एक ही शरीर में कितने जन्म लेते हो भाई! तो ये समस्त जन्म-पुनर्जन्म मिट जायेंगे, अगर तुम भगवान् से जुड़ जाओ। भगवान् से जुड़ने के बाद फिर ये हर्ष-शोक की स्थिति नहीं रहेगी। फिर निर्मलता की स्थिति, भक्ति की स्थिति, परम शान्ति की स्थिति रहेगी। दुःखालय, अशाश्वत अस्थिर, क्षण में बदल जाने वाला यह जो तुम्हारा भावान्तर है यह नहीं रहेगा। *'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'* – जो भगवान् को प्राप्त कर लेता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता। अब इसके बाद एक पौराणिक कल्पना की बात को कहते हैं।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिः युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।। (८/१७)

काल को कौन जानता है? हमारे देश में यह मान्यता थी कि ब्रह्मा का दिन एक

हजार सहस्रयुग पर्यन्त है – *'अहर्यद्ब्रह्मणो विदुः'*। जो ब्रह्मा का अहः यानी दिन है वह एक हजार युग के बराबर है और एक हजार चतुर्युगी बीत जाती है तो ब्रह्मा की एक रात होती है। ये जो ब्रह्मा के दिन और रात हैं, स्रष्टा के हैं, इनको जानने वाले लोग जानते हैं। जो दिन और रात को, इनके मर्म को समझते हैं, वे कालज्ञ हैं, काल को जानते हैं। यानी काल, दिन और रात हमारे व्यक्तिगत जीवन में हैं; और इनमें हजारों युगों की कल्पना कर लो। ब्रह्मा के दिन में दीर्घ काल की कल्पना कर लो। हजारों युग की उनकी लम्बी रात होती है, हजारों युग का उनका लम्बा दिन होता है। इस लम्बे दिन और लम्बी रात की बात के माध्यम से कहना क्या चाहते हैं प्रभु –

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।। (८/१८)

'व्यक्तयः' – आज कल हम लोग व्यक्ति कहते हैं आदमी को। एक व्यक्ति एक आदमी। अंग्रेजी individual का थोड़ा प्रभाव है। यहां व्यक्ति का मतलब है जो प्रकट होता है, अभिव्यक्त होता है। हम सब पहले अव्यक्त थे। जन्म के पहले अव्यक्त थे, जन्म के बाद व्यक्त हुये, मृत्यु के बाद फिर अव्यक्त हुये। ये जो अव्यक्त और व्यक्त है, ये परस्पर सापेक्ष शब्द है। व्यक्त हमें इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होता है। यानी जो आँखों से दिखे, कानों से जिसे हम सुन सकें, स्पर्श कर सकें, सूँघ सकें, स्वाद ले सकें। तो इन्द्रियों के द्वारा जो ग्रहण होता है, वह है व्यक्त; और जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता वह उस व्यक्त की तुलना में है, अव्यक्त। वह वास्तविक अव्यक्त नहीं है। ये सारी की सारी सृष्टि अव्यक्त से व्यक्त होती है। जो मूल प्रकृति है वह है अव्यक्त, वह है कारण। उसकी जब साम्यावस्था भंग होती है – सत्व, रज, तम – तीनों गुणों में जब उसकी साम्यावस्था भंग होती है, तब वह अव्यक्त से व्यक्त की ओर जाती है। और फिर वह रूप-आकार धारण करती है। यहाँ जिस अव्यक्त का उल्लेख है, यह अव्यक्त वास्तविक अव्यक्त नहीं है। यह व्यक्त की तुलना में अव्यक्त है। व्यक्त, जो हमारी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जा सके। जो हमारी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण न किया जा सके, लेकिन जिसकी सूक्ष्म सत्ता है, वह है प्रकृति। उस प्रकृति से, अव्यक्त से, ये सारी की सारी सृष्टि प्रकट होती है, ब्रह्मा के दिन के समय। जब ब्रह्मा सृष्टि रचते हैं तो उनका दिन है।

'राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके'

जब ब्रह्मा की रात आती है, तो सारी की सारी सृष्टि उसी में लय हो जाती है। दिन में प्रकट होती है, रात में लय होती है। अच्छा बताइए रात में सोते समय अपना

नाम याद आता है। अपना रूप, अपना घर, जाति देश, पृथ्वी, ग्रह, चन्द्र, नक्षत्र तारे – ये सब रात को सोते समय लय हो जाते हैं कि नहीं। शरीर रहता है, लेकिन किसी का बोध नहीं रहता; और जब जागते हैं, तो सारी सृष्टि लिये जागते हैं। जिस तरह से हम दिन में जागते ही सारी सृष्टि में प्रवेश कर जाते हैं, और रात में सोते ही सारी सृष्टि हमारे लिये लय हो जाती है, विलीन हो जाती है। इस प्रकार व्यक्ति के लिये सृष्टि बनी, व्यक्ति के लिये सृष्टि का लय हो गया। उसी प्रकार महाकारण में ब्रह्मा के दिन में सारी सृष्टि बनी; और ब्रह्मा की रात में सारी सृष्टि का लय हुआ तो वह महाप्रलय हुआ। और वहाँ पुनः सृष्टि हुई।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।। (८/१९)

भूत किसको कहते हैं? *भवन्तीति - इति भूतानि*। जो पैदा होते हैं वे भूत हैं। जो हो गये, वे भूत, जो हो रहे हैं भवन्, जो होंगे वे भविष्यत्। तो जो हो गये वे भूत। इसका मतलब, मरने के बाद भूत होता है ऐसा नहीं। जो पैदा हो गया, सारी चीजें जो बन गईं, वे भूत हैं। कभी-कभी गुरुजी मजाक में कहते थे, ये भूतग्राम माने भूतों का गाँव। भूतों का गाँव तो होता नहीं, लेकिन, भय लगता है। बिना हुये जो डराये, ऐसी है यह दुनिया। अज्ञान से प्रतीत होती है, ज्ञान से लय हो जायेगी। न होते हुये भी डरा रही है, न होते हुये भी जिसकी सत्ता हम अनुभव कर रहे हैं, जिसको देख रहे हैं, तो भय तो लगेगा ही। रस्सी को साँप मान लें और डरें, तो जब तक डरते रहेंगे, वह साँप तो लगेगा ही। जब हमको उसकी वास्तविकता का ज्ञान हो जायेगा कि वह साँप नहीं है, रस्सी है तो डरेंगे? नहीं डरेंगे। तो वैसे ही इसका चूँकि अनुभव होता है, इसलिये सच है, लेकिन परमार्थतः नहीं है, इसको कहते हैं, अनिर्वचनीय मिथ्या।

कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै।
'तुलसिदास' परिहरै तीनि भ्रम सो आपौ पहिचानै।।

कोई कहता है कि नहीं है, कोई कहता है, है। कोई कहता है कि है भी और नहीं भी। ये हैं तीन भ्रम। लेकिन जो अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, उसके लिए कोई दूसरी सत्ता रहती ही नहीं। अनन्यता होते ही सारी दूसरी सत्ताओं का लोप हो जाता है। इसलिये ये जो सारे प्राणियों का समूह बार-बार जन्म लेता है, दिन में जन्म लेता है, रात में मरता है ; ये अवश हैं ये पराधीन हैं। ये किसके अधीन हैं? क्या हमलोग पराधीन होकर जन्म लेते हैं? किसके अधीन हो कर जन्म लेते हैं? बराबर याद रखें। हमलोग कर्म और वासना के अधीन होकर जन्म लेते हैं। जो हमारा जीवन भर का कर्म

है, और उसके अनुरूप मरते समय जो वासना है, उसके अनुरूप जन्म लेते हैं। हम अपने कर्मों के, अपनी वासना के अधीन हैं। मरते समय जो वासना प्रबल होती है, हमको वैसा जन्म मिलता है; और उस जन्म में सुख दुःख मिलता है अपने कर्म के अनुसार। उस पराधीनता के कारण हमको पुनर्जन्म लेना पड़ता है। जब हम स्वाधीन हो जायेंगे ; जब हम अपने कर्मों का अतिक्रमण करेंगे ; जब हम निर्वासन हो जायेंगे, जब हमारी वासनायें समाप्त हो जायेंगी, तब हम पराधीन नहीं रहेंगे, तब हम जन्म ग्रहण नहीं करेंगे। पुनर्जन्म नहीं लेंगे। तुलसी बाबा ने कहा है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता।। (मानस-२/९१/४)

कोई किसी का सुख दुःख का दाता नहीं है। लगता है कि उसने हमको सुख दिया, लगता है कि उसने हमको दुःख दिया; परन्तु हम अपने ही कर्मों का सुख-दुःख भोग रहे हैं। हमें जो जन्म मिला है में अपनी वासना के कारण मिला है; और जो उस जन्म में सुख दुःख मिलता है, वह अपने कर्म के कारण मिलता है। अवश होकर हम बार-बार पैदा होते हैं, बार-बार मरते हैं। परन्तु —

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।। (८/२०)

उस अव्यक्त भाव से उस मूल प्रकृति से, उस अविद्या से, उस माया से अलग जो अव्यक्त रहनेवाला है, वह समस्त नाशवान् प्राणियों में है; लेकिन प्राणियों का नाश होने पर उसका नाश नहीं होता। वह अविनाशी है, सनातन है, अव्यक्त है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् (८/२१/१)

जिसको ऊपर सनातन कहा, उसको फिर अक्षर कहा। मूलाप्रकृति अव्यक्त है, केवल व्यक्त की अपेक्षा से, व्यक्त की तुलना में। लेकिन वह क्षर है। ज्ञान होने पर, अनन्य भक्ति प्राप्त होने पर हम उस प्रकृति का, उस माया का अतिक्रमण करते हैं। वह हमारे लिये नष्ट हो जाती है। लेकिन उस अव्यक्त के परे एक सनातन अव्यक्त है, जो सब नाशवान प्राणियों में रहता हुआ भी, अविनाशी है; उसको जान लेने पर, उससे एक हो जाने पर परमागति की प्राप्ति होती है। उस परमागति का रास्ता सबसे बड़ा, सबसे महान् रास्ता है। उस अव्यक्त, सनातन, अक्षर उस परमागति, उस परमा संसिद्धि – परमा संसिद्धि को प्राप्त करने का सबसे बड़ा रास्ता, अनन्या भक्ति से, पूर्ण ज्ञान से प्राप्त होता है। जिससे यहीं, इसी लोक में, इसी शरीर में हम तत्काल मुक्त होते हैं। कोई क्रम, कोई दूसरा

लोक अपेक्षित नहीं होता। मरने की अपेक्षा नहीं होती। वह सबसे बड़ा, सबसे ऊँचा, सबसे महान मार्ग है।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। (८/२१/२)

उस धाम को प्राप्त होने के बाद कोई लौट कर नहीं आता। जो देवताओं को भजते हैं, वे देवताओं को प्राप्त होते हैं। जो मुझको भजते हैं, मुझको प्राप्त होंगे। कितनी मात्रा में भजने की क्षमता है, यह अनन्यता पर निर्भर है। अगर तुम्हारी अनन्यता पूर्ण है, अगर तुम्हारा ज्ञान पूर्ण है, तो इसी शरीर में, इसी लोक में तुम मुक्त हो। इसी शरीर में, तुम नारायण हो। यहीं, इसी समय, अभी। और अगर अनन्यता परिपूर्ण नहीं हुई है, ज्ञान परिपूर्ण नहीं है, तो दूसरा रास्ता बताया गया है। धाम का मतलब होता है लोक। लोक की कल्पना होती है कि इस लोक के बाद परलोक। यहीं अभी इसी समय परमात्मा सुलभ हैं, परमागति सुलभ है। लेकिन उसके लिये शर्त्त वही हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। (८/१४)

नित्ययुक्त योगी, जो अनन्य चेता है, जो निरन्तर, प्रतिक्षण, सब समय मेरा स्मरण करता है, उसके लिये इसी जीवन में इसी काल में, यहीं प्रभु सुलभ हैं।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया (८/२२/१)

वही बात फिर दोहरा रहे हैं। दोहराते क्यों है? पुनरावृत्ति दोष होती है, कविता में। साधना में पुनरावृत्ति गुण होती है। हमलोग नामजप करते हैं कितनी बार दोहराते हैं। कितनी बार नाम लेना चाहिये उसका क्या कोई नियम है? हमारे गुरुजी कहते थे – – नाम जप तो अपने प्यारे को याद करना है। तुमने कभी किसी को प्यार किया है? किसी को भी। अपने भाई को, अपने पति को, अपने बेटे को, अपनी बेटी को – जिसको तुमने प्यार किया है, वह तुम्हें कहाँ याद आयेगा, उसका कोई नियम है? कब याद आयेगा, इसका कोई नियम है? कितनी बार याद आयेगा, उसका कोई नियम है? वह तो कहीं भी याद आ सकता है, किसी भी समय याद आ सकता है, कितनी-कितनी बार याद आ सकता है, यह नियम के परे है। वैसे ही भगवान् का नाम जब हम लेते हैं, तो यह तो प्यारे को याद करना है, इसके लिये नियम क्या होता है? चलते फिरते, बैठते उठते, रात दिन, सुबह शाम, दोपहर, एक, दो, असंख्य बार जपते जाओ। कोई प्यारा है कि नहीं, असली बात तो यह है। प्यारा नहीं होगा तो याद नहीं आयेगा। वह अगर तुम्हारा प्यारा है तो सब समय, सब जगह बार-बार याद आता रहेगा। वह अगर प्यारा नहीं है, एक बार एक माला फेरना तो दुष्कर है। माला फेरते समय बाजार याद

आता है, उसने हमको गाली दी थी, यह याद आता है। अतः *'यो मां स्मरति नित्यशः'* कहा है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। (८/२२/१)

पुरुषः स परः – वह अनन्या भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होता है। अनन्या की बात कितनी बार कही है। वह बिल्कुल उपनिषद् से लिया गया है। *पुरुषान्न परं किन्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः* (कठोपनिषद्) — पुरुष से परे कुछ भी नहीं है। वह परम पुरुष वह प्रभु अनन्य भक्ति के द्वारा लब्ध्य हैं।

'यस्तान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्'। (८/२२/२)

जिसके भीतर सब प्राणी हैं, जो सबमें व्याप्त है। अब इस बात को समझिये। मेरे गुरुजी कहते थे कि मेरे भीतर परमात्मा हैं, यह तो है भक्ति – भगवान् मेरे भीतर हैं। मैं भगवान् में हूँ यह है, शरणागति। मैं कहाँ हूँ, किसमें हूँ? मैं भगवान् में ही हूँ भगवान् के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, यह है शरणागति।

'यस्यान्तःस्थानि भूतानि' – समस्त प्राणियों के भीतर प्रभु हैं। यह भी कहने का ढंग है। समस्त प्राणियों के भीतर प्रभु हैं, तो प्रभु क्या गेंद हैं, जिन्हें एक थैले में रख लिया गया। जो हमारे चमड़े का थैला है — शरीर, इसके भीतर प्रभु हैं। वे वहीं सीमित हो गये क्या? वे हमारे भीतर भी हैं, हमारे बाहर भी हैं। ईशावाष्य उपनिषद् में कहा – *'तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः'*

वे सबों के अन्तःकरण में हैं, वे सबों के बाहर भी हैं। जब हमारी धृति, हमारी कल्पना, हमारी धारणा होती है क्या हम प्रभु में हैं, तब हम शरणागत हैं। जब तक यह धारणा रहती है कि प्रभु हममें हैं तो हम उनकी भक्ति कर सकते हैं। दो बातें हैं – (१) *यस्यान्तःस्थानि भूतानि (२) येन सर्वमिदं ततम्'*

सारे के सारे प्राणी जिसके भीतर स्थित हैं, जो समस्त जगत् में, सब देश-काल-वस्तु में, ओत-प्रोत भाव से समाहित है। *'येन'* जिसके द्वारा, *'सर्वमिदं'* ये सारा का सारा जगत् *'ततम्'* परिपूर्ण है। *ईशावास्यमिदं सर्वम्* – ये सारा का सारा जगत् जिसके द्वारा परिव्याप्त है, और जिसमें है। वही वही है। इसीको कहते हैं अभिन्न निमित्तोपादान हैं प्रभु। सब कुछ प्रभु के भीतर है, यानि उपादान प्रभु ही है। घड़ा, सिकोरा, सरई, हण्डा नाम अलग-अलग है, रूप अलग-अलग है। सबके भीतर मिट्टी है, परमात्मा ही उपादान है और सबको बनाने वाला निमित्त कारण है। ये बात अनन्य भक्ति है। अनन्य भक्ति का अर्थ क्या है? जब यह समझ में आने लगे कि जो कुछ हमको दिख रहा है, ये अनेक नाम रूपों में प्रभु की ही लीला दिख रही है। जब यह समझ में आने लगे कि ये सारी

सृष्टि प्रभु की ही है, प्रभु ने ही बनाई है, प्रभु ही हैं, तब किसी अन्य का बोध नहीं होता; तब अनन्य है। अनन्य भक्ति के द्वारा वह पुरुष प्राप्त है।

वह अनन्या भक्ति तब सिद्ध होती है, जब यह अनुभव होता है कि सारी सृष्टि उन्हीं के भीतर है; और वे ही सारी सृष्टि में प्रकट हो गये हैं। यानी तब किसी दूसरे का बोध भी नहीं होगा, तब किसी दूसरे की स्थिति नहीं रहेगी। जब तक दूसरे का बोध है, जब तक अन्य का भाव है, तब तक अनन्या भक्ति नहीं है। तब तक भक्ति की ओर तो हम अग्रसर हो रहे हैं, वह भी अच्छा है। भगवान् की ओर जा रहे हैं, लेकिन परमात्मा अन्य हैं, मैं अन्य हूँ – यह भेद बना रहता है, तो उसकी प्राप्ति यानि उससे अभेद नहीं होता। यह स्थिति तभी होगी जब यह बोध होगा कि उसी के भीतर सारी सृष्टि है, सारे प्राणी उसी के भीतर हैं, सारी रचना उसी के भीतर है, वही सबमें व्याप्त है।

अब इसके बाद – इतना बताने के बाद, ये दो रास्ते बताये। सबसे बड़ा रास्ता बता देने के बाद फिर उन्होंने दो रास्ते क्यों बताये? इसलिए बताये कि यह जो जगत् दिखाई पड़ता है, यह जो सुनने में आता है, इसको जानो, इसके मर्म को पहचानो, तब न इससे वैराग्य होगा। वैराग्य की पुष्टि हो सके, इसलिये इस परम मार्ग का निरूपण कर देने के बाद, फिर दो मार्गों का निरूपण कर रहे हैं। ये दोनों मार्ग भी उपनिषदों में कथित हैं। गीता में इनको शुक्ल और कृष्ण मार्ग कहा गया है। उपनिषदों में इनको अर्चिरादि मार्ग और धूमादि मार्ग कहा गया है। उपनिषदों में इनको देवयान और पितृयान कहा है। जो देवयान है, वही अर्चिरादि, मार्ग है, वही शुक्ल मार्ग है। जो पितृयान है, वही धूमादि मार्ग है, वही कृष्ण मार्ग है। अब इनको पहले अक्षरशः समझें। फिर इनके जो सांकेतिक अर्थ सम्भावित हैं, उनको हमलोग समझने की चेष्टा करेंगे।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।। (८/२३)

हे भरत वंश में श्रेष्ठ अर्जुन! जिस काल में, (काल का अर्थ समय भी है, काल का अर्थ मार्ग भी है। यहाँ मार्ग के ही रूप में काल का निरूपण है।) जिस समय या जिस मार्ग पर चलने पर अनावृत्ति यानी लौटते नहीं, आवृति यानी लौट कर आना पड़ता है। योगियों के इन दोनों मार्गों को, मरने के समय, मरने के बाद के उन दोनों मार्गों को मैं बता रहा हूँ। याद रक्खो कि ये दोनों मार्ग योगियों के हैं। ये दोनों मार्ग पुण्यात्माओं के हैं। ये कामी, क्रोधी, लोभी व्यक्तियों के मार्ग नहीं हैं। लेकिन एक मार्ग पर जाने पर पुनरावृत्ति, पुनर्जन्म नहीं होता। दूसरे मार्ग से जानेपर पुनर्जन्म होता है, रामानुजाचार्य ने बताया है कि जिन लोगों के मन में ऐश्वर्य की लालसा रहती है, उनकी

पुनरावृत्ति होती है। जिनके मन में वासना शेष है, योग साधना कर रहे हैं, लेकिन जो कर्ममार्गी हैं, (कर्मयोगी नहीं) जो यज्ञादि के द्वारा उसका फल प्राप्त करना चाहते हैं, उनके मन में वासना है, उनकी पुनरावृत्ति होगी, यद्यपि वे योगी हैं। लेकिन जिनमें कोई वासना नहीं है; किन्तु उनकी अनन्या पूर्ण भक्ति नहीं हुई, उनको परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ – इसलिये उनको पितृयान से शुक्लयान से जाना पड़ेगा। अगर अनन्या भक्ति होती है, अगर पूर्णज्ञान प्राप्त होता है, तो सद्यः मुक्ति होती है। *'तस्याहं सुलभः पार्थ'* – इसी जन्म में, यहीं इसी शरीर में प्रभु की प्राप्ति हो जायेगी।

इसी जन्म में, इसी शरीर से, प्रभु को प्राप्त करना सम्भव है। अब इसके बाद जिनकी अनन्या भक्ति सिद्ध नहीं हुई ; वे भक्त तो हैं, अनन्य नहीं हुये – उनकी क्या गति होगी? या जिनके मन में, भगवान् से अपनी वासनाओं को पूर्ण करने की लालसा बनी हुई है, उनकी क्या गति होगी? भगवान् बताते हैं –

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।। (८/२४)

जो ब्रह्म को जानने वाले हैं, अगर उनका ज्ञान परिपूर्ण होता, अगर उनकी भक्ति अनन्या होती तब तो यहीं प्रभु की प्राप्ति हो जाती, लेकिन जिसमें अभी कुछ कसर है, ऐसे ब्रह्म के वेत्ताओं, भक्तों को शुक्ल मार्ग से जाना पड़ता है। देखिये, हमारे देश में वैदिक समय से उत्तरायण को शुभ माना जाता है, दक्षिणायन की तुलना में। उत्तरायण में सूर्य हमारे देश के निकट रहता है, दक्षिणायन में दूर चला जाता है; इसलिये दक्षिणायन को कम पवित्र माना है। तीन बातें बताई जा रही हैं। इसका एक आधिभौतिक अर्थ है, एक आधिदैविक और एक आध्यात्मिक अर्थ है। आधिभौतिक अर्थ को, आक्षरिक अर्थों को पूरी तरह से पकड़ कर इसका अगर अनुधावन करेंगे, तो गलतियाँ भी होंगी। इसलिये प्रायः आधिदैविक, आध्यात्मिक अर्थों की ओर हमको जाना पड़ता है। बताया क्या गया? कि *'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्'* अग्नि और ज्योति से प्रकाशित दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छः महीने ये पवित्र हैं। इसमें जो मरता है उसको ब्रह्म की प्राप्ति होती है। आगे के श्लोक में कृष्णपक्ष और दक्षिणायन में शरीर छोड़ने वालों का वर्णन करते हैं—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।। (८/२५)

'धूमो' – जिसमे धुआँ हो, रात्रि हो, कृष्णपक्ष हो और दक्षिणायन के छः महीने हों, उसमें मरने वाले को चान्द्रमस यानि चन्द्रमा की ज्योति की प्राप्ति होती है ; लेकिन

उसको पुनःजन्म प्राप्त करना पड़ता है, इस लोक में आना पड़ता है। अगर इसको आक्षरिक अर्थ में लेंगे तो ज्ञानी अगर रात में मरेगा तो क्या उसको आना पड़ेगा? उत्तरायण की रात में मरेगा? इसमें दिन कहा गया है *'अहः'* – अहः माने दिन। उत्तरायण की रात में कोई मरे तो? दक्षिणायन में ही मरे तो? *'काश्यां मरणां मुक्ति'* -- काशी में मरने से मुक्ति होती है। कबीरदास ने कहा है – *जो 'कबीर' कासी मरे तो रामहिं कौन निहोरा'।* अगर काशी में मरने से मुक्ति होती है तो राम का इसमें क्या अहसान। मैं काशी में मरकर क्यों मुक्त होऊँ? मैं मगहर जाऊँगा। अगर मैंने राम की भक्ति की है, तो मगहर में भी मुक्त होऊँगा। राम की भक्ति अगर सच्ची है तो मगहर में भी मुक्ति होगी। दक्षिणायन में भी मुक्ति होगी। रात में मरने पर भी मुक्ति होगी। होगी कि नहीं होगी? इसलिये इनके आक्षरिक अर्थों को नहीं लेना चाहिये।

यह ठीक है कि इनके प्रतीकार्थों को देखते समय आधिदैविक अर्थ में बताया गया कि अग्नि का भी एक देवता होता है। ज्योति माने यहाँ प्रकाश है, अग्नि माने ज्वाला है, अहः माने दिन है, शुक्ल पक्ष है और उत्तरायण के छः महीने हैं। मृत्यु हो गई। मृत्यु होने के बाद अग्नि के देवता उसको ज्योति के देवता तक ले जायेंगे। ज्योति के देवता उसको दिन के देवता तक ले जायेंगे। दिन के देवता उसको शुक्लपक्ष के देवता तक ले जायेंगे। शुक्लपक्ष के देवता उसको उत्तरायण के देवता तक ले जायेंगे और उत्तरायण के देवता उसको ब्रह्म लोक तक ले जायेंगे। वहाँ वह तब तक रहेगा जब तक ब्रह्म रहता है, और ब्रह्म लोक में जब उसकी निवृत्ति होगी, तब उसकी मुक्ति होगी। इसको कहते हैं क्रममुक्ति। एक-एक देवता अपने-अपने अधिकार के क्षेत्र तक उसको ले जायेगा। लम्बा रास्ता है। इस लम्बे रास्ते से वे क्रमशः ले जायेंगे और अपने अधिकार के क्षेत्र के अगले क्षेत्र के अधिकारी को सौंप देंगे। ऐसे ब्रह्म लोक में जाकर वे तब तक रहेंगे जब तक ब्रह्म का दिन है और उसके बाद जब विलय होगा तो उसकी क्रममुक्ति हो जायेगी। ऐसे लोगों की भक्ति है तो दृढ़, लेकिन परिपूर्ण नहीं हुई। ज्ञान है तो लेकिन परिपूर्ण नहीं हुआ। इसलिये इनको इतनी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिये इनको क्रममुक्ति की राह पकड़नी पड़ेगी।

जिनके मन में वासना है, जिनके मन में ऐश्वर्य की लालसा है। ऐश्वर्य की लालसा के लिये जो भगवान् की भक्ति करते रहे, वे जब मरेंगे तो धुएँ का देवता उनको रात्रि के देवता तक, रात्रि का देवता उनको कृष्ण पक्ष के देवता तक, कृष्ण पक्ष का देवता उनको दक्षिणायन के देवता तक पहुँचायेगा; और वहाँ उनको चान्द्रमास ज्योति की प्राप्ति होगी। उनको भी वहाँ आनन्द मिलेगा, सुख मिलेगा और बाद में उनको लौट

कर आना पड़ेगा। उनको चन्द्रलोक की प्राप्ति होगी। उनको ब्रह्म लोक की प्राप्ति होगी। यह हुआ आधिदैविक अर्थ।

आध्यात्मिक अर्थ – विनोबा भावे और मेरे गुरुजी दोनों ने आध्यात्मिक अर्थ लिया है। विनोबा भावे ने कहा है अग्नि कर्म का प्रतीक है। जिसकी अग्नि तेज होती है वह सही रास्ते पर बढ़ता है। *'अग्नेनय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्'* ईशावास्य उपनिषद् में अग्निदेव को कहा है कि हमको अच्छे रास्ते से ले चलो। तो अग्नि हमको कर्म में प्रवृत्त करता है। यज्ञ का आधार अग्नि है, वह हमको उज्ज्वल मार्ग देता है। वह हमको, हमारी बुद्धि को शुद्ध करता है। वह हमारे दोषों को दूर करता है, वह हमारे जीवन में शुक्लता लाता है। वह हमारे आकाश को निरभ्र करता है। इस तरह से हम दोषमुक्त होकर भगवद् प्राप्ति करते हैं। अगर धुँआ यानी हमारी अग्नि पूरी तेज नहीं है। अगर हमको पूरा ज्ञान मिला नहीं हैं तभी हमारी वासनायें शेष हैं। तभी हमारी कामनाएँ शेष हैं। उस कृष्ण पक्ष में जाते हैं। आकाश निरभ्र नहीं है, बादल रहित नहीं है, और उसमें हमको चान्द्रमास ज्योति की प्राप्ति होती है जिसमें थोड़ा प्रकाश है, थोड़ा अँधेरा है और हमको लौट कर आना पड़ता है।

गुरुजी ने बताया कि अग्नि ज्योति और शुक्ल उत्तरायण ये सब हमारे भीतर की उज्ज्वलता एवं हमारे भीतर के प्रभु की ओर उन्मुख होनेवाली वृत्तियों के प्रतीक हैं। हम उत्तरोतर पूर्णता की ओर जाते हैं। हम उत्तरोत्तर उच्चता की ओर जाते हैं ; अग्नि से ज्योति की ओर, प्रकाशित दिन की ओर, शुक्लपक्ष की ओर और एकदम उत्तरायण का जो आकाश है, परिपूर्ण उच्चता की ओर जाते हैं। फिर हम उसमें विलीन हो जाते हैं। सूर्य, बुद्धि का प्रकाशक है। बुद्धि को शुद्ध करके अच्छे काम में लगाओ, यही गायत्री मंत्र में, सूर्य से प्रार्थना है। चन्द्रमा प्रेम का, प्रीति का, सौन्दर्य का द्योतक है। जो इस लोक में अनेक प्रकार की आसक्तियों को, रस को, बहुत कुछ को पाना चाहते हैं, उस रास्ते से जाते हैं। इसलिये उनको लौट कर आना पड़ता है। जो भी हो, ये दोनों रास्ते चाहे सूर्य लोक, ब्रह्म लोक को प्राप्त करके क्रममुक्ति के रास्ते से जाएँ, या चान्द्रमस ज्योति प्राप्त करके इस लोक में लौट आएँ। ये दोनों ही रास्ते योगियों के हैं, धर्मात्माओं के हैं। एक अपेक्षाकृत निष्काम है दूसरा सकाम। उसकी निष्कामता अगर परिपूर्ण होती तो सद्यः मुक्ति होती। निष्काम है, लेकिन निष्कामता में कमी है; इसलिये उसको क्रममुक्ति का रास्ता अपनाना पड़ा। यहाँ भगवान् से प्रार्थना की गई—

जग जाँचिये कोउ न, जाँचिये जो जिय जाँचिय जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे।।

मत माँगो किसी से, लेकिन अगर माँगे बिना रहा न जाये तो बेईमानी मत करो। भीतर कामनायें भरी हैं ऊपर से निष्काम मत बनो। केवल भगवान् से माँगो। भगवान् से माँगने पर तुम चान्द्रमस ज्योति तक जाओगे और फिर लौट कर आओगे। तुम्हारी प्रीति, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। लेकिन यह अँधेरा रास्ता है, यह मन की प्रियता का रास्ता है, बुद्धि की क्षीणता का रास्ता है। जो बुद्धि की शुद्धि का रास्ता है, वह प्रकाश का रास्ता है। तुम क्या चुनना चाहते हो? अपना रास्ता चुन लो। अगर तुम निष्कामता की ओर जाना चाहते हो, बुद्धि की शुद्धता की ओर जाना चाहते हो, देवयान से जाओ। अर्चि यानी ज्वाला। अर्चिरादि मार्ग से जाओ, शुक्ल मार्ग से जाओ। अगर तुम ऐश्वर्य प्राप्त करना चाहते हो, अगर मन की कामनाओं की तृप्ति चाहते हो तो धूम्र मार्ग से जाओ, कृष्ण-मार्ग से जाओ; लेकिन याद रखो तब तुम्हें लौट कर इस संसार में आना पड़ेगा। तुम्हारी कामनाएँ तो पूर्ण हुईं; लेकिन उन कामनाओं के कारण असंख्य दुःख झेलने पड़ेंगे। *दुःखालयम् अशाश्वतम्* – दुःखों का घर, अब फिर पुनर्जन्म को प्राप्त करना पड़ेगा। जो रास्ता तुमको प्रिय है, उस रास्ते से जाओ।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।। (८/२६)

ये दो रास्ते स्थिर हैं। यहाँ शाश्वत का अर्थ है — पक्के, दृढ़। एक शुक्ल मार्ग है, निष्काम भक्ति का, ज्ञान का मार्ग जो अभी परिपूर्णता तक नहीं पहुँचा है; इसलिये क्रममुक्ति प्राप्त होगी। दूसरा कृष्ण मार्ग है, जिसके द्वारा तुम्हारी इच्छाएँ, कामनायें, वासनायें पूर्ण होंगी; तुमको ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी, लेकिन तुमको फिर लौटकर आना पड़ेगा। इन दोनों मार्गों की बात इसलिए कही गयी क्योंकि इन दोनो मार्गों के ऊपर उठना है। २७वाँ श्लोक देखिये –

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।। (८/२७)

एते माने इन, *सृती* माने मार्ग, *न मुह्यति* माने मोहित नहीं होता – अर्थात् इन दोनों मार्गों को जाननेवाला योगी कभी मोहग्रस्त नहीं होता।

शुक्ल मार्ग – अरे बाप रे बाप! सोचो जरा कि एक हजार चतुर्युग का एक दिन, एक हजार चतुर्युग की एक रात। ऐसे सौ बरस का ब्रह्म का जीवन। तब मुक्ति मिलेगी। इतनी प्रतीक्षा करने का धैर्य है? कैसा रास्ता है भाई? जिसमें इतना लम्बा अन्तराल है प्रभु से मिलने के लिये। यह ग्रहण करने योग्य नहीं है।

कृष्ण मार्ग – हमें भौतिक ऐश्वर्य तो प्राप्त हो जायेगा; लेकिन फिर लौट कर

आना पड़ेगा। फिर दुःखों का घर, वह अस्थिर जन्म फिर भोगना पड़ेगा। इन दोनों मार्गों के रहस्य को जो जान लेता है, वह योगी कभी मुग्ध नहीं होता, कभी मोहित नहीं होता। फिर वही बात। मैंने आपको बताया था कि ८वें अध्याय में प्रभु का एक महावाक्य है। मेरे गुरुजी ने कहा था कि जो ७वां श्लोक है –

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्'।। (८/७)

यह भी रास्ता है कि नहीं? *'माम् एव एश्यति'* – मुझे ही प्राप्त करो। मुझ तक ही पहुँचेगा। रास्ता है कि नहीं? तो यह जो रास्ता है, यही सबसे बड़ा रास्ता है। शुक्ल-कृष्ण इन दोनों रास्तों का ही निषेध २७वें श्लोक में है —

'नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन्'।

जो योगी इन दोनों रास्तों को, उनके मर्म को जान लेता है, वह मोहग्रस्त नहीं होता। मोहग्रस्त नहीं होता, तो फिर क्या करता है? या क्या करना चाहिये? प्रभु कौन सा रास्ता चुनने का आदेश देते हैं? हमीं पर छोड़ देंगे? और हम अगर गलत चुन लें तो? वे करुणा वरुणालय, वे जगत्गुरु, वे कृपापरवश होकर हमको रास्ता बताते हैं। एक ही रास्ता है, उसी पर चलो — *'तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।'*

आज्ञा है, विकल्प नहीं है। चुनने का अधिकार नहीं है। इसलिये हे अर्जुन! सब समय योगयुक्त रहो। यह महावाक्य मेरे गुरुजी के अनुसार –

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।। (८/७)

इसी लोक में, इसी जन्म में यहीं अपना मन, अपनी बुद्धि मुझको अर्पित कर दो। अनन्य भक्ति से मुझको भजो, यही आदेश है *'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'* – यहाँ दोहराते हैं – *'तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन'।*

यह आदेश है। विकल्परहित आदेश है। न शुक्ल मार्ग से जाओ, न कृष्ण मार्ग से जाओ। शान्तम् पापम् – काम, क्रोध, लोभ, मोह का तो सवाल ही नहीं उठता। एक ही रास्ता चुनो। वह रास्ता है – *'तस्मात्सर्वेषु कालेषु, योगयुक्तो भव'।*

मरने के समय में भगवान् को याद करेंगे। मरने के समय भगवान् याद आयेंगे? अभी अगर भगवान् याद नहीं आते तो मरने के समय भगवान् कैसे याद आयेंगे? एक अद्भुत श्लोक है पण्डितराज जगन्नाथ का —

'कृष्णत्वदीय पदपंकज पंजरान्ते
अद्यैवमेविशतु मानस राजहंसः

प्राणप्रयाण समये कफवात पित्तैः
कण्ठावरोध समये स्मरणं कुतस्ते'

हे कृष्ण! *'त्वदीय पदपंकज पंजरान्ते'* – तुम्हारे चरण-कमल के पिंजरे में – *'अद्यवैमेविशतु मानस राजहंसः'* — आज ही अभी-अभी-अभी मेरा मानस राजहंस प्रवेश कर जाये। *'प्राणप्रयाण समये कफवात पित्तैः'* – जब प्राण निकलेंगे तो कफ-वात-पित्त के कारण *'कण्ठावरोध'* – बोली बन्द हो जायेगी। *'स्मरणं कुतस्ते'* – कहाँ तुम्हारा स्मरण कर पायेंगे?

मरने के क्षण तक की प्रतीक्षा क्यों? आज ही मेरा मानस राजहंस तुम्हारे चरण कमल के पिंजरे में प्रवेश कर जाये जिससे सहज रूप से मृत्यु के समय, तुम्हारा स्मरण होता रहे। मरने के समय तुम्हें याद करेंगे और तब हमारी मुक्ति होगी। हे नारायण! इस प्रकार का मूढ़ाग्रह हमको छोड़ दे। जीते जी याद नहीं करते तो मरने के समय कैसे याद आयेंगे? *'जनम-जनम मुनि जतन कराहीं। अन्त राम कहि आवत नाहीं'।।* जन्म जन्मान्तर तक प्रयास करने पर भी अन्त में राम का नाम याद नहीं आता। कैसे मरने के समय तक के लिये हम अपनी स्मृति को छोड़ दें। *'तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भव'*।

हम भगवान् की आज्ञा का पालन कर सकें, न कर सकें, इसमें हमारी सीमा है। हमारी त्रुटि है। भगवान् ने सब रास्ते बता दिये हैं। सब रास्ते बता देने के बाद जो हमारे लिये परम कल्याणकारक है, उसका स्पष्ट निर्देश कर दिया; इसलिये सब समय सब काम करते हुये, तुम मुझसे जुड़े रहो। आगे कैसी बात कहते हैं —

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्'।। (८/२८)

ठीक है। ठीक है। वेदों में बहुत से अच्छे काम करने की आज्ञा दी गई है। यज्ञ करने की आज्ञा है, वेद पाठ करने की आज्ञा है, तपस्या करने की आज्ञा है, दान करने की आज्ञा है। साथ ही बताया है कि इन तमाम सत्कर्मों का पुण्यफल प्राप्त होता है। लेकिन बताओ तो इन तमाम पुण्य कर्मों का कितना फल होगा? तुम अपनी सीमित शक्ति से कितने पुण्य कर्म कर सकते हो? सीमित शक्ति से किये गये पुण्य कर्म भी सीमित होंगे। सीमित पुण्य कर्मों का फल भी सीमित होगा। उन सीमित पुण्यकर्मों के फल से असीम प्रभु कैसे मिलेंगे। इन तमाम पुण्य कर्मों का फल सीमित होगा, अतः सीमित फलों से असीम प्रभु की प्राप्ति नहीं होगी। इसीलिये इन तमाम सीमित पुण्य कर्मों का अतिक्रमण करो। *'अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा'* – 'इदम्' – किसको जानकर,

इन दोनों मार्गों का जो फल है इसको जानकर कि ये तो अल्प फलदायी हैं, नहीं-नहीं इन रास्तों पर नहीं चलेंगे। इन सीमित पुण्यों के सीमित फलों से हमारा क्या होगा? फिर हमको लौट कर आना पड़ेगा। इसलिये इन सबों का अतिक्रमण करें। प्रभु ने बार-बार कहा है कि मैं आदि हूँ – *'अहम् आदिर्हि देवानाम्'* – मैं ही समस्त देवताओं का आदि हूँ। *'आद्यं पुरुषम्'* – अपने को ही उन्होंने कहा है — तो जो इन दोनों मार्गों का त्याग कर देता है, तब वह अनन्या भक्ति के मार्ग पर चलता है। परिपूर्ण ज्ञान के मार्ग पर चलता है। उस परिपूर्ण ज्ञान, अनन्या भक्ति के द्वारा वह मुझको, अभी, इसी समय, इसी जन्म में यहीं प्राप्त करता है। मरने के बाद की बात गीता नहीं कहती। गीता का धर्म नगद् धर्म है उधार धर्म नहीं। ●

*प्रवचन-२५**

प्रभु का स्वरूप

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुं – भगवान् श्रीकृष्ण को सारे संसार का गुरु मानकर, उनकी वन्दना की गई है। इस अध्याय को आरम्भ करते समय गुरु के धर्म की ओर भी संकेत है। गुरु जब कोई विद्या देता है, तो उस विद्या के प्रति शिष्य को कैसे आकृष्ट करता है? शिष्य को विद्या प्राप्त हो जाय, शिष्य विद्या को प्राप्त करने के लिये तत्पर हो जाय, श्रद्धावान् हो जाय, इसके लिये गुरु क्या करता है? पहले तीन श्लोकों में यह रहस्य समझाया गया है। शिष्य की प्रशंसा है कि यह बात सबको थोड़े ही बताता, यह तुझको बता रहा हूँ। तू मेरा बड़ा स्नेहभाजन है, तू योग्य है, तू अधिकारी है, इसीलिये तो यह बता रहा हूँ। शिष्य के लिये अकारण, मिथ्या प्रशंसा नहीं होनी चाहिये। झूठ टिकता नहीं। सच्ची बात जब कही जाती है, तो शिष्य भी समझता है कि मेरी पात्रता की ओर इंगित करके मुझको और उद्बुद्ध किया जा रहा है। नवम अध्याय का प्रथम श्लोक है :-

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। (९/१)

'अनसूयवे' – अर्जुन तू अनसूयवे है, दोष-दृष्टि रहित है। *असूया* – गुण में भी दोष को जो ढूंढ कर निकाल दे वह है असूया। जिन व्यक्तियों में असूया की वृत्ति होती है, वे किसी में गुण देखते ही नहीं। सबके गुणों में उनको कोई न कोई दोष दिख जाता है। भगवान् का अवतार अनसूया से हुआ है। अनसूया अत्रि की पत्नी, जो स्वयं त्रिगुण रहित हैं। जिनमें कोई असूया नहीं, तब न भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश उनके पुत्र हो गये। तो शिष्य की प्रशंसा, सच्ची प्रशंसा। बहुत से लोग, बहुत से अध्यापक, यह मानते हैं कि शिष्य की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। श्रीकृष्ण ऐसा नहीं मानते। जिस शिष्य में जो गुण है, वह गुण उसको जरूर उद्बुद्ध करता है। शिष्यों का गुण बताना चाहिये। अतः कहते हैं *'अनसूयवे'* — हे अर्जुन! तू असूया रहित है, दोष-दृष्टि रहित है। इसलिये तू

* नवम अध्याय (राजविद्या राजगुह्य योग) : श्लोक संख्या १ से १०

इस दिव्य उत्तम ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी है। मैं यह ज्ञान सबको थोड़े ही देता हूँ। सब इसके अधिकारी नहीं हैं। इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी वह है जो ऋजु है, सहज है, सरल है; और बड़ों के द्वारा बताये गये ज्ञान पर श्रद्धा रखता है। तू ऐसा श्रद्धालु है। इसलिये *'प्रवक्ष्यामि'*। तुझे विशेष रूप से बताऊँगा। केवल वक्ष्यामि नहीं 'प्र' माने प्रकृष्ट। अध्यापक – प्राध्यापक, शान्त – प्रशान्त, बुद्ध –प्रबुद्ध। तेरे जैसे असूयारहित, गुणी, श्रद्धालु शिष्य को मैं अच्छी तरह से समझाऊँगा। यह तो हो गई शिष्य की प्रशंसा। शिष्य का मन बढ़ाया।

क्या समझा रहे हैं प्रभु? प्रभु अर्जुन से कहते हैं कि ऐसी बात समझाऊँगा जो कोई दूसरा जानता ही नहीं। अब यह हो रही है विद्या की प्रशंसा। अगर आप अपने विद्यार्थी को कोई चीज समझाना चाहते हैं, तो पहले विद्यार्थी को उसके महत्त्व का बोध कराना चाहिये कि उसको जान लेने से क्या प्राप्त होगा? और वह प्राप्त करने योग्य है, इसका बोध होने पर शिष्य के मन में उसको प्राप्त करने का आग्रह होगा। तो पहली बात *'गुह्यतमं'*। छिपाए जाने योग्य बातों में सबसे अधिक छिपाई जाने वाली बात, जो किसी को बताई नहीं जानी चाहिये, तेरे जैसे योग्य शिष्य को ही मैं बता रहा हूँ। 'गुह्यतम' क्या होता है? धर्म का तत्त्व है *'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुह्यायाम्'* – धर्म का तत्त्व गुह्य है। धर्म का तत्त्व छिपा हुआ है। और उपासना का तत्त्व है गुह्यतर। साधारण धर्म से भक्ति, उपासना गुह्यतर है; और तत्त्वज्ञान है गुह्यतम। मैं तुझको वह तत्त्वज्ञान बता रहा हूँ।

आज के प्रवचन का शीर्षक है *'प्रभु का स्वरूप'*। प्रभु अपने स्वरूप का निरूपण स्वयं करेंगे। जो गुह्यतम ज्ञान है, जो तत्त्वज्ञान है, उस ज्ञान को विज्ञान के सहित बतायेंगे। विज्ञान के सहित ज्ञानका अर्थ क्या हुआ? वह ज्ञान कैसे क्रिया में उतरता है, वह ज्ञान कैसे अनुभव में उतरता है। ज्ञान तो अपनी जगह है, विज्ञान माने वह विशेष प्रक्रिया, जिससे वह ज्ञान अनुभव का विषय बने। केवल रट्टू तोते को न तो ज्ञान ही होता है, न विज्ञान ही होता है। तुमने किसी बात को जान लिया, जैसे – बिजली का तत्त्व समझ लिया; लेकिन बिजली को पंखे में कैसे ले आओगे? बिजली को माइक्रोफोन में कैसे ले आओगे? इसका विज्ञान नहीं मालूम है, तो बिजली काम में नहीं आयेगी। तो विज्ञान के सहित ज्ञान, अनुभव पर्यवसायी ज्ञान, वह ज्ञान जो तुमको उसका अनुभव करा देगा ; वह तत्त्वज्ञान जिसका तुम साक्षात्कार करोगे। गुरु कहता है कि वह ज्ञान मैं तुमको बताऊँगा। और कैसी विलक्षण बात है - *'यज्ज्ञात्वा'* जिसको जान लेने मात्र से, कृत्वा नहीं; ज्ञान को विज्ञान के सहित जान लेने मात्र से

'मोक्ष्यसेऽशुभात्' समस्त अशुभ से, अज्ञान से, संसार से मुक्ति हो जायेगी। जान लेने मात्र से मुक्ति सिर्फ ज्ञान से होती है। कर्म पर आश्रित ज्ञान अलग है; और यह तत्त्वज्ञान अलग है। जानने मात्र से मुक्ति। जानने के बाद फिर करने के लिये कुछ शेष ही नहीं है। ज्ञान मात्र से मुक्ति, तत्त्वज्ञान से मुक्ति सच्चे ज्ञान का लक्षण यही है। इसके लिये फिर कोई क्रिया अपेक्षित नहीं है। *'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'* उस तत्त्वज्ञान का सही-सही अनुभव होते ही तुम अशुभ से, अज्ञान से, संसार से, बार-बार जन्म लेने से, बार-बार मरने से छुटकारा पा जाओगे। कितनी बड़ी बात बताने जा रहे हैं प्रभु। यह अपने द्वारा दिये जा रहे ज्ञान की स्तुति है। यह छोटी बात नहीं है, यह सबसे बड़ी बात है। अगला श्लोक है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।। (९/२)

राजविद्या – राजविद्या माने विद्याओं का राजा। विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ। राजविद्या का एक अर्थ है — विद्याओं में सबसे बड़ी, सबसे श्रेष्ठ विद्या। *राजघाट* — घाटों में सबसे बड़े घाट को राजघाट कहते हैं। जिसमें चारों वर्ण के लोग नहाने आते हैं, वह राजघाट है। *राजमार्ग* — सबसे बड़ा मार्ग जो होता है, उसको राजमार्ग कहते हैं। इसी प्रकार *राजविद्या* – यानी सबसे बड़ी विद्या। कहीं-कहीं *राजानाम् विद्या* — माने राजाओं की विद्या, यह भी कहा गया है। पहले यह तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान राजर्षियों के पास था, ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं। भगवान् ने विवस्वान को कहा – विवस्वान ने मनुको कहा – मनु ने इक्ष्वाकु को कहा। *राजर्षयः विदुः* – राजर्षि ही उसको जानते थे। इसलिये राजर्षियों की विद्या, राजविद्या या विद्याओं का जो श्रेष्ठ स्वरूप। उपनिषदों में कई विद्यायें हैं। परब्रह्म का ज्ञान करने के साधन-मार्ग को उपनिषदों में विद्या कहा गया है। जैसे शांडिल्य विद्या, प्राण विद्या, हार्द विद्या आदि। ऐसी सब विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ है राज विद्या। अनेक विद्याएँ हैं। सर्वश्रेष्ठ विद्या – *'राजगुह्यम्'*। छिपाये जाने योग्य में सबसे बड़ा तत्त्व गुह्यतमम् और राजगुह्यम् एक है। सबसे बड़ी गोपनीय विद्या आज मैं प्रकट कर रहा हूँ। तुम्हारे माध्यम से सबको दे रहा हूँ। कितनी बड़ी करुणा है भगवान् की। कृपा-परवश होकर प्रभु यह बोल रहे हैं। हम पर, तुम पर, सब पर उनकी कृपा बरस रही है। जो गुह्य है, गोपनीय है उसको वे डंके की चोट पर उजागर कर, सबको बाँट दे रहे हैं। *'पवित्रम्'* – यह पवित्र है। पवित्र क्या है? *पवेः वज्रात् त्रायते इति पवित्रम्।* जो उस पवित्र वज्र से त्राण कर देने में समर्थ हो। वह पवित्र जो मृत्यु के भय से तुमको मुक्त कर दे। *महद्भयं वज्रमुद्यतम्* – उद्यत है मृत्यु, निशिदिन साथ-साथ

चलती है। साथ-साथ रहती है। कौन कब मरेगा कौन जाने। वह *'उत्तमम्'* श्रेष्ठ विद्या है। शिष्य को कैसे आकृष्ट कर रहे हैं। *'प्रत्यक्षावगमं'* – जिसको जाना जा सके उसको कहते हैं अवगम। तो तुम अनुमान से जान लो। नहीं-नहीं अनुमान से क्या? सुनी-सुनाई बात नहीं है। *'कहा-सुनी की है नहीं, देखा-देखी बात'। 'प्रत्यक्षावगमं'* – यह प्रत्यक्ष विद्या है। यह उधार का सौदा नहीं है। यह नगद सौदा है। तुम इसका सीधे-सीधे अनुभव कर सकते हो। *'धर्म्यं'* – अरे! इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ जाना जा सकता है उसमें तो बहुत कुछ अधर्म की बातें भी हैं। बहुत सी बातें गन्दी होती हैं। उन्होंने कहा पवित्र है, गुप्त है और गन्दी नहीं है। इन्द्रियों से भी जानी जा सकती है, लेकिन धर्म की ओर ले जाने वाली है। अधर्म की ओर नहीं। प्रश्न उठता है कि तब तो बड़ी कठिन होगी? बोले नहीं-नहीं ; अनायास कर सकोगे, सुखपूर्वक कर सकोगे। *'सुसुखम् कर्तुम्'* — अनायास सुखपूर्वक करने योग्य विद्या है। *'अव्ययम्'* – तब तो इसका फल बहुत छोटा होगा? बोले नहीं-नहीं ; इसका फल अव्यय है। अविनाशी फल है। देखो जब किसी विद्या के प्रति अपने शिष्य का ध्यान हम आकृष्ट करते हैं तो दो प्रकार से। एक अन्वय पद्धति से, एक व्यतिरेक पद्धति से। ऐसा-ऐसा करोगे तो यह-यह मिलेगा। ऐसा नहीं करोगे तो इससे-इससे वञ्चित हो जाओगे।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसार वर्त्मनि।। (९/३)

तीसरे श्लोक में व्यतिरेक पद्धति है। यह विद्या, जिस विद्या के द्वारा तुम अशुभ से मुक्ति प्राप्त कर लोगे ; जो अविनाशी फल देने वाली विद्या है, यह अश्रद्धालुओं को नहीं प्राप्त होती। गीता में श्रद्धा के बारे में बहुत कहा गया है –

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः। (१७/३/२)

यह पुरुष श्रद्धामय है। जिसपर तुम्हारी श्रद्धा होगी तुम वैसा ही काम करोगे, वैसा ही फल पाओगे। किसपर श्रद्धा है? भगवान् पर श्रद्धा है कि काम-वासना पर या भोग विलास पर श्रद्धा है? किस पर श्रद्धा है? और—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।। (१७/२८)

जो काम अश्रद्धा के साथ किया जाता है, वह तो असत् हो जाता है। वह न तो मरने के बाद फल देगा, न वर्तमान जीवन में फल देगा। इसलिए श्रद्धा के साथ काम करो। जो अश्रद्धालु हैं *'अश्रद्दधानाः'* – जो इस विद्या के प्रति श्रद्धालु नहीं हैं, *'धर्मस्यास्य परंतप'* इस धर्म के प्रति जो अश्रद्धालु हैं, *अप्राप्य मां निवर्तन्ते संसारवर्त्मनि*

वे मुझ सुलभ परमात्मा को प्राप्त नहीं कर पाते और *निवर्तन्ते मृत्यु* – बार-बार जन्म-मरण के संसार के रास्ते पर भटकते रहते हैं। एक बार अन्वय की पद्धति से कि इस विद्या से क्या-क्या लाभ हैं; और एक बार व्यतिरेक की पद्धति से कि इस विद्या को अगर तुम श्रद्धा से ग्रहण नहीं करोगे तो किन-किन बातों से वंचित रह जाओगे और जिसको प्राप्त करने से तुम अशुभ से, जन्म-मरण से मुक्ति पा जाते, उसी जन्म मरण के चक्र में पड़े रहोगे। *'संसारवर्त्मनि'* – संसार के रास्ते पर तुम चलते रहोगे। इसलिये सावधान! श्रद्धा के साथ इस विद्या को ग्रहण करो। ये तीनों श्लोक भूमिका हैं। तीन श्लोकों में जिस बात की भूमिका है वह बड़ी बात होनी चाहिये। और वह बड़ी अद्‌भुत बात है।

नवम अध्याय, भक्ति का मर्मस्थल है। महाभारत के मध्य भाग में गीता और गीता के मध्य भाग में नवम अध्याय। १८ अध्यायों में नवम अध्याय। जो लोग मानते हैं कि तीन षटक हैं – कर्म, भक्ति और ज्ञान। तो ७ से १२ तक भक्ति है। नवम उसके मध्य में है। तो उसमें जिस भक्ति के महत्त्व का निरूपण है वह भक्ति कैसी है? गीता की भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि, यह अद्वैत पर आधृत भक्ति है, स्वरूप का निरूपण करने वाली भक्ति है।

रूप और स्वरूप का अन्तर समझना चाहिये। बिना रूप और स्वरूप के अन्तर को समझे इस बात को समझ नहीं पायेंगे। रूप और स्वरूप दो होते हैं, इसको ही बहुत से लोग नहीं मानते। भक्ति की परिभाषा करते हुये नारदीय भक्ति सूत्र में कहा गया -- *'सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा अमृत स्वरूपा च'*।

भक्ति का रूप है परम प्रेम। भक्ति का जो बहिरंग है, रूप माने बहिरंग यानी बाहर से दिखता है। हमको, आपको, सबको एक दूसरे का रूप ही दिखता है। तो यह जो रूप है भक्ति का, वह है परम-प्रेममय *'सा तु अस्मिन परम प्रेम रूपा'*। लेकिन केवल परम-प्रेम ही भक्ति नहीं। अगर वह मर्त्य के प्रति परम प्रेम है तो भक्ति नहीं है। भक्ति का स्वरूप है *'अमृतस्वरूपा च'*। भक्ति का जो आन्तरिक स्वरूप है, वास्तविक स्वरूप है, वह अमृतत्व की तरफ ले जाने वाला है। वह अमृत के प्रति है और अमृत स्वरूपा है। भक्ति और भगवान् में कोई भेद नहीं है। *'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर्नाम वपु एक'*। जैसे प्रभु अमृत स्वरूप हैं, वैसे भक्ति भी अमृत स्वरूपा है। रूप बाहरी होता है और स्वरूप उसका आन्तरिक-वास्तविक होता है। भगवान् का रूप जानना भी बड़ा कठिन है। बाबा ने कहा है—

'मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना'।।

भगवान् का रूप जानना भी बड़ा कठिन है। भगवान् का सगुण साकार रूप भी सब लोग नहीं जानते। जिनका हृदय रूपी दर्पण शुद्ध है; और जिन्होंने गुरु का उपदेश श्रवण करके ज्ञान का अंजन लगा लिया है, आँख को निर्मल किया है, उनको भगवान् के रूप का साक्षात्कार होता है। लेकिन भगवान् के रूप को तो बहुत से लोगों ने देखा भी है। भगवान् के रूप को रावण ने नहीं देखा था? भगवान् के रूप को कंस ने नहीं देखा था? रूप को देखने से ही भगवान् के प्रति भक्ति नहीं होती। रूप को फिर भी लोग देख सकते हैं, समझ सकते हैं। परन्तु स्वरूप को? *'राम स्वरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर, अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह।।' 'जगपेखन तुम देख निहारे, विधि हरि संभु नचावनिहारे। तेउ न जानै मरम तुम्हारा, और तुमहिं को जाननिहारा।।'* बाबा कहते हैं, कि रूप को तो मुश्किल से जाना भी जा सकता है। थोड़ी श्रद्धा करो, थोड़ी भक्ति करो तो भगवान् के सगुण साकार रूप की ओर तुम्हारा मन खिंच जायेगा। लेकिन भगवान् के स्वरूप को? राम रूप तो फिर भी दिख जायेगा पर राम का स्वरूप? *राम स्वरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर। 'अवाङ्मनसिगोचर'* हैं। वाणी, मन और इन्द्रिय के परे। *'अविगत'* जाना नहीं जाता। *'अक्षय'* कहा नहीं जाता। *अपार - नेति नेति नित निगम कह* – वेद भी कहते हैं वह ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है। *जग पेखन तुम देखनिहारे* – सारा संसार दृश्य है, तुम द्रष्टा हो। *विधि हरि संभु नचावनि हारे* – ब्रह्मा विष्णु महेश को नचानेवाला। *तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा* – कोई भी तुम्हारा मर्म नहीं समझ सकता। *और तुमहि को जाननिहारा* – फिर तुमको कौन जान सकता है। *'सोइ जानत जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'। 'ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति'।* यह जो बात है कि रूप अलग है, स्वरूप भी अलग है। यहाँ प्रभु अपने स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। अब प्रभु के द्वारा अपने स्वरूप का वर्णन? ये कृष्ण नाम रूप से नहीं बोल रहे हैं। नामरूप के परे जो कृष्ण परमतत्व है, वे बोल रहे हैं; और बड़ी अटपटी बात बोल रहे हैं। परस्पर विरुद्ध धर्माश्रय होकर बोल रहे हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।। (९/४)

अद्‌भुत बात है। *'मया अव्यक्तमूर्तिना इदं सर्वं ततम्'* – मुझ अव्यक्त मूर्ति के द्वारा यह सारा जगत्, यह सारी सृष्टि ओत-प्रोत भाव से भरी हुई है। मैं ही उसमें, सबमें हूँ। मैं ही मैं हूँ। अब प्रभु कितने अव्यक्त हैं। जो अपने को कहते हैं *'अव्यक्त मूर्तिना'* – अव्यक्त मूर्ति से वे ओत-प्रोत हैं। लो! अव्यक्त की तो कोई मूर्ति नहीं होती, और आपने तो अव्यक्तमूर्ति कह दिया। याने परमात्मा का वास्तविक स्वरूप अव्यक्त के भी

परे है। व्यक्त तो हमको दीख रहा है। अव्यक्तमूर्ति से वे सृष्टि में ओत-प्रोत हैं, लेकिन उनका स्वरूप तो व्यक्त और अव्यक्त दोनों से परे है। *'अव्यक्त मूर्तिनामिदं सर्वं ततम्'*। अव्यक्त मूर्ति से ओत-प्रोत कैसे है? अव्यक्तमूर्ति से परमात्मा संसार में कारण-कार्य भाव से ओत-प्रोत हैं। परमात्मा कारण हैं, संसार कार्य है। तो कार्य को देख कर कारण का अनुभव होता है। कोई कारण था, जिससे यह कार्य बना। क्या यह मकान अपने आप बन गया है? कोई बनवाने वाला था, तभी तो बना है। तो कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है। इस संसार को देखकर इस संसार को जो बनाने वाला है, जो इसमें ओत-प्रोत है वह अव्यक्त मूर्ति इस कार्यकारण रूप से अनुमित होता है, उसका अनुमान किया जाता है।

'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' – यह जो सारा संसार दृष्टिगोचर है, दृष्टिमान है, इसमें मैं अव्यक्तरूप से उससे ओत-प्रोत हूँ। दिखता है संसार – इस संसार के भीतर, संसार को गति देनेवाला, संसार को धारण करनेवाला, संसार को बदलनेवाला, बढ़ानेवाला, मिटा देनेवाला, इसके भीतर उसका कारणरूप अव्यक्त तत्त्व है — मुझ अव्यक्त मूर्ति के द्वारा यह सारा संसार ओत-प्रोत रूप से निहित है। *'ततम्'* — उसमें भरा हुआ है — ताना-बाना दोनों वही है।

'मत्स्थानि सर्वभूतानि' – मेरे भीतर हैं सारे के सारे भूत। भूत का मतलब - जो पैदा हो, जो उत्पन्न हो। *'भवतीति'* — जो पैदा होता है, वह 'भूत' होता है। तो जो कुछ पैदा हो रहा है, वह मुझमें है। *'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः'* लेकिन मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ।

अभी कहा कि ओत-प्रोत हूँ, फिर कहा कि वे सब मुझमें है, लेकिन मैं उसमें अवस्थित नहीं हूँ। मैं इनमें अवस्थित नहीं हूँ – इसका मतलब यह है कि मैं इनमें सीमित नहीं हूँ, मैं उनमें आबद्ध नहीं हूँ, मैं उनमें ही समाप्त नहीं हूँ। यह सारी सृष्टि प्रभु *'एकांशेनं स्थितो जगत'* केवल एकही अंश से स्थित है। इस सृष्टि के बाहर भी प्रभु हैं, प्रभु इस सृष्टि से सीमाबद्ध नहीं हैं। केवल इसीको देखकर – इसके बाहर भी जो प्रभु हैं, उनका ठीक अनुभव नहीं होता। जैसे समझ लें कि एक घड़ा है, घड़े में पानी भी है और पानी से भरा हुआ घड़ा नदी में डूबा हुआ है। तो अब घड़ा जब तक अपने को घड़ा ही मानता रहेगा, तो अपने भीतर के पानी को और बाहर के पानी को एक मानेगा कि अलग अलग मानेगा? अलग अलग मानेगा। अपने भीतर के पानी को अपना मानेगा और अपने बाहर के पानी से उसका उतना परिचय नहीं होगा। लेकिन पानी जो भीतर है, वही बाहर है। और भीतर के पानी और बाहर के पानी... जो घड़े की भ्रांति

है... जबतक वह बनी रहेगी, तब तक उसको अपने वास्तविक रूप का, स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा। बाबा कबीरदासजी की बानी आपने सुनी होगी –

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना यह तत कथौ ज्ञानी।।

जैसे घड़े के भीतर पानी, वैसे ही हम लोगों के भीतर परमात्मा है। जैसे थैले में एक गेंद रख लेते हैं – वैसे ही परमात्मारूपी गेंद हमारे चमड़े की थैली में बंद है। वह हमारे भीतर है, क्या बाहर नहीं है? वह भीतर भी है, वह बाहर भी है। हमारे इस शरीर के द्वारा वह आबद्ध नहीं है। यह शरीर उसके द्वारा धारण किया गया है, शरीर उसको धारण नहीं करता। एक नहीं – *सहस्रशीर्षाः सहस्राक्षाः सहस्रपादाः* हजारों शिरों वाले, हजारों बाहों वाले, हजारों चरणों वाले, इस सारे जगत् को वह धारण करता है, लेकिन वह इसीमें सीमित नहीं है, वह इसीमें आबद्ध नहीं है, वह इससे प्राणवान नहीं है – यह सारा जगत् उससे प्राणवान है। सारा जगत् उसपर आधारित है, वह किसी पर आधारित नहीं है – *'न चाहं तेष्ववस्थितः'*। *'मत्स्थानि सर्व भूतानि'* मेरे भीतर सारे भूत हैं, सारी सृष्टि है, लेकिन मैं उनमें ओत-प्रोत भाव से निहित होते हुए भी, उनमें आबद्ध नहीं हूँ, सीमित नहीं हूँ, उनपर निर्भर नहीं हूँ। मेरा जो उपादान है, वह गुण उनमें नहीं है और उनका गुण मुझमें नहीं है। इस बात को अब आगे समझायेंगे।

'मत्स्थानि सर्व भूतानि' – उन्होंने डंके की चोट पर कहा कि सारे भूत मुझमें हैं, मैं उनमें अवस्थित हूँ। लो! इसके बाद क्या कहते हैं—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। (९/५)

'न च मत्स्थानि भूतानि' जो पहले कहा, दूसरे ही स्थान पर नकार रहे हैं। पहले कहा – *'मत्स्थानि सर्व भूतानि'* सारे भूत मुझमें है। फिर कहा – *'न च मत्स्थानि भूतानि'* सारे भूत मुझमें नहीं हैं। *'पश्य मे योगमैश्वरम्'* – मेरा यह ऐश्वर्य योग देखो। यह चमत्कार देखो, यह जादूगरी देखो – सब प्राणी मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ। और कोई भी मुझमें नहीं हैं – इस बात को समझो। कितने सब प्राणी हैं। किसकी दृष्टि से सब प्राणी प्रभु में हैं? किस दृष्टि से प्रभु में कुछ नहीं है?

ये दो बातें, दो अलग-अलग दृष्टियों से कही गई हैं। पहली बात रूप की दृष्टि से कही गई है, दूसरी बात, स्वरूप की दृष्टि से कही गई है। पहली बात जिज्ञासु की, अल्पज्ञ की दृष्टि से कही गई है – इसको अज्ञानी नहीं कहा जा सकता। अज्ञानी तो सबको अलग-अलग समझेगा, लेकिन यह सब का सब परमात्मा का रूप है, परमात्मा

इसमें ओत-प्रोत हैं, यह जिज्ञासु की दृष्टि है – यह अल्पज्ञ की दृष्टि है। यह हमारी आपकी दृष्टि है, जो हम बँधे हुए लोग - भगवान् को जानने की चेष्टा करते हुए पहली स्थिति में अपने को समूह से अलग-अलग मानते थे, अभी समझ में आने लगा कि ये अलग-अलग दिखने पर भी परमात्मा इसमें ओत-प्रोत हैं – इस सारे वैविध्य में, इस सारी सृष्टि में परमात्मा ओत-प्रोत हैं, अन्तर्भाव से निहित हैं।

'मया ततमिदं सर्वं' – जिज्ञासु की दृष्टि से। और उस जिज्ञासु ने परमात्मा को देखा, सारी सृष्टि के रूप में देखा *'ईशावास्यमिदं सर्वं'* – और उसने सब कुछ को - - *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* – सब का सब ब्रह्म है, इस दृष्टि से उसको देखा, सब नाम रूप उसमें देखे। लेकिन ये नाम रूप भी अल्पज्ञ को दिखते हैं। तत्त्वज्ञ की दृष्टि से कुछ भी नहीं है। याने जिज्ञासु की दृष्टि से, भक्त की दृष्टि से हमको यह दिखाई पड़ा – समझ में आया कि इस सृष्टि में जो ये असंख्य नाम रूप हैं, परमात्मा इनमें अन्तर्निहित हैं, ओत-प्रोत हैं। परमात्मा की सत्ता से इनमें सत्कार्य है, परमात्मा की चित्तता से – चैतन्य से इनमें चैतन्य आया है, परमात्मा के आनंद के अंश से इनमें आनंद का अनुभव होता है, अज्ञान से दुःख का अनुभव होता है। परमात्मा इन सबसे ओत-प्रोत हैं, यह हमको - जिज्ञासु को - अल्पज्ञ को दिखता है। और तत्वज्ञ को - परमात्मा को क्या दिख रहा है! परमात्म दृष्टि से देखो तो सृष्टि है ही नहीं। हमको दिख रहा है – लेकिन जो एकरस हैं, *'एकमेवाद्वितीयं'* है, *'नेहनानाऽस्तिकिञ्चन'* – जिसमें नानात्व नहीं है, उस स्वरूप की दृष्टि से बहुत्व है ही नहीं। यह सारा का सारा बहुत्व ऐश्वर्य योग है, यह माया है – यह उनकी शक्ति है – जिस शक्ति के कारण, जिस अपरिवर्तनीय, एकरस, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म में, परमात्मा में, हमको उनकी माया, उनका ऐश्वर्य योग नानात्व का अनुभव करा देता है, बहुत्व का अनुभव करा देता है – और जिज्ञासु को यह भी अनुभव कराता है कि इस बहुत्व में वे अनुस्यूत हैं।

परमात्मा में कारण-कार्य भाव नहीं है, द्रष्टा-दृश्य भाव नहीं है, भोक्ता-भोग्य भाव नहीं है। परमात्मा दृक् स्वरूप है। दृक् स्वरूप मतलब क्या हुआ? जहाँ द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि – तीनों का लय हो जाता है। हम जब द्रष्टा हैं, तो हम देख रहे हैं, हम अलग हैं, दृश्य जो है वह अलग है ; और दृष्टि वह शक्ति है, जिस दृष्टि शक्ति से हम इस सबको देख रहे हैं। जो खंड ज्ञान होता है, उसमें द्रष्टा का रूप अलग, दृश्य अलग। द्रष्टा दृष्टि से उस दृश्य को देख रहा है। जब अभेद ज्ञान होता है, जब तत्त्वज्ञान होता है तो द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य – त्रिपुटी का लय हो जाता है। जब इस त्रिपुटी का लय हो जाएगा, तो कोई दृश्य नहीं रहेगा। भोक्ता, भोग्य और भोग की शक्ति – ये तीनों

अलग अलग नहीं रहेंगे। तो कौन भोक्ता, कौन भोग्य? कौन कर्त्ता, कौन कर्म? कौन द्रष्टा, कौन दृश्य? जब दृक् मात्र रहे... अस्तित्व मात्र रह गया, शव मात्र रह गया, तो उसमें सारे नाम रूप विलीन हो गये – उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है – इस स्वरूप का बोध होने पर कहते हैं – *'न च मत्स्थानि भूतानि'* स्वरूपतः कोई भी – बहुत्व की कुछ स्थिति ही नहीं है। *रूपतः* - जिज्ञासु की दृष्टि से *'एको देवः सर्वभूतेषु याः' 'सर्वव्यापीः सर्वभूतान्तरात्मा'* एक दृष्टि से।

लेकिन परमदृष्टि से कुछ नहीं – *'न च मत्स्यानि भूतानि - पश्यमे योगमैश्वरम्'* – इस ऐश्वर्य योग को इस मेरी योगमाया को देखो कि मुझमें सब कुछ होते हुए भी, कुछ भी नहीं है। ये सारे नाना नामरूप कल्पित हैं, माया के द्वारा दिखाई पड़ते हैं – माया के द्वारा दिखाई दिए जाते हैं। जो माया के पार चला जाता है वह वही हो जाता है - - *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'* फिर उसमे नानात्व रहता ही नहीं। नानात्व का निषेध हो जाने पर कुछ दिखाता ही नहीं। वही द्रष्टा है, वही दृश्य है, वही दृग् है। तो दृष्टि, द्रष्टा और दृश्य – इस त्रिपुटी का लय हो जाने की स्थिति में *'न च मत्स्थानि भूतानि'* – मुझमें कोई भूत नहीं रह जाता। लेकिन, अन्य स्थिति में *'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः'* यह मेरी आत्मा है, यह जो मेरा स्वरूप है, यह बहुं न होते हुए भी अपने को 'बहु' के रूप में प्रक्षेपित करता है। और वह जब अपने को 'बहु' के रूप में प्रक्षेपित करता है तो समस्त भूतों को वह धारण करता है। *'भूतभृन्न च भूतस्थो'* – वह भूतों का भर्ता तो है – स्वामी तो है – लेकिन भूतस्थ – भूत में सीमाबद्ध – भूत में आबद्ध नहीं है। वह शेष नहीं है – वह शेषी है।

रामानुजाचार्य ने कहा — वह सबका स्वामी है। उस पर सब आधारित हैं। वह किसी पर आधारित नहीं है। सारी सृष्टि प्रभु पर आधारित, प्रभु किसी पर आधारित नहीं है। इसलिए वे भूत भृत् हैं, लेकिन भूतस्य नहीं हैं। सारे भूतों को जन्म देने वाला – भूतों को, सब प्राणियों को पैदा करने वाला, उनको धारण करने वाला, उनको बदलने वाला, वह ही है; लेकिन वह उनकी तरह आबद्ध नहीं है। वह उनपर आधारित नहीं है। एक बात पर और ध्यान दीजिए। इसके बाद बहुत अच्छा उदाहरण दिया है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।। (९/६)

जैसे आकाशमें स्थित होते हुए भी वायु सब जगह जाती है – *सर्वत्रगो* – सब जगह जाने वाला, बराबर बना रहने वाला, बहुत शक्तिशाली। लेकिन वायु क्या आकाश को स्पर्श करता है? आकाश में है, लेकिन आकाश को वायु ले सकता है? पानी

बरसता है तो आकाश गीला होता है? आकाश तो गीला नहीं होता। क्या पूरे आकाश में वायु ही वायु है? यहाँ है – सर्वत्र सारे आकाश में है? कौन जाने। *सर्वत्रगो* — लेकिन जहाँ वायु नहीं है, वहाँ भी आकाश है। आकाश के भीतर वायु है, लेकिन वायु पर आकाश निर्भर नहीं है। परमात्मा असंग है - स्वरूपतः और जो असंग होता है, वह किसी से चिपकता नहीं।

जैसे हम कहें कि हवा के ऊपर यह टिक गया है.... हवा के ऊपर यह डायरी टिकी है? नहीं... नहीं टिकी है। हवा इसका आधार नहीं बन सकती। यह जो ठोस है यही आधार बनता है। तो परमात्मा अपने स्वरूप में किसी का आधार नहीं है। परमात्मा किसी पर आधारित नहीं है, सबकुछ परमात्मा पर टिका रहकर भी परमात्मा पर कुछ भी नहीं है, ये दो विरोधी बातें हैं। परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय। आपलोगों को यदि ईशावास्योपनिषद् का स्मरण हो –

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।

तदेजति – वह चलता है। *तन्नैजति* – वह नहीं चलता। *'तद्दूरे-तद्वन्तिके'* – वह बहुत दूर है, वह बिल्कुल हृदय में है। 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः' – वह सबके भीतर ओत-प्रोत है, वह सबके बाहर है – उसमें कुछ भी नहीं है। *'परस्पर विरुद्ध धर्माश्रय'* ब्रह्म होता है। और इसलिए यह कहा गया है कि उसमें सबकुछ होते हुए भी उसमें कुछ भी नहीं है। *'न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम्'* मेरे इस ऐश्वर्य की ओर देखो, मैं सारे भूत को धारण करता हूँ – सब मुझमें हैं – मेरा आत्मस्वरूप, मेरी माया सबको पैदा करती है, सबको धारण करती है, लेकिन वह उससे वैसे ही अलग रहती है, जैसे आकाश वायु से अलग रहता है। अब देखो, आकाश में – जब गति की कल्पना करते हैं, तब तो वायु चलती हुई मालूम पड़ती है? अगर वायु न चले तो? जैसे समुद्र में जब तरंग उठती है, तो तरंग समुद्र से अलग मालूम पड़ती है, और अगर तरंग न उठे तो? तरंग न उठे तो समुद्र ही समुद्र रहेगा, तरंग तो नहीं रहेगी। जैसे बुलबुले मे पानी दिखता है कि नहीं? लेकिन बुलबुले में पानी है, कि पानी में बुलबुला है?

बुलबुले के भीतर भी पानी है, लेकिन सही बात यही है कि पानी में ही बुलबुला उठता है; और फूट जाता है। तो वैसे ही - सबकुछ परमात्मा में होते हुए भी – परमात्मा में निष्क्रिय स्थिति में – अपने स्वरूप में कुछ भी नहीं है। और सक्रिय स्थिति में – सगुण साकार के रूप में सब कुछ है।

'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा' – लेकिन इसके भेद न होने पर भी वह जो त्रिगुणातीत है, उस त्रिगुणातीत में परमात्मा का रूप और अरूप दोनों परे हैं। रूप और अरूप दोनों से परे जो परमात्मा है – उसका वास्तविक स्वरूप भाषा का विषय नहीं है, समझदारी का विषय नहीं है। यह क्या बताया गया है? यह अद्वैत का निरूपण किया गया है। अद्वैत के ऊपर जो भक्ति अवलम्बित होगी उसमें कभी स्खलन नहीं होगा, उसमें कभी पतन नहीं होगा। उसमें मोह की आसक्ति नहीं होगी। भक्ति ज्ञान के ऊपर तत्वज्ञान आरंभिक स्थिति में – मैं अलग, मेरा भगवान् अलग। मैं अपने भगवान् को इष्टदेव मानकर उससे प्रेम कर रहा हूँ। लेकिन मैं और मेरा भगवान् एक ही है, इसके बाद भी, प्रेम होता रहे, तो वह भक्ति कभी नष्ट नहीं होती। उसमें कोई धोखा नहीं होगा। इसलिए नवम अध्याय, जो भक्ति का मर्म है, उसमें पहले स्वरूप का निरूपण करते हुए परम अद्वैत तत्व को रेखांकित किया गया और उसमें आगे बताया गया है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।। (९/७)

जब कल्प का क्षय होगा, तो मेरी प्रकृति में सारे भूत विलीन हो जायेंगे। मेरी प्रकृति – मुझसे अलग प्रकृति – मेरी प्रकृति – यह भी जिज्ञासु की दृष्टि से सच है। जबतक जिज्ञासु की दृष्टि है, तबतक परमात्मा सृष्टि की रचना के लिए अपनी माया का अवलम्बन लेकर सारी सृष्टि को रचता है; और सृष्टि के कल्पक्षय करने पर वह सारी की सारी सृष्टि उसी में लीन हो जाती है और कल्प के आरम्भ में मैं पुनः इसकी सृष्टि करता हूँ। कार्य और कारण। परमात्मा है कारण, सृष्टि है कार्य। तो सृष्टि स्थिति में, सृष्टि के समय कारण कार्य के रूपमें भाषित होता है और प्रलयकाल में सारा का सारा कार्य कारण में सिमट जाता है। जब सृष्टि है, तो कारण अपने कार्यरूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। ये सारे नाना नामरूप दिखाई पड़ते हैं ; ये कार्य हैं, प्रभु कारण हैं। जब प्रलय है, तो यह सारा का सारा कार्य अपने मूल कारण में लीन हो गया, तो कुछ नहीं रहा। जो हम तत्त्वज्ञानी की दृष्टि से देखते हैं तो इसमें यह सारा का सारा रूप लीन हो जाता है। और परम अरूप की सत्ता में परमात्मा का जो वास्तविक स्वरूप है ; उस स्वरूप में बहुत्व-नानात्व की कोई संभावना नहीं है। लेकिन सृष्टि के समय, रचना के समय कैसे प्रभु करते हैं –

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।। (९/८)

जीव, माया के अधीन है; और माया ईश्वर के अधीन है। नहीं-नहीं... ईश्वर के अधीन माया है, और माया के अधीन जीव है। इस जीव को, जो कि प्रकृति के वश में है, अवश है – अवश होकर अपने पूर्व कर्मों के अनुरूप वह बार-बार नाना प्रकार के नामरूपों में, सृष्टिकाल में अभिव्यक्त होता है। परमात्मा प्रकृति के परे है। परमात्मा की अध्यक्षता में यह सारी की सारी सृष्टि होती है। लेकिन इस सारी की सारी सृष्टि का फल परमात्मा को मिलता है।

देखिए – एक दूसरी बात बता रहे हैं। इसका जो अगला श्लोक है – वह आचार्य के लक्षणों पर अद्‌भुत प्रकाश डालता है। किसी को 'आचार्य' क्यों कहा जाता है?

आचिनोति शास्त्रार्थान् आचारेस्थापयति यतः।
स्वयं आचरते यस्मात् तस्मादाचार्य उच्यते।।

'आचिनोति शास्त्रार्थान्' – समस्त शास्त्रों के अर्थ को, समस्त शास्त्रों के तत्त्व को जो चुन लेता है। शिष्य को क्या सिखाना चाहिए, शिष्य के क्या उपयुक्त है? *'आचिनोति शास्त्रार्थान्'*– समस्त शास्त्रों के अर्थ को, शास्त्रों के मर्म को वह चुनता है। *'आचारे स्थापयति यतः'* – और उसको केवल बौद्धिक विलास का विषय नहीं बनाता – आचार में स्थापित करता है। *'स्वयं आचरते यस्मात्'* – शिष्य के आचार में स्थापित कब करेगा? कब कर पायेगा? जब वह स्वयं आचरण करेगा। *'स्वयं आचरते यस्मात्'*। गीता में भगवान् ने निष्काम कर्मयोग की बात कही है। इस निष्काम कर्मयोग के द्वारा सब भक्त कैसे भगवान् की ओर जायें – यह बात कही है। अब इसमें विशेषता क्या है? भगवान् उसको स्वयं अपने जीवन में दिखा रहे हैं। सामान्यतः क्या होता है? जो लोग कर्मी होते हैं वे अत्यासक्त होते हैं। लोग बहुत काम करने वाले हैं, वे काम के फल के प्रति आसक्त होते हैं। कर्मयोगी नहीं, कर्मी। यह काम तो ऐसे ही होना चाहिए, इसका फल तो मिलना ही चाहिए।

भक्त लोग अल्पासक्त होते हैं। भक्त लोग सृष्टि के प्रति अनासक्त हैं, प्रभु के नाम रूप के प्रति आसक्त हैं, अल्पासक्त हैं। ज्ञानी लोग अनासक्त हैं। भगवान् हमको, आपको ज्ञानी भक्त बनाना चाहते हैं। *'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'* – ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुनः।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। (७/१६)

परमात्मा हमको, आपको ज्ञानी भक्त बनाना चाहते हैं। इसलिए एक तरफ तो

वे ज्ञान दे रहे हैं, दूसरी तरफ जो अल्पासक्ति है, उससे छुड़ा रहे हैं। इस अल्पासक्ति को छुड़ायेंगे कैसे? स्वयं आचरण करके।

परमाचार्य हैं श्रीकृष्ण – जगद्गुरु हैं, परमाचार्य हैं – तो सारे शास्त्र का अर्थ उन्होंने संकलित किया। उस सारे शास्त्र के अर्थ को, मर्म को, रहस्य को शिष्य में, उसके आचार में, स्थापित कर रहे हैं। वह उसका आचरण कर सके, इसलिए स्वयं वैसा आचरण करके दिखा रहे हैं।

'आचिनोति शास्त्रार्थान् आचारे स्थापयति यतः।
स्वयं आचरते यस्मात्, तस्मादाचार्य उच्यते।।'

जो स्वयं आचरण करता है, उसको आचार्य कहा जाता है। भगवान् कैसे आचरण करते हैं। यही बात समझाने की इतनी बड़ी भूमिका है।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।। (९/९)

परमात्मा बार-बार सृष्टि रचता है – बार-बार प्रलय कर देता है ; तो इस सृष्टि और ध्वंस में, सृष्टि और प्रलय में भगवान् बंधते हैं कि नहीं बंधते? कहते हैं.... नहीं बंधते। क्योंकि अनासक्ति युक्त भक्ति, ज्ञानी की भक्ति – ज्ञानभक्ति। स्वरूप को जानने के बाद किसी भी प्रकार की आसक्ति का लेशमात्र नहीं रहेगा और वह आसक्ति नहीं रहनी चाहिए, इसका उदाहरण अपने स्वयं का देते हैं। ज्ञान आचार में स्थापित कर दिया जाए, इसके लिए आवश्यक है कि कोई उसको आचरित करके दिखा दे।

जो कछु कहिय करिय भवसागर तरिय वत्सपद जैसे

भगवान् कैसे आचरण करते हैं?

'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय'

धनंजय! हे अर्जुन!! सारी सृष्टि का लय-प्रलय का यह जो कर्म है, यह मुझको नहीं बाँध पाता है। *'धनंजय'* – धन जीतने वाला अर्जुन। धनंजय एक अग्नि का नाम भी है। *तो ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि..... ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणं तमाहु पंडित बुधाः।*

ज्ञान की अग्नि में सारे कर्म भस्म हो जाते हैं। कैसी है यह ज्ञान की अग्नि? क्या अनासक्ति है? *न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।* हे धनंजय! ये सृष्टि और प्रलय के सारे के सारे कर्म मुझको बाँध नहीं पाते। क्यों नहीं बाँध पाते?

'उदासीनवदासीनं' – 'उदासीन' का मतलब आजकल यह है कि जो किसी में रस न ले। 'उदासीन' का सही शब्दार्थ है – जो ऊपर आसीन हैं। उत् + आसीन – – ऊर्ध्वं आसीनः। जिस स्तरपर जिस भूमिकापर कर्म होता है, उसके ऊपर जो आते

हैं। कर्म अगर भोग के लिए है, कर्म अगर फल की प्राप्ति की इच्छा से है, तो कर्म बाँधेगा– *'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'* लेकिन ईशावास्योपनिषद् के दूसरे मंत्र को याद कीजिए। जो इस तरह से काम करेगा –

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

'न कर्म लिप्यते नरे' – कर्म नहीं लिप्त होते। अगर कर्म नहीं लिप्त होता तो क्या लिप्त होता है? कर्म के फल की आशा लिप्त होती है। कर्मफल प्राप्त करने की इच्छा लिप्त होती है। कर्मफल का भोग करने का आग्रह या दुराग्रह हमको बाँधता है। भगवान् ने सबको याद दिलाया–

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।। (९/९)

मैं कर्मफल के भोग की लालसा के ऊपर आसीन हूँ। *'असक्तं तेषु कर्मसु'* - इन समस्त कर्मों को करते हुए इनसे अनासक्त हूँ। बिना अनासक्ति भक्ति नहीं होती। बिना अनासक्ति के ज्ञान नहीं होता, तो अनासक्ति को दृढ़ करने वाली बात – अपना उदाहरण देकर – प्रभु बताते हैं।

यह जो कल्प है, यह क्या है? यह प्रभुका संकल्प है – सम्यक् कल्पना है। संकल्प में संकल्पवान निहित है। *संकल्पवान* — जो संकल्प करनेवाला है.... उसके भीतर संकल्प है; और उसके भीतर जो है, वह संकल्प है — कल्प में है, कल्पना में ही है.... वास्तव में नहीं है।

यह सारा का सारा नामरूप धारी वैविध्य प्रभुकी कल्पना में है, प्रभु के संकल्प में है, सम्यक् कल्पना में है – यथार्थ में, परमार्थ में नहीं है। व्यवहार में हैं, परमार्थ में नहीं है। व्यावहारिक और पारमार्थिक ज्ञान का अन्तर यहाँ बताया है। व्यावहारिक दृष्टि से सारे जगत् को अनुभव कर रहे हैं, देख रहे हैं – उसको सत् कहेंगे। असत् कैसे कहें? लेकिन तत्वज्ञान हो जाने पर इसका लोप हो जाता है, इसलिए इसको सत् कैसे कहें? माया का लक्षण यही है। जो सत् और असत् दोनों से अनिवर्चनीय है, वह माया है। सत् भी नहीं कह सकते, असत् भी नहीं कह सकते।

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कर कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपौ पहिचानै।।

सत्य, असत्य और थोड़ा सत्य, थोड़ा असत्य मानना – तीनों भ्रम हैं। जब हम सब सद्, असद् और सद्-असद् विलक्षण – तीनों से परे चले जायेंगे, तो और कोई है ही नहीं। तब वह अपने स्वरूप को, वास्तविक स्वरूप को पहचान सकता है। इसलिए अनासक्त होकर – सारे कर्मों के ऊपर उठकर – मैं सारी सृष्टि केवल संकल्प से रचता रहता हूँ। कौन रचता है? रामजी! आप ही रचते हैं। बोले – नहीं-नहीं मेरी अध्यक्षता में प्रकृति रचती है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। (९/१०)

इन्द्रियों को 'अक्ष' कहते हैं – *अश्नुते इति*। *'अक्ष'* कहते हैं – जो विषय में व्यापक है। जो विषय में व्याप्त हो, वह है 'अक्ष'। हमारी आँख रूप में व्याप्त होती है। हमारे कान शब्द में व्याप्त होते हैं। हमारी नासिका गंध में, हमारी रसना स्वाद में, हमारी त्वचा स्पर्श में। तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध – एक एक इन्द्रिय के द्वारा प्राप्त होता है। कुछ इन्द्रियाँ कर्म की ओर प्रवृत्त करती हैं, कुछ ज्ञानकी ओर। तो ये जो विषयों में प्रवृत्त होने वाली हैं – ये हैं इन्द्रियाँ, इनको कहते हैं 'अक्ष'। तो 'अक्ष' अनेक हैं। इन समस्त 'अक्षों' का जो स्वामी है वह है अध्यक्ष।

आपमें से बहुतों ने सभा की अध्यक्षता की होगी। सभासद तो बहुत से हैं – जो सभासद के ऊपर है, जो सभा का नियंत्रण करता है, वह होता है सभाध्यक्ष। एक एक इन्द्रिय विषयों में व्याप्त होती है, इनके ऊपर जो इनको प्रवृत्ति भी देता है, और निवृत्ति भी देता है – और प्रवृत्ति - निवृत्ति के परे भी रहता है, उस अध्यक्ष की उपस्थिति में प्रकृति चराचर पैदा करती है। प्रकृति अकेले सृष्टि नहीं करती। इसीलिए गीता का जो वेदान्त ज्ञान है, यह सांख्य शास्त्र से अलग है। सांख्य शास्त्र का पुरुष अकर्ता है और प्रकृति ही सब कुछ करती है। गीता में कहते हैं कि नहीं, अध्यक्ष ईश्वर की उपस्थिति में उसके संकल्प के अनुसार सृष्टि उत्पन्न करती है।

'सूयते सचराचरम्' – चराचर जगत् को.... लेकिन कैसी सृष्टि करती है? *'हेतुनानेन कौन्तेय'* – इस हेतु से.... किस हेतु से? क्यों प्रकृति स्वयं उत्पन्न करती है। *'जगद्विपरिवर्तते'* – इसलिए जगत् का विपरीत परिणाम होता है। अब इस बात को समझिए.... एक होता हैं, *'वर्तते'* – माने वरतता है। एक होता है *परिवर्तते* माने जो बदल जाता है। एक हुआ यहाँ – *'विपरिवर्तते'* – परिवर्तते नहीं *'विपरिवर्तते'* – विपरीत रूपमें परिवर्तित है। जो स्वरूप परमात्मा का है, अध्यक्ष का है, उस रूप में नहीं परिवर्तित होता। उससे विपरीत रूप में परिवर्तित होता है। अध्यक्ष का, परमात्मा का

जो स्वरूप है वह तो अविनाशी है, वह तो एकरस है, वह तो *एकमेवाद्वितीयम्* है। लेकिन माया चूंकि सारी सृष्टि की जन्मदात्री है, सारी सृष्टि की रचना माया कर रही है, तो वह रचयिता जैसा नहीं विपरीतरूपसे रचती है। प्रश्न है विपरीत रूप से कैसे रचती है? अधिष्ठान तो है एक, बनाती है बहुत। अधिष्ठान तो है अपरिवर्तनशील, सबको बनाती है परिवर्तनशील। अधिष्ठान न तो जन्म है, न मरण है। सृष्टि में दिखाई पड़ता है कि जन्म होता है, और मरण होता है। यह जो विपरिवर्तन है.... परिवर्तन नहीं, विपरिवर्तन यह माया के कारण है – यह विपरीत रूप से है। अधिष्ठान से विपरीत।

'परीत' माने जो अनूदित हो, *'विपरीत'* माने जो अनूदित नहीं है और अधिष्ठान ज्यों का त्यों है, और उसमें जादूगरी से अनेक चीजें दिख रही हैं। जब तक अधिष्ठान का ज्ञान रहेगा, तब तक भ्रम बना रहेगा।

इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण है। अँधेरे में कोई एक चीज पड़ी हुई है। अब वह क्या चीज है? कभी लगता है कि वह साँप है। कभी लगता है कि वह माला है। कभी लगता है कि यह रस्सी है, कभी लगता है कि वह जमीन की दरार है। जब तक उसके वास्तविक रूप का ज्ञान नहीं होगा तब तक ये भ्रम होते रहेंगे। भ्रम में परिवर्तन हो रहा है, अधिष्ठान का ज्ञान होने पर कोई परिवर्तन नहीं होगा। तो यह *'विपरिवर्तते'*.... माया की ऐसी अपूर्व शक्ति है, कि माया प्रभु रूपी अधिष्ठान को आच्छादित कर देती है, ढाँप देती है– *'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं'* हिरण्मय पात्र से सत्यका मुँह ढाँप देती है। उस अधिष्ठान का रूप ढांप देने के बाद वह अनेक रूपों में दिखाती है। नाना नाम रूप – असंख्य स्त्री-पुरुष, असंख्य सृष्टि.... और वह सारी की सारी सृष्टि – जिस – कुछ ना से सब कुछ मालूम पड़ने वाली बात – यह माया का चमत्कार है, यह माया की जादूगरी है। तो इसलिए उचित यह है कि हम जादूगर की शरण में जायें तो जादू के बंधन से परे चले जायेंगे – जादू हमको, आपको दिखाई पड़ता है – कुछ नहीं होता है – ऐन्द्रजालिक – इन्द्रजाल दिखा देता है – सबकुछ दिखा देता है। लेकिन जो इन्द्रजाल का अनुचर है, वह इससे नहीं अटकता।

'नट सेवकहि न व्यापइ माया।'

तो हम अगर भगवान् से जुड़ जायेंगे तो उस अद्वैत अनासक्ति युक्त भक्ति से हमारा चरम कल्याण होगा – यह बात नवम अध्याय में स्थापित करने वाले हैं। इसे आगे बतायेंगे और उसका सरल रास्ता बतायेंगे। यह बात बड़ी कठिन है; लेकिन कठिन बात को कैसे सरलता से निभा देंगे – यह तो आगे की बात है। लेकिन उस बात को समझने के लिए वह भूमिका समझ में आनी चाहिए, जिस भूमिका पर खड़े होकर नवम अध्याय

का प्रवचन प्रभु कर रहे हैं। इस नवम अध्याय के आरंभ में प्रभु ने अपने वैविध्ययुक्त रूप को बाहरी बताया और यह कहा कि सगुण साकार रूप के अन्तर्गत सारी सृष्टि को मैं धारण करता हूँ ; लेकिन मेरा जो स्वरूप है, जो मेरा व्यक्त-अव्यक्त के परे वास्तविक स्वरूप है उसमें एकरसता है, उसमें बहुलता नहीं है, उसमें कोई वैविध्य नहीं हैं, उसमें कोई अलग दृश्य नहीं है, उसमें कोई अलग दृष्टि नहीं है। द्रष्टा, दृष्टि, दृश्य — ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान यह त्रिपुटी हुई।

'ज्ञाता' माने – जो जान रहा है। *'ज्ञेय'* माने – जिसको जाना जा रहा है। और *'ज्ञान'* – माने जिसके द्वारा जाना जा रहा है। तो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान– इस त्रिपुटी का लय हो जानेपर – कौन ज्ञाता – कौन ज्ञेय? वही ज्ञाता है, वही ज्ञेय है – वह ज्ञान स्वरूप है। न ज्ञाता अलग है, न ज्ञेय अलग है, ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय – जैसे ज्ञानमात्र रह जाता है। द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि जैसे दृगमात्र रह जाते हैं – वैसे ही भगवान् के स्वरूप को समझ लेने पर यह सारा वैविध्ययुक्त जगत् लुप्त हो जाता है, और उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता; और फिर समझमें आता है कि वह परमात्मा ही अनासक्त होकर अपने संकल्प के द्वारा लीला के लिए सारी सृष्टि का विस्तार करता है, सृष्टि को रचता है। रचने के क्रम में, यह जो रची जाने वाली सृष्टि है, वह क्यों बदलती है, क्यों नष्ट होती है? यह इसलिए नष्ट होती है कि यह अधिष्ठान के अनुरूप नहीं बनी। यह माया के अनुरूप बनी है, यह प्रकृति के अनुरूप बनी है। और इसलिए इसका यह रूप परिवर्तमान है – नाशवान है, नश्वर है। अध्यक्ष के अनुकूल नहीं बनी है, प्रकृति के अनुकूल बनी है और वह प्रकृति 'विपरिवर्तते' विपरिवर्तन करती है। जिस रूप में जो था, उस रूप में उसको न दिखाकर उससे भिन्न रूप में उसको दिखाती है, और इसलिए जीव आसक्ति और मायासे ग्रस्त, अपने को सीमित, अपने को अल्प, अपने को केवल घड़ा मानता है, सीमित मानता है। उसका जब वह अतिक्रमण करेगा – तब उसको उस परम अद्वैत सत्य का अनुभव होगा। उस अद्वैत शक्ति के अनुभव के बाद कैसे इसकी भक्ति की जा सकती है। इसकी चर्चा अगले प्रवचन में करेंगे। •

प्रवचन-२६*

प्रभु भजन की विधियाँ

भगवान् ने नवम अध्याय में पहले तो यह बताया कि भक्ति का मार्ग अत्यन्त सरल है, यद्यपि अत्यन्त गुह्य है। गोपनीयों में सर्वश्रेष्ठ गोपनीय तत्त्व, लेकिन वह प्रत्यक्ष है। उसका हम अनुभव कर सकते हैं और उस अनुभव से उसकी सत्यता का प्रमाण पाकर हम सहज रूप से उसकी ओर अग्रसर हो सकते हैं। इसके बाद उन्होंने अपने स्वरूप का वर्णन किया और उस स्वरूप के वर्णन में उन्होंने एक बड़ी अद्‌भुत बात बताई कि लोकदृष्टि से देखने पर सारे भूत मुझमें हैं, सारा संसार मुझमें है, मैं ही उनका आधार हूँ। यदि भगवद्‌दृष्टि से देखा जाए तो कौन है भगवान् के अलावा? कोई भी उनके भीतर नहीं है। लोक-दृष्टि, हमारी आपकी दृष्टि से सबकुछ भगवान् में है, हम सब भगवान् में हैं। भगवान् हमारे आधार हैं, आश्रय हैं। लेकिन भगवान् की दृष्टि से तो उनके अलावा और कुछ है ही नहीं। एक ही साथ यह परस्पर विरोधी दृष्टि दो भिन्न दृष्टियों के कारण है। किसकी दृष्टि से है, किसकी दृष्टि से नहीं है – इस बात को समझ लेने पर हमको कोई संशय या भ्रम नहीं होगा। इस तरह से वे समस्त कर्मों को करने वाले, सारी सृष्टि की रचना करने वाले, संहार करने वाले, प्रकृति को अपने अधीन बनाकर ये सारी लीलाएँ करने वाले, ऐसे भगवान् के दिव्य स्वरूप को और उनके दिव्य कर्म को दस श्लोकों तक बताया गया।

अब इसके बाद वे बता रहे हैं कि जो इनको नहीं मानते, उनका क्या फल होगा; और जो इनको मानते हैं, उनको क्या लाभ होगा। कोई विद्या बताई गई। विद्या की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट हो, उस विद्या को ग्रहण किया जाये, इसके लिये निषेधमुख और विधि-मुख दोनों दृष्टियों से उसके फल का निरूपण करना चाहिये। यदि इस विद्या को ग्रहण नहीं किया गया, तो उससे क्या हानि होगी; और यदि इस विद्या को ग्रहण किया गया, तो उससे क्या मंगल होगा। इन दोनों का बोध होने पर जो विवेकी हैं, वे उस तरफ आयेंगे और जो अविवेकी हैं, उनकी बात तो अलग ही है, जाने दीजिये।

---

* नवम अध्याय (राजविद्या राजगुह्य योग) : श्लोक संख्या ११ से २१

भगवान् कहते हैं :—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।। (९/११)

११वें श्लोक में निषेधमुख कथन है कि विद्या को ग्रहण न करने वालों को किन दुष्परिणामों का भोग करना पड़ता है, उनके जीवन में क्या दुष्परिणाम होते हैं। जो लोग बहिर्मुख हैं, जो लोग वस्तुओं के सुखों के लिये लालायित हैं, काम से प्रेरित होकर जिनका जीवन बीत रहा है, वे सहज में किसीको उसके आभ्यंतर गुणों के कारण महत्त्व नहीं देते। भगवान् मानव-शरीर ग्रहण करके आये हैं, कितनी बड़ी उनकी करुणा है, कितनी बड़ी कृपा है, कितना उनका सौशील्य है कि उन्होंने हमारे-आपके उद्धार के लिये, हमारे-आपके कल्याण के लिये मानव-शरीर ग्रहण किया। लेकिन इस बात को न समझते हुए जो भगवान् के अवतार काल में भी भगवान् को मानव देहधारी मान कर उनकी अवज्ञा करते हैं, वे उनके परम भाव को नहीं जानते। *मम भूतमहेश्वरम्*, वे समस्त भूतों के स्वामी हैं; और उनका परम भाव, उनका दिव्य भाव, उनका सर्वोत्कृष्ट भाव क्या है, इसमें अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। जो शांकर दृष्टि है वह उनको निर्गुण-निराकार मानती है, उनका जो दिव्य अवाङ्मनसगोचर स्वरूप है, उसको परम-भाव मानती है। रामानुज दृष्टि परम-सुन्दर-दिव्य-कलेवरधारी भगवान् के अत्यन्त सूक्ष्म रूप को मानती है, और यह स्वीकारती है कि वह सम्पूर्ण जड़ जगत् को और चैतन्य जीव को अपना शरीर बनाये हुए है। रामानुज दृष्टि में चित्-अचित्-विशिष्ट अद्वैत है। यानी परमात्मा तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं; लेकिन उन अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा का शरीर है — यह जड़-जगत् और ये जीवात्मा। *चित्* माने जीवात्मा – वे असंख्य हैं। *अचित्* माने यह जड़-जगत्। चित् और अचित् ये दोनों भगवान् के शरीर हैं; परमात्मा का परम भाव हैं। चित्-अचित् विशिष्ट अद्वैत, इसको वे नहीं समझ पाते और वे केवल मानव-धारी मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं, मेरा तिरस्कार करते हैं, मेरी अवमानना करते हैं। भगवान् तो आये हैं अपनी परम करुणा से, परम कृपा से हम सबका उद्धार करने के लिए और हम अपने सीमित बोध के कारण, अपने अहंकार के कारण अवतार काल में भगवान् को केवल मानव-शरीरधारी मान कर उनके परम-भाव के प्रति अपने अज्ञान के कारण उनका जो अपमान-तिरस्कार करते हैं, इससे हम अपना बहुत बड़ा अकल्याण करते हैं। ऐसे लोगों के बारे में उन्होंने बताया कि जो इस प्रकार का व्यवहार करते हैं, यानी केवल मानव-शरीरधारी मान कर अपमान-अवज्ञा करते हैं, उनकी आशा, उनके कर्म, उनका ज्ञान यह सब व्यर्थ हो जाता है। लोग तर्क कर सकते हैं,

कैसे व्यर्थ हो गया? वे लोग भौतिक स्तर पर जो आशा करते हैं उसको प्राप्त कर सकते हैं; भौतिक स्तर पर जो कर्म करते हैं उसमें वे सफल हो सकते हैं। उनकी छोटी-छोटी आशाएँ, उनके छोटे-छोटे कर्म और उनके फल, उनका तुच्छ सीमित ज्ञान, उनको सामयिक रूप से, तात्कालिक रूप से थोड़ा लाभ भले ही पहुँचा दे, लेकिन उनका जो परम मङ्गल, परम कल्याण हो सकता था, उसका द्वार बन्द हो जाता है। तो यह हानि हुई कि नहीं हुई?

जिस शरीर को, जिस मानव-शरीर को पाकर हम भगवान् की प्राप्ति कर सकते हैं, जिस मानव-शरीर को पाकर हम अपने जीवन को चरितार्थ कर सकते हैं, उस मानव-शरीर को पाकर हम केवल छोटे-छोटे व्यवहारों में, छोटे-छोटे लाभों में, छोटे-छोटे कामों में फँसे रहे और हमारा जीवन व्यर्थ हो गया, तो यह लाभ है कि हानि? यह परम हानि है। इस परम हानि का कारण उनकी राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति है। राक्षसी का मतलब हुआ, जो बिना कारण दूसरे का अकल्याण करे। आसुरी का मतलब हुआ जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये दूसरे का अकल्याण करे। मोहिनी का मतलब हुआ जिसका विवेक मूढ़ हो गया है। *'मोह वैचित्ते'* – जिसका ज्ञान उलटा हो गया है, जो सही है, जो उचित है उसको न ग्रहण करके, जो गलत है, जो अनुचित है उसके पीछे जो दौड़ता है, वह मोहग्रस्त है। तो राक्षसी, आसुरी और मोहिनी इन तीनों प्रकृतियों का आश्रय लेने के कारण ये साधारण सांसारिक जीव अपने तुच्छ बाहरी दैहिक भोग की लालसा के कारण, मानव-शरीर प्राप्त करने की जो अपार सम्भावनाएँ हैं, (मानव-शरीर प्राप्त करने के बाद जो हमलोग असम्भव को सम्भव कर सकते हैं, भगवान् की प्राप्ति कर सकते हैं) उससे वञ्चित हो जाते हैं। इसलिये उनकी आशा, कर्म, ज्ञान सब व्यर्थ है, तुच्छ है, यह बताया है।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।। (९/१२)

इस तरह से यह बताया गया कि भगवान् के वास्तविक स्वरूप को समझने की जो श्रद्धा है, उस श्रद्धा से रहित होने पर ; उस श्रद्धा से वञ्चित होने पर, हमारा मानव शरीर व्यर्थ हो जाता है। बराबर इस बात पर ध्यान दीजिये कि साधन के रूप में मानव योनि चरमोत्कृष्ट है। *'साधन-धाम मोक्षकर द्वारा'* / *'नरतन सम नहिं कवनिउ देही।'* मानव शरीर के समान और कोई देह नहीं है; क्योंकि और सारे शरीर – पशु-पक्षी, जलचर, नभचर, स्थलचर, यहाँ तक कि देवता भी, वे केवल भोग योनियाँ हैं। ८४ लाख योनियों में अकेली मानव योनि है जो भोगयोनि होने के साथ-साथ कर्मयोनि भी

है। इस कर्मयोनि की सम्भावनाएँ असीम हैं। इस असीम सम्भावनायुक्त मानव शरीर को, साधन के रूप में ग्रहण करके साध्य के रूप में भगवद्प्राप्ति, भगवद् भक्ति, ज्ञान का तिरस्कार करके केवल तुच्छ लौकिक, क्षुद्र स्वार्थों की सिद्धि के लिये जो लोग लगे रहते हैं, उनका जीवन व्यर्थ हो गया, उनका जीवन नष्ट हो गया। वे राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति के हैं, इसलिये हमलोगों की करुणा के पात्र हैं, हमारी दया के पात्र हैं। हमें भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये कि हमलोग राक्षसी, आसुरी, मोहिनी प्रकृति के न हों। हम किस प्रकृति के हों, यह आगे बताते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।। (९/१३)

जो महान् आत्माएँ होती हैं, जिनका उदार चरित्र होता है, जो ज्ञानी होते हैं, वे दैवी प्रकृति का आश्रय ग्रहण करते हैं। देखिये, दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा का विस्तार से विभाजन १६वें अध्याय में किया गया है। दैवी सम्पदा यानी दैवी प्रकृति के २६ गुण बताये गये हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। (१६/१,२,३)

ये दैवी सम्पदा के २६ गुण हैं। अभय से शुरू करके विनय तक। सेनापति अभय है। किसी से डरना नहीं चाहिये। भगवान् हमारा कल्याण करेंगे, तो कोई हमारा क्या बिगाड़ सकता है। *"जोपै राखिहै राम तो मारिहै कोय"* राम जी अगर रक्षा करने वाले हैं तो कौन मारने वाला है? तुलसी बाबा ने यह बात कई बार, कई तरह से कही है। उन्होंने कहा है कि *"को भरिहै हरि के रितयै, रितयै पुनि को हरि जो भरिहै। उथपै तेहि को जेहि राम थपै, थपिहै पुनि को हरि जो टरिहै।"* – राम जी खाली करने पर आमादा हों तो कोई दूसरा भर सकता है? और रामजी अगर भर रहे हों तो कोई खाली कर सकता है? *"उथपै तेहि को जेहि राम थपै"*, जिसको रामजी स्थापित करते हैं, उसको कोई उखाड़ सकता है? और *"थपिहै पुनि को हरि जो टरिहै"* – और अगर रामजी किसीको टाल रहे हैं, तो कोई किसी को स्थापित कर सकता है? *"तुलसी असि आनि हियै अपने, सपने नहिं कालहुँ सों डरिहै"* – औरों की तो बात जाने दो – स्वप्न

में भी, काल से नहीं डरना चाहिये। *'अभयम्'* – रामजी का भक्त अभय होता है। *'कुमया कछु हानि न औरन की, जो पै जानकीनाथ सया करिहै'*। अन्यत्र कहा है– - *'तुलसीदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।'* हम रामजी का आश्रय ले लेते हैं और फिर भी डरते हैं? छिः। रामजी का आश्रय लेने वाला अभय हो जाता है, *सदा अभय काहू न डरै। काहू न डरै* का मतलब अहंकारी या उद्धत नहीं होता है। *काहू न डरै* का मतलब गुरुजनों का अपमान करना नहीं है ; विनीत होना है, विनम्र होना है। लेकिन विनम्रता में भी अभय होता है। हां! भगवान् की कृपा पर आश्रित हो कर के अभय — यह दैवी सम्पदा है। अभय से लेकर विनय तक। *नातिमानिता* — अत्यन्त मान न करना — विनय। अभय से लेकर विनय तक, २६ सम्पदायें, ये दैवी गुण हैं।

महात्माओं के पास दैवी प्रकृति होती है। दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर महात्मा क्या करते हैं? महात्मा का पहला लक्षण तो यह है कि उनमें दैवी सम्पदा होनी चाहिये। *"भजन्त्यनन्यमनसो"* दूसरा लक्षण है– जो महात्मा होते हैं, वे अनन्य मनसा से, अनन्य चित्त होकर मेरा भजन करते हैं। अनन्य चित्त होकर माने? अनन्यता का मतलब होता है – *"अन्याश्रयाणां त्यागः अनन्यता।"* दूसरे समस्त आश्रयों का त्याग ही अनन्यता है। अनन्यचित्त होने का मतलब? मेरे गुरुजी ने बताया कि इसके लिये राम को छोड़ कर, कुछ और है ही नहीं। अनन्यचित्त वही हो सकता है, जिसके लिये राम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। *"निज प्रभुमय देखहिं जगत्"*, जो सारे संसार को अपने प्रभु के रूप में देखते हैं, वे ही अनन्य चित्त हो सकते हैं। जो प्रभु के अतिरिक्त अन्यों की सत्ता मानेंगे वे उन अन्यों के प्रति अपनी दुर्बलता में उन्मुख हो सकते हैं। वास्तव में अनन्य चित्त तो वही हो सकता है, जो प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता ही नहीं मानता, सबको प्रभुमय देखता है। तो महात्माओं का पहला लक्षण कि वे दैवी सम्पदाओं से युक्त होते हैं। दूसरा लक्षण कि वे अनन्य चित्त से मेरा भजन करते हैं।

आज के प्रचवन का शीर्षक है – *प्रभु भजन की विधियाँ*। यहीं से भजन की विधि में दो बातें आ गईं। हमारे आपके भजन में भी दैवी सम्पदा की प्रधानता होनी चाहिये। हमारे आपके भजन में भी अनन्यता होनी चाहिये। अनन्य चित्त होकर हम भगवान् का भजन करें, तो हम सही-सही भजन कर पायेंगे। फिर केवल मान कर नहीं, जानकर भजन करें। तीसरी बात, देखो एक मान कर भी भजन कर सकते हैं। गुरु का वचन है, गुरु के वचन पर श्रद्धा कर ली। तो मान कर भक्ति करना सरल है। लेकिन ज्ञानीभक्त तो जानकर भक्ति करता है। भगवान् के चार प्रकार के भक्त हैं–

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। (७/१६/२)

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। (७/१७/१)

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्', ज्ञानी तो मेरी आत्मा है। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी ये तीन तो मानकर भी भक्ति कर सकते हैं। भगवान् की बात किसी सन्त ने कही, महात्मा ने कही, गुरु ने कही – मान ली और मान कर भक्ति की। और ज्ञानी भक्त होता है वह *"ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्"* भगवान् को दो विशेष लक्षणों से जानता है। पहला लक्षण क्या है, सब भूतों के आदि कारण हैं। *'ज्ञात्वा भूतादिम्'*, मुझको (भूति) समस्त प्राणियों के समस्त जगत् का आदिकारण जानता है *'अव्ययम्'* और अविनाशी जानता है। ऐसा कभी नहीं है कि भगवान् नहीं थे। भगवान् के पहले कुछ नहीं था, भगवान् ही थे। भगवान् सबके आदि कारण हैं, सर्वकारण कारण हैं, भगवान् का कोई कारण नहीं है। भगवान् के सब कार्य हैं, भगवान् का और कोई कारण नहीं है। कोई काल ऐसा नहीं है जब भगवान् नहीं थे। कोई काल ऐसा नहीं होगा जब भगवान् नहीं होंगे।

मैं बार-बार नानक बाबा को उद्धृत करता हूँ। नानक बाबा की एक पंक्ति मुझको बहुत अच्छी लगती है। *"आदि सचु, युगादि सचु, है भी सचु, नानक होसी भी सचु।" आदि सचु* — आदि कारण, सबसे पहले, जब काल का विभाजन नहीं था, उस समय भी। काल भी बाद की कल्पना है। तो जब काल की कल्पना ही नहीं थी, उस समय भी जो सत्य थे – *आदि सचु। युगादि सचु* – और जब युग की कल्पना की गई, युग में बाँटा गया, यह सतयुग है, यह त्रेतायुग है, यह द्वापर है, यह कलियुग है, यह अतीत है, यह वर्तमान है, यह भविष्य है – तो उस कल्पना के समय भी वे सच थे। *है भी सचु* — आज भी सत्य है। *नानक होसी भी सचु – और वे भविष्य में भी सत्य रहेंगे। तो भूतादिमव्ययम्* – इन दो लक्षणों में ही चारों बातें आ गईं। समस्त भूतों के आदिकारण हैं और वे अविनाशी हैं *'ज्ञात्वा'* – ऐसा जानकर केवल मान कर नहीं। भगवान् को समस्त प्राणियों का आदि कारण जानकर, भगवान् को अविनाशी जान कर, सब प्राणियों को भगवान् का कार्य मान कर, सर्वत्र प्रभु का ही साक्षात्कार करते हुए अनन्यचित्त होकर जो भजन करते हैं, वे महात्मा हैं। हमको भी अपनी भजन विधि में इन तीनों बातों का ध्यान रखना चाहिये – दैवी - सम्पदा से युक्त होकर, अनन्य चित्त होकर और भगवान् को समस्त प्राणियों का आदि कारण एवं अविनाशी जान कर हम उनका भजन करें।

देखिए! भजन की विधियों पर चर्चा हो रही है। महात्मा लोग एक ही तरह से भजन नहीं करते। महात्माओं की भी अलग-अलग रुचियाँ होती हैं – *भिन्न रुचिर्हि*

लोकाः - यह दुनिया भिन्न रुचि वाली है ; *'सब धान बाईस पसेरी'* – ऐसा हम नहीं मानते। इस बात में सनातन धर्म की बड़ी विशेषता है। इतने देवी-देवताओं की जो हमारी कल्पना है, वह इसीलिये है कि भिन्न-भिन्न रुचि के लोग हैं। किसी को बांसुरीवाला अच्छा लगता है, किसी को धनुर्धारी अच्छा लगता है ; किसी को उसे माता के रूप में पाना अच्छा लगता है, किसी को उसे पुत्र के रूप में पाना अच्छा लगता है। मैं क्या कहूँ? भगवान् तो हम सबकी सच्ची इच्छा पूरी करते हैं। *पूरिहिं मन कामना तुम्हारी*। हाँ, मनो-कामना सच्ची होनी चाहिये।

हमारे गुरुजी ने एक बात बताई, वह हम आपको बताते हैं। प्रार्थना करते समय भगवान् से यह नहीं कहना चाहिये कि मेरी यह इच्छा पूरी कर दीजिये। आप सोचिए जो इच्छा हुई है, उससे मेरा कल्याण होगा कि अकल्याण होगा, क्या वह मुझको मालूम है? मेरी वह इच्छा पूरी हो जाये और उससे मेरा अकल्याण हो जाये तो भगवान् ऐसा करेंगे? नारद की इच्छा हुई कि वे विवाह करें। उन्होंने भगवान् से कहा, भगवान् ने उनकी इच्छा पूरी की? नहीं। शंकर जी की इच्छा थी कि वे विवाह न करें। भगवान् ने जबरदस्ती उनका विवाह कराया। हमारे गुरुजी कहते थे कि अगर कोई इच्छा हो जाये और भगवान् से तुम प्रार्थना करो, तो यह कहना चाहिये कि भगवान्, हमारे मन में यह इच्छा आ गई है – यह कामना आई है, अगर इस कामना की पूर्ति से मेरा भला होने वाला हो, तो आप इस कामना को पूर्ण कर दें, और अगर इस कामना की पूर्ति से मेरा बुरा होने वाला हो, तो आप मेरे मन से इस कामना को मिटा दें। जब तक कामना रहेगी तब तक दुःख भी रहेगा। भगवान् जैसे कामना को पूर्ण कर सकते हैं वैसे ही कामना को मिटा भी सकते हैं। भगवान् से सच्ची बात कहनी चाहिये। झूठ नहीं कहना चाहिये। चूंकि भगवान् हमारा भला चाहते हैं, इसलिये हमारे भले का काम करेंगे।

तो मैं जो कह रहा था कि *भिन्न रुचिर्हि लोकाः* – मनुष्य अनेक रुचियों, भिन्न-भिन्न रुचियों वाला होता है; और इसलिये उसकी उपासना, उसकी पूजा, उसके भजन की विधियाँ भी अलग-अलग होती हैं। लोग कैसे भजन करते हैं, इसे अगले श्लोक में बताया है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।। (९/१४)

कुछ लोग लगातार मेरा कीर्तन करते हैं। कीर्तन का मतलब होता है कीर्त्ति-विस्तार करने की क्रिया। जब हम किसी का कीर्तन करते हैं तो उसकी कीर्ति का विस्तार

करते हैं। उसकी कीर्ति का विस्तार अच्छे शब्दों से करना चाहिये। शब्द भी अच्छे चुने जाने चाहियें और उसमें लय-स्वर भी अच्छे होने चाहिये। कीर्तन करने का भी अलग-अलग ढंग है। ज्ञानी कैसे कीर्तन करता है? भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना – यह ज्ञानी का कीर्तन है। योगी कैसे कीर्तन करता है? योगी ध्यान के द्वारा कीर्तन करता है। शरणागत कैसे कीर्तन करता है? शरणागत भगवान् के स्वभाव का विचार करके कीर्तन करता है। प्रेमी कैसे कीर्तन करते हैं? प्रेमी उनके रूप और लीला का कीर्तन करते हैं। तो कीर्तन भी अलग-अलग स्तर पर होता है। कीर्तन तो हम धीरे से कर सकते हैं लेकिन संकीर्तन? उसमें तो ताल, झाँझ, मृदंग लेकर जोर-जोर से कीर्तन करते हैं। भगवान् के नाम का बार-बार उच्चारण खुद करते हैं और दूसरों से कराते हैं। हे गोविन्द, हे माधव, हे श्रीराम, कृष्ण, नारायण, श्रीमन् नारायण नारायण नारायण। अनेक प्रकार से उनका नाम लेकर हम उचित शब्द एवं उचित स्वर के द्वारा उनकी कीर्ति के विस्तार की क्रिया करते हैं, इसको कीर्तन कहते हैं। यह कीर्तन भी कोई स्वरूप के ध्यान से, कोई रूप के ध्यान से, कोई तत्त्वके ध्यान से, कोई उनके स्वभाव का चिन्तन करके करता है; कोई उनकी लीला, उनके गुण का कीर्तन करता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के कीर्तन हो सकते हैं। *'सततम्'* लेकिन कीर्तन लगातार होना चाहिये। भगवान् में मन हमारा पूरी तरह से लगना चाहिये। *'यतन्तश्च'* प्रयासपूर्वक, यत्नपूर्वक; शैथिल्य, आलस्य, प्रमाद, दूसरी तरफ जाने वाली मानसिकता को रोककर; श्रद्धापूर्वक, भक्तिपूर्वक लगातार चेष्टा करते हुए। ढिलाई से नहीं, छोड़ कर नहीं, प्रयत्नपूर्वक। *'दृढव्रताः'* दृढव्रत होकर। जो व्रत लिया है उसका पालन करें— *कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि।* या तो मैं कार्य सिद्ध करूँगा या शरीर त्याग दूँगा। थोड़े से प्रलोभन या कष्ट से जो डिग जाता है, वह दृढव्रत नहीं है। *'दृढव्रतः'*, जो हमने व्रत लिया है, जो हमने संकल्प किया है, उस संकल्प की पूर्ति के लिये सतत परिश्रमपूर्वक, योजनापूर्वक और दृढ़ता के साथ कीर्तन करो। *नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।*

कुछ लोग नमस्कार करते हैं। नमस्कार का एक अर्थ तो है झुकना – विनम्र होना। वैष्णव लोग कहते हैं – *न मे इति नमः* यह व्याकरण से नहीं है, वैष्णवों की भावना से है। *'न मे'* – यह मेरा नहीं है। मेरा नहीं है तो किसका है? भक्त लोग कहते हैं, सब कुछ भगवान् का है। *सम्पति सब रघुपति कै आही।* सारी सम्पत्ति रामजी की है। *सबै भूमि गोपाल की* – सारी भूमि गोपाल की है। जो वैष्णव हैं, वे यह मानते हैं कि सब कुछ भगवान् का है, मेरा नहीं। तो भगवान् की चीज भगवान् को अर्पण करते हैं। यह है नमस्कार। कुछ लोग मानते हैं कि नमस्कार द्वारा हम अपने अहंकार का

निरसन करते हैं। नमस्कार का मतलब है किसी का सिर झुकना। क्योंकि सिर के झुके बिना कोई सिर ऊँचा भी नहीं हो सकता। *पैये असीस लचैये जो सीस, लची रहिये तब ऊँची कहैये।* बड़ों के सामने जिनका सिर झुकता है, उनको आशीर्वाद मिलता है। वे ही निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होते हैं। अहंकार का सिर, घमण्डी का सिर नीचा होता है। विनयी का सिर झुका रहकर भी ऊँचा उठता चला जाता है – यह अद्‌भुत विरोध की बात है। *पैये असीस लचैये जो सीस, लची रहिये तब ऊँची कहैये।* अपने अहंकार का निरसन करते हुए, विनम्रतापूर्वक, भक्तिपूर्वक *'मां भक्त्या'* – उपासना की बात कही गई है। भक्तिपूर्वक (लट्ठमार की तरह हाथ उठाकर नहीं) बहुत से लोग हाथ यों उठा देते हैं जैसे लाठी मार रहे हैं। नहीं भाई! सिर झुकाकर, हाथ जोड़कर। हाथ जोड़ना माने अपनी क्रियाशक्ति अर्पित कर देना। सिर झुकाना माने अपना अहंकार, अपने आपको समर्पित कर देना। विनम्र होकर, सारी क्रियाशक्ति अर्पित कर देना -- *दीनबन्धु! दीनानाथ! मेरी डोरी तेरे हाथ।* जो हाथ जोड़ कर नमस्कार करना है, *मेरी डोरी तेरे हाथ* दे देना है। यह नमस्कार, भक्ति के साथ किया गया नमस्कार – *नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।*

नित्ययुक्त हैं। कभी अलग नहीं होते हैं। यह काल की अव्यवहित निरन्तरता का सूचक शब्द है। *'नित्ययुक्त'* – जो भगवान् से लग गये, जो भगवान् के भक्त हैं- – वे सुबह भक्त हैं, क्या शाम को नहीं हैं? दिन को भक्त हैं और रात को भक्त नहीं हैं? चैत्र में भक्त हैं और वैशाख में भक्त नहीं हैं? ऐसा नहीं है। निरन्तर नित्ययुक्त हैं। नित्य सावधान हैं। नित्य का एक अर्थ सावधान भी है। वे जुड़े हुए हैं – सदा सर्वदा। यह काल का अव्यवहित – बिना खण्ड, काल का अविच्छेद्य सातत्य बताता है नित्ययुक्त। *उपासते* – उप माने निकट, आसते माने बैठना। उपासना का मतलब है भगवान् के निकट बैठ जाना। हमलोग दुनिया के निकट हैं कि भगवान् के निकट? उपासना में हम दुनिया से अपने को अलग कर भगवान् के निकट चले जाते हैं। देश की अव्यवहित निकटता। देश और काल और समस्त वस्तुओं को भगवन्मय मान कर, दृढ़व्रत होकर, भूत का आदि मान लिया तो समस्त वस्तुओं में भगवान् का अनुभव। नित्ययुक्त होने में समस्त कालों में भगवान् से जुड़े होना और उपासना में, समस्त देश में भगवान् की निकटता – ये तीनों मन में रखकर, कुछ भक्त कीर्तन करेंगे, कुछ भक्त नमस्कार करेंगे। क्या केवल इतनी ही पद्धतियाँ हैं? नहीं-नहीं और भी हैं–

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।। (९/१५)

कुछ लोग मेरी उपासना करते हैं, ज्ञानयज्ञके द्वारा। यह *'ज्ञानयज्ञ'* बहुत ही विलक्षण प्रयोग है। ज्ञान जो है यह आभ्यन्तर है। ज्ञान, बुद्धि प्रधान है, विचार प्रधान है। यज्ञ कर्म प्रधान है। जब हमलोग वैदिक यज्ञ करते हैं, तो उसमें वेदिका बनाते हैं, उसमें समिधा डालते हैं, आहुति देते हैं, अग्नि प्रज्ज्वलित करते हैं, मन्त्र पाठ करते हैं, तो वह कर्म प्रधान है। ज्ञान है विचार प्रधान, बुद्धि प्रधान। और ज्ञानयज्ञ? ज्ञानयज्ञ वह हुआ जिसमें कर्म भी विचारमय है और विचार भी कर्ममय है। भगवान् ने गीता के पाठ को सर्वश्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ कहा है। १८वें अध्याय में वे कहते हैं कि गीता का जो पाठ करते हैं वे ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी उपासना करते हैं *'ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः।'* श्लोक है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।। (१८/७०)

यानी जो हमारे संवाद का अध्ययन करते हैं, वे ज्ञानयज्ञ करते हैं। अध्ययन कर रहे हैं तो उच्चारण भी कर रहे हैं, इस प्रकार कर्म हो रहा है। इसके साथ उसका अर्थानुसन्धान भी कर रहे हैं, तो विचार हो रहा है। अतः यह जो प्रवचन है, इसको बराबर ज्ञानयज्ञ कहा जाता है।

सबसे बड़ा तप कौन? ऋषियों में मतभेद हुआ। ऋषि तो वही होता है, जो अपनी बात कहे। सबने अलग-अलग बातें कहीं —

स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाकोमौद्गल्यः।
तद्धितपस् तद्धितपः तद्धितपस् तद्धितपः।।

नाकोमौद्गल्य ऋषि बोले कि सबसे बड़ा तप है— स्वाध्याय और प्रवचन। वेदों का या श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन और उनका प्रवचन – यह सबसे बड़ा तप है। तो इसलिये सब ऋषियों ने हाथ उठा कर कहा कि *'तद्धितपस् तद्धितपः।'* वही तप है। तो जब प्रवचन हो रहा है तो प्रवचन में मेरी वाणी बोल रही है कि नहीं? वाक् द्वारा जब काम होता है तो वाक् कर्मेन्द्रिय है, इस प्रकार कर्म हो रहा है। लेकिन वाणी बोल क्या रही है? वाणी विवेक के द्वारा विचार-प्रसूत जो कथन है, उसको उच्चरित कर रही है। तो जहाँ विचार और कर्म दोनों का समन्वय हो जाये वहाँ ज्ञानयज्ञ होता है। केवल ज्ञान, विचार प्रधान है, केवल यज्ञ, कर्मप्रधान है। भगवान ने १८वें अध्याय में स्वयं कह दिया कि श्रीमद्भगवद्गीता का जो अध्ययन, प्रवचन है, इससे मैं ज्ञानयज्ञ के द्वारा पूजित हुआ मान कर प्रसन्न होता हूँ। यानी गीता का अध्ययन, प्रवचन – यह ज्ञानयज्ञ है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।। (९/१५)

कुछ लोग केवल कीर्तन करते हैं, कुछ नमस्कार करते हैं; और अन्य लोग मेरा यजन, (यजन का मतलब पूजन भी और यज्ञ भी) मेरी उपासना ज्ञानयज्ञ के द्वारा करते हैं। कुछ लोग हैं जो एकत्व से मेरी उपासना करते हैं, कुछ लोग हैं जो पृथकत्व से मेरी उपासना करते हैं। कुछ लोग हैं जो मुझे विश्वतोमुख मानकर, विराट् मानकर विविध रूप से उपासना करते हैं। यानी भगवान् की उपासना की विधियाँ अनेक हैं। भगवान् का भजन केवल एक ही प्रकार से किया जाये इस प्रकार की बाध्यता सनातन धर्म में नहीं है। जो लोग ज्ञानी होंगे, वे भगवान् का भजन एकत्व से करेंगे – *'एकत्वेन अभेदेन'*। भगवान् के साथ अपने को अभिन्न मानकर। *'सकलमिदमहं च वासुदेवः'* यह शरणागति की चरम सीमा है। यह सारी सृष्टि वासुदेव है, मैं भी वासुदेव हूँ। *वासुदेव सर्वमिति* – जब वासुदेव सर्व हैं तो मैं उसमें हूँ कि नहीं हूँ?

भक्ति के द्वारा भी अभेद प्राप्त होता है। केवल ज्ञान के द्वारा अभेद होता है, ऐसा नहीं है। उपासना के द्वारा भी अभेद प्राप्त होता है, इसका सबसे अच्छा उदाहरण हनुमानजी हैं। हनुमान जी से एकबार रामजी ने पूछा कि हनुमान तुम कौन हो? अरे! रामजी पूछ रहे हैं कि हनुमान तुम कौन हो? क्या रामजी को मालूम नहीं है? हनुमान जी समझ गये कि प्रभु मेरी परीक्षा ले रहे हैं। हनुमान जी तो *'ज्ञानिनामग्रगण्यम्'*, ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं। उन्होंने अद्भुत उत्तर दिया। उन्होंने कहा *'देहदृष्ट्या तु दासोऽहम्'*। अगर आपका प्रश्न देहदृष्टि से है तो मैं आपका दास हूँ। मैंने हनुमान का शरीर धारण किया है, आपने श्रीराम का शरीर धारण किया है। *'जीवदृष्ट्या त्वदंशकः'* और अगर आप जीवात्मा और परमात्मा की दृष्टि से पूछ रहे हैं तो मैं जीवात्मा हूँ – आपका अंश हूँ। आप परमात्मा हैं – आप पूर्ण हैं। *वस्तुतस्तु त्वमेवाहम्*। और अगर पारमार्थिक दृष्टि से आप पूछ रहे हैं, अगर आप ज्ञान की दृष्टि से पूछ रहे हैं, वस्तुसत्य की दृष्टि से पूछ रहे हैं, तो *'वस्तुतस्तु त्वमेवाहम्'*, जो आप हैं, वही मैं हूँ। *'इति मे निश्चिता मतिः'*, ऐसी मेरी निश्चित बुद्धि है। यह नहीं कि मैंने यूं ही कह दिया है। सोचविचार कर मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ; और अपने इस निश्चय पर मैं दृढ़ हूँ। तो ये तीन सोपान हैं—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं, जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहं, इति मे निश्चिता मतिः।।

कबीर का एक दोहा है—

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि।।

मेरा मन सुमिरै राम कूँ – मैं अलग राम अलग। मेरा मन राम को स्मरण कर रहा है। *देहदृष्ट्या तु दासोऽहम्* 'मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहि आहि' – *जीवदृष्ट्या त्वदंशकः* – मैं तुम्हारा अंश हूँ। मैं तुममें मिल गया हूँ। पूर्ण हो तुम। *अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि?* अब तो मेरा मन ही राम हो गया है – अब तो राम ही हो गया हूँ। किसको शीश झुकाऊँ? यह जो प्रेमाद्वैत है, यह जो भक्ति के द्वारा भी अद्वैत की सिद्धि हो सकती है, इसको बार-बार भक्तों ने प्रमाणित किया है। इसलिये *एकत्वेन*, भगवान् से अभिन्न होकर भगवान् की उपासना, भगवान् के साथ मिल कर भगवान् की उपासना। भजन की एक विधि यह भी है कि जो तुम हो वही मैं हूँ। *एकत्वेन* – यह भगवान् को एक मान कर (उनसे) उनकी उपासना – यह गौण अर्थ है। भगवान् ही एकमात्र सत्य हैं – यह मानकर उनकी उपासना। लेकिन अभेद वाला अंश ज्यादा अच्छा है। *पृथक्त्वेन* — भगवान् से अपने को पृथक् मान कर उनकी उपासना, भगवान् की उपासना कि तुम मेरे स्वामी हो –

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज-हारी।।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसों?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसों।।
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब बिधि हितु मेरो।।
तोहि-मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै।।

अभेद से भी उनकी उपासना, भेद से भी उनकी उपासना। अभेद की जो उपासना है, उसमें पाँच भाव प्रधान हैं। भेद से जो उपासना है, उसमें पाँच भाव प्रधान हैं। चैतन्य महाप्रभु ने पाँच भावों की कल्पना की है। वैसे असंख्य भाव हो सकते हैं। मैंने प्रधान कहा है। पाँच भाव प्रधान हैं। पहला है शान्त भाव। शान्त भाव में अंशांशी सम्बन्ध होता है? भगवान् अंशी हैं, मैं उनका अंश हूँ। दूसरा है दास्यभाव। भगवान् मेरे स्वामी है ; मेरे पिता हैं, मेरी माता हैं, मेरे गुरु हैं – मैं उनका सेवक हूँ, मैं उनका पुत्र हूँ, मैं उनका शिष्य हूँ – दास्य भाव। तीसरा है सख्यभाव। भगवान् मेरे सखा हैं। चौथा है वात्सल्य भाव। मैं भगवान् का पिता हूँ, मैं भगवान् की माता हूँ —

अरे अशेष! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना-सा।
आ मेरे आराध्य! खिला लूं मैं भी तुझे खिलौना-सा।।

अपने आराध्य को खिलौने के समान गोद में लेकर खेलने की भी छूट हमारी उपासना पद्धति हमको देती है। वात्सल्य भाव में सबसे बड़ा लक्षण यह होता है, सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हम निष्काम होते हैं। लाला को तो देना ही देना है। वृन्दावन में जायें तो कन्हैया को लाला कहते हैं और राधा को लाली कहते हैं। तो लाला को तो देना ही देना है। लाला से कुछ मांगना नहीं चाहिये। वहाँ अगर लाला से कोई मांगता है, तो उसको बहुत बुरा मानते हैं। लाला! माखन मिसरी खाओ, दीर्घजीवी होओ। मैंने अपनी आँख से गीता प्रेस के चक्रजी को भगवान् श्रीकृष्ण को आशीर्वाद देते हुए देखा है। आपलोगों ने नाम सुना होगा, सुदर्शन सिंहजी 'चक्र' का। 'कल्याण' में बराबर कहानी लिखते थे। मेरे गुरु स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती के बड़े मित्र थे। मेरे ऊपर भी उनकी बड़ी कृपा थी। मैं उनके दर्शन करने के लिये मथुरा गया। वे पूजा कर रहे थे। पूजा करने के बाद मैंने देखा वे उनसे कुछ मांग नहीं रहे हैं, उनको आशीर्वाद दे रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण को आशीर्वाद दिया। तो मैंने उनसे कहा, चक्रजी! आपने कृष्ण को आशीर्वाद दिया? बोले, हाँ आशीर्वाद दिया। पूछा, कैसे दिया? बोले - मेरा छोटा भाई है। मैंने फिर पूछा – आपका छोटा भाई कैसे हो गया? उन्होंने कहा कि मेरा एक छोटा भाई था। जवानी में मृत्यु हो गयी थी। मुझे बहुत दुःख हुआ। तीन-चार दिन मैं छटपटाता रहा। तो कन्हैया आकर बोला कि क्या वही तेरा छोटा भाई था? मैं तेरा छोटा भाई नहीं हूँ? मैंने कहा, जा, आजसे तू मेरा छोटा भाई। तो जब उसको छोटा भाई बना लिया, तो उसको आशीर्वाद देता हूँ, क्या करूं?

मतलब यह है कि उपासना जो है, यह भाव की अनुगामिनी होती है। किस भाव से तुम भगवान् से जुड़ रहे हो? यह भाव-साधना है। दशरथ के मन में, कौशल्या के मन में, नन्द यशोदा के मन में जब आया कि भगवान् मेरे बेटे बनें, तो भगवान् उनके बेटे बने। हमलोग बनें तो दशरथ, कौशल्या! यह है वात्सल्य भाव की भक्ति। कान्ता-भाव से प्रीतम के रूप में भगवान् को प्राप्त करो। अनेक प्रकार की साधनाएं भेद-भाव से हो सकती हैं – *एकत्वेन, प्रथक्त्वेन*। भगवान् से भेद-भाव से भी भक्ति की जा सकती है। चाहे भगवान् को पूर्ण मानकर अपने को अंश मानो; चाहे भगवान् को माता, पिता, गुरु, स्वामी मानकर अपने को उनका पुत्र सेवक मानो – ये दास्यभाव, सेवक-सेव्य भाव है। जो भी मानो, चाहे छोटा भाई मानो, बड़ा भाई मानो – असंख्य भाव हैं। तो इन भावों में अभेद और भेद दोनों – *एकत्वेन प्रथक्त्वेन*। पृथक्-भाव से, भेद-भाव से भी भगवान् की उपासना हो सकती है। *विश्वतोमुखम्* – *बहुधा* भगवान् विश्वतोमुख हैं, सर्वतोमुख हैं, कौन सा क्षेत्र है जहाँ भगवान् नहीं हैं। क्या कोई ऐसा क्षेत्र है, जहाँ

भगवान् नहीं हैं? कोई ऐसी वस्तु है जो भगवान् का रूप नहीं है? इसीलिये मूर्ति-पूजा वैध है। मूर्ति-पूजा शास्त्र-सम्मत है। इसीलिये शालिग्राम में, शिवलिङ्ग में, स्वस्तिक में, ओऽम् में किसी भी रूप में तुम भगवान् की उपासना कर सकते हो। *विश्वतोमुखम्* – भगवान् विश्वतोमुख हैं। मेरी माँ होई के दिन अपने हाथ से होई लिखती थीं और देवी मानकर पूजा करती थीं। सबलोग करते हैं कि नहीं! जो लोग पार्थिव पूजन करते हैं, रोज अपने हाथ से शिवलिङ्ग बनाते हैं, रोज पूजा करते हैं और विसर्जन कर देते हैं। *'विश्वतोमुखम्'* जिस भाव पर, जिस स्तर पर, जहाँ तुम्हारी भगवद्बुद्धि से वृत्ति जम गई, तुम वहाँ उस रूप से भगवान् की उपासना कर सकते हो। सर्वतोमुख – सब प्रकार से भगवान् की उपासना कर सकते हो – शर्त है कि भगवद्बुद्धि से उपासना करो। हमलोग जब मूर्तिपूजा करते हैं, तो किसकी पूजा करते हैं? लोग कहते हैं कि पत्थर पूजते हैं। पत्थर पड़े उनकी बुद्धि पर। हम पत्थर पूजते हैं? ऐसा कहने वाला ही अज्ञानी व्यक्ति है। हमलोग भगवान् की प्रतिमा के माध्यम से भगवान् को पूज रहे हैं, वह प्रतीकोपासना है, हम उनको भगवान् का प्रतीक मानते हैं और उनको पूरी भावना के साथ भगवत रूप में ग्रहण करते हैं। हम पत्थर की पूजा करते हैं? तुलसी बाबा कहते हैं, हाँ हाँ, हम करते हैं पत्थर की पूजा। काहे भई, काहे पत्थर की पूजा करते हो? तुलसी बाबा ने कहा है—

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ, पितु काल कराल विलोकि न भागे

हिरण्यकश्यप ने तलवार निकाल ली। और उसके मन में कृपा का भाव भी नहीं था। प्रह्लाद डरा नहीं, भागा नहीं – *"काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ, पितु काल-कराल विलोकि न भागै / राम कहाँ, सब ठाँव हैं.... ।"* हिरण्यकश्यप ने कहा – तेरा राम कहाँ है? बोला – सर्वतोमुखम्, विश्वतोमुखम् सब जगह है। *खम्भ में हैं?* इस खम्भे में है तेरा राम? हाँ! तो मारी उसने लात खम्भे में। *हाँ, 'सुनि हाँकि नृकेहरि जागे'*। नरसिंह प्रकट हुए—

बैरि बिदारि भये बिकराल, कहै प्रह्लादहिं के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तब तें सब पाहन पूजन लागे।

जब उनकी प्रीति और प्रतीति की सिद्धि हुई तब से सब पत्थर पूजने लग गये। खम्भे में भी मेरा राम है और इसलिये, खम्भे में भी मैं राम की उपासना कर सकता हूँ। भगवान् सर्वत्र हैं। *बहुधा विश्वतोमुखम्* हैं। अब भगवान् जब कहते हैं कि मैं विश्वतोमुख हूँ, तो उसको साबित करते हैं। मैं सब कुछ हूँ – तो भगवान् साबित कर रहे हैं। अगले तीन श्लोक भगवान् के इस विश्वतोमुख रूप की पुष्टि के लिये हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।। (९/१६)

मैं सब कुछ हूँ। एक रूपक बाँधा है – रूपक यज्ञ का है। यज्ञ के रूपक में, यज्ञ की समस्त क्रिया, यज्ञ की समस्त सामग्री, पूरा यज्ञ-विधान मैं हूँ। क्रतु माने श्रौत यज्ञ, क्रतु माने – कहीं संकल्प भी होता है, लेकिन शत-क्रतु सौ यज्ञ करके इन्द्र, इन्द्र बने। तो वैदिक यज्ञ विधान को क्रतु कहते हैं। *अहं क्रतुः* – मैं ही श्रौत यज्ञ हूँ। *अहं यज्ञः* – मैं स्मार्त यज्ञ हूँ। क्रतु और यज्ञ में अन्तर करने के लिये एक को श्रौतयज्ञ और दूसरे को स्मार्त यज्ञ माना गया है। *अहं क्रतुः अहं यज्ञः*। *स्वधाहम्* – पितरों को देने वाला जो अन्न है, स्वधा, वह भी मैं हूँ। *अहमौषधम्* – औषध कहते हैं जो एक बार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाये। फल कहते हैं, जो कि हर वर्ष लगे। इसलिये जो अन्न एक बार होकर नष्ट हो जाता है, उसको औषध कहते हैं। जो हमारे दोषों को दूर करे और गुणों का आधान करे, उसको भी औषध कहते हैं। वह हमारे दोषों को दूर करता है। जब आहुति डाली जाती है, तो जौ होता है, तिल होता है, अनेक प्रकार की औषधियाँ होती हैं, इसलिये *औषधम्* – ये भी मैं हूँ। *मन्त्रोऽहम्* – जिस मन्त्र का उच्चारण करके आहुति दी जाती है, वह भी मैं हूँ। *अहमेवाज्यम्* – घृत। घृत औषधि उपलक्षण है। जिसकी आहुति दी जाये सब मैं हूँ। घी भी मैं हूँ। *अहमग्निः* – अग्नि भी मैं हूँ। *अहं हुतम्* – जो उसमें डाला जायेगा, वह भी मैं हूँ। एक अन्य श्लोक में भी ऐसा ही कहा है भगवान् ने–

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। (४/२४)

ब्रह्मार्पणम् — जो अर्पण यानी स्रुवा, वह मैं हूँ। जो हवि है मैं हूँ। अग्नि मैं हूँ। जो आहुति डाली है, वह मैं हूँ – मैं ही सब कुछ हूँ। सर्वरूप मैं हूँ। विश्वतोमुखम्। भगवान् ही यज्ञ के माध्यम से अपने को बता रहे हैं कि सब रूपों में वे ही वे हैं। हमारी दृष्टि केवल बाहरी नाम-रूप पर अटक जाती है, इसलिये हमको वैविध्य का अनुभव होता है। जिसकी दृष्टि नाम-रूप को भेद कर आभ्यन्तर तत्त्व को देखती है, उसको उसका साक्षात्कार होता है। मैंने कई बार ये उदाहरण दिये होंगे – फिर एक बार दूँ। जो केवल अंगूठी देखेगा, केवल चूड़ी देखेगा, केवल हार देखेगा, केवल बाजूबन्द देखेगा, वह अलग-अलग देखेगा। जो उनमें सोना देखेगा – चाहे अंगूठी हो, चाहे चूड़ी हो, चाहे कड़ा हो, चाहे बाजूबन्द हो, चाहे हार हो उसके नाम-रूप अलग हैं लेकिन उस नाम-रूप के भीतर है क्या? सोना ही सोना है। हमारे आपके नाम-रूप अलग हैं। हम भिन्न-

भिन्न नाम रूप वालों के भीतर कौन है? जब दृष्टि नाम-रूप में जाकर अटक जायेगी, तब हमको बहु का, वैविध्य का अनुभव होता है। जब हम नाम-रूप को भेद कर भीतर के सार तत्त्व को देखेंगे, तब हमको मालूम पड़ेगा कि वही क्रतु है, वही यज्ञ है, वही स्वधा है, वही औषधि है, वही मन्त्र है, वही घृत है, वही अग्नि है, वही आहुति है। मैं सबकुछ हूँ इसलिये *विश्वतोमुखम्* – तुम मेरी उपासना कर सकते हो। प्रभु सब कुछ हैं। इसी को फिर बताते हैं –

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।। (९/१७)

मैं ही सबका पिता हूँ। सारे संसार के पिता कौन? प्रभु। केवल पिता? नहीं माता भी। केवल माता? नहीं पोषणकर्त्ता भी। याद रखो! दुनिया वालों से हमारा एक ही सम्बन्ध होता है। केवल परमात्मा ऐसे हैं, जिनसे हमारे सब सम्बन्ध होते हैं।

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः। स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

भगवान् से सिर्फ एक सम्बन्ध नहीं जुड़ता। भगवान् से हमारे सारे सम्बन्ध जुड़ते हैं। जो सम्बन्ध तुम भगवान् से जोड़ना चाहो – उसको जोड़ो, लेकिन फिर उस सम्बन्ध पर दृढ़ रहो। सम्बन्ध चुनने में तुम स्वाधीन हो। लेकिन एक बार सम्बन्ध चुन लेने के बाद, फिर उसमें अनन्यता आनी चाहिये, दृढ़ता आनी चाहिये। तो उन्होंने कहा – मैं पिता हूँ सारे संसार का, मैं माता हूँ सारे संसार की। मैं धारण करने वाला या पोषण करने वाला हूँ। मैं सबका पितामह हूँ। कारणों का कारण हूँ। परमात्मा सर्वकारण कारण है इसलिये पितामह कहा। माता-पिता हमारे कारण हैं, तो माता-पिता का कारण कौन है? और पितामह-पितामही का कारण कौन है? तो परमात्मा पितामह कहते हैं अपने को। वे कहते हैं सर्वकारण कारण – समस्त कारणों का कारण मैं हूँ। संसार में जानने योग्य क्या है? *वेद्यं* – जो कुछ जानने योग्य है, परमात्मा ही है। संसार में पवित्र क्या है? परमात्मा ही है – *पवित्रम्*। *ओंकारः* सारे उपनिषदों में कहा है कि सबसे पुराना नाम परमात्मा का ॐ है। अब इस बात पर ध्यान दीजिए कि भारतीय परिवेश में जितनी साधनाएँ विकसित हुई हैं – सब ॐ से जुड़ी हैं। वैदिक उपासना में तो ॐ की बात देख ही ली – *ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म तस्य वाचकः प्रणवः*। उपनिषदों में माण्डूक्य उपनिषद् तो केवल ॐ का ही वर्णन करता है। सब ॐ। ॐ मणि पदमेहुम् बौद्ध लोग

कहते हैं। जैनियों का नवकार मन्त्र है, उसमें ॐ लगाते हैं। ॐ नमो सर्व साहूनाम्। सिक्खों का जो है – इक ओंकार सतनाम, उसमें भी ओंकार रहता है। ॐ हमारी सांझी सम्पदा है। यहाँ जितने सम्प्रदाय हैं, जितने पंथ हैं, सब पंथों ने ॐ को स्वीकार किया है, इसलिये वह पवित्र है। ओंकार भगवान् का वाचक है। *तस्य वाचकः प्रहवहः "ऋक् साम यजुदरेव च।"* वे ही ऋग्वेद हैं, वे ही यजुर्वेद हैं, वे ही सामवेद हैं। मेरे गुरुजी इसमें एक बात कहते थे। ऋक् ज्ञानप्रधान है, इसलिये उसको चित् मानते थे। यजु कर्मप्रधान है, इसलिये उसको सत् कहते हैं, और सामवेद आनन्द प्रधान है, गाया जाता है, इसलिये यह आनन्द है। तो ऋक् यजु साम माने *'सच्चिदानन्द'*। त्रैविध्य – त्रयी – इस त्रयी के द्वारा भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप का निरूपण किया गया। केवल यहीं नहीं रुके प्रभु। वे आगे कहते हैं—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। (९/१८)

गतिः – जहाँ तुम पहुँचना चाहते हो, जो तुम्हारा गन्तव्य है, लक्ष्य है उसको कहते हैं गति। तुम्हारी सद्गति हो। मरने के बाद हमलोग यह नहीं कहते कि इसकी आत्मा को शान्ति प्राप्त हो – May soul rest in peace – क्योंकि वे लोग मानते हैं, कब्र में मरा आदमी प्रलय तक दबा रहेगा। जब प्रलय होगा तब वह जागेगा। फिर ईसाई लोग कहते हैं ईसा के माध्यम से ; यहूदी लोग कहते हैं मूसा के माध्यम से, मुसलमान लोग कहते हैं मुहम्मद के माध्यम से, वह प्रभु तक जायेगा। तब तक वह सोया रहे शान्ति से। वे आत्मा की शांति की बात कहते हैं। हमलोग तो पुनर्जन्म मानते हैं। अतः शान्ति की क्या बात? क्या पता मरने के बाद कुत्ता बिल्ली हो जायें? इसलिये कहते हैं, भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि भगवान् उसकी आत्मा को सद्गति प्राप्त हो। मनुष्य है तो और भी ऊँचा मनुष्य बने। ध्यानी बने, ज्ञानी बने, योगी बने, भक्त बने। ऊँची गति प्राप्त हो। सद्गति प्राप्त हो, तो *गति* – जो कुछ तुम्हारा प्राप्तव्य है, वह मैं हूँ। हमारी तुम्हारी गति कौन है? भगवान् हमारी तुम्हारी गति हैं। *भर्ता* – सबका भरण-पोषण करने वाले प्रभु हैं। *प्रभु* माने स्वामी। *साक्षी* माने? हमारे कर्म अकर्म को जानने वाला अगर कोई है, तो वही है। यह मत समझो कि तुम्हारे कर्मों को कोई नहीं देखता है। धर्म और कानून का मौलिक अन्तर यहाँ है। कानून में अगर तुम अन्याय करो और पकड़े न जाओ तो अपराधी नहीं हो। हमारे यहाँ तो भगवान् देख रहा है। तुम छिपाओगे? किससे छिपाओगे? समाज से छिपा सकते हो। रामजी से कुछ नहीं छिपा है। साक्षी है – सबको देखता है – सब उसी में रहते हैं। *शरणं*, जो हम पीड़ित, कष्टग्रस्त, दुःखी लोग हैं, हमारे

दुःख, कष्ट, पीड़ा को दूर करने वाले आश्रय-स्थल तो वे ही हैं। वे एकमात्र शरणेय हैं, शरण हैं। *सुहृद्*, जो बिना प्रत्युपकार की आशा के, भला करे वह सुहृद् है। मित्र और *सुहृद्* का मौलिक अन्तर यह है। मित्र नहीं वह प्रेमी है। लेकिन वह भला करेगा तो चाहेगा कि तुम भी उसका भला करो। *'लेत देत मन संक न धरई।'* लेगा भी, देगा भी। सुहृद् वह है जो बिना प्रत्युपकार की आशा के भला करता है। *प्रभवः*, सब वस्तुओं का उद्भव कारण प्रभु। *प्रलयः*, सब लीन होते हैं प्रभु में। सब रहते हैं *स्थान* में। सबका कोष-स्थान, *कोष-निधान* प्रभु हैं। *बीजमव्ययम्* – अव्यय अविनाशी हैं प्रभु और सबके बीज हैं। *'जो उनमें गुण नाहिं और गुण भये कहाँ ते। बीज बिना तरु जमे कहो तुम मोहि कहाँ ते।।'* ये नन्ददास की गोपिकाओं ने उद्धव से तर्क किया था। सूरदास की गोपिकाएँ बिचारी तर्क नहीं करतीं, नन्ददास की गोपिकाएँ बड़ी तार्किक थीं। उन्होंने कहा है कि प्रभु में अगर गुण नहीं तो गुण आये कहाँ से? प्रभु यदि निर्गुण हैं, तो गुण आये कहाँ से? बीज के बिना कहीं वृक्ष होता है? अगर गुण हैं तो प्रभु में भी गुण हैं। वे बीज हैं। भगवान् फिर कहते हैं —

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।। (९/१९)

अग्नि के द्वारा, सूर्य के द्वारा सारी सृष्टि को वे ताप पहुँचाते हैं। *तपाम्यहम्*, मैं ही सबको ताप देता हूँ। क्योंकि उष्णता नहीं हो, तो हम मर जायेंगे। और फिर वे आठ महीने तक सूर्य के द्वारा जल सोखते हैं। बिना जल सोखे वृष्टि होगी ही नहीं। फिर उसको बरसाते भी हैं, वर्षाकाल में। सोखते भी हैं, बरसाते भी हैं, और फिर उसकी सृष्टि भी करते हैं। जो कुछ होता है, सारी क्रियाएँ प्रभु की सत्ता के अधीन हैं। प्रभु की सत्ता है इसलिये हमको ताप मिलता है। प्रभु की सत्ता है, इसलिये वर्षा होती है। वे वर्षा को रोकते हैं, वर्षा करते हैं, वे सृष्टि करते हैं – *"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन"* देहधारियों की मृत्यु होती है, उन्हीं के कारण और देहधारी जो बचे रहते रहते हैं, मरते नहीं, यह भी उन्हीं के कारण। मेरे गुरुजी कहते थे कि अमृत का मतलब यहाँ देवताओं वाला अमृत लेंगे, तो उसका उलटा गरल होना चाहिये। अमृत का उलटा मृत्यु नहीं होता (अमृत का विलोम गरल होता है) तो यहाँ चूँकि मृत्यु कहा, इसलिये अमृत का मतलब जीवन होना चाहिये। जीवन भी वे ही हैं और मृत्यु भी वे हैं। हमारे जीवन में भी वे, हमारी मृत्यु भी वे। इसलिये डरने का कोई कारण नहीं—

सुन्दर संसय को नहीं, महामहोत्सव एह।
आतम परमातम मिल्यो, देह खेह की खेह।।

इसमें डरने का कोई कारण ही नहीं। मृत्यु तो महामहोत्सव है। केवल महोत्सव नहीं, महामहोत्सव। मेरी आत्मा परमात्मा से मिल जायेगी। शरीर तो मिट्टी है, मिट्टी बन कर यहाँ रहेगा... रोना क्यों? मृत्यु से रोने का, डरने का कोई कारण नहीं। मृत्यु तो मेरे लिए भगवान् हैं। *मरण रे तुहुँ मम श्याम समान।* रवीन्द्रनाथ की बड़ी प्रसिद्ध कविता है। हे मरण! तू तो मेरे श्याम के समान है। तो मृत्यु से डरना नहीं क्योंकि.... भगवान् ने दो बार गीता में अपने आप को मृत्यु कहा है – *मृत्युः सर्वहरश्चाहमुदभवश्च भविष्यताम्*। सब कुछ हरण करने वालों में मैं मृत्यु हूँ। जीवन भी भगवान्, मृत्यु भी भगवान्। इसलिये हम मृत्यु से क्यों डरें। *'सदसद्चाहमर्जुन'* – सत्-सत् माने जो विद्यमान है। सत् माने जो दृष्टिगोचर हो रहा है वह भी। असत्, माने जो दिखाई नहीं पड़ता। कुछ लोग कहते हैं कि असत् कारण है और सत् कार्य है। तो कारण भी प्रभु हैं, और कार्य भी प्रभु हैं। कुछ लोग सीधे-सीधे यह भी मान लेते हैं कि जो सत् है – अस्तित्व है, वह भी और जो नास्तित्व है, वह भी प्रभु हैं। अस्ति भी प्रभु और नाऽस्ति भी प्रभु। *'आस्था तुम लेते हो, लेगा अनास्था कौन?'* अगर तुम आस्था लेते हो तो अनास्था भी तुम्हीं लोगे। तुम्हीं अस्ति हो, तुम्हीं नास्ति हो। इसलिये अस्ति और नास्ति दोनों के रूप में प्रभु हैं इसको समझ लो। १६-१७-१८ इन तीनों श्लोकों में तो उन्होंने अपने को सर्वव्यापी के रूप में बताया और १९वें श्लोक में समस्त क्रियाओं का अस्तित्व, मैं हूँ – यह बताया। इसलिये बताया कि मेरी उपासना बहुत प्रकार से की जा सकती है। भजन की विधि, एक ही सीमित विधि नहीं है, अनेक प्रकार से भगवान् का भजन किया जा सकता है। महात्मा लोग उनको निरन्तर दैवी प्रकृति से आश्रित होकर अनन्य चित्त से उनको जानकर उनकी उपासना करते हैं। कभी कोई कीर्तन करता है, कोई नमस्कार करता है, कोई ज्ञानयज्ञ से उपासना करता है, कोई अभेद भाव से, कोई भेदभाव से और कोई बहु-भाव से उपासना करता है। सब प्रकार से उपासना संगत है, विहित है यह भगवान् ने बताया।

२० और २१ इन दो श्लोकों में उन्होंने बताया कि कुछ लोग मुझको नहीं मानते। मुझसे नहीं मिलना चाहते। सकाम भाव से यज्ञ आदि करके स्वर्ग सुख पाना चाहते हैं – ऐसे लोग भी अच्छे हैं, ऐसे लोग भी निष्पाप हैं। लेकिन ऐसे लोगों को फल क्या मिलता है, इसकी ओर ध्यान दीजिये।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापायज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।। (९/२०)

कुछ लोग हैं जो *त्रैविद्य* (त्रैविद्य में तीनों – ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद। अथर्ववेद बाद में जोड़ा गया और अथर्ववेद ऋग्वेद से ही संकलित है, इसलिये तीन वेदों को प्रधान मानते हैं।) जो तीन वेदों की विद्या को मानने जानने वाले हैं, और वैदिक यज्ञ करके, सोम पान करके – (इन्द्र को आहुति देने के बाद जो (सोमलता) सोमरस बचता है, उसका पान किया जाता है) *पूतपापा* – (वे) उनके पाप उससे क्षीण होते हैं, और वे पवित्र हो जाते हैं। *'यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते'*, वे यज्ञ के द्वारा स्वर्ग जाने की कामना करते हैं। तो इस पुण्य की प्राप्ति के द्वारा, वे सुरेन्द्र के लोक में जाते हैं; और वहां देवताओं को प्राप्त दुर्लभ भोगों को प्राप्त करते हैं। देवों के द्वारा उपभोग्य जो दिव्य भोग हैं, स्वर्ग में जाकर उनका भोग करते हैं–

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। (९/२१/१)

उस विशाल स्वर्गलोक में उन दिव्य सुखों का भोग करने के बाद, पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ हमलोगों का जीवन क्या है भाई। ज्यादा से ज्यादा सौ वर्ष। तो उसमें भी १०० वर्ष के भोग को कोई १०० वर्ष तक थोड़े भोग सकता है। वृद्ध हो जाने पर, कहाँ भोग होता है। लेकिन वहाँ तुम हजारों साल तक भोग सकते हो। भोगने के बाद क्या? *'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'* और फिर यहाँ आकर – *एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नागतागतं कामकामा लभन्ते।।* (९/२१/२)

जो तीन वेदों के बताये यज्ञादि कर्म-धर्म का अनुसरण करने वाले हैं – निष्काम कर्म की जगह सकाम कर्म करने के कारण, उन दिव्य सुखों का सैकड़ों वर्षों तक भोग कर लेने के बाद, फिर आवागमन के चक्र में चले आते हैं और फिर जन्म, फिर मरण। *'पुनरपि जनमं पुनरपि मरणम्'*, इससे बढ़ कर और दुःख कुछ नहीं है। तो इसलिये जन्म-मरण के दुःख से वे मुक्त नहीं हो सकते। जो बुद्धिमान हैं, जो ज्ञानी हैं, जो भक्त हैं, वे स्वर्ग के इन आकर्षक लाभों से आकृष्ट नहीं होते। जो अनन्य चित्त होते हैं, उनका चित्त न इस संसार के भोगों की ओर, न स्वर्ग के भोगों की ओर जाता है ; उनका चित्त केवल मेरी ओर जाता है। जो अनन्य चित्त होकर निष्काम भाव से प्रभु को भजते हैं उनकी चर्चा अगले प्रवचन में। •

प्रवचन-२७*

समर्पणमूला भक्ति

आज का विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और हम सबके लिये बहुत बड़ा सहारा है। हम भगवान् को पाना चाहते हैं। भगवान् को क्यों पाना चाहते हैं? सच बोलिये – हमलोग सुख पाना चाहते हैं कि दुःख पाना चाहते हैं? दुनिया में जितने व्यक्ति हैं, सब सुख पाना चाहते हैं। कितना सुख पाना चाहते हैं? मिले तो ज्यादा से ज्यादा सुख, जिसकी कोई सीमा नहीं, इतना सुख। कहाँ-कहाँ सुख पाना चाहते हैं? केवल इसी कक्ष में कि बाहर भी, अपने घर में कि सब जगह? चाहते हैं कि सब जगह सुख मिले। किस-किससे सुख पाना चाहते हैं? केवल अपने मित्र से, अपने नाते-रिश्तेदारों से? सम्भव हो तो सबसे सुख पाना चाहते हैं। चेतन अवस्था में सुख पाना चाहते हैं – जागरूक होकर जब होशो-हवास में हैं कि बेहोश होकर सुख पाना चाहते हैं, कि नशे में सुख पाना चाहते हैं? सम्भव हो तो, होशो-हवास में जागरूक होकर सुख पाना चाहते हैं। ऐसा सुख कौन दे सकता है? ऐसा सुख किससे मिल सकता है? ये सुख-रूपी परमात्मा ही हैं, जिनको हम अनजाने में चाहते हैं। यानी, अगर हम सचमुच इतना सुख, सब जगह सुख, सबसे सुख, चैतन्य सुख पाना चाहते हैं, तो इसका मतलब यह है कि हम अनजाने में भगवान् को ही पाना चाहते हैं, भगवान् के सिवा और किसी को नहीं पाना चाहते।

जब हम भगवान् को जाने या अनजाने पाना चाहते हैं, तो यदि उनको पाने का रास्ता मालूम हो जाये, तो हमारे लिए सरलता होगी। भगवान् स्वयं करुणा से परवश होकर, हमारे ऊपर अतिशय कृपा कर, प्रेम की अधिकता के कारण स्वयं अपने को पाने का रास्ता हमें बता रहे हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। (९/२२/१)

इसके पहले उन्होंने दो श्लोकों में बताया है कि कुछ लोग होते हैं, जो वेद के बताये हुए यज्ञ आदि अनुष्ठान करके स्वर्ग आदि जाना चाहते हैं, भगवान् को नहीं पाना

* नवम अध्याय (राजविद्या राजगुह्य योग) : श्लोक संख्या २२ से ३४

चाहते। वे इसी लोक में ऊँचा पद पाना चाहते हैं, राजा होना चाहते हैं, नेता होना चाहते हैं, मन्त्री होना चाहते हैं, नारायण जाने और क्या-क्या होना चाहते हैं। वे पैसे वाला होना चाहते हैं, मरने के बाद स्वर्ग में जाना चाहते हैं। ऐसे लोग अगर श्रद्धा के साथ बताये हुए काम करते हैं, तो ऐसा प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन यह कोई अच्छी बात है क्या कि जितने प्रयास से, जितनी चेष्टा से हम भगवान् को पा सकते हैं, उसकी जगह हम साधारण चीजों के लिये अपना जीवन नष्ट कर दें और फिर जन्म-मरण के चक्र में हमको आना पड़े। २०वें और २१वें श्लोकों में ऐसे सकाम-भक्तों का वर्णन किया गया है जो कोई कामना, कोई इच्छा लेकर भगवान् के पास जाते हैं। परन्तु भगवान् ने ऐसे भक्तों को बुद्धिमान नहीं बताया, उनको अच्छा नहीं बताया। क्योंकि इतनी साधना, परिश्रम करने के बाद, वे बहुत थोड़ा फल पाना चाहते हैं। वे बुद्धिमान नहीं हैं। बुद्धिमान कौन हैं, अच्छे कौन हैं, अब उनका वर्णन कर रहे हैं –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। (९/२२)

जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरा ही चिन्तन करते हैं, मेरी ही पर्युपासना करते हैं। इस अनन्य शब्द पर थोड़ा ध्यान दीजिये। नारदीय भक्ति-सूत्र में बताया गया है - - *'अन्याश्रयाणां त्यागः अनन्यता'*। अनन्यता किसको कहते हैं? दूसरों के सहारे को छोड़ देना। भगवान् के सिवाय और किसी दूसरे का सहारा नहीं लेंगे। ऐसा जो मानता है वह नारदीय भक्ति-सूत्र के अनुसार अनन्य है। तुलसीदास ने भी इसके समर्थन में कहा है –

बनै तो रघुबर सों बनै, कै बिगरै भरपूर।
तुलसी बनै जो और तें, ता बनिबै सिर धूर।।

मेरी बात बनने वाली हो तो रामजी से बने या बिल्कुल बिगड़ जाये। मेरी बात किसी और से अगर बनने वाली है, या बनती है, तो उस बनने की ऐसी की तैसी। यानी औरों की अस्वीकृति है। राम के अलावा और जो भी हो सकते हैं, उनका सहारा मैं नहीं लूँगा। मैं केवल राम का सहारा लूँगा। अनन्यता का स्तर यह है। लक्ष्मणजी ने भी ऐसा कहा है –

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू, कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहूँ।
जहँ लगि जगत सनेह सगाई, प्रीति प्रतीति निगम निज गाई।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी, दीनबन्धु उर अन्तरयामी।

मैं किसी अन्य को अपनी माँ, पिता, गुरु नहीं मानता। मेरे तो माता, पिता, गुरु

और जितने रिश्ते-नाते बताये गये हैं, उन तमाम नाते-रिश्तों के आधार तुम ही हो। एकमात्र तुमको जानता हूँ। मैं झूठ नहीं बोल रहा हूँ। तुम मेरे हृदय में रहते हो। अन्तर्यामी हो। तुम इस बात को जानते हो। औरों की स्वीकृति के साथ-साथ अनन्यता का एक स्तर है, व्यावहारिक स्तर। लेकिन अनन्य यहीं तक नहीं रुकता। अनन्यता की भूमिका और गहरे जाती है। जब तुलसी बाबा ने कहा —

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त।।

मेरा अनन्य सेवक तो वही है जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि इस दुनिया में मैं जो कुछ देख रहा हूँ, वह सब मेरे भगवान् का ही रूप है–

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।

जो कुछ है उसी ईश्वर का ही प्रतिफल है, उसीका स्वरूप है। उसके अलावा और कुछ है ही नहीं। जो कुछ दिखाई पड़ रहा है, वह वही नाना नामरूपों में भासित हो रहा है। नाम-रूप अलग-अलग दिख रहे हैं, लेकिन नाम-रूप के भीतर तत्त्वतः वही है, जैसे सोने में चूड़ी दिखती है, अंगूठी दिखती है, कड़ा दिखता है, हार दिखता है, बाजूबन्द दिखता है। नाम-रूप अलग-अलग हैं; लेकिन है तो सोना ही। इसी तरह जो ज्ञान के स्तर पर अनन्यता को मानते हैं, व्यवहार के स्तर से ले कर ज्ञान के स्तर तक – अनन्यता का यह रूप कि परमात्मा के सिवाय और इस सृष्टि में कुछ है ही नहीं। अब वे कहते हैं कि अनन्य होकर मेरा चिन्तन करो। स्मरण और चिन्तन में मौलिक अन्तर है। स्मरण सुने हुए का किया जाता है, या जो हमारे साथ बीता है, उसका किया जाता है। जो हमने सुना है, जो हमारे साथ बीता है, जो हमारे अनुभव का हिस्सा बना है, वह हमको पूरा याद रहता है? उसका आधा-चौथाई तो भूल जाते हैं। तो स्मरण में हमारे अनुभव में आया हुआ पूरा-पूरा तत्त्व नहीं आता। चिन्तन में तो हम अपनी प्रतिभा का, अपनी कल्पना का, अपनी भावना का उपयोग करते हैं। उसको, लगातार उसीके बारे में सोचते-सोचते वैसे ही हो जाते हैं। तो हम अनन्य रूप से लगातार भगवान् का चिन्तन करते रहें। *'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां।'* जो ऐसा चिन्तन करते हैं, *'ये जनाः पर्युपासते'*। जो व्यक्ति, जो भी; कोई बाधा नहीं है, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी – मैंने कई बार बताया होगा कि भक्ति कर्त्ता निरपेक्ष है। भक्ति किसी के धर्म को, किसी के देश को, किसी की जाति को स्वीकार नहीं करती। कोई इसमें अपवाद नहीं है। *'ये जनाः'।* जो कोई भी जन कौन है? जो पैदा हुआ है, जिसका जन्म

हुआ है वह जन। जो व्यक्ति भी अनन्य रूप से मेरा चिन्तन करते हैं। आप ध्यान दीजिये। परि माने? *परिनः* माने चारों तरफ से, उपासना माने भगवान् के निकट बैठना यानी सब स्थानों में सब देशों में भगवान् को देखना। अनन्य में – सब वस्तुओं में, सब नाम-रूपों में भगवान् को देखा, पर्युपासना में सब देशों में, सब स्थानों में भगवान् को देखा। कोई ऐसा स्थान, कोई ऐसी जगह नहीं है जहाँ भगवान् नहीं हैं।

तेषां नित्याभियुक्तानां – नित्य – लगातार, सतत, सब कालों में। देखिये तीनों बातें हो गईं। अनन्य में – अन्य किसी वस्तु का निषेध हो गया – सब वस्तुओं में, सब व्यक्तियों में – पर्युपासना में – सब देशों में, नित्य में – सब कालों में। जो सब समय, सब जगह, सबमें – मेरा ही अनुभव करते हुए चिन्तन करते रहते हैं, *'तेषां नित्याभि युक्तानां'* – वे लगातार मुझसे अच्छी तरह से जुड़े हुए हैं। *'नित्य'* माने सब समय, 'अभि' माने अच्छी तरह से, 'युक्त' माने जुड़े हुए। वे मुझसे सब समय, सब देशों में, सब रूपों में मेरा ध्यान करते रहने के कारण मुझसे भलीभाँति जुड़े हुए हैं। *योगक्षेमं वहाम्यहम्* – मैं उनका योगक्षेम वहन करता हूँ।

योग कहते हैं, जो मिला नहीं है उसको उपलब्ध करा देना। अप्राप्त की प्राप्ति को योग कहते हैं; और क्षेम कहते हैं, जो हमें प्राप्त हुआ है, उसको सुरक्षित रखना। जैसे, आपने जो कमाई की, वह तो है योग और उसको आपने उड़ा नहीं दिया, उसको सम्भाल कर रखा, वह है क्षेम। तो भगवान् ऐसे भक्तों का योगक्षेम वहन करते हैं। योगक्षेम का साधारण, व्यावहारिक अर्थ क्या है? कि उनके भरण-पोषण का, उनको जीवित रखने का जो साधन है, वह मैं करूंगा। वह मेरी जिम्मेदारी है। जो मेरे बिना जी नहीं सकता, जो मेरे बिना रह नहीं सकता, जो सबमें, सब जगह, सब समय मुझको देखता है, मेरे लिये जीवन-धारण करता है, उसके जीवन-धारण करने का उत्तरदायित्व मेरा। उसका योग क्षेम – कैसे हो, उसकी गुज़र-बसर कैसे चले, इसकी जिम्मेदारी मेरी। यानी भक्त की पूरी जिम्मेदारी भगवान् लेते हैं।

योगक्षेम का मतलब क्या केवल दो रोटी और दो कपड़ा पहना देना ही है? नहीं। इसका इतना ही अर्थ नहीं है। भक्त के लिये योग क्या होना चाहिये? भक्त किसको पाना चाहता है? भक्त तो भगवान् को ही पाना चाहता है। भगवान् उसको – वह प्राप्त करायेंगे (योग), जो वह प्राप्त करना चाहता है उस स्थिति से उसका पतन न हो – अतः उसका भरण-पोषण करेंगे। उसका फिर पतन न हो (क्षेम), उसको मुक्ति, उसको मोक्ष, उसको शाश्वत रूप देंगे। योगक्षेम का अर्थ केवल साधारण जीवन-धारण करने की सुविधाओं को जुटा देना नहीं है। क्योंकि भक्त के लिये यह तो बहुत गौण बात है।

विवेकानन्द ने जब कहा कि मेरे भाइयों को वस्त्र दो, अन्न दो। रामकृष्ण परमहंस ने कहा, 'जा तू माँ से मांग ले।' माँ से मांगने गये तो उन्होंने कहा – 'माँ मुझको ज्ञान दो, भक्ति दो, वैराग्य दो।' ठाकुर बोले, 'अरे तूने मांगा नहीं?' स्वामी बोले, 'माँ के सामने तो मुख से निकला नहीं।' ठाकुर बोले, 'जा फिर जा'। फिर जाकर स्वामी बोले – 'ज्ञान दे, भक्ति दे।' परमहंस देव ने कहा – 'जा! तेरे घरवालों को मोटा भात और मोटा कपड़ा बराबर मिलता रहेगा।'

तो योगक्षेम केवल इतना ही है भक्तों का? भक्त जो प्राप्त करना चाहता है, वह भगवान् उसको देता है। जो उसको प्राप्त हो जाये, उससे फिर उसका पतन न हो, कोई पाप, कोई गलत काम उससे उसको वंचित न कर दे – इसकी जिम्मेदारी भी भगवान् ही लेते हैं। भगवान् भक्त का योगक्षेम जिस भूमिका पर करते हैं, वह केवल शरीरिक निर्वाह नहीं है, केवल भोजन-वस्त्र की व्यवस्था नहीं है। उसको लक्ष्य तक पहुँचाने और उस लक्ष्य पर स्थिर रहने में, आनेवाली सारी बाधाओं को दूर करने की जिम्मेदारी भी भगवान् की है।

अब आप तुलना कीजिये। जो भगवान् को नहीं चाहते, जो केवल स्वर्ग चाहते हैं, जो इस लोक का भोग चाहते हैं, उनको क्या मिलता है? और भगवान् को चाहने वालों को क्या मिलता है, इसकी तुलना कीजिये। अगले श्लोकों में यही बात बताई है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। (९/२३)

उन्होंने कहा कि जो श्रद्धा से जुड़ कर *'श्रद्धयान्विताः'*, दूसरे देवी-देवताओं की भक्तिपूर्वक तथा श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं – वे भी, हे अर्जुन! मेरी ही पूजा करते हैं ; लेकिन अविधिपूर्वक करते हैं। क्या तात्पर्य हुआ इसका? इसका मतलब यह हुआ कि जो, अन्य देवी-देवताओं (गणेश, लक्ष्मी, सरस्वती, इन्द्र, वसु आदि) की पूजा श्रद्धा के साथ करते हैं, वे उन देवी-देवताओं की पूजा करते हुए भी, वास्तव में अविधि के द्वारा मेरी ही पूजा करते हैं। क्योंकि वे देवी-देवता अलग नहीं हैं, वे मेरे ही अंग हैं, वे मुझपर ही आश्रित हैं – *'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'*।

तत्त्व तो एक ही है। उस परम तत्त्व को ही अपनी सीमित समझ के कारण, कुछ लोग उसके एक गुण को लेकर – कभी अग्नि कहते हैं, कभी इन्द्र कह देते हैं, कभी वायु कहते हैं, कभी उसको वरुण कह देते हैं। इन सब देवी-देवताओं की जो पूजा करते हैं, वे अविधिपूर्वक मेरी ही उपासना करते हैं। *'अविधिपूर्वक'* के कई अर्थ बताये गए हैं। एक मतलब तो हुआ अज्ञानपूर्वक, न जानते हुए। अविधिपूर्वक का दूसरा

मतलब हुआ जो, जैसी विधि है, जैसी मर्यादा है – उस मर्यादा से भिन्न रूप से, ऐसी पद्धति से, जो बहुत सही नहीं है। परिपूर्ण दृष्टि से नहीं, अपूर्ण दृष्टि से। अब आप देखिये – एक शरीर है। शरीर में हाथ हैं, पाँव हैं, सब हैं। आपने वह कहानी सुनी होगी? एक गुरुजी के दो शिष्य थे। तो उन दोनों शिष्यों को गुरुजी ने एक-एक चरण की सेवा करने का उत्तरदायित्व दिया। एक को कहा, तू दाहिना पाँव दबा। एक को कहा, तू बायाँ पाँव दबा। अब वह दाहिने पाँव की सेवा करता था, उसको अपना मानता था और जो बाएँ पाँव की सेवा करता था वह बाएँ पाँव को अपना मानता था। अब एक दिन दाहिना पाँव, बाएँ पाँव पर आ गया। बाएँ पाँव वाला बोला, अरे मेरे पाँव पर तू कैसे आ गया। उसने उठा कर उनका पाँव दूसरी तरफ पटक दिया। बोला, तुमने मेरे पाँव को पटक दिया? दोनों पाँव तो गुरुजी के ही हैं न? दाहिना और बायाँ पाँव लेकर दोनों शिष्य लड़ गये; और कहानी तो यह भी है कि पाँव पर लाठी भी मार दी। तो यह क्या गुरु की पूजा हुई? यह क्या गुरु की सेवा हुई?

यानी टुकड़ों में बँटे हुए देवी-देवताओं की अपनी सीमित इच्छाओं की पूर्ति के लिये की गई पूजा केवल सीमित इच्छाओं की पूर्ति कर सकती है। इस पूजा से इच्छाएँ तो पूरी हो सकती हैं, लेकिन जो पूर्णता की प्राप्ति हो सकती थी, उस पूर्णता के स्थान पर अपूर्णता की प्राप्ति होती है। अतः कितना बड़ा नुकसान हो गया। यानी जिस सेवा से पूर्ण परमात्मा को पा सकते थे, उससे वंचित रह गये। भगवान् ने यह बताया है कि मैं ही समस्त यज्ञों का स्वामी हूँ। जो कुछ हम पूजा करते हैं, अर्चना करते हैं, उन समस्त पूजा-अर्चनाओं का फल भगवान् को ही मिलता है। एक बढ़िया श्लोक है –

आकाशान् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्व देव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।।

आकाश से बरसा हुआ पानी जैसे भिन्न-भिन्न नदियों द्वारा होकर समुद्र में ही जायेगा वैसे ही किसी भी देवी-देवता को आप नमस्कार करें, अन्ततोगत्वा भगवान् की ओर ही जाता है। क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। वे सब देवी-देवता भगवान् के अंग हैं। फर्क केवल यह है कि हम बिना जाने भगवान् की पूजा कर रहे हैं – *तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।* अविधिपूर्वक, अज्ञान पूर्वक आप भगवान् की पूजा करते हैं, परन्तु भगवान् की प्राप्ति ज्ञानपूर्वक पूजा करने से होगी। अज्ञानपूर्वक पूजा करने से आपको वासनाओं की, लालसाओं की, कामनाओं की तो प्राप्ति होगी; लेकिन तत्त्व से, ज्ञान से, सही बात को न समझने के कारण आपका फिर

पतन हो सकता है। यानी देवी-देवताओं का पूजन अज्ञान से किया जा रहा है, इसका विरोध है। ज्ञानपूर्वक करो, तुम उनको भगवान् का अंग मान कर करो, भगवान् का ही वह एक विशेष रूप है – यह मान कर करो, और तुम उस इच्छा की पूर्ति के लिये भगवान् के उस रूप को स्मरण करो और उसके माध्यम से भगवान् से जुड़ो। आप विनय-पत्रिका पढ़ें। तुलसीदास ने सब देवी-देवताओं की वन्दना की है। सबसे मांगा क्या है—

देहि मा मोहि पन प्रेम यह नेम निज राम-घनश्याम तुलसी-पपीहा।।

देवी से मांगा, यही गणेश जी से मांगा। यही सूर्य से मांगा, यही शिवजी से मांगा। यानी सब देवी-देवताओं को स्वीकार कर के भी यह मानना कि वे देवी-देवता भगवान् के अंग-स्वरूप हैं, उनके अंश-मात्र हैं। केवल उन्हीं तक सीमित नहीं रहना चाहिये, उनके माध्यम से भगवान् तक जाने का उदार दृष्टिकोण होना चाहिये। इसलिये भगवान् यह कहते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। (९/२४)

तुम किसी भी देवी-देवता की पूजा करोगे तो मेरी ही पूजा करोगे, क्योंकि मैं सारी पूजाओं का स्वामी हूँ। मैं ही समस्त यज्ञों का फल भोग करूँगा – कोई भी अच्छा काम करोगे – मैं ही उसका फल प्राप्त करूँगा लेकिन तुमने चूँकि तत्व से पहचाना नहीं, अतः न पहचानने के कारण तुमको उसका लाभ अधूरा होगा, कम होगा। तुम उसको तत्त्वसे पहचान कर करो, इस बात को फिर समझाते हैं –

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।। (९/२५)

सत्व, रज, तम – तीन गुण हैं और इन तीन गुणों के परे हैं परमात्मा। जो सत्व गुणी हैं, वे तो देवी-देवताओं की उपासना करते हैं। देवव्रत माने? किसी देवी-देवता की प्रसन्नता के लिये तुमने जो नियम ग्रहण किया, जो उपासना की, जो पूजा की, जो यज्ञ आदि किये। तो देवता की प्रसन्नता के लिये लिया गया नियम देवव्रत है – देवता के लिये किया गया व्रत। तो जो देवता का व्रत लेते हैं, किसी देवी-देवता की उपासना करते हैं, वे मूलतः सात्विक हैं। सत्वगुणी हैं और फिर वे लक्ष्मी, सरस्वती, गणेश, सूर्य, इन्द्र, वसु आदि की उपासना करते हैं। जो रजोगुणी हैं, वे अपने पितरों की उपासना करते हैं — माता-पिता की, पितामह की। पितृ-पक्ष में श्राद्ध करते हैं; और इस तरह से वे पितृ-लोक को जाते हैं। जो तमोगुणी हैं, वे

यक्ष-राक्षस-भूत-प्रेत आदि की उपासना करते हैं; और वे उनको प्राप्त होते हैं। तुम अगर खण्डित रूप से, एक गुण विशेष का आश्रय लेकर चाहे देवताओं, चाहे पितरों, चाहे यक्ष-राक्षस-भूत-प्रेत आदि की उपासना करोगे, तो तुमको उसके अनुरूप, उसीके मुताबिक, उसका फल मिलेगा। *यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम्* – जो मेरी उपासना करेंगे, वे मुझ तक आयेंगे। उपासना के लिये किया गया श्रम, उपासना के लिये किया गया भक्तिपूर्वक प्रयास, समान है। लेकिन फल में इतना अन्तर है – उस अन्तर से जो अल्प में ही, सीमित में ही, अपने को सन्तुष्ट करते हैं, उनके प्रति भगवान् के मन में करुणा जागती है कि ये सब कुछ प्राप्त करने के योग्य होकर भी, कितना अल्प प्राप्त कर सके। यह कितनी दया की बात है; और इसलिये भगवान् समझा रहे हैं कि तुम ऐसा मत करो। केवल सीमित, अल्प बुद्धि से प्रेरित होकर देवताओं या पितरों या भूत-प्रेत-यक्ष-राक्षस आदि की ही उपासना में अपने जीवन को नष्ट मत करो। मेरी उपासना करो, समग्र की उपासना करो, पूर्ण की उपासना करो। पूर्ण की उपासना करने से पूर्णता की प्राप्ति होती है। जो मेरी उपासना करते हैं, वे मुझ तक आते हैं। देखिये इससे सरल और कोई रास्ता नहीं हो सकता। भक्ति के मार्ग को कहा गया है कि यह राजमार्ग है। आँख बन्द करके भी भक्ति के मार्ग पर अगर कोई दौड़े, तो न तो वह गिरेगा, न उसका पतन होगा। उसके लिए क्या चाहिये? क्या आवश्यक है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।। (९/२६)

भगवान् तो भाव के भूखे हैं। वस्तुओं के भूखे नहीं हैं। जब उन्होंने कहा – पत्र, कोई भी पत्ता। एक पत्ता नहीं मिलेगा? एक फूल नहीं मिलेगा? एक फल नहीं मिलेगा? चुल्लू भर जल नहीं मिलेगा? जब वे कहते हैं, पत्र, पुष्प, फल, जल तो इनका मतलब क्या है? कि जो यथासाध्य हो – जो तुमको अनायास प्राप्त हो जाये। पत्र, पुष्प, फल, जल का मतलब यह नहीं है कि तुम केवल हमको पत्ता ही दो, केवल फूल दो, कुछ भी दो, जो तुमको सहज में मिल जाये। इसका मतलब यह है कि महत्त्व वस्तु का नहीं है, महत्त्व भावना का है, महत्त्व भक्ति का है। भक्ति से देते हो कि नहीं? भक्ति से अगर दिया तो शबरी के जूठे बेर भगवान् खाते हैं। कवि शिव ओम अंबर की एक पंक्ति है – *कहाँ राजकीय भोग कहाँ चंद जूठे बेर, दीनबंधु बैठ गए शबरी के पक्ष में।*

दुर्योधन के यहाँ मेवा छोड़ कर विदुर की पत्नी के दिए हुए केले के छिलके खाये। वस्तु का महत्त्व नहीं है। जो तुमको सहज में मिल जाये, उसको भक्ति से लाओ।

देखो दो बार शब्द आया है भक्ति – *'भक्त्या प्रयच्छति तदहं भक्त्युपहृतम्'* मतलब जो तुम लाओ तो भक्ति से लाओ। यह नहीं कि बेमन फूल तोड़कर ले आए। भगवान् को चढ़ाने के लिये फूल तोड़ रहे हो, तो मन को भक्ति से पूरित करो। भक्ति से फल, पुष्प, जल संग्रह करो। भक्ति होनी चाहिये और *'प्रयतात्मनः'* – मन 'प्रयत' होना चाहिये। प्रकृष्ट रूप से संयत होना चाहिए, शुद्ध होना चाहिए। मन में बुरी भावना नहीं होनी चाहिए। किसी लालसा से नहीं करना चाहिये, किसी का अनिष्ट करने के लिये नहीं करना चाहिये। *'प्रयतात्मनः'*, विशुद्ध मन वाले, अच्छे मन वाले, भक्त मन वाले, जब भक्ति से मुझको देते हैं, तो मैं उसको ग्रहण करता हूँ। *'अश्नामि'* भोजन करता हूँ -- यहाँ तक कहते हैं।

इससे सरल और कुछ नहीं। भक्ति मार्ग की चरम सफलता, चरम सरलता पर निर्भर करती है। आपने क्या दिया यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, आपने कैसे दिया यह महत्त्वपूर्ण है। जो भी दिया, वह प्रेम से दिया कि नहीं। जो भी दिया, वह भगवान् की प्रसन्नता के लिये दिया कि नहीं। उससे कुछ व्यापार तो नहीं किया? कि हम तुमको यह दे रहे हैं, तुम वह दे दो। बदले में कुछ मांगा तो नहीं उनसे? साधारण तौर पर हमारी भक्ति कैसे होती है? ९९.९ प्रतिशत सम्बन्ध हमारा रामजी से क्या है? हे रामजी! हमको व्यापार में सफलता दो। हम परीक्षा में पास हो जाएँ। हम चुनाव में जीत जाएँ। हमारी बेटी का अच्छी जगह विवाह हो जाए। यह ठीक है कि और किसी से माँगने से हजार गुना अच्छा है, भगवान् से माँगना। लेकिन भगवान् से भी क्यों माँगना? भगवान् से भी माँगना कोई अच्छी बात नहीं है। भगवान् से भगवान् को ही माँगो। भक्ति का लक्षण क्या है? भरत जी का साधन क्या है? भरतजी की सिद्धि क्या है?

मोहि लखि परत भरत मत एहू। साधन सिद्धि राम-पद नेहू।।

भरत! तुम्हारा क्या साधन है? रामजी के चरणों में प्रेम। भरत! तुमको क्या सिद्धि चाहिये? रामजी के चरणों में प्रेम। *'साधन सिद्धि राम-पद नेहू'*। साधन भी रामजी के चरणों में प्रेम, सिद्धि भी रामजी के चरणों में प्रेम। *'तुलसी रामसनेह को जो फल सो जरि जाउ।'* रामजी से प्रेम करने का, रामजी से भक्ति करने का कोई फल अगर मुझको मिलने वाला है, तो उस फल में आग लग जाये। *'निष्काम'* – भगवान् के लिये भगवान् को याद करो। भगवान् की भक्ति के लिये भगवान् को याद करो। भगवान् से कुछ मांग कर दरिद्र क्यों बनते हो?

नाम गरीबनिवाज को, राज देत जन जान।
तुलसी मन परिहरत नहिं घुरबिनिया की बान।।

अरे! रामजी का नाम तो तुमको अपना भक्त समझ कर राज्य देने वाला है। क्या तुम घुरबिनिया की तरह छोटी-छोटी चीजें मांगते हो? घुरबिनिया जानते हैं? घुरबिनिया घूरे के ढेर से, कूड़े के अंबार से लत्ता बीनता है, कोयला, कागज चुनता है। रामजी के भक्त होकर घुरबिनिया बनते हो? ये छोटी-छोटी चीजें माँगते हो?

भगवान् से निष्काम होकर माँगो – भगवान् तुम्हारा सब कुछ स्वीकार करेंगे– तुमको ही स्वीकार कर लेंगे। *पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतम्।* दूसरी बार भक्ति। एक बार आप अपनी अर्पण करने की सामग्री को भक्तिपूर्वक चुनें, लाएँ, संगृहीत करें और भक्तिपूर्वक दें। यह नहीं कि नौकर से मँगवा लिया। अपने खाने के लिये तो बढ़िया सुपारी, और भगवान् को चढ़ाने के लिये रद्दी सुपारी। अपने खाने के लिये बासमती चावल और ब्राह्मण को देने के लिये मोटे चावल! भक्ति से संग्रह किया हुआ, भक्ति से दिया हुआ, जो भी बने। यह नहीं कि तुमको राजसी छप्पन भोग देना है! नहीं, नहीं। जो भी तुमसे सहज बन जाये, लेकिन शर्त यह है कि उसमें तुम्हारी भक्ति होनी चाहिये। भक्ति से संग्रह करो, भक्ति से लाओ और भक्ति से चढ़ाओ; इसलिये दो बार भक्ति। और क्या दो भगवान् को? वस्तु बता दी और उसके बाद सारी क्रिया मांग ली। हमारे भगवान् माँग रहे हैं हमसे–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। (९/२७)

'अर्पण' शब्द पर ध्यान दीजिये। 'अर्पण' का क्या मतलब होता है? अर्पण, दान, त्याग— ये अनेक शब्द हैं। इन शब्दों के अर्थ को थोड़ा गम्भीरता से समझना चाहिये। त्याग का मतलब होता है, कोई वस्तु आपकी है, उसका स्वामित्व आपका है, आपने उसको छोड़ दिया। अब उसका स्वामित्व किसका है, इसके बारे में आपके मन में कोई संकल्प नहीं है। आपने उसको छोड़ दिया। जिसका हो – ले जाये। यह हुआ आपने त्याग दिया। दान का मतलब होता है, जो वस्तु आपकी है आपने अपना स्वामित्व मिटा दिया और दूसरे का स्वामित्व उसमें उत्पन्न कर दिया। जिसको दिया, उसको उसका स्वामी बना दिया। यह दान है। दान कैसा होना चाहिये, इसका अलग विधान है। इसकी चर्चा अभी नहीं। अर्पण किसको कहते हैं? अर्पण और दान में अन्तर है। दान में थोड़ा अहंकार भाव हो सकता है, दान में थोड़ा बड़प्पन हो सकता है, देने वाले का हाथ ऊपर होता है। अब्दुर्रहीम खानखाना का दोहा है—

सीखी कहाँ नवाब जू, ऐसो देनी दैन।
ज्यों-ज्यों कर ऊँचो करो, त्यों-त्यों नीचे नैन।।

रहीम जी आपने ऐसा दान देना कहाँ से सीखा जैसे-जैसे आप हाथ ऊँचा करते हैं, वैसे-वैसे आपकी आँखें विनम्रता से नीचे झुकती हैं। दान देने वाले का हाथ ऊँचा रहता है, लेने वाले का हाथ नीचे रहता है। रहीम ने बहुत ही अच्छा उत्तर दिया–

देनहार कोउ और है, पठवत है दिन रैन।
लोग भरम हमपै करें, यातें नीचे नैन।।

देने वाला तो परमात्मा है। रात-दिन भेजता है। लोग भ्रम में हैं कि मैं दाता हूँ, इसलिये शर्म से मेरी आँखें झुक जाती हैं। बहुत अच्छा उत्तर है। अब्दुर्रहीम खानखाना, भक्त थे। अर्पण का क्या मतलब होता है? अर्पण में भी साधारण तौर पर व्यवहार में यह है कि स्वामी तो मैं हूँ; किसी को सम्मानपूर्वक देना चाहिए। दान में हाथ ऊँचा है। अर्पण में हाथ नीचे है। किसीको आपने कोई चीज समर्पित की तो इसका मतलब यह हुआ कि आपने उसको सम्मान के साथ वह वस्तु दी। भगवान् कहते हैं कि मुझको समर्पित कर दो। भगवान् को क्या अर्पित करोगे भाई? जो तुम्हारा है, परन्तु क्या है तुम्हारा? जरा इस पर विचार करो। यही मूल बात है। जो भी मैं हूँ — शरीर से, इन्द्रिय से, मन से, मैं अपने आपको अभी आपको अर्पित करता हूँ। आलवन्दार स्तोत्र में यामुनाचार्यजी का बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है–

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा गुणतोऽसानि यथा तथा विधः।
तदयं तव पाद पद्मयो रहमद्यैव मया समर्पितः।।

(आलवन्दार स्तोत्रम् ५५)

मेरा क्या है? सब कुछ तो तुम्हारा ही है। सब कुछ तुम्हारा है, फिर मैं तुमको अर्पित करने वाला कौन हूँ? मेरा शरीर, मेरी आत्मा, मेरी इन्द्रियाँ, ये मेरी वस्तुएँ – ये तुम्हारी ही दी हुई हैं। ये तुम्हारी हैं। तुम्हारी चीज तुमको मैं अर्पित कैसे कर दूँ? अर्पण में जो स्वामित्व का बोध है, वह तो अपराध है। यह बात समझ में आनी चाहिये। यह बात समझ में आनी चाहिये कि जो कुछ है वह भगवान् का है; और इसलिये भगवान् की वस्तु भगवान् को दे रहे हैं – *'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्'*, हे भगवान्! तुम्हारी वस्तु तुमको अर्पित कर रहे हैं। अर्पण करने का मतलब यह हुआ कि मैंने जिसको भूल से अपना मान रखा था, उस भूल को मैंने त्याग दिया। मैंने जान लिया कि सबकुछ तुम्हारा है। मैंने जान लिया कि मैं भी तुम्हारा हूँ। अपना मानने के अज्ञान को दूर कर देना ही अर्पण करना है। इस बात को भली भाँति समझिये कि अर्पण करने का मतलब यह नहीं है कि मैंने अपनी चीज भगवान् को दे दी। कौन सी चीज तुम्हारी है? मेरी कोई चीज नहीं है–

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लगता है मेरा।।

मेरा तो मुझमें कुछ है ही नहीं। जो कुछ है तुम्हारा है। तुम्हारी ही वस्तु तुमको सौंप रहा हूँ। इस अहंकार का बोध कि मैं अपना स्वामी हूँ, ये मेरी वस्तुएँ हैं, इस अहंकार का त्याग ही वास्तविक अर्पण है।

मां मदीयं च निखिलं चेतनाचेतनात्मकम्।
स्वकैंकर्योपकरणं वरदस्वीकुरुस्वयम्।।

"मां मदीयं च निखिलं चेतनाचेतनात्मकम्", मैं स्वयं और मेरा जो कुछ कहा जाता है वह सब, चाहे वह चेतन हो, चाहे अचेतन हो, अपने सम्बन्धी हों या वस्तुएं हों – यह सब तुम्हारा था। तुम्हारे दिये हुए शरीर को, तुम्हारे दिये हुए स्वरूप को, तुम्हारी दी हुई वस्तु को, मैं गलती से अपना मानता था – अपना मानने का मेरा यह भ्रम टूट गया है। इसको तुम अपने कैंकर्य के लिये, अपनी सेवा के लिये स्वीकार कर लो – यह समर्पण है। एक भक्त ने तो और भी चमत्कार किया है। उसने कहा–

प्राण तोर, मैं तोर, मन बुधि चिति यस तोर सब।
एक तुही तो मोर, काहि निवेदौं तोहि प्रभु।।

मेरे प्राण तुम्हारे हैं, मैं तुम्हारा हूँ, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा चित्त, मेरा यश ये सब तुम्हारा है। हे रामजी! एकमात्र तुम्हीं मेरे हो। हे रामजी! तुम्हें मैं किसको अर्पित करूँ। सब कुछ रामजी का है। यह सोच कर अपनी भ्रान्ति को तोड़ देना – यही समर्पण है।

अहं मद्रक्षण भरो मद्रक्षणफलं तथा।
नमे श्रीपते रेवेत्यात्मानं निक्षिपेद् बुधः।।

अहं – मैं स्वयं। *मद्रक्षण भरो* – मेरी रक्षा का भार, *मद्रक्षण फलं* – और मेरी रक्षा का जो फल है, यह सब मेरा नहीं है, यह सब भगवान् का है। यह सोच कर सब कुछ उनको अर्पित करना। आप देखिये क्या-क्या अर्पित हो रहा है। पहले तो स्वरूप का अर्पण हो रहा है। अपना जो आत्मस्वरूप है – मैं कौन हूँ, इसको सोचकर भक्ति की दृष्टि से निर्णय करते हैं कि मैं राम का सेवक हूँ। ज्ञान की दृष्टि से निर्णय करते हैं कि जो रामजी हैं, वही मैं हूँ। अपने अहं का, झूठे अहंकार का त्याग। स्वरूप के प्रति जो गलत धारणा थी कि मैं स्वाधीन हूँ, मैं अपना मालिक खुद हूँ, खुदमुख्तार हूँ – छिः छिः तुम रामजी के सेवक हो या उस स्तर पर पहुँच जाओ कि रामजी के सिवा कुछ भी नहीं है तो तुम भी रामजी हो, तो अपने मिथ्या अहं, झूठे अहंकार का त्याग

और फिर जो कुछ मम है, मेरा जो कुछ है – मेरी माँ, मेरी पत्नी, मेरे पिता, मेरे भाई, मेरा परिवार, सब झूठा है, सब रामजी के हैं। जो कुछ मम से, मेरेपन से जिसका सम्बन्ध होता है – वह भी रामजी का है, मेरा नहीं है। और फिर रामजी तक पहुँचने का जो उपाय है – वह उपाय भी मेरा नहीं है। रामजी प्रेरणा दे रहे हैं, उसीके अनुसार मैं काम कर रहा हूँ। मैं तो प्रेरितकर्त्ता हूँ, प्रेरककर्त्ता रामजी हैं, इसलिये वह उपाय भी राम जी का है। उसका जो फल मिलेगा वह भी मेरा नहीं है। मैं अगर कर्त्ता ही नहीं हूँ, तो जो कर्त्ता है वही फल भोक्ता है – तो रामजी अगर प्रेरक हैं, रामजी करा रहे हैं तो रामजी कर्त्ता हैं, तो उसका फल भी रामजी का है। और इस सारे का भार, इन सब का निर्वाह हो सके, इसका उत्तरदायित्व – यह भी राम जी का है। सारा भार समर्पण, इसको भरन्यास कहते हैं – माने तुम्हारे चरण-कमलों में अपना भार समर्पित कर देने के बाद मैं बिल्कुल हल्का हो गया। मैं निर्भय हो गया। समर्पण का मतलब हुआ कि अपने आपे को, जिनको हमने अपना मान रखा है उन तथाकथित अपनों को, जो कुछ मैं कर रहा हूँ उस क्रिया को, उस क्रिया का जो परिणाम होगा उस फल को और इन सबका निर्वाह करने का जो उत्तरदायित्व है उसको, सब का सब रामजी को अर्पित करना है। यह जो अर्पण है, इस अर्पण का फल है – प्रभु की प्राप्ति। इसलिये भगवान् ने सरल तरीका बताया है कि तुम इतना सब सोच सकते हो कि नहीं सोच सकते हो। नहीं सोच सकते हो? मत सोचो। सोचने की जिम्मेदारी भी आपको उन्होंने नहीं दी। यह तो कर सकते हो न कि जो कुछ किया है, वह रामजी को समर्पण कर दो–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। (९/२७)

जो कुछ तुम कर रहे हो, जो तुम खाते हो, जो तुम यज्ञ करते हो, जो तुम दान देते हो, जो तपस्या करते हो – वह सारा का सारा तुम मुझको अर्पित कर दो।

भक्त की भूमिका क्या होती है? भक्त इसलिये नहीं जीवित रहता कि उसको सुख भोगना है। भक्त इसलिये जीवित रहता है कि वह भगवान् का स्मरण करेगा। गोपिकाएँ इसलिये शृंगार नहीं करती थीं कि उनको लोग सुन्दर समझें। गोपिकाएँ इसलिये शृंगार करती थीं कि इससे कृष्ण को प्रसन्नता होगी। कृष्ण की प्रसन्नता के लिये, भगवान् की प्रसन्नता के लिये, हम अपना सारा काम करेंगे। जो हम करेंगे, जो हम ग्रहण करेंगे, भोजन करेंगे, सिर्फ वही नहीं, जो हम यज्ञ करेंगे, दान करेंगे, तप करेंगे– ये सब का सब भगवान् के लिये अर्पित है। इन सारी क्रियाओं का फल मुझको प्राप्त नहीं होना चाहिये, इन सारी क्रियाओं का फल भी भगवान् को प्राप्त होना चाहिये।

मैं तो उनके हाथ का एक खिलौना हूँ। मैं तो उनकी प्रसन्नता के लिये, जो कुछ मुझसे बन सकता है, जैसी वे प्रेरणा दे रहे हैं, वैसा कर रहा हूँ। यह वृत्ति अगर नहीं आये तो भी कोई बात नहीं। इतना तो करो कि जो कुछ किया *श्री रामार्पणमस्तु.... श्री कृष्णार्पणमस्तु....* जो भी तुम्हारे इष्टदेव हों उनको ये समर्पित करो। इससे क्या होगा? इससे यह होगा कि हम यह सोचेंगे कि हमारा काम भगवान् को समर्पित है; अतः कैसा काम करना चाहिये। भगवान् ने यह नहीं कहा कि तुम अच्छे काम ही मुझको समर्पित करो। भगवान् ने कहा है, जो भी करो वह अर्पित कर दो। कोई बुरा काम हो गया – वह भी दे दो। भगवान् तो सब लेते हैं। लेकिन शबरी ने फल चख-चख के रखे थे। क्यों उसने जूठा किया था? इसलिये कि वे मीठे होने चाहियें। अगर वे फल कड़वे हैं, अगर वे फल फीके हैं, तो रामजी को नहीं देगी। इस प्रकार अगर हमने रामजी को अपने सारे कर्म समर्पित कर दिये, तो पहले चाहे गलतियाँ हों, चाहे बुरे काम करें, बाद में फिर बुरे कामों से हम बचना शुरू कर देंगे। कितनी सरलता से भगवान् अपने भक्तों को अपनी ओर खींच रहे हैं कि तुम जो कुछ भी करो – शुभ करो अशुभ करो, सब कुछ प्रभुको अर्पित कर दो–

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।। (९/२८)

जो तुम अच्छे-बुरे काम करोगे तो उसके अच्छे-बुरे फल मिलेंगे। जो अच्छा-बुरा काम करेगा, उसको अच्छा-बुरा फल भोगना पड़ेगा। तुम अगर अपने लिये अच्छे-बुरे काम करोगे तो अच्छे-बुरे फल भोगोगे। अच्छे-बुरे फल भोगोगे तो बार-बार जन्म ग्रहण करोगे, बार-बार मृत्यु ग्रहण करोगे–मरोगे। यानी जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़े रहोगे। तुम्हारी मुक्ति नहीं होगी। कर्म के बन्धन तुमको बाँध कर रखेंगे। यदि चाहो ये कर्म के बन्धन तुमको बाँधे नहीं तो उपाय यह है कि तुम सच्चे दिल से वे सब काम प्रभु को अर्पित करो। अपने काम अगर प्रभु को अर्पित कर दिये तो कामों का फल भी प्रभु को ही मिलेगा। कर्म का फल प्रभु को मिलेगा, तो कर्म के बन्धन से तुम छूट जाओगे।

'संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि' – संन्यास का क्या मतलब है? न्यास माने? त्याग। आपलोगों ने न्यासी शब्द सुना होगा। जो चीज अपनी नहीं है, जो दूसरों के लिए, समाज के लिये हमलोग निकाल देते हैं, अंग्रेजी में उसको कहते हैं ट्रस्ट (Trust) और हिन्दी में कहते हैं न्यास। उसका जो ट्रस्टी हुआ वह उसका मालिक है कि सेवक है? सेवक है। तो न्यास का मतलब जो हमने अपने लिये नहीं, भगवान् के लिये, भगवान् के सेवकों के लिये, समाज के लिये त्याग कर दिया, सम्यक् रूप से

न्यास कर दिया - यही संन्यास है। जो संन्यासी होते हैं, ज्ञानी, वे भी सब कुछ त्यागते हैं, और जो भक्त होते हैं वे सबकुछ भगवान् को अर्पित करते हैं। ज्ञानी लोग ज्ञान से, भक्त लोग प्रेम से अर्पित करते हैं – क्रियाओं का भाव अलग-अलग है, फल एक है। संन्यास, माने सब कुछ भगवान् को अर्पित कर देना। भगवान् को अर्पित करने का जो योग है, चूँकि तुमने किया इसलिए वह योग है। योग में कर्म निहित है। चूँकि तुमने उसको ज्ञान से किया या प्रेम से किया, इसलिये वह संन्यास है। तो समर्पण रूपी योग से युक्त है, जिसका अन्तःकरण। यहाँ आत्मा का मतलब हुआ अन्तःकरण। मैंने कई बार आपको बताया होगा कि हमारे और आपके बीच में आत्मा एक ही है। हमारे आपके जो पाँच भूत हैं वे एक ही हैं, तो हम-आप अलग-अलग क्यों हो जाते हैं? हम-आप एक जैसी बात क्यों नहीं करते? हम-आप एक जैसा भाव क्यों नहीं करते? हमारे स्वभावों में अन्तर क्यों है? मैंने आपको बताया था कि आत्मा एक है, पंचमहाभूत एक हैं, लेकिन फिर भी हम में से प्रत्येक का अन्तःकरण अलग है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार – इसकी समष्टि हर एक की अलग है। अपने पूर्वजन्मों के कर्मों के कारण हमारा मन, हमारा चित्त कैसा बना। मन मतलब? यह करें कि वह करें – जो संकल्प-विकल्प करता है। बुद्धि माने, जो फैसला करती है कि यह करो। चित्त मतलब जो बचपन से लेकर अभी तक की सारी चीज याद रखता है; और अहंकार का मतलब जो अपने को दूसरों से अलग करता है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार – इन चारों का जो अन्तःकरण है, करण का मतलब हुआ – औजार और अन्तःकरण माने भीतरी औजार – भगवान् ने हमें १४ औजार दिये हैं – १० बाहरी और ४ भीतरी, जिनसे हम काम करते हैं। भीतरी औजार सबके अलग-अलग हैं। अपने अन्तःकरण को जो प्रभु के समर्पणरूपी योग से युक्त कर देगा – *विमुक्तो* – वह इसी जीवन में विशेष रूप से मुक्त हो जायेगा, जीते-जी मुक्त हो जायेगा, जीवनमुक्त हो जायेगा। मरने के बाद की बात नहीं कह रहे हैं। तुलसीदास की पंक्तियाँ हैं –

को जाने को जैहै जमपुर को सुरपुर परधाम को
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग-जीवन राम गुलाम को।

मरने के बाद कौन नरक में जायेगा, कौन स्वर्ग में जायेगा, यह कौन जानता है। उधार-धर्म की बात नहीं है। नकद-धर्म की बात है। इस संसार में, इसी जीवन में राम का सेवक, राम का गुलाम कैसे जीवन जीता है – यह अच्छा लगता है। हम इसी संसार में, इसी जीवन में मुक्त हो जायेंगे और केवल मुक्त ही नहीं होंगे – *'मामु-पैष्यसि'* – – तू मुझसे युक्त हो जायेगा। इस प्रकार सब कुछ अर्पण कर देने वाले योग से जिसका

अन्तःकरण युक्त होगा, वह अच्छे-बुरे कामों को करते रहने पर भी अच्छे-बुरे कामों के फल से मुक्त हो जायेगा ; कर्म के बन्धन से मुक्त हो जायेगा। जीवनमुक्त होकर वह मुझको प्राप्त हो जायेगा। तुम केवल थोड़ों को मुक्ति दोगे? केवल कुछ को अपनी तरफ बुलाओगे? परन्तु भगवान् क्या कहते हैं —

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। (९/२९)

भगवान् सबके हैं। भगवान् किसी एक के नहीं हैं। भगवान् केवल हिन्दू के नहीं, केवल मुसलमान के नहीं, केवल ईसाई के नहीं हैं – सबके हैं। केवल ब्राह्मण के नहीं, केवल क्षत्रिय के नहीं हैं, वैश्य के नहीं हैं, शूद्र के नहीं हैं – सबके हैं। *'समोऽहं सर्वभूतेषु'*, सब प्राणियों के प्रति मैं समान हूँ। *'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'*, कोई ऐसा नहीं है, जिससे मैं द्वेष रखता हूँ या शत्रुता रखता हूँ, दुश्मनी करता हूँ। सब मेरे हैं। मैं किसी से द्वेष नहीं करता, मैं किसी का पक्षपात भी नहीं करता। कोई मेरा विशेष रूप से प्रिय है, ऐसा भी नहीं। कोई मेरा द्वेषी भी नहीं, कोई मेरा प्रिय भी नहीं। सबके प्रति मैं समान हूँ। सबके प्रति समान हो तो ऐसा क्यों है किसी किसी को विमुक्त किया? सबको विमुक्त क्यों नहीं कर देते। अभी आपने कहा *'विमुक्तो मामुपैष्यसि'*–वह विमुक्त होगा – मुझको प्राप्त होगा, तो सबको तो विमुक्त नहीं करते। और फिर कहते हो कि सबके प्रति समान हूँ। तो उन्होंने कहा कि कारण है –

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।

जो भक्ति से मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें रहते हैं और मैं उनमें रहता हूँ। इस बात को आप ध्यान से समझिये। कई उदाहरणों से यह बात समझाने की चेष्टा करता हूँ। समझ लीजिये बहुत ठंड पड़ रही है। आप खुले मैदान में हैं। कहीं आग जल रही है। आग की गर्मी किसको मिलेगी? जो आग के पास जायेगा। जो आग के पास नहीं जायेगा वह ठंड में ठिठुरेगा। उसको आग की गर्मी नहीं मिलेगी। आग अगर कुछ लोगों को अपने पास आने दे और कुछ लोगों को अपने पास आने न दे, तब तो आग पक्षपाती है। जिनको आने देगी वह उसका प्रिय है, जिनको आने नहीं देगी वह उसका द्वेष्य है। यदि आग सबको अपने पास आने देती है, फिरभी कुछ अभागे लोग आग के पास नहीं जाते हैं। जो आग के पास नहीं जायेंगे वे ठंड में ठिठुरेंगे – जो आग के पास जायेंगे, उनको आग की गर्मी मिलेगी। ऐसे ही जो लोग भगवान् की ओर जायेंगे, भगवान् को भजेंगे उनको भगवान् का अनुभव होगा।

भगवान् हमारे तुम्हारे सबके मन में हैं। किसके मन में भगवान नहीं हैं? 'घट-

घट में वह साईं रमता, कटुक वचन मत बोल रे'। 'सब घट मेरी साइयाँ सूनी सेज न कोय'। कोई सेज ऐसी नहीं है, जहाँ भगवान् सोये न हों। सबके हृदय में भगवान् हैं। लेकिन हमको-आपको भगवान् का अनुभव नहीं होता। क्यों अनुभव नहीं होता? क्योंकि हम-आप भगवान् को पाना ही नहीं चाहते। क्योंकि हम-आप भगवान् की ओर जाते ही नहीं। हमको-आपको खिलौने चाहिये– *'तमन्नाओं में उलझाया गया हूँ खिलौने दे के बहलाया गया हूँ'* उन्होंने खिलौने दे दिये – हम उसी झुनझुने से खेल रहे हैं। कबीर बाबा ने कहा है–

पूत पियारा पिता का गौंहनि लागा धाय
लोभ-मिठाई हाथ दे आपुन गया भुलाय।

बाप बाहर जा रहा था। प्यारा बेटा दौड़ कर उससे चिपका। उसने उसके हाथ में मीठा दे दिया। आजकल लोग चॉकलेट दे देते हैं। अगर उसीमें वह रम गया तो पिता उसको छोड़ कर चला गया। और यदि

डारी खाँड़ पटकि करि अन्तर रोस उपाय।
रोवत-रोवत मिलि गया पिता पियारे जाय।।

अगर उसने वह खाँड़, वे खिलौने, वे तमन्नाएँ जिनमें उलझा दिया गया है, उनको पटक दिया, तो कौन पिता है, जो छोड़ कर चला जायेगा? कौन मां है जो छोड़ कर चली जायेगी? तो इस तरह से हम चूँकि परमात्मा को पूरे मन से चाहते नहीं हैं, इसलिये परमात्मा हमको मिलता नहीं। जो भक्त परमात्मा को चाहते हैं, परमात्मा उनको अनुभव देते हैं कि वे हैं सबमें।

आप दूसरा उदाहरण सुनिये। सूरज की रोशनी सबपर पड़ रही है कि नहीं? सूरज की रोशनी काठ पर पड़ती है। सूरज की रोशनी शीशे पर पड़ती है। सूरज की रोशनी आतिशी शीशे पर पड़ती है। काठ पर सूरज की रोशनी पड़ी, उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। शीशे पर पड़ी, उसने उसका प्रतिफलन किया; और आतिशी शीशे पर पड़ी तो उसने सूरज की किरणों को इतना केन्द्रित कर दिया कि उसके नीचे रखी हुई रुई जल गई। एक ही सूरज की रोशनी, लेकिन तीन प्रकार का फल। वस्तुओं में अन्तर है? हमारे अन्तःकरणों में अन्तर है। हर एक का अन्तःकरण अलग-अलग है। किसी में सत्वगुण की प्रधानता है, किसी में रजोगुण की, किसी में तमोगुण की और जिसमें जिस गुण की प्रधानता है, उसके अनुसार सूरज की रोशनी का उस पर प्रभाव पड़ता है। सूर्य की रोशनी सबके लिये सम है।

भक्त मुझको प्यार करते हैं; इसलिये वे मेरा अनुभव करते हैं। उनको लगता

है कि वे मुझमें हैं और मैं भक्तों को अपनी आत्मा मानता हूँ। *'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'*, ज्ञानी को मैं अपनी आत्मा मानता हूँ। इसलिये ज्ञानी मुझमें है, मैं ज्ञानी में हूँ। इसका मतलब यह हुआ कि हूँ तो सबमें, लेकिन और लोग चूँकि मेरी ओर उन्मुख नहीं हैं, और लोग क्योंकि सांसारिक भोग-विलास की ओर प्रवृत्त हैं; इसलिये उनको मेरे होते हुए भी मेरा अनुभव नहीं होता। जैसे आप टी.वी. देखते हैं। बिजली तो एक ही है, जो प्रसारण है, वह तो एक ही है, लेकिन जिसका टी.वी. अच्छा है, उसमें ठीक आता है, जिसका टी.वी. अच्छा नहीं है, उसमें झप-झप-झप करता है। तो यह दोष किसका है? बिजली का नहीं है, प्रसारण का नहीं है— उसके ग्रहीता यन्त्र का है, हमारे आपके अन्तःकरण का है। अन्तःकरण के अन्तर के कारण भगवान् का अनुभव उसी को होता है, जिनका स्वच्छ अन्तःकरण है, प्रेम से परिपूर्ण अन्तःकरण है। जिनका लौकिकता से परिपूर्ण अन्तःकरण है, जो केवल भोग-विलास चाहते हैं, दुनियावी चीज चाहते हैं, उनको भगवान् का अनुभव नहीं होता। इसलिये भगवान् ने कहा कि मैं निष्पक्ष हूँ, सबके लिए समान हूँ। लेकिन जो मुझको प्रेम से भजते हैं, उनको मेरा अनुभव होता है, वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ।

इसके बाद सबसे बड़ा आश्वासन। भक्ति का सबसे बड़ा सामाजिक पहलू यह है कि यदि हमसे गलती हो गई, यदि हमने पाप किया, तो अब हमारा भविष्य क्या है? एक गलती हो गई तो उसकी क्या कभी माफी नहीं है? मैंने दुराचार किया है, तो क्या मेरा भविष्य सीमित हो गया? यह अद्‌भुत वाणी है —

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। (९/३०)

दुराचारी से दुराचारी व्यक्ति, जब एक बार सम्यक् निर्णय कर ले, *'सम्यग्व्यवसितो हि सः'* व्यवसित माने? निश्चय, निश्चित। जिसने सही-सही निश्चय कर लिया, हजार-हजार गलतियाँ कीं, लेकिन अब भगवान् की तरफ आ गये, तो ये सारे के सारे पाप धुल जायेंगे। मैं भक्ति का सबसे बड़ा सामाजिक पक्ष यही आश्वासन मानता हूँ। तुलसी बाबा ने डंके की चोट पर कहा है—

तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब, नाउ राम-पद-कमल माथ।
जनि डरपहिं, तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ।।

जो किया, किया। भूल हो गई, हो गई। पाप हो गये, हो गये। पापों को लेकर कब तक रोते रहोगे? दुराचार हो गये, हो गये। लेकिन अब तो तुमने सम्यक् निश्चय कर लिया? *'सम्यग्व्यवसितो हि सः'*, जिसने ठीक-ठीक व्यवसायात्मिका बुद्धि के साथ

निश्चय कर लिया कि नहीं अब हमको रामजी के पास जाना है। *'नाउ राम-पद-कमल माथ'*, रामजी के चरण कमलों में सिर झुका दो। *'जनि डरपहिं तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ'*। हर पापी का भविष्य है। कोई पाप ऐसा नहीं है, जो हमारे भविष्य को सदा के लिए नष्ट कर दे। पाप बड़ा है कि भगवान् बड़ा है? पाप से भगवान् की सत्ता बहुत बड़ी है। जो भगवान् की ओर आयेगा उसका सारा पाप भगवान् नष्ट कर देंगे – *'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्'*, बड़े से बड़ा दुराचारी अगर अनन्य भाव से मेरी तरफ आता है; और उसने सम्यक् निश्चय कर लिया है कि अब मैं भगवान् का होकर रहूँगा, अब मैं पाप नहीं करूंगा, *'साधुरेव स मन्तव्यः'* उसको साधु ही मानना चाहिये। निश्चय में बड़ी बात है। तुम्हारा निश्चय पक्का होना चाहिये। तुम्हारा निश्चय सही होना चाहिये।

कोटि विप्र-बध लागहिं जाहू, आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू।
सनमुख होहि जीव मोहि जबहीं, जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।

(श्रीरामचरितमानस ५/४३/१-२)

जब कोई जीव मेरी ओर उन्मुख हो जाता है, उसके करोड़ों-करोड़ों पाप नष्ट हो जाते हैं।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।। (९/३१)

बेईमानी नहीं होनी चाहिये। *'सम्यग्व्यवसित'* होना चाहिये। पक्का निश्चय होना चाहिये। रामजी को धोखा नहीं देना चाहिये। वैसे रामजी को धोखा कोई दे ही नहीं सकता है। हमलोग अपने को ही धोखा देते हैं, रामजी को क्या धोखा देंगे? कितना बड़ा यह भरोसा है, कितना बड़ा यह सहारा है, आप सोचिये। कौन है ऐसा दुनिया में जिससे गलती नहीं हुई है? है कोई माई का लाल जो छाती पर हाथ रख कर बोले कि मैंने कोई पाप नहीं किया, कोई गलती नहीं की। मुझसे तो हजारों गलतियाँ हुई हैं। हजारों पाप किये हैं, लेकिन रामजी का आश्वासन है कि जो एक बार श्रद्धा के साथ, भक्ति के साथ, सम्यक् निश्चय के साथ मेरे सामने सिर झुका देता है, उसके पाप नष्ट कर देता हूँ। वह मेरा हो जाता है – *'सम्यग्व्यवसितो हि सः'*। उसके बाद एक अद्भुत बात कहते हैं – *'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'*। इस पर भक्तों ने बहुत रस लिया है। *प्रति जानीहि* – इसका एक अर्थ है – तुम अच्छी तरह से समझ लो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं हो सकता। एक दूसरा अर्थ है जिसे भक्तों ने महत्त्व दिया है। तुम प्रतिज्ञा करलो कि रामजी का भक्त, भगवान् का भक्त कभी नष्ट नहीं होगा। बोले, मैं क्यों

प्रतिज्ञा करूँ, आप क्यों नहीं करते? बोले, मैं तो अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देता हूँ। भगवान् भक्तों के लिये अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देते हैं। भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं महाभारत में शस्त्र नहीं उठाऊँगा। और भीष्म ने प्रतिज्ञा की—

आजु जौ हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ
तौ लाजउँ गंगा जननी को सान्तनु सुत न कहाऊँ।

आज के युद्ध में अगर मैं भगवान् श्रीकृष्ण को शस्त्र ग्रहण करने के लिये बाध्य न कर दूँ तो मैं गंगा माता को लज्जित करूँ, मैं अपने पिता का बेटा नहीं। भक्त की प्रतिज्ञा की रक्षा करने के लिये भगवान् ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। एक बार नहीं अनेक बार तोड़ दी। भक्त की प्रतिज्ञा कभी नहीं टूटती, कहीं नहीं टूटी, इसलिये अर्जुन! तू प्रतिज्ञा करले कि मेरे भक्त का नाश नहीं होगा। इसका एक अर्थ यह भी है कि जो लोग अहंकार से, गर्व से कहते हैं कि – भक्त-वक्त कुछ नहीं। उनके सामने तू डंके की चोट पर कह कि भगवान् के भक्त का नाश नहीं होगा। मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ। इसके बाद कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।। (९/३२)

यह जो कहा कि मैं सबके प्रति समान हूँ, स्त्री-पुरुष में भेद नहीं करता। स्त्री और पुरुष सब मेरी ओर आने के समान अधिकारी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में भेद नहीं करता, सब आने के अधिकारी हैं। पुण्यात्मा-पापात्मा में भेद नहीं करता। पापात्मा भी अगर संकल्पपूर्ण होकर आना चाहता है, तो आने का अधिकारी है। ये जो दोनों श्लोक हैं – ३२ और ३३, इनको मिला कर आप देखिये। जो ऊपर उन्होंने कहा है – *'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।'* उसकी यह व्याख्या है कि जो एक बार संकल्पपूर्वक मेरी ओर आना चाहता है, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे राजर्षि हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्र, चाहे वह पापयोनि क्यों न हो, पशु हो, पक्षी हो – किसी भी योनि का हो, अगर उसने सम्यक् निश्चय किया है, तो मैं उसको अपना लूँगा। मैं किसीको पापी कह कर त्यागूँगा नहीं। किसी को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष के कारण त्यागूँगा नहीं – ऐसी समता का बिल्कुल स्पष्ट उद्घोष करते हुए, आश्वस्त करते हैं कि एकबार सम्यक् निश्चय तो करो। और इसके बाद असली बात कहते हैं—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।। (९/३३)

लोक का मतलब एक तो है मृत्युलोक। यह जो संसार है, यह अनित्य है – हमेशा रहने वाला नहीं है। क्षण-क्षण परिवर्तित होता है। *'गच्छतीति जगत्'* – जगत् का मतलब क्या है? जो जा रहा है। संसार का मतलब क्या है? *संसरतीति* — जो संसरण कर रहा है। कल जैसा था वैसा आज नहीं है। आज जैसा है वैसा कल नहीं रहेगा। अभी जो था, थोड़ी देर बाद नहीं रहेगा। जो क्षण-क्षण बदल रहा है। अनित्य है। *'असुख'* से चाहते हो सुख? उस लोक में सुख नहीं है, जहाँ सुख खोज रहे हो। जहाँ तीनों कालों में सुख नहीं है, वहाँ हम और आप सुख खोजते हैं। कैसे सुखी होंगे?

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। (५/२२)

किसी को देख कर, किसी को छू कर, किसी का स्वाद लेकर, संस्पर्श के द्वारा भोग कर के जो सुख मिलता है, वह दुःख की जड़ है? इस संसार में कोई सुख खोजेगा, संसार की वस्तुओं में सुख खोजेगा तो उसको दुःख ही मिलेगा। यह अनित्य है, यह असुख है। इस संसार में जन्म लेकर तुम मेरा भजन करो, तब तुमको सुख मिलेगा – एक अर्थ। एक अन्य अर्थ है कि लोक का मतलब है शरीर – *'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'*, तुमको एक दिव्य मानव-शरीर मिला है। साधन-धाम, मोक्ष का द्वार प्राप्त हुआ है लेकिन यह अनित्य है–

अहन्यहानि भूतानि गच्छन्ति यम मंदिरम्।
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।।

प्रतिदिन हम लोगों को मरते हुए देखते हैं और हम सोचते हैं कि हम कभी मरेंगे नहीं। इससे बढ़ कर आश्चर्य क्या है। हमारी-तुम्हारी मृत्यु तो निश्चित है। इसलिये यह शरीर तो मरने वाला है। इस शरीर में तो असुख लगा हुआ है। जन्म-मरण का, रोग का, शोक का, अपमान का दुःख है। तो यह अनित्य और असुख मानव शरीर प्राप्त करके मेरा भजन करो। मुझे भजो। तब तुमको सुख मिलेगा।

इस अध्याय का अन्तिम श्लोक, अद्भुत श्लोक है। इसमें भक्ति के सारे विधान बताए हैं – और यह अकेला श्लोक है जो गीता में दो बार आया है। कुल सात सौ श्लोकों की गीता, उसमें एक श्लोक को दोहरा देना, यानी उसको रेखांकित कर रहे हैं। नवम अध्याय में, जो गीता के मध्य में है, और अठारहवें अध्याय में जो गीता का समापन है, दोनों में यह श्लोक है। अठारहवें अध्याय में थोड़ा सा फर्क है। नवम अध्याय में है–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। (९/३४)

अठारहवें में है–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। (१८/६५)

पहली पंक्ति ज्यों की त्यों। *मामेवैष्यसि* तक ज्यों का त्यों और उसके बाद तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ, यह सच है। उस बात को दोहराया है। इसका मतलब यह है कि यह श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस बात को समझिये कि भगवान् क्या कहते हैं। भगवान् कैसे मिलेंगे। *'मन्मना भव'*, पहली बात – अपने मन को मुझमें मिला दो। तुम मन में क्या सोचते रहते हो? तुम्हारा मन कहाँ लगता है? स्त्री में लगता है, पुत्र में लगता है, नाते-रिश्तेदार में लगता है, व्यापार में लगता है ; राजनीति में लगता है? कहाँ लगता है? तुम्हारा मन मुझमें लगना चाहिये। तुम्हारा जो चिन्तन होना चाहिये – मुझको लेकर चिन्तन करो। मन जो है, उधेड़बुन करता है। किसको लेकर उधेड़बुन करते हो? तुम अपना मन मुझमें लगा दो। मेरे बारे में सोचो। अपना मन मुझसे एक कर दो। *'मन्मना भव'*, अपना चिन्तन, अपनी उधेड़बुन, जो तुम्हारी इच्छाओं का स्रोत है, मुझसे जोड़ दो। *'मद्भक्तो'*, मुझसे प्यार करो, मुझको अपना प्रेम दो। किसको प्रेम देते हो? किसको प्यार करते हो? जो मरने वाले हैं? जो बदल जाने वाले हैं? *'मद्याजी'*, मेरी पूजा करो। अपनी क्रिया मुझको दे दो। *देखिये – मन्मना भव* – अपना चिन्तन मुझको दो, ज्ञान मुझको दो, अपना प्रेम मुझको दो, *'मद्याजी'* – अपनी क्रिया मुझको दो। ज्ञान, भक्ति और क्रिया तीनों मांग ली है। मेरे लिये ये यजन करो। अपने लिये मत करो। अगर यह कुछ नहीं होता, तो भी कोई बात नहीं। *'मां नमस्कुरु'*, बार-बार मुझको नमस्कार करो। बार-बार भगवान् के सामने सिर झुकाओ। *'मत्परायणः'* – यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन सबका अर्थ होगा, इन सबका फल है - *मत्परायणः*। मत्परायणः माने? अयन माने घर। *'पर'* माने सबसे बड़ा। *परायणः* माने? जिसको हम, आप अपना सबसे बड़ा घर, अपना सबसे बड़ा आश्रय मान लेते हैं। *मत्परायणः* माने तुम किसके आश्रित हो? *मत्परायणः* – मुझको अपना सबसे बड़ा आश्रय मान लो। अपना मन मुझमें लगा दो, अपना प्रेम मुझको दे दो। यजन की क्रिया – अपना काम मुझको दे दो। मुझको नमस्कार करो। और मुझको अपना सबसे बड़ा सहारा, अपना आश्रय मान लो। *'युक्त्वैवमात्मानम्'*, *अपने अन्तःकरण को तुम इस तरह* मुझसे जोड़ दो। *'मामेवैष्यसि'*, तब तुम मुझको प्राप्त हो जाओगे। भगवान् को प्राप्त करना सम्भव है, भगवान् को प्राप्त

करना सरल है, केवल हम अपनी कुटिलता छोड़ दें। हम कुटिल हैं, हम सरल नहीं हो पाते। एक बार सहज रूप से अपने मन को, अपने प्रेम को, अपनी क्रियाओं को, अपने से बड़ा मान कर प्रभु को बार-बार नमस्कार करते हुए, उनको अपना सबसे बड़ा सहारा मानकर अगर हम अपने अन्तःकरण को उनसे जोड़ दें, तो भगवान् हमको प्राप्त हो जायेंगे।

भक्ति का यह निचोड़ है। भक्ति का यह सारांश है कि हम भगवान् के भक्त तब हो सकते हैं, जब हमारा सारा अस्तित्व भगवान् के लिये अर्पित हो जाये। हम भगवान् से भिन्न किसी और के लिये अपने को न अर्पित करें। हम सारा काम करते हुए यह सोचें कि यह भगवान् का काम कर रहे हैं, भगवान् के लिये कर रहे हैं। भगवान् के लिये भगवान् का काम, यह करते हुए जीएँ, तो भगवान् हमारे प्रिय हो जायेंगे, हमारे सबसे बड़े आश्रय हो जायेंगे। हम तब केवल भगवान् के सामने सिर झुकायेंगे और भगवान् के हो जायेंगे। •

अविकम्प योग

श्रीमद्भगवद्गीता के दसवें अध्याय को विभूति योग कहा जाता है। आप लोगों ने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि गीता के विविध अध्यायों को एक न एक योग कहा गया है। गीता की पुष्पिका में गीता को योगशास्त्र कहा गया है। उदाहरण के लिए १०वें अध्याय की पुष्पिका है :–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।।

श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् में, ब्रह्मविद्या में योगशास्त्र है। ब्रह्मविद्या को जो शास्त्र हमें समझा दे, जो इसकी युक्ति बता दे, वह गीता है। तो योग का एक अर्थ होता है युक्ति। भगवान् से जोड़ने की युक्तियाँ अनेक हैं–इसी में सांख्य योग है, कर्मयोग है, भक्तियोग है, राजविद्या राजगुह्य योग है। अब विभूति योग बताया है। तो योग का एक अर्थ हुआ भगवान् से जोड़ने की युक्ति। भगवान् से जोड़ने का एक तरीका है कि इस संसार में जो विभूतियाँ हैं, उनको हम ठीक-ठीक समझ सकें, हम भगवान् के विशेष रूप का अनुभव कर सकें। विभूति माने, विशेष भावना। भगवान् का विशेष अनुभव हो – भगवान् की क्षमता का विशेष आभास प्राप्त हो। भगवान् तो सब कुछ हैं।

हम वेदान्त का अनुशीलन कर रहे हैं – गीता वेदान्त है। वेदान्त की कोई भी शाखा क्यों न हो – अद्वैत वेदान्त सहित, समस्त वेदान्तों में भगवान् को सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण बताया गया है। अभिन्न निमित्तोपादान कारण का मतलब क्या होता है? जो चीज बनी उसका एक होता है उपादान और एक होता है उत्पादक या निमित्त। जैसे उदाहरण देकर बात समझायें – मिट्टी का घड़ा है वह किससे बना है? मिट्टी से। भीतर, ऊपर-नीचे सर्वत्र क्या है? मिट्टी के बिना मिट्टी का घड़ा बन ही नहीं सकता। लोहे के बिना लोहे की तलवार बन ही नहीं सकती। तो लोहे की तलवार का उपादान है – लोहा। सोने की अंगूठी का उपादान है – सोना। मिट्टी के घड़े का

* दशम अध्याय (विभूति योग) : श्लोक संख्या १ से ११

उपादान है – मिट्टी। और एक निमित्त कारण होता है – जो उसको बनाने वाला होता है। जैसे कुम्हार है, जैसे चाक है, जैसे वह सूता है जिससे चाक से घड़े को काट लेते हैं और फिर वह अग्नि है जिससे हम मिट्टी के घड़े को पकाते हैं। तो दुनियाँ की साधारण चीजों में उपादान अलग होता है; और निमित्त अलग होता है। कोई चीज बनती है तो उसको कोई बनाने वाला होता है। वेदान्त यह मानता है कि सारी सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है। ब्रह्म है तो सारी सृष्टि बन गई। ब्रह्म ने किसी दूसरे मसाले से सृष्टि बनाई है, ऐसा नहीं है। ब्रह्म ही इस सारी सृष्टि में खुद बना हुआ है; और ब्रह्म ही बनाने वाला है। उपादान भी ब्रह्म है और निमित्त भी ब्रह्म है। सारी सृष्टि ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। मुसीबत क्या है कि हमको साधारण रचनाओं में भगवत्ता का अनुभव नहीं होता। जब हम किसी को अत्यंत दुखी देखते हैं, जब हम किसी को अत्यंत अज्ञानी देखते हैं, जब हम किसी को संकीर्णमना देखते हैं, तो वह भगवान् है— यह समझ में नहीं आता। इसलिए जो लोग सुविधाजनक दृष्टि से विचार करते हैं, तात्विक दृष्टि से विचार नहीं करते, वे लोग दो हिस्से में बांट देते हैं। अच्छा-अच्छा एक तरफ, बुरा-बुरा एक तरफ। अच्छा-अच्छा वह ईश्वर, बुरा-बुरा वह शैतान। ईश्वर और शैतान का द्वंद्व चलता है। शैतान कहाँ से आ गया। शैतान क्या अलग, पृथक् स्वतंत्र सत्ता है? शैतान की अलग पृथक् स्वतंत्र सत्ता नहीं है। परमात्मा ही अच्छा बनता है, परमात्मा ही बुरा भी बनता है। लेकिन बुरे को, दुर्बल को, दुखी को, पीड़ित को देखकर हमको भगवत्ता का अनुभव नहीं होता। सारी सृष्टि में भगवत्ता का अनुभव हो सके, उसका एक तरीका यह है कि हम जो विशेष भक्ति वाले हैं, उसमें भगवान् के विशेष उत्कर्ष का अनुभव करें।

विनोबा भावे ने एक बहुत अच्छी बात बताई है। एक सरल अक्षर होता है, एक संयुक्त अक्षर होता है। सरल अक्षर को समझना सरल है। जब बच्चे को हमलोग सिखाते हैं तब पहले क्या सिखाते हैं? संयुक्त अक्षर सिखाते हैं क्या? नहीं। पहले तो सरल अक्षर सिखाते हैं। बच्चा जब सरल अक्षर सीख लेता है, तब उन्हीं सरल अक्षरों को जोड़कर कैसे संयुक्त अक्षर बनता है, यह सिखाया जाता है। तो ये जो अच्छे लोग हैं, अच्छाइयाँ हैं उसमें भगवत्ता का अनुभव अपेक्षाकृत सरल है, अपेक्षाकृत आसान है। इसलिए विभूति को भगवान् का सहज अनुभव करने का आधार बनाया जाता है। जहाँ विकृतियाँ हैं, वहाँ भी भगवान् ही है। वह संयुक्त अक्षर है। राम में भगवान् है तो रावण में आखिर क्या है? रावण क्या भगवान् का बनाया हुआ नहीं है? उसमें भगवत्ता नहीं है? रावण क्या स्वतंत्र है? राम को भगवान् के रूप में समझना सरल है, रावण

को भगवान् के रूप में समझना कठिन है। कृष्ण को भगवान् के रूप में समझना सरल है, कंस को भगवान् के रूप में समझना कठिन है। व्यवहार जगत् की सरलता और कठिनता को देखकर सारी सृष्टि भगवन्मय है, सारी सृष्टि में भगवान् ही हैं, भगवान् ही सारी सृष्टि में बने हैं – यह बात समझ में नहीं आती। सिद्धान्त में जो हम आसानी से बात कह देते हैं, व्यवहार में उसको ग्रहण करने में उतनी आसानी नहीं होती। उस आसानी को समझने के लिए सरल अक्षरों के माध्यम से हम आगे बढ़ें, तब जटिल अक्षरों को भी, संयुक्त अक्षरों को भी, भगवत्ता के रूप में समझ पायेंगे। इसलिए विभूति योग।

भगवान् की क्षमता, भगवान् का ज्ञान, भगवान् की शक्ति, भगवान् का ऐश्वर्य जहाँ विशेष रूप से अनुभव होता है, वह विभूति है। युक्ति योग है; और विभूति भगवान् का विशेष अनुभव कराने वाला पदार्थ या व्यक्ति या वस्तु या भाव है। लेकिन योग का एक और अर्थ होता है। कहते हैं कि *'विभूतिं च योगं च'* विभूति को भी जानो; और योग को भी जानो। योग भगवान् का स्वरूप है, विभूति भगवान् का रूप है। मैंने बार-बार इस बात को स्पष्ट किया है कि रूप और स्वरूप दो हैं। स्वरूप भीतरी असली वस्तु, रूप उसका बाहरी दृश्यमान, विशेष क्षण में, विशेष अवसर पर एक आभासमान। बहुरूपिया अपना रूप बदलता है कि नहीं? जब वह रूप बदलता है, तो आप उसको पहचान लेंगे सब समय? नहीं पहचान सकते। अगर सजग बहुरूपिया है तो बार-बार रूप बदलता है; पर उसके भिन्न-भिन्न रूपों में भी उसका स्वरूप एक ही है। हम अपना रूप चाहें तो बदल सकते हैं – कपड़े बदल लें, रंग रोगन लगा लें, दाढ़ी लगा लें; और कुछ बन जायें, लेकिन हम अपना स्वरूप नहीं बदल सकते। तो योग भगवान् का स्वरूप है। योग के दो अर्थ बताये हैं। एक योग का अर्थ है, भगवान् से मिलने की युक्ति। जब भक्ति योग, सांख्य योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग कहते हैं; तो जिस तरह से भक्ति, ज्ञान या कर्म को भगवान् से जोड़ने की युक्ति के रूप में हम ग्रहण करते हैं और भक्ति ज्ञान और कर्म के विशेष पहलू से जब हम भगवान् से जुड़ते हैं, तो वही भक्ति योग है, ज्ञान योग है, कर्म योग है। योग माने भगवान् से जुड़ने का तरीका या पद्धति। एक और अर्थ है। अगर जल को योग मान लें तो जल योग है, बर्फ उसकी विभूति है, भाप उसकी विभूति है। सोना योग है – अंगूठी उसकी विभूति है, चूड़ी उसकी विभूति है, कंगन उसकी विभूति है; तो इन दोनों बातों को – योग और विभूति दोनों को – समझने का आमंत्रण यहाँ भगवान् हमको-आपको दे रहे हैं। इस भूमिका के साथ अब हम इन श्लोकों को समझने की चेष्टा करेंगे।

एक दूसरी बात पर आपका ध्यान आकृष्ट करता हूँ – भगवान्, बिना पूछे बता रहे हैं। सामान्य तौर पर जब कोई पूछता है तो उत्तर दिया जाना चाहिए। बिना पूछे उत्तर देने वालों को *'अपृष्टो बहुभाषिते'* – उसको बुद्धिमान नहीं मानते। जब पूछा जाये, श्रद्धा से पूछा जाय, तब उत्तर दिया जाये। यदि कोई मेरी परीक्षा लेने के लिए पूछ रहा है, तो मैं परीक्षा क्यों दूँ? मैं परीक्षार्थी होऊँगा तो परीक्षा दूँगा। कोई जानने के लिए श्रद्धा से पूछता है तो बताया जाता है। लेकिन जिसके प्रति बहुत प्रेम उमड़ता है, वह अगर न पूछे लेकिन सुनने की मानसिकता में हो, सुनने की मुद्रा में हो, तो बिना पूछे भी दयालु गुरु बोल उठते हैं। मूल बात यह है कि सामने वाले की सुनने की मानसिकता है कि नहीं? बोलनेवाला इस बात को भलीभाँति जानता है। सुननेवाला सुनने की इच्छा से सुन रहा है, या किसी अन्य इच्छा से आया है, अपनी उपस्थिति दर्ज कराने मात्र के लिये। बहुत सी जगहों पर लोग उपस्थिति दर्ज कराने जाते हैं। जिसने आयोजन किया है, उसकी आँख में हम पड़ जायें। उनका वहाँ और कोई उद्देश्य नहीं होता। यह मानसिकता बोलने वाला समझता है कि नहीं? खूब समझता है। भगवान् किसको सुना रहे हैं। *'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय'*–अर्जुन नवम अध्याय में समर्पण योग की बात सुनकर गद्‌गद् हो गया। नवम अध्याय में भगवान् ने कहा —

मन्मना भव मद्‌भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। (९/३४)

तुम अपना मन मुझमें लगा दो, तुम अपना प्रेम मुझमें लगा दो, मेरा यजन करो, मुझको नमस्कार करो, निश्चय ही तुम मुझको प्राप्त करोगे। मैं भगवान् को प्राप्त कर लूँगा – मैं भगवान् के साथ तद्‌रूप हो जाऊँगा – यह आश्वासन मिलते ही अर्जुन की मुख-मुद्रा में गद्‌गद् वृत्ति झलक गयी। आप लोगों ने इस बात का अनुभव किया होगा कि कुछ वक्ता आकाश को देखकर बोलते हैं। मैं उनको नमस्कार करता हूँ। कुछ वक्ता अपने दर्शकों की आँखों में झांक कर बोलते हैं। आँखों में झांककर बोलना चाहिए। ऊपर देखकर क्यों बोलते हैं? उनको डर लगता है कि सामने वाले की आँखों के भाव से मेरा मन कहीं विचलित न हो जाये। जो वास्तव में अपनी बात समझाना चाहता है, वह यह भी जानना चाहता है कि लोगों को बात समझ में आ रही है कि नहीं। यह श्रोता की आँखें बताती हैं, यह उनका चेहरा बताता है। मैंने करीब ४१ साल पढ़ाया है। पढ़ाते समय कक्षा में जब अपने विद्यार्थियों की आँखों में चमक देखता था, जब मुझे लगता था कि उनकी कलम चलने लगी है, जब उनमें एकाग्रता का अनुभव करता था, जब मुझे यह प्रतीति होती थी कि वे मेरी बात समझ भी रहे हैं और उसको सराह भी

रहे हैं, तब मुझे संतोष का अनुभव होता था। लेकिन जब मुझको लगता था कि उनके चेहरे पर एक प्रकार का अबूझ-भाव है, एक प्रकार की परेशानी का भाव है, वे अनुभव नहीं कर पा रहे हैं कि मैं क्या कह रहा हूँ, तो मैं रुक जाता था। मैं अपनी बात सरल बनाकर दोहराता था—

मैं पुनि निज गुर सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।।
तदपि कही गुर बारहिं बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा।। (रामचरितमानस १/३०)

गुरु को मालूम पड़ता है कि सामने वाले को समझ में नहीं आया, तो दोहराता है; और लगे कि समझ रहा है, तो उसको आगे की बात बताता है।

अर्जुन नवम अध्याय का उपदेश सुनकर गद्‌गद् है। उसमें प्रसन्नता का भाव झलक रहा है, छलक रहा है। तो जब भगवान् को लगा कि वह और ग्रहण करना चाहता है, और जानना चाहता है, उस प्रीयमाणता को संतुष्ट करने के लिए बिना पूछे उन्होंने कहा—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।। (१०/१)

'भूय एव' – मैं फिर कह रहा हूँ। फिर कह रहा हूँ, इसमें दो बातें और हैं। जो बातें यहाँ कही गयी हैं, वे पहले भी कही गयी हैं। विभूतियोग सप्तम अध्याय में भी है। ८ वें श्लोक से १२ वें श्लोक तक बहुत सी बातों को अपनी विभूति बताया है। नवम अध्याय में भी १६वें श्लोक से १९ वें श्लोक तक, और यहां फिर कह रहे हैं। क्यों कह रहे हैं – क्यों बता रहे हैं; क्योंकि उन्हें ऐसा लगता है कि इस विभूति को और विस्तार से समझाना चाहिए। विभूति को जितनी स्पष्टता से व्यक्ति समझ जायेगा उतनी ही सहजता से मुझसे जुड़ जायेगा; और इसलिए अपने परम कल्याणकारक वचनों को वे कहते हैं कि मैं फिर कह रहा हूँ। *'प्रीयमाणाय'* — यह शब्द अर्जुन के लिए आया है। तुम बड़ी भुजाओं वाले हो, तुम बड़े उत्साह वाले हो, तुम बात सुनकर उसको समझ रहे हो, समझकर उसकी महिमा का अनुभव करके प्रसन्न हो रहे हो; और मैं भी चाहता हूँ कि मैं तुम्हारा भला करूँ। दोनों बातें हैं। बोलने वाले के मन में इच्छा होनी चाहिए कि जो मेरा श्रोता है, जो मेरा शिष्य है उसका भला हो और सुनने वाले को यह लगना चाहिए कि जो सुना जा रहा है, वह बड़ी बात है। उस बड़ी बात को ग्रहण करने की पात्रता होनी चाहिए। उस बड़ी बात को तन्मयता से, एकाग्रता से अपने में समा लेने की

चेष्टा होनी चाहिए। इस अनुभव से बात छलकती है। दोनों तरफ का जब यह सम्बंध जुड़ता है तब संवाद होता है। शिष्य, श्रोता, अपनी एकाग्रता से, अपनी श्रद्धा से, वक्ता को, गुरु को आभास देता है कि हम आपकी इस बड़ी बात को, महिमामण्डित बात को ग्रहण करने के लिए अपनी सम्पूर्ण पात्रता के साथ उन्मुख होकर आपका श्रवण कर रहे हैं। ऐसे श्रोता के लिए मन में हित कामना उभरती है। ऐसे श्रोता के लिए मन में प्रेम उमड़ता है; और भगवान् कहते हैं कि मैं अपना परम दिव्य वचन तुम्हारे मंगल की कामना से तुम्हें सुनाता हूँ। क्या सुनाने जा रहे हैं? वे वह सुनाने जा रहे हैं, जिसको बहुत बड़े-बड़े लोग भी नहीं जानते। अर्जुन अपना अन्तरंग भक्त है, इसलिए उसको रहस्य की बात बता रहे हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।। (१०/२)

न मे विदुः सुरगणाः – देवता भी मुझे, मेरे प्रकट होने के रहस्य को नहीं जानते। जो तत्त्व मैं तुमको समझाने जा रहा हूँ, वह इतना महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, इतना गुह्य है, इतना रहस्यमय है कि साधारण लोगों की तो बात जाने दो, देवता और महर्षि भी इसको नहीं जानते। ईशावास्योपनिषद् में भी कहा है –

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।
(ईशावास्योपनिषद् मंत्र-४)

तो वह जो तत्त्व है *'अनेजदेकं मनसो जवीयो'* न चलने वाला एक तत्व है, देवता भी इसको प्राप्त नहीं कर सके, समझ नहीं सके। देवता भी जिस तत्त्व को ग्रहण नहीं कर पाते उस तत्त्व को भगवान् अपने परमप्रिय, आत्मीय और शिष्य अर्जुन को सुना रहे हैं। *'न मे विदुः सुरगणाः'* देवता का एक अर्थ है जो द्योतन करे। द्योतन एक तो आधि-दैविक स्तर पर – सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि भी मेरे रहस्य को नहीं जानते; दूसरा आध्यात्मिक स्तर पर – ये जो हमारी, आँख, कान, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जो हमको द्योतित करती हैं, प्रकाशित करती हैं जगत् को, वे भी नहीं जानतीं। *'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवम्'।*

'प्रभव' शब्द के दो अर्थ होते हैं। शंकराचार्य ने प्रभव का अर्थ बताया प्रभाव। प्रभव का दूसरा अर्थ होता है उत्पत्ति। *'भवभव विभव पराभव कारिणि'* तो संसार को उत्पन्न करना, भव भवमान– उत्पन्न करना, होना। उसमें प्र, अव्यय यानी उत्पत्ति उत्पन्न करने की विशेष प्रक्रिया। लेकिन प्रभव ही प्रभाव भी है। भगवान् का जो प्रभाव है,

भगवान् का जो दिव्य ऐश्वर्य है, भगवान् की जो दिव्य माया है, उसको कोई नहीं जानता। भगवान् के ऐश्वर्य को भगवान् ही ठीक-ठीक जानते हैं; या *'सोइ जानत जेहि देउ जनाई'* – या जिसे भगवान् स्वयं बता दें, वह जानता है। भक्त लोग तो कहते हैं *'ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहूँ भेंट्यों केवट उठि'*। मेरा स्वामी बहुत बड़ा है, सबसे बड़ा है। इतना बड़ा है कि भगवान् शिव भी अगर ध्यान से उनको प्राप्त करना चाहें, अपने ध्यान की उत्कृष्टता से प्रेरित होकर, तो भी अगम है। इतना सरल है, इतना सुशील है कि केवट को खुद जाकर गले से लगा लेते हैं। तो यह जो मेरा प्रभाव है *'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः'* देवता मेरे प्रभाव को नहीं जानते, बड़े-बड़े ऋषि मेरे प्रभाव को नहीं जानते – यह हुआ एक अर्थ। दूसरा अर्थ – देवता और ऋषि भी मेरे प्रभव को, मेरी उत्पत्ति को, मेरी वस्तुस्थिति को नहीं जानते। क्यों नहीं जानते? क्योंकि वे मेरे सामने पैदा हुए हैं। *'कहा कथति मौसी के आगे जानत नानी-नानन'* तुम क्या बड़ी बड़ी बात बघार रहे हो। अरे हम तुम्हारे नानी-नाना को जानते हैं। बित्ती भर के लड़के हमारे सामने क्या बड़ी बड़ी बातें कर रहे हो। हम इसके पूरे खानदान को जानते हैं। तो यह जो बात है कि *'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः'* क्यों देवता, महर्षि भगवान् को ठीक ठीक जान नहीं पाते? जिसका जन्म मेरे सामने हुआ है, उसको मैं जान सकता हूँ–जिसका जन्म मेरे बहुत पहले हुआ है, मैं उसको कैसे जानूँ? और जिसका जन्म ही नहीं हुआ, उसको जानूँ – यह कैसे संभव है? तो भगवान् से आदि कोई नहीं। भगवान् ही सबके आदि हैं। *'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः'* – समस्त देवताओं, समस्त महर्षियों का आदि मैं हूँ। आदि माने आरम्भ, मूल कारण।

एक कारण होता है, एक कार्य होता है। हमारा यह शरीर कार्य है। इस शरीर के कारण मेरे माता पिता हैं। मेरे माता-पिता अपने माता-पिता द्वारा उत्पन्न हुए, उनके माता-पिता अपने माता-पिता द्वारा। तो एक कार्य-कारण परम्परा चलती है। सब कारणों के कारण प्रभु हैं। प्रभु का कारण कोई नहीं। जहाँ आकर समस्त कारण-कार्य परम्परा रुक जाये, थम जाये, जो कारणों का परम कारण है, उसके आदि को, न देवता जान सकते हैं, और न महर्षि। *ऋषयः मंत्र द्रष्टारः।* जो द्रष्टा हैं, देखते हैं। मंत्र को जो देख ले, उसका साक्षात्कार करे उसको ऋषि कहते हैं। देवता और ऋषि भी भगवान् की उत्पत्ति हैं। भगवान् के द्वारा उत्पन्न किए गये हैं। वे अपने मूल कारण को नहीं समझ सकते। इसलिए वे बड़े बड़े देवता, बड़े बड़े ऋषि भी न मेरे प्रभाव को जानते हैं, न मेरे आदि को और न मेरे रूप को जानते हैं।

अब इसमें देखिए दो बातें कहते हैं भगवान्। कैसे जानें कि तुम उन तमाम पापों से मुक्त हो जाओगे, जो भगवान् के ज्ञान में बाधक होते हैं। हम लोग भगवान् को क्यों नहीं जान पाते? क्योंकि हमारे बहुत से पाप, उस ज्ञान में बाधक हैं। क्योंकि भगवान् को हम ठीक-ठीक जानना ही नहीं चाहते। जानने की हमारी इच्छा ही नहीं है। जानने की इच्छा तो उनकी महत्ता के बोध से जगती है। जब हम दुनिया को बड़ा मानेंगे तो दुनिया को जानने की चेष्टा करेंगे। जब हम भगवान् को बड़ा मानेंगे तो भगवान् को जानने की चेष्टा करेंगे। इसलिए वे कहते हैं कि दो बातों को ठीक से जाननेवाला मुझको जानता है। वह जानना क्या है—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।। (१०/३)

जो मुझको अजन्मा जानता है, जो मुझको अनादि जानता है यानी भगवान् का जन्म नहीं हुआ, भगवान् अनादि हैं। अनादि का मतलब जिसका आदि और कोई नहीं है। आदि माने आरम्भ। जैसे कहा गया कि मेरा आदि, मेरे कारण मेरे माता-पिता, मेरे माता-पिता के कारण उनके माता पिता। लेकिन भगवान् अनादि हैं। भगवान् के पहले कोई नहीं। भगवान्, सबसे प्रथम भगवान् ही हैं। ये सबकी सृष्टि करने वाले हैं – उनका कोई आदि नहीं। भगवान् को अजन्मा और अनादि जान लेना, भगवान् को योग से जान लेना है। मैंने बताया कि योग के दो अर्थ हुए— एक योग हुआ युक्ति, एक योग का अर्थ हुआ— तरीका, रास्ता, उपाय जिससे भगवान् से जुड़ा जाय – भक्ति योग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग। ये भक्ति, सांख्य, कर्म, उपाय हैं – एक विशेष स्थिति है, जिससे हम भगवान् से जुड़ते हैं। और एक योग का मतलब है 'रूप'। *'यो मामजमनादिं च वेत्ति'* – जो भगवान् को अजन्मा जानता है, जो भगवान् को अनादि जानता है, वह मानता ही नहीं, जान लेता है कि भगवान् ही सबके कारण हैं। सर्व कारण करण प्रभु हैं। वे ही सबसे पहले थे, वे ही अब हैं और वे ही अंत में रहेंगे।

मैं ही सबसे पहले था। मेरे अतिरिक्त न सत् था ना असत् था। मैं ही पहले था, अब हूँ, मैं ही आगे रहूँगा। जो शेष था वह मैं ही हूँ। *'वेत्ति लोकमहेश्वरम्'* – जो भगवान् को अजन्मा, अनादि जान लेता है, वह योग को जानता है। लोक महेश्वर के रूप में जानना, यह भगवान् की विभूति को जानना है। भगवान् अजन्मा है, अनादि है— ये उनका मूल रूप है और वे अजन्मे अनादि भगवान् सारे लोकों की रचना करते हैं। जो सारे लोकों की रचना करता है, वही लोकमहेश्वर है, वही लोक का स्वामी है। तो भगवान् को अजन्मा और अनादि जान लेना – *एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः*

— सातवें श्लोक में इस विभूति को, और योग को भी जानने की बात कही गयी। तो योग क्या हुआ? *'मामजमनादिं च'* – परमात्मा अजन्मा है, परमात्मा अनादि है। इस बात को तत्वतः जान लेना यह भगवान् को, योग को जानना है। भगवान् ही समस्त लोकों के रचयिता हैं; और समस्त लोकों के स्वामी हैं – लोक महेश्वर हैं। इस बात को जो जानता है— *'असम्मूढः स मर्त्येषु'* – वह मनुष्यों में असम्मूढ़ है।

मोहयुक्त को मूढ कहते हैं। मोह कहते हैं अज्ञान को, *'मोह सकल व्याधिन कर मूला'* – तो मोह का अर्थ हुआ अज्ञान। सम्मूढ़ कहते हैं भ्रांति को। जैसे रस्सी को रस्सी नहीं जानना और रस्सी को साँप जान लेना, यह भ्रांति है। मोह और सम्मूढ़ के अन्तर को समझिए। जो रस्सी को रस्सी जानता है वह ज्ञानी है। जो रस्सी को नहीं जानता वह मूढ़ है। लेकिन जो रस्सी को साँप समझ लेता है, वह सम्मूढ़ है। असम्मूढ़ कौन है? जो कुछ को कुछ नहीं समझता, जो जैसा है उसको वैसा ही समझता है। *असम्मूढः स मर्त्येषु* – वह व्यक्ति मुझको अजन्मा और अनादि जान लेता है। योग के रूप में, लोक महेश्वर के रूप में मेरी विभूति को समझ लेता है वह असम्मूढ़ है। वह किसी भी स्थिति में, किसी भी परिवेश में भ्रांतियुक्त नहीं होगा, अज्ञानी नहीं होगा – वह असम्मूढ़ *'सर्वपापैः प्रमुच्यते'* —समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

पाप मन में तब आता है जब हम संसार को भगवत् रूप न जानकर, भोग्य रूप समझते हैं। यह संसार मेरा भोग्य है। ये जो पाँचों विषय हैं – शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध – इन विषयों में सत्यता और रमणीयता की अनुभूति होती है। विषय को सत्य और रमणीय जानकर विषयों में हम आसक्त होते हैं। जब उनमें आसक्त होते हैं, तो हमसे पाप होता है। जब हम यह जान लेते हैं कि ये जो विषय दीख रहे हैं, ये विषय नहीं हैं, ये तो भगवान् का ही एक रूप हैं और भगवान् ही इनमें अभिव्यक्त हैं, ये भगवान् की विभूति हैं, तो फिर उसमें आसक्ति नहीं होती। फिर भगवान् के प्रति भक्ति होती है। बहुत ही अच्छी छोटी-छोटी दो कहानियाँ सुनाता हूँ।

एक बार गुरु गोविन्दसिंह के पास उनके एक शिष्य एक बहुत ही सुन्दरी कन्या के साथ आए, उनकी पुत्री बहुत सुन्दर थी। उन्होंने प्रणाम किया। लड़की ने भी प्रणाम किया। गुरुजी उसको देखते रहे, तो शिष्य के मन में हुआ कि शायद ये इसके प्रति अनुरक्त हो गये हैं। तो उन्होंने कहा – "यह कन्या मैं आपको भेंट करता हूँ। आप क्या देख रहे हैं"। तो गुरुजी बोले— 'मैं भगवान् की कारीगरी देख रहा हूँ। भगवान् ने कितना सौन्दर्य दिया है इसको, भगवान् की विभूति देख रहा हूँ। इसके प्रति मैं आसक्त नहीं हूँ।'

वे ही गुरुगोविन्दसिंह जी जब एक बार नदी के किनारे बैठे हुए थे तब एक शिष्य ने दो हीरे लाकर दिए। गुरु हीरे उछाल रहे थे। उछालते-उछालते एक हीरा हाथ से फिसल गया और नदी में जा गिया। जिस शिष्य ने लाकर दिया था वह कूद गया नदी में और खोजते-खोजते बेहाल हो गया। हीरा नहीं मिला। आकर उसने कहा— गुरुजी अगर आप ठीक-ठीक बता सकें कि हीरा कहाँ गिरा था, तो उसको खोजा जा सकता है। उन्होंने दूसरा हीरा फेंक दिया और बोले वहाँ गिरा था। शिष्य के लिए हीरा बहुत मूल्यवान था; किन्तु गुरु के लिए तुच्छ, क्योंकि वे तो योगी हैं। जब वे नारी के रूप में भगवान् की विभूति को देख पाते हैं, तो इसी के साथ-साथ यह भी देखते हैं कि भगवान् के बिना हीरा भी मिट्टी ही है। यदि भगवान् का रूप उसमें झलक रहा है, तो वह शिरसा वन्दनीय है। भगवान् की विभूति नहीं बल्कि विषय के रूप में अगर उसे कोई देख रहा है तो वह त्याज्य है। विषय की आपने परिभाषा सुनी है— *'विषम् यांति इति विषयाः'* – जो विष में आपको ले जाए, जो अमृततत्व की ओर से हमको विमुख करे, विष की ओर, भोग की ओर, दुःख की ओर, पीड़ा की ओर ले जाए, वे विष होते हैं। तुम उसको विषय के रूप में देख रहे थे, तो मैंने उसे फेंक दिया।

तो मैं आपको बता रहा था कि – *असम्मूढः स मर्त्येषु सर्व पापैः प्रमुच्यते*- - वह असम्मूढ़ समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। समस्त पापों से कैसे मुक्त हो जाता है; और क्यों मुक्त हो जाता है? क्योंकि वह सृष्टि की समस्त वस्तुओं में प्रभु की विभूति का साक्षात्कार करता है; और विषय के रूप में उसे ग्रहण नहीं करता, भगवान् की कला के रूप में, भगवान् के चमत्कार के रूप में देखता है। उसमें भोगवृत्ति नहीं होती, उसमें भगवान् के प्रति श्रद्धावृत्ति आती है। इसलिए वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानने वाला वह भक्त भगवान् की सत्ता के अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता। वह एक नामरूप मात्र है। अधिष्ठान – योग का अर्थ हुआ— अधिष्ठान के रूप में जो भगवान् को जान लेता है, वह उनके योग को जानता है। उस अधिष्ठान से जो नाना प्रकार की वस्तुएँ बनतीं हैं, उनको जान लेना विभूति को जान लेना है। सोने को जानना अधिष्ठान के रूप में योग को जानना है और भिन्न-भिन्न गहनों को जानना, उसकी कलात्मकता के साथ जानना, उस सोने की विभूति को जानना है। उसी तरह भगवान् को अनादि, अज जान लेना, योग को जानना है; और उस अजन्मा, उस अनादि भगवान् के द्वारा सारी सृष्टि में उनकी विशेषता का साक्षात्कार करना उनकी विभूति को जानना है।

जो इस प्रकार जान लेता है, वह किसी भी भ्रांति में नहीं फँसता। वह फिर संसार को विषय नहीं समझेगा। स्वतंत्र भोग्य विषय नहीं मानेगा। वह इसको परमात्मा का ही एक रूप मानेगा–एक विभूति मानेगा। इसलिए वह असम्मूढ़ होगा और अगर वह असम्मूढ़ होगा तो सब पापों से मुक्त हो जायेगा।

इसके बाद उन्होंने चौथे और पाँचवे श्लोक में मनुष्यों के बीस प्रकार के अलग-अलग भाव बताये हैं। आध्यात्मिकता का भाव आजकल की भाषा में गड़बड़ हो जाता है। *'आत्मने अधिः'* – अपने भीतर में – जो अपने भीतर के भाव हैं, वे आध्यात्मिक भाव हैं। ये भाव सब समय अच्छे ही नहीं होते। वे अच्छे भी होते हैं; और बुरे भी होते हैं। ओम् शांतिः शांतिः शांति। तीन बार क्यों कहते हैं – त्रितापों से शांति के लिए–कौन से त्रिताप? आध्यात्मिक ताप, आधिदैविक ताप, आधिभौतिक ताप। आध्यात्मिक ताप क्या होता है? आध्यात्मिक ताप होता है जब हमारे मन में काम आ जाये, जब हमारे मन में क्रोध आ जाये, जब हमारे मन में लोभ आ जाये, जब हमारे मन में मद आ जाये, मत्सर आ जाये या आलस्य ही आ जाये – ये सभी आध्यात्मिक हैं। जब श्रद्धा, भक्ति, दया और ज्ञान आए वे भी आध्यात्मिक है। इसलिए भगवान् ने ये भाव बताये। सिर्फ ये ही भाव नहीं हैं, असंख्य भाव हैं। इसमें उदाहरण के रूप में हमें दिग्दर्शन कराने के लिए, यहां बीस भावों का नाम लिया। इसमें विधि और निषेध दोनों का अनुभव करना चाहिए। इस विषय में कहा है — भय और अभय, भाव और अभाव, यश और अपयश; और कहीं कहीं निषेध भी किया है। लेकिन यह मानना चाहिए कि जो बताया गया है विधि रूप और इसका निषेध रूप, ये तमाम भाव मनुष्य के मन में भीतर आते हैं। यह कहाँ का अर्थ है, अच्छे-अच्छे भाव भगवान् से आते हैं; और बुरे बुरे भाव? बुरे बुरे भाव भी भगवान् से ही आते हैं। परन्तु भगवान् से बुरे भाव नहीं आते, हम अपनी अक्खड़ता के कारण बुरा बनाते हैं। इस बात को समझिए थोड़ा। कैसे बुरे भाव? इसमें हमारी त्रुटि कहाँ है? मैंने आपको पहले ही बताया है कि बिजली आ रही है– बिजली से पंखे चलते हैं, सब पंखे शान से चल रहे हैं। एक पंखा घटर-घटर-घटर करता है – ये जो घटर-घटर पंखे की आवाज है, उसकी जिम्मेदार बिजली है कि उस पंखे का बिगड़ा हुआ यंत्र। दूसरा उदाहरण जो आप लोग बहुत जल्दी समझ जायेंगे– - टी.वी. हमलोग देखते हैं। टी.वी. का प्रसारण एक समान है। जिसका टी.वी. बहुत अच्छा है, उसमें बहुत ठीक-ठीक आता है; और किसी के टी.वी. में बहुत झिग-झिग आता है। तो प्रसारण का दोष है कि टी.वी. यंत्र का? इसी तरह भगवान् की तरफ से प्रेरणा तो शुभ आती है, उस शुभ प्रेरणा को हमारा अंतःकरण (हमारा अंतःकरण माने

हमारा मन, बुद्धि, चित्त अहंकार) हमारे कर्मों के अनुरूप बनाता है। उसमें अगर विकृतियाँ हैं, तो वे विकृतियाँ राम की न होकर, काम के कारण हैं। काम माने–काम, क्रोध, लोभ आदि होंगे। अच्छा, प्रेरक कौन? तीसरे अध्याय में गीता में कहा – न इच्छा होते हुए भी क्यों हम पाप करते हैं।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। (३/३६)

क्या राम की प्रेरणा से पाप करते हैं? *काम एष क्रोध एष* — जब हम विषय को सत्य मानकर रमणीय मानकर, उसको प्राप्त करना चाहते हैं, उसके प्रति हमारे मन में कामासक्ति होती है–यह जो अज्ञान हमारा आता है, इसका हेतु बनता है। अनादिकाल से हमारे कर्मों का जो फल है, वह उसी का दिया हुआ है। यह तो कहा गया है कि देने वाला प्रभु है। लेकिन उस प्रभु की दी हुई बात हम तक आते-आते विकृत क्यों हो जाती है? उसके लिए हम उत्तरदायी हैं। हम जिम्मेवार हैं। यह भक्त की दृष्टि है।

निज दूषण गुन राम के समुझे तुलसीदास।
होय भलो कलिकालहूँ उभयलोक अनयास।।

ये जो हममें गुण हैं वे भगवान् की विभूति हैं। हममें जो दोष हैं, वे हमारी अपात्रता हैं, हमारी कमजोरी हैं। उसको दूर करने की जिम्मेदारी हमारी है। इसलिए भक्त कभी अपने दोषों को दूसरे के ऊपर आरोपित नहीं करता। *'दोष हमारे, गुण राम जी के'।* पर हम सांसारिक लोग बिल्कुल दूसरी बात करते हैं। गुण मेरे हैं, दोष दूसरों के हैं – यह दृष्टि पलटनी चाहिए। तो उन्होंने कहा कि कौन-कौन से भाव प्रभु देते हैं—

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।। (१०/४)
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।। (१०/५)

भगवान् कहते हैं कि बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अपयश— प्राणियों के ये अलग-अलग बीस भाव मेरे द्वारा ही होते हैं।

बुद्धि क्या है – बुद्धि है जानने की शक्ति। बुद्धि है ज्ञान का आधार। बुद्धि वह शक्ति है, जिससे हम जान सकते हैं। शुद्ध बुद्धि तो सही-सही जान सकेगी। बुद्धि अगर अशुद्ध होगी तो हमारी जानकारी अशुद्ध होगी। इसलिए बुद्धि को शुद्ध करना चाहिए।

'शुद्धाहि बुद्धिःकिल कामधेनुः' – शुद्ध बुद्धि कामधेनु है। बुद्धि, जानने की क्षमता का नाम है, ज्ञान का आधार है। जो बुद्धिहीन है वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे विद्या और शिक्षा का अन्तर आप जानते हैं। शिक्षा, विद्या का उपादान है। विद्या वह प्रक्रिया है, जिससे शिक्षा दी जाती है। शिक्षक वह व्यक्ति है जो विद्या को अपने शिष्यों में संक्रमित करता है। जिससे विद्या दी जाय, वह है शिक्षा। जिससे ज्ञान ग्रहण किया जाय — वह है बुद्धि। बुद्धि जितनी मात्रा में शुद्ध होगी, हमारा ज्ञान उतना शुद्ध होगा, तलस्पर्शी होगा।

ज्ञान भगवान् का सही-सही बोध है। तत्त्व को ठीक-ठीक समझ लेना, तत्त्व का ठीक-ठीक बोध हो जाना, यह ज्ञान है। *असम्मोह* – मोह माने अज्ञान, सम्मोह माने भ्रांति – असम्मोह माने जो भ्रांति एवं अज्ञान से रहित स्थिति है। *क्षमा* – किसी ने हमारा अपकार किया, हममें शक्ति है कि हम उसको दण्ड दे सकें; लेकिन हमने उसको क्षमा कर दिया। दुर्बल की क्षमा, क्षमा नहीं है। दिनकर ने कहा है –

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल है
उसको क्या जो दंतहीन विषहीन विनीत सरल है।

प्रतिवाद की क्षमता होते हुए भी, जब हम किसी के अपराध को क्षमा कर दें, वह बड़ा गुण है। *सत्यं* – यथाश्रुत, यथाज्ञात, यथाअनुभूत तत्त्व को उसी रूप में कहना, अनुभव करना। *सुखं दुःखं* – सुख दुःख किसको कहते हैं। जब हमको अनुकूल अनुभूति होती है, वह सुख है। जब हमको प्रतिकूल अनुभूति होती है, तो वह दुःख है। हमारा हृदय स्वच्छ होता है, तो सुख। जब हमारे हृदयाकाश में मेघ आ जाए ; काम, क्रोध, लोभ के, या पीड़ा के, हताशा के, तो दुःख। *भवोऽभावो* – भव माने जन्म, अभाव माने मृत्यु। भय और अभय, अहिंसा, समता। समता माने अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में विचलित न होना। *तुष्टि* – जितना हमको मिला उसके प्रति संतोष। *संतोषात् अनुत्तम सुख लाभः* — जब संतोष आता है, तो बहुत अनुत्तम लाभ होता है। दुनियाँ में असंतोषी ही दुःखी हैं। असंतोषी ही गरीब हैं। *तप* – अनेक प्रकार के हैं। तप, यानी किसी बड़े लक्ष्य को पूरा करने के लिए उठाया गया कष्ट, परिश्रम, ये तप हैं। वाङ्मय तप है। वाणी को कैसे शुद्ध किया जाय। मानसिक तप है, शारीरिक तप है। *दान* – जो हमने पाया है, जो हमने कमाया है – अकेले अपने आप कमा लिया? सबों के सहयोग से कमाया, वह लौटाना चाहिए योग्य व्यक्तियों को। *यश-अपयश* – ये सारे के सारे भाव और भी अलग-अलग मुझसे ही होते हैं। भगवान् अभिन्ननिमित्तोपादान कारण यह बता रहे हैं कि मनुष्य के, जो शुभ और अशुभ अनेक प्रकार के भाव हैं,

उन भावों की प्रेरणा मैं ही देता हूँ। उन प्रेरणाओं में कौन कितना विनीत होकर सुख को ग्रहण करता है – यह उसके अंतःकरण की पवित्रता पर निर्भर करता है। यह उसको बड़ा बनाता है। तो भगवान् अभिन्न निमित्तोपादान होने के कारण मानवीय, आध्यात्मिक, समस्त भीतर के भावों को प्रेरित करते हैं। उसके बाद भगवान् सृष्टि रचना का सूक्ष्म संकेत देते हैं—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।। (१०/६)

जो पहले सात महर्षि हुए – सात महर्षियों के नाम हैं— कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, गौतम आदि; और उनके पहले जो चार हुए। उनके पहले चार कौन हुए, इस पर थोड़ा सा विवाद है। लेकिन अधिकांश लोग मानते हैं कि सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार – ये ब्रह्मा के चार मानसपुत्र हैं, उनकी ओर संकेत है। कुछ लोग मानते हैं कि ये मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार जो अंतःकरण चतुष्टय हैं, उसकी ओर संकेत है। कुछ लोग मानते हैं कि ये वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध – वासुदेव माने परमात्मा, संकर्षण माने जीव, प्रद्युम्न माने मन और अनिरुद्ध माने अहंकार, इसकी ओर संकेत है। जो भी आप मानें, पूर्व चत्वारो अर्थात् पहले होने वाले चार। ज्यादातर लोगों ने सनक, सनातन, सनन्दन एवं सनत्कुमार माना है। *मनवस्तथा* – अनेक मनु हुए हैं – चौदह। संप्रति सावर्ण्यक मन्वन्तर चल रहा है। तो यह अनेक प्रकार के मनु *मद्भावा मानसा जाता* – मेरी मानस सृष्टि है। मैंने अपने मानस भाव से इनको उत्पन्न किया। *येषां लोक इमाः प्रजाः* – फिर इन्होंने सारी प्रजा को उत्पन्न किया और सारी सृष्टि चली। बताना यह चाह रहे हैं कि इस सम्पूर्ण सृष्टि का आदि कारण मैं हूँ। यह सारी सृष्टि मेरे द्वारा निर्मित है। मेरे जो मानस पुत्र थे – सातों महर्षि, उनके पूर्व के चारों और मनु, उन्होंने यह सृष्टि उत्पन्न की है। इस सृष्टि में मैं ही समाया हुआ हूँ—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। (१०/७)

सारी सृष्टि भगवान् की विभूति है। भगवान् सारी सृष्टि के रूप में विकसित हुए। भगवान् ने अपने को सारी सृष्टि में रूपान्तरित किया, यह योग है। जैसा मैंने बताया कि भगवान् का अजन्मा होना, अनादि होना, मूल रूप से उनका योग है। सारी सृष्टि में उनकी अभिव्यक्ति यह उनकी विभूति है। जो इसको तत्त्वतः जानता है; इसको जो द्विधाहीन भाव से बिल्कुल मूलतः जानता है, वह अविकंप योगी है।

आज के प्रवचन का शीर्षक है 'अविकम्प योग'। अविकम्प योग का तात्पर्य है जो किसी भी स्थिति में काँपे नहीं। कम्प माने कांपना। विकंप माने विशेष रूप से कांपना। अविकम्प – नहीं कांपना। जो किसी भी स्थिति में, किसी भी प्रलोभन की स्थिति में, किसी भी भय की स्थिति में, किसी भी घृणा-क्रोध की स्थिति में विचलित न हो। *'सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः'* – जो मेरे योग और विभूति को भली भाँति तत्त्वतः उसके मूल रूप में समझ लेता है, वह अविचल भक्ति योग से युक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। एक ही श्लोक में दो बार 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है। *'एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः'* – यहाँ योग मूलरूप के लिए आया है। मूल रूप का संकेत देता है। *'सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः* – वह अविकम्प योग के द्वारा युक्त होता है। यहाँ योग युक्ति के रूप में आया है।

अविकंप योग किसको कहते हैं? कुछ लोग इसको भक्ति योग कहते हैं। क्योंकि भक्ति योग की प्रक्रिया हो, तो अविकंप भक्ति योग प्राप्त होता है। किन्तु लोकमान्य तिलक इसको अविकंप कर्मयोग ही मानते हैं। लेकिन इसमें आगे भक्तियोग की चर्चा है। जो अविकंप योग के द्वारा युक्त होता है, वह किसी भी स्थिति में विचलित नहीं होता। जो जय में फूलकर कुप्पा नहीं होता, पराजय में सूखकर छुहारा नहीं होता ; जो किसी भी तरह अपने मन में दीनता का, अपने मनमें अहंकार का अनुभव नहीं करता; यानी अविकंप रूप से प्रभु से जुड़ा रहता है, वही अविकंप योग से युक्त होता है। कहीं भी, किसी भी स्थिति में वह भगवान् का ही अनुभव करता है। मृत्यु में भी। *'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाःहमर्जुन'* — अर्जुन मैं ही अमृत हूँ, मैं ही मृत्यु हूँ। सब कुछ हर लेने वालों में मैं मृत्यु हूँ। भगवान् ने दो बार गीता में अपने को मृत्यु कहा है। तो मृत्यु के रूप में मेरे स्वामी आये हैं। मेरे श्याम आए हैं। *'मरण रे तुहु मम श्याम समान'*। इस मरण के रूप में भी जो प्रभु को पहचान ले, उसके लिए मृत्यु महोत्सव हो जाती है। सुन्दरदास ने कहा है –

सुंदर संशय को नहीं महामहोत्सव एह।
आतम परमातम मिल्यो देह खेह की खेह।।

मृत्यु महामहोत्सव है, इसमें कोई संशय का कारण नहीं है। आत्मा, परमात्मा से मिल गई। शरीर मिट्टी है – मिट्टी में चला गया, इसमें भय करने का क्या कारण है? मृत्यु में भी जो परमात्मा का साक्षात्कार करे, जो सब वस्तुओं में सर्वत्र परमात्मा का साक्षात्कार करे, उसकी भक्ति अविकम्प होती है। उसका योग अविकम्प होता है, अविचलित होता है। जो सर्वत्र प्रभु को पहचान ले, वही अविकम्प रूप से, अविचलित

रूप से प्रभु से जुड़ सकता है, इसमें कोई संशय का कारण नहीं है। अब देखिए अविकम्प योग सिद्ध कैसे होता है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।। (१०/८)

बुध कौन है? विशेष रूप से जो जानते हैं। क्या जानते हैं? केवल हिसाब-किताब? केवल लेन-देन? केवल दुनियावी चीजें? गीता उनको बुध नहीं मानती। बुध कौन है – बुध वे हैं, जो इस बात को जानते हैं *'अहं सर्वस्य प्रभवः'*। परमात्मा ही सबों का आदि कारण है, उत्पत्ति स्थान है। सब कुछ परमात्मा से उत्पन्न होता है। *'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'* – और सारी सृष्टि की जो प्रवृत्ति है, वह परमात्मा से है। परमात्मा सबका आदि कारण है, परमात्मा सबका प्रवर्तक है। परमात्मा से ही सबको प्रवृत्तियाँ प्राप्त हो रही हैं। उन प्राप्त प्रवृत्तियों में अनुकूलता-प्रतिकूलता, उन प्राप्त प्रवृतियों में औचित्य-अनौचित्य हमारे अंतःकरण की विषमता के कारण आता है। उस अंतःकरण की विषमता को समझकर, उस अंतःकरण को शुद्ध करने का प्रयास करते हुए जो मुझको सर्वत्र देखता है – *'इति मत्वा भजन्ते माम्'* ऐसा समझकर जो मेरी सेवा करता है, भक्ति करता है, भजन करता है, वह बुध है।

भगवान् की भक्ति किस रूप में करनी चाहिए। देखिए इस बात पर ध्यान दीजिए, जो प्रतीकोपासना है, वह भी बहुत आवश्यक है। लेकिन वहीं सीमित नहीं हो जाना चाहिए। परमात्मा केवल मूर्ति विशेष में, केवल किसी आकार विशेष में, केवल किसी नाम विशेष में सीमित है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। परमात्मा निर्गुण भी है, सगुण भी है। परमात्मा सब नामों में है, सब रूपों में है। यह जो प्रतीक है, यह जो भगवान् की मूर्ति है, यह जो मेरे इष्टदेव का रूप है, यही मेरे लिए परम साधन है; लेकिन उससे हम मिल जाएँगे, तो सर्व रूप में परमात्मा का अनुभव होगा। तुलसीदास से बेहतर तो कोई रामभक्त नहीं है – हिन्दी भाषा में तो नहीं है। तुलसीदास ने क्या कहा? तुलसीदास भी रामजी के रूप से अटक नहीं जाते—

हिय निर्गुन नैननि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट सम्पुट लसत, तुलसी ललित ललाम।।

हृदय में निर्गुण जिसका कोई आकार नहीं है, कोई रूप नहीं है। नेत्रों में सगुण – नेत्रों की सार्थकता नष्ट हो जाएगी, अगर नेत्र सगुण साकार रूप का दर्शन नहीं कर पायें। *'सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम* (रामचरितमानस ७/१६) रामजी सबमें समाए हुए हैं, रामजी सबका भला करते हैं। परमात्मा ही सब कुछ हैं *'सर्वउर*

बसति उरालय' – तुम सबमें बसते हो, तुम हमारे प्रतिपालक हो। राम को नाम और रूप के द्वारा अपना इष्ट मानते हुए भी – सर्वगत है, सर्वहित, सर्वरूप कहा तुलसीदास ने, इसे समझना चाहिए। *अहं सर्वस्य प्रभवो* – मैं ही सबका उत्पादक हूँ, उत्पत्तिकर्ता हूँ, उत्पत्ति, माने स्वयं हूँ। यानी परमात्मा स्रष्टा भी है और सृष्टि भी है। अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ तो *'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'*।

मुझसे ही सब विकसित होता है – यह जान लेनेवाला बुध है। *'इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः'* – वह व्यक्ति वास्तविक बुध है, वास्तविक विद्वान् है, वास्तविक ज्ञानी है जो इस बात का अनुभव कर लेता है कि परमात्मा ही सबके मूल कारण हैं, परमात्मा ही सब कुछ बने हुए हैं, सारी प्रवृत्तियाँ परमात्मा के द्वारा हैं; और तब वह भाव समन्वित होकर भावयुक्त होकर भगवान् का भजन करता है, भगवान् से प्रेम करता है। यह भाव *अविकम्प योग* का भाव है। इस बात को समझ लेने वाला कभी विचलित नहीं होगा। इस बात को स्वीकार कर लेने वाला प्रतिकूल से प्रतिकूल स्थिति में अपनी स्थिति से स्खलित नहीं होगा। *'सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः'* इस बात को ग्रहण कर लेने से अविकम्प योग की प्राप्ति होती है। इस बात को बताया गया है। गीता में भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से भक्ति दोनों बातें कही हैं। जो शुष्क वेदान्ती लोग हैं, ज्ञानोत्तर भक्ति को बहुत अच्छा नहीं मानते, गीता मानती है। भक्ति से ज्ञान होता है – *'भक्त्या मामऽभिजानाति'* – गीता यह भी बताती है। और ज्ञान होता है तब वह भजने लगता है, यह भी बताती है। यह ज्ञान हो गया *'अहं सर्वस्व प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'* – यह ज्ञान हुआ। इस ज्ञान के कारण भाव समन्वित होकर भक्ति करेगा; और कैसी भक्ति करेगा? इसको आगे देखिए। ९वें और १०वें श्लोक में—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।। (१०/९)

'मच्चित्ता' जिन्होंने अपना चित्त मुझमें लगाया है। चित्त का मतलब क्या है? चित्त का साधारण अर्थ आपको मालूम ही है। मन संशय करता है – यह करें कि न करें। बुद्धि निर्णय करती है। चित्त स्मरण करता है। बचपन से लेकर अभी तक का सारा ज्ञान कोष चित्त में है। लेकिन गीता में चित्त कहा गया है, मन और बुद्धि के समाविष्ट को। द्वादश अध्याय अगर आपलोगों को याद हो तो—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। (१२/८)
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। (१२/९/१)

पहले उसमें कहा कि अपना मन मुझमें लगा दो, अपना मन मुझमें रख दो। *मयि बुद्धिं निवेशय* – अपनी बुद्धि मुझमें प्रविष्ट करा दो। और फिर कहा – *'अथ चित्तं समाधातुं न शक्तोषि मयि स्थिरम्'*। अगर तुम चित्त का समाधान करने में समर्थ नहीं हो तो – चित्त जो है, मन बुद्धि की समष्टि है। *मच्चिताः* का क्या मतलब हुआ? *मच्चिताः* का मतलब हुआ, जो मन से मुझे प्यार करे और चित्त से, बुद्धि से, मुझको ही सबसे बड़ा समझे – सबसे श्रेष्ठ बुद्धि और मन दोनों एक साथ हो जाना चाहिये। आप किसी को सबसे बड़ा समझेंगे और किसी को प्यार करेंगे तो प्यार पूरा नहीं होगा – भगवान् ही सबसे बड़े हैं – *'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः'* – मैं सबसे बड़ा हूँ – अपनी बुद्धि मुझको दे दो – *'मद्भक्तः'* अपनी प्रीति मुझको दे दो।

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा' – जो भगवान् से अपना मन लगा दे, प्यार ही उनको करे और अपनी बुद्धि भी वहीं लगा दे – उनको ठीक से समझकर प्यार करे – उनको सबसे बड़ा समझे। *'मच्चित्ता'* – अपना चित्त मुझमें लगा दे। *'मद्गतप्राणा'* – 'प्राण के दो अर्थ हैं – एक वे जो पूरा जीवन, मुझको याद करते रहते हैं, जो इसलिए जीवित हैं कि मेरा नाम, रूप, गुण स्मरण करते हैं। वे मेरा ध्यान करते हैं। प्राण का दूसरा अर्थ है जीवन। निष्प्राण का अर्थ है निर्जीव हो गया। प्राण का एक अर्थ क्रिया भी है। प्राणशक्ति जो है, यह क्रिया हलचल करने के कारण है। वह जिसकी सारी क्रिया, सारी चेष्टा मेरे लिए है। जिसने सारा जीवन मुझको समर्पित कर दिया है। *'बोधयंतः परस्परं'* – ऐसे दो व्यक्ति अगर मिलेंगे तो एक दूसरे को भगवान् की बात, अपने अनुभव की बात बताते हैं। श्रोता मिले तो कहो भगवान् के बारे में, वक्ता मिले तो उससे सुनो, दोनों आदमी भगवान् के सम्बन्ध में अपने जो अनुभव हैं, भगवान् की जिस कृपा का अनुभव उन्होंने किया, भगवान् की जिस लीला का अनुभव उनको हुआ – वे परस्पर एक दूसरे से कहते हैं, संसार की बात नहीं करते हैं।

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यम्' – लगातार मेरी ही बात करते हैं। राम की कथा। सत्संग प्राप्त होना चाहिये। सत्संग मिले तो उसमें भगवत् चर्चा होती है। *'तुष्यन्ति च रमन्ति च'* – रमन्ति, यह ठीक व्याकरण नहीं हैं। रमन्ते होना चाहिये। लेकिन कुछ लोग कहते हैं, *चरमन्ते* अगर करें, तो ठीक है। *चरमन्ते* माने सबसे ज्यादा। चरम स्थिति। रमन्ते होना चाहिये – मुझमें ही जो तुष्ट होते हैं, मुझमें ही जो रमण करते हैं। उनकी मति, गति, रति, कृति, तुष्टि सब मुझमें है। यह भक्त का लक्षण है। ऐसा जो भक्त है, जिसने अपना सब कुछ भगवान् को अर्पित कर दिया है, जो भगवान् के लिये जी रहा है, जिसकी प्रत्येक क्रिया भगवान् के लिए है,

भगवान् उसके लिए कुछ नहीं करेंगे? जो सब समय भगवान् का आश्रित है, भगवान् उसके लिए सब कुछ करते हैं। क्या अद्भुत बात है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। (१०/१०)

नवम अध्याय में कहा *'योगक्षेमं वहाम्यहम्'* – मैं उनका योगक्षेम वहन करता हूँ। भक्तों ने कहा वहन करते हैं। क्या ढो के ले जाते हैं? एक भक्त ने कहा 'नहीं नहीं वहाम्यहम्' अच्छा नहीं। उसने 'ददाम्यहम्' कर दिया। उनको योगक्षेम देते हैं। कथा है, जब पण्डित जी कथा में वहाम्यहम् को ददाम्यहम् करके चले गए। उस दिन उनके घर में भोजन ही नहीं था। जब वे गंगा स्नान करने गए, तब एक साँवरा-सलोना सुन्दर बालक आया। समस्त अन्न सामग्री लेकर पण्डिताइन को दे गया। लेकिन उसके गालों पर घाव का चिह्न था। पण्डितानी बोलीं तू इतना सुन्दर, तुझको किसने मारा? बोला पण्डित जी ने मारा मुझको, इसलिए घाव हो गया। पण्डिताइन बहुत दुखी हुईं। पंडिताइन ने सोचा – 'अरे पंडित को क्या हो गया?' पंडित जी लौट कर आए तो बोलीं – 'देखो तुमने जिस बालक को भेजा था, वह तो सब अन्न दे गया, लेकिन तुमने उसको मारा क्यों? उसके एक घाव हो गया।' 'मैंने किसी बालक को भेजा नहीं देवी। मैंने किसी को मारा नहीं।' तब उनको लगा कि आया कन्हैया -- *'वहाम्यहम्'* वहन करके लाया और मैंने जो कलम से काट दी, उससे उसको घाव हो गया – यह तो भावलोक की बात है। लेकिन जैसे उन्होंने कहा कि *'योगक्षेमं वहाम्यहम्'* – तुम विश्वास तो करो।

हम भगवान् का भरोसा ही नहीं करते। हम भगवान् पर विश्वास ही नहीं कर पाते। हमारा विश्वास डिग जाता है, कम्पित हो जाता है। अविकम्प योग होना चाहिए किसी भी स्थिति में, किसी भी प्रतिकूल से प्रतिकूल स्थिति में विचलित नहीं होंगे, तो भगवान् भी हमारी रक्षा करेंगे। यदि राम मेरी रक्षा करने वाले हैं, तो मुझे कौन मार सकता है? यह विश्वास होना चाहिए। *'सो अविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः'* – इस विश्वास के साथ, इस भावना के साथ भगवान् के साथ जुड़ने वाले को अविकम्प योग की प्राप्ति होती है।

'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्' — जो प्रेम के साथ मेरा भजन करते हैं। प्रेम के साथ! भजन में मन लगना चाहिए। यह नहीं कि गुरुजी ने कहा और आँखें बंद करके 'राम! राम! राम! की १००८ की संख्या पूरी कर दें। संख्या पूरी करना कोई बड़ी बात नहीं है। उसमें मन लगता है क्या? मन लगना चाहिए – *'भजतां*

प्रीतिपूर्वकम्' – बाध्यता के कारण नहीं, लाचारी के कारण नहीं, तुम्हारी प्रीति के कारण। प्रेम के साथ, जो भगवान् का भजन करते हैं, जो सततयुक्त रहते हैं, उन्हें, भगवान् को छोड़कर और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। राम जी ही अच्छे लगते हैं। रामजी की कथा, रामजी की चर्चा, रामजी का चिन्तन, रामजी के साथ युक्त रहना। *'तेषां सतत युक्तानां'* – जो सब समय मुझसे युक्त हैं – जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं। उसमें अगर कोई कमी होती है तो सारी कमी मैं पूरी करता हूँ – भक्त की कमी हुई तो, भगवान की कमी होगी, भक्त की कमी नहीं होगी। कबीरदास ने कहा – *'पतिव्रता नांगी रहे तो उसके पुरुष कुचाल'* पतिव्रता अगर नंगी रहे तो लज्जा किसको आनी चाहिए? पतिव्रता को लज्जा नहीं आनी चाहिए, उसके पति को लज्जा आनी चाहिए कि वह अपनी पतिव्रता पत्नी का भरण-पोषण नहीं कर सका। अगर भक्त में कोई कमी है तो उस कमी का दोष भक्त का नहीं है, उस कमी का दोष तो भगवान् का है। प्रेम के साथ जो लगातार भगवान् का भजन करते रहते हैं *'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'*- उनको वह बुद्धि योग देता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाएँ। भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से भक्ति।

गीता ज्ञान और भक्ति को अलग-अलग करके दो चीजें नहीं मानती – *'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'* ज्ञान और भक्ति, भक्ति और ज्ञान एक ही हैं। *'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्'* – लगातार जो प्रेम के साथ मेरा भजन करते हैं, मैं उनको बुद्धि योग देता हूँ। बुद्धि और बुद्धियोग में बहुत अंतर है, जैसे कर्म और कर्मयोग में बहुत अंतर है। कर्म बांधता है कि नहीं बांधता? *'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'* – जो शुभ और अशुभ काम करते हैं, उनको बांध देते हैं, लेकिन कर्मयोग काम करने की वह पद्धति है, वह तरीका है, जिससे सारे काम करते हुए भी *'न लिप्यते नरे'* – कर्म स्पर्श नहीं करता। कर्म के प्रति जो कर्तृत्व का अहंकार है, कर्म का जो फल पाने का भाव है— यही कर्म करेंगे, इस प्रकार की आसक्ति है – नहीं करेंगे तो कुछ नहीं करेंगे – सारी असहमतियों को छोड़कर जब कर्म केवल प्रभु की प्रसन्नता के लिए या निष्कामता के साथ या ज्ञान से उसको दग्ध करके कर्म किया जाता है, तो वह फल नहीं देता। वैसे ही बुद्धि और बुद्धियोग में जमीन आसमान का फर्क है। जो लोग आजतक काम कर रहे हैं, वे बुद्धिमान हैं कि नहीं? नारायण! बुद्धि जब पाप की ओर जाती है, तब पापी हो जाती है, कलुषित होती है। सच बात यह है कि बुद्धिमान लोग ही ज्यादा पाप करते हैं। वह बुद्धियोगी नहीं है, वह बुद्धिजीवी है। बुद्धिजीवी माने जिनकी जीविका बुद्धि से चले। जब बुद्धि से जीविका चलाएँगे,

तो भ्रष्टाचार करेंगे। गीता बुद्धिजीवियों का समर्थन नहीं करती। गीता बुद्धियोगियों का समर्थन करती है। जिनकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, जिनकी बुद्धि भगवान् की ओर गई है, जिन्होंने भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझ लिया है। जिनका चित्त, जिनका प्राण, जिनका बोध – सबकुछ प्रभु को समर्पित है, उनको भगवान् वह तरीका बताते हैं, वह बुद्धि देते हैं, वह उपाय देते हैं, जिससे वे भगवान् के साथ एक हो जाते हैं। *'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'* – समझ की वह स्थिति, समझ की वह भूमिका जिस भूमिका में वे भगवान् से अभिन्न हो जायें, वह बात भगवान् बता देते हैं। *'सोइ जानत जेहि देहु जनाई'* – यह जना देना बुद्धियोग है। भगवान् बता देते हैं कि इस तरह से तुम मुझको जानोगे और इस तरह से मुझसे युक्त हो जाओगे तो तुम मुझसे अभिन्न ही हो जाओगे। भगवान् की कितनी कृपा है। भगवान् के भक्त भगवान् को जितना चाहते हैं, भगवान् उन भक्तों को उनसे ज्यादा चाहते हैं। *'अहं भक्तो भक्तिमान्'* – श्रीमद्भागवत् में कहा है कि मैं भक्तों की भक्ति करता हूँ। एक बार भगवान् की भक्ति करके तो देखो भाई! भगवान् को अपना चित्त दो, भगवान् को अपने प्राण दो, अनुभव तो करो भगवान् तुम्हारे लिए क्या करेंगे– *'ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयान्ति ते'*। और क्या करते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।। (१०/११)

जो ऐसे मेरे अनन्य भक्त होते हैं, मैं उनके ऊपर अनुकम्पा करने के लिए *'तेषामेवानुकम्पार्थं'*। भगवान् का हृदय काँप उठता है, तब अनुकम्पा होती है। अनुकम्पा का मतलब क्या हुआ? कम्पा माने काँपना, अनु माने उसके बाद – किसको देखकर? अपने भक्त को अगर दुःस्थिति में देखते हैं ; भक्त के ऊपर अगर संकट आता है, तो भगवान् का हृदय कांपने लगता है। अनुकम्पा हो जाती है। अविकम्प योग देते हैं भक्त को; और स्वयं उनके हृदय में अनुकम्पा उठती है। क्या विचित्रता है? भगवान् का भक्त तो होता है अविकम्प; और भगवान् के हृदय में होती है अनुकम्पा। भक्त की पीड़ा, भक्त की वेदना, भक्त का दुःख, देखकर अनुकम्पा से पिघलकर मेरा हृदय उनपर कृपा करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। अज्ञान से उत्पन्न जो अँधेरा है *'अज्ञानजं तमः'* उसको नष्ट कर देने के लिए *'आत्मभावस्थो'* मैं उनके आत्म के रूप में स्थित हो जाता हूँ। भगवान् भक्तों की आत्मा में स्थित हो जाते हैं। भगवान् अपना अनुभव करा देते हैं। *'ज्ञान दीपेन भास्वताः'* और उस उज्ज्वल प्रकाशित ज्ञान दीप से भगवान् भक्तों को अनुभव कराते हैं कि मैं तुम्हारे हृदय में, तुम्हारे अन्तःकरण में,

तुम्हारी आत्मा में मैं बैठा हुआ हूँ। आत्मभावस्थ होकर भगवान् ज्ञान का दीप जलाकर उनके समस्त अज्ञान के अंधकार को नष्ट कर देते हैं। क्योंकि वे अपने भक्तों पर अनुकम्पा करते हैं। भगवान् की भक्ति, भगवान् का ज्ञान, भगवान् की उपलब्धि सबसे समरस हो जाती है। हम भगवान् के योग को भी समझें, भगवान की विभूति को भी समझें। भगवान् की कृपा हम सब पर हो। ●

विभूति योग (१)

विभूति योग के प्रकरण की जिज्ञासा अर्जुन के मन में जागी है। इस बात पर ध्यान दीजिये कि ज्ञान किसको मिलता है? ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा कैसे की जानी चाहिए? गीता में इन दोनों बातों का संकेत किया गया है। भगवान् ने कहा है — *'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः'*। ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीन गुणों की आवश्यकता होती है। पहले तो श्रद्धा होनी चाहिए। जिस विषय में जानकारी की इच्छा उदित हुई, उसके प्रति अगर श्रद्धा नहीं है, उसके प्रति अगर महिमा की बुद्धि नहीं है, तो विषय उसको ग्रहण नहीं होगा। यदि श्रद्धा है, पर आलस्य है तो भी प्राप्त नहीं होगा। *'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं'* – यही युक्ति बार-बार कही जाती है। इसमें एक ही पक्ष पर बल दिया गया है। दो पक्ष छूट जाते हैं। पूरी उक्ति है – *'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः'* जो व्यक्ति श्रद्धावान है, ज्ञान प्राप्त करने के लिए लगातार चेष्टा करता है, परिश्रम करता है, तत्पर रहता है, उससे जुड़ा रहता है, संयतेन्द्रिय है, इन्द्रियों पर संयम रखता है, उसे ज्ञान प्राप्त होता है। यह नहीं कि जब बात बताई जा रही है, तो उसका मन कहीं और चला गया है। यह नहीं कि सुनते समय उसको नींद आ गई है। इन्द्रियों पर संयम और विषय को प्राप्त करने के लिए गंभीर श्रद्धा हो तो उसको ज्ञान की प्राप्ति होती है। अर्जुन ऐसा ही है।

इस ज्ञान को प्राप्त करने की भी एक प्रक्रिया गीता में बताई गई है। ऐसे ही किसी से नहीं पूछना चाहिए। *'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।'* तीन बातें हैं। कोई बात अगर तुम जानना चाहते हो तो पहली यह कि जिससे जानना चाहते हो उसके प्रति विनम्र होना चाहिए। फिर तुम अगर बात नहीं समझ पा रहे हो तो एक ही प्रश्न नहीं, परिप्रश्न करने के अधिकारी भी हो। बार-बार और भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रश्न करने के अधिकारी हो। प्रश्न दो प्रकार के लोग करते हैं। अध्यापक प्रश्न करता है, विद्यार्थी की योग्यता की जाँच के लिए; और विद्यार्थी प्रश्न करता है अध्यापक से जानने

* दशम अध्याय (विभूति योग) : श्लोक संख्या १२ से २६

के लिए। प्रश्न में अगर दुष्टता है, जानने की इच्छा कम और अहंकार प्रदर्शन का प्रयत्न अधिक है, तो ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। प्रणिपात के साथ, विनम्रता के साथ, तुम अनेक प्रश्न करने के अधिकारी हो। विनम्रता और प्रणिपात के साथ सेवा की भावना भी होनी चाहिए। तुम जिससे ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, उसको अगर अपना गुरु मानते हो, अपने से बड़ा मानते हो, तो उनकी सेवा की भावना होनी चाहिए – तभी विद्या प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त होगी। *'पैये असीस लचैये जो सीस लची रहिए तब ऊँची कहैए'* – गर्दन झुकी रहती है, तो ऊँची उठती है। विद्या तो वर्षा के जल की तरह है, वह निम्न भूमि पर आती है, विनम्र के पास आती है। अहंकारी के पास विद्या नहीं आती। यह बात इसलिए बता रहा हूँ कि कैसे पूछ रहा है अर्जुन – अर्जुन क्या जानना चाहता है? क्यों जानना चाहता है? अर्जुन के मन में एक भाव आया कि भगवान् ने अद्‌भुत बात कही –

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। (१०/७)

इसी अध्याय में ७वें श्लोक में कहा मेरी विभूतियों को, मेरे योग को जो तत्वतः जान लेता है, वस्तुतः *'सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः'* – इसमें कोई संशय नहीं कि वह अविकम्प योग के साथ मुझसे युक्त होता है। जो योग कभी कम्पित नहीं होता, जो योग कभी विचलित नहीं होता, जो योग कभी छूटता नहीं, ऐसे अविकम्प योग से वह व्यक्ति भगवान् से जुड़ जाता है। वह भगवान् की विभूतियों और भगवान् के योग को तत्त्वतः जान लेता है। अर्जुन को लगता है कि अगर यह बात समझ में आ जाये कि भगवान् का योग तत्त्वतः क्या है, भगवान् की विभूति तत्त्वतः क्या है, तो मैं भगवान् से निश्चित् रूप से, अविचलित रूप से जुड़ जाऊँगा। तो इस बात को समझना चाहिए, जानना चाहिए, ऐसी श्रद्धा है अर्जुन के मन में; और इस श्रद्धा से प्रेरित होकर वह करता क्या है? आप देखें कि पहली बार गीता में अर्जुन ने भगवान् को परब्रह्म कहा है। अर्जुन उवाच–

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।। (१०/१२)

इसके पहले अर्जुन ने भगवान् को परब्रह्म नहीं कहा। भगवान् ने इसके पहले कई बार अपने को कहा है कि मैं ब्रह्म हूँ—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।। (९/१६)

मैं सब कुछ हूँ, यह बार-बार कहा है। लेकिन उन प्रकरणों में अर्जुन ने भगवान् को ब्रह्म नहीं कहा। अबकी बार कहता है परम ब्रह्म। और इस बात को श्रद्धा के साथ कहता है। आप परब्रह्म हैं, उपनिषदों में कहा। ब्रह्म की परिभाषा क्या है, ब्रह्म का लक्षण क्या है?

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, अनुवाक् १)

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' – जिससे ये सारे के सारे प्राणी जीवित होते हैं ; *'येन जातानि जीवन्ति'* जिसके कारण पैदा हुए व्यक्ति जीवित हैं। *यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति,* नष्ट होने के बाद जिसमें सारे के सारे जीव समा जाते हैं, वह ब्रह्म है। वह भी कारण किमपरिणत कहा जाये तो सगुण ब्रह्म है। तो मैं आपको पूरी श्रद्धा के साथ समस्त भूतों का, समस्त प्राणियों का, समस्त वस्तुओं का आदि, मध्य और अंत मानता हूँ। भगवान् ने बात फिर कही है। अपनी श्रद्धा से अर्जुन उसकी स्वीकृति देता है। आप परंधाम हैं। धाम शब्द के दो अर्थ होते हैं – एक तो आश्रय। *'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'* जिसमें जा कर कोई लौट के नहीं आता, वह परम आश्रय मैं हूँ। तो आप सबके परम आश्रय हैं, सच्चे आश्रय हैं, वास्तविक आश्रय हैं। जहाँ जा कर लौट आना पड़े, वह अपना घर नहीं है। मैं कल मुम्बई में था – लौट आया – मुम्बई मेरा घर नहीं है। भगवान् जाने कब यहाँ से बुलावा आ जायेगा। ऊपर चला जाऊँगा। तो यह मेरा घर नहीं है। जहाँ से जाकर लौट आना पड़ता है, वह अपना घर नहीं है। जहां जा कर फिर लौटना नहीं होता वही अपना वास्तविक घर है। हे प्रभु! आप परमधाम हैं – धाम शब्द का एक अर्थ होता है ज्योति, प्रकाश। आप परम ज्योति स्वरूप हैं। याद रखें परमात्मा को हमलोग स्वयं प्रकाश कहते हैं। और जितने भी प्रकाश हैं, ये पर प्रकाश हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ये बिजली की बत्तियाँ, दीपक – ये सब भगवान् के प्रकाश से प्रकाशित हैं। कोई भी स्वयं प्रकाश नहीं है। परमधाम, परमज्योति के अर्थ में परमात्मा ही हैं। *'पवित्र परमं भवान्'* आप पवित्र हैं। पवित्र का अर्थ क्या है? *'पवेः वज्रात्: त्रायते इति पवित्रम्'* जो दु:ख रूपी, मृत्यु रूपी बज्र से त्राण करने में समर्थ हो, वह पवित्र है। आप अगर पवित्र होंगे, तो आप मृत्यु के भय का अतिक्रमण करेंगे, दु:ख का अतिक्रमण करेंगे, तो दु:ख-मृत्यु रूपी बज्र से त्राण करने में जो समर्थ है, वह पवित्र आप हैं। *'पुरुषं शाश्वतं दिव्यम्'* आप पूर्णता के कारण पुरुष हैं। सब के शरीर में रहने के कारण पुरुष हैं, शाश्वत हैं, सनातन

हैं, दिव्य हैं, आदि देव हैं, आप सर्वव्यापी हैं। सबके पहले आप, सबके कारण आप – ये भगवान् की स्तुति है। स्तुति करके भगवान् की महिमा की स्वीकृति है—

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।। (१०/१३)

यह बात जो मैंने कही है यह मेरी बात नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि मैं आपकी चाटुकारिता कर रहा हूँ। यह नहीं है कि मैं आपकी खुशामद करके, आपको रिझा कर, आप से कुछ अनुचित प्राप्त कर लेना चाहता हूँ। यह बात सत्य है, क्योंकि ऋषियों ने, मंत्रद्रष्टाओं ने कही है। देवर्षियों में जो श्रेष्ठ नारद हैं, उन्होंने मुझसे कही है। असित, देवल, व्यास, जैसे महान् ऋषियों ने कही है। और आपने भी यह बात कही है। इन तमाम ऋषियों की और आप की वाणी को मैं प्रमाण मानता हूँ, मैं सत्य मानता हूँ।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।। (१०/१४)

'सर्वमेतदृतं मन्ये'। श्रद्धा – मैंने बार-बार आपको बताया होगा 'शृत' जो है यह वास्तव में सत् है। 'सत' तो रेफ लगा कर ढाँक दिया गया है। शृत जो है *'सत इति नामः'* तो जो धारण करने वाली वृत्ति है वह श्रद्धा है। लोग कहते हैं 'अंध श्रद्धा'। 'अंधश्रद्धा' प्रयोग ही गलत है। श्रद्धा कभी अंध (अन्धी) होती ही नहीं। श्रद्धा तो सत् को धारण करती है। असत् को धारण करनेवाली श्रद्धा तो हो ही नहीं सकती। हमारे यहां तो कहा गया है कि भगवान् शिव विश्वास हैं ; और भगवती पार्वती श्रद्धा हैं। श्रद्धा तो त्रिनयनी है। उसकी तो तीन आँखें हैं। अन्धी कैसे होगी? तो श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता हूँ कि महान् ऋषियों ने, जो आपने कहा, वह सब सत्य है। हे केशव! सम्बोधन है। उसके अर्थ बहुत किये गये – जो ब्रह्मा और विष्णु और शिव सबका स्वामी हो, या सुन्दर बातों वाला हो। *'न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः'* मैं श्रद्धा से स्वीकार करता हूँ, आपकी व्यक्ति को, आपकी अभिव्यक्ति को, आपकी अभिव्यंजना को।

'व्यक्ति' शब्द का मतलब आजकल छ्रुछ्रुदृद के अर्थ में अंग्रेजी में चलता है। एक आदमी के लिए कहते हैं वह एक व्यक्ति है। संस्कृत में यह अभिव्यक्ति नहीं है। *'अभिव्यक्ति'*। जो साहित्य के ज्ञाता हैं, वे जानते हैं व्यक्त का मतलब होता है जो व्यंजित हो, जो प्रकाशित हो, जो मूर्त हो, जो शब्द या आकारों में प्रकट हो। तो आपकी जो व्यक्ति है, आपकी जो अभिव्यञ्जना है, उसको तो न देवता जानते हैं, न दानव जानते हैं। देवता और दानव क्या, ऋषि, महर्षि कोई नहीं जानता। आगे कहा है—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।। (१०/१५)

हे पुरुषोत्तम! गीता में कहा गया एक क्षर है, जो प्रकृति है, एक अक्षर है जो जीव आत्मा है और क्षर और अक्षर दोनों से जो उत्तम है वह पुरुषोत्तम है, वह परमात्मा है। तो हे पुरुषोत्तम तुम ही अपने आप को जानते हो। परमात्मा को और कोई नहीं जानता।

सो जानत जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।।

जानने के बाद तो तुमसे अभिन्न हो जाता है। तो जो तुमसे भिन्न है, वह तुमको जानता नहीं; और जो तुमको तुम्हारी कृपा से जानता है ('ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानना तो ब्रह्म ही हो जाना है।) वह तुमसे अभिन्न हो जाता है। तो तुमसे जो भी भिन्न है वह तुमको नहीं जानता। इसलिये तुम्हीं अपने आपको ठीक-ठीक जानते हो। *'स्वयमेवात्मनात्मानं'* अपने आपको अपने से तुम्हीं जानते हो। जो स्वयं अपने आपके स्वरूप को समझता है, वही परमात्मा है; और कोई दूसरा परमात्मा हो ही नहीं सकता। कोई दूसरा उसको जान ही नहीं सकता। अगर कोई जानता है उसकी कृपा से, तो वह वही हो जाता है।

देखिए जब भाव उमड़ते हैं, तो एक के बाद एक संबोधन आते हैं। पुरुषोत्तम! भूतभावन! भवेश! देवदेव और जगतपति! एक ही श्लोक मे पाँच सम्बोधन हैं; और ये सारे सम्बोधन सार्थक हैं। आप जिससे ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उसको कहेंगे ज्ञानी है। जब आप प्रभु से प्रार्थना करेंगे कि मेरी इन्द्रियों का नियमन कीजिए, तब कहेंगे, हृषिकेश हो। जब आप परमात्मा से कुछ चाहेंगे, तो आप कहेंगे तुम कृपामूर्ति हो। सम्बोधन अपनी भावना के अनुरूप होता है। जब भावों से प्रेरित होकर आप उनसे कोई प्रार्थना, कोई अनुरोध करते हैं, उसी भाव के अनुरूप सम्बोधन देते हैं। तो पहले कहा तुम क्षर और अक्षर प्रकृति और जीवात्मा दोनों से श्रेष्ठ हो, पुरुषोत्तम हो। *'भूतभावन'* – 'भवतीति भूतः' जो होता है वह भूत है और इस भूत को जो पैदा करता है वह भगवान् है। 'भूतभावन' – तुम समस्त भूतों को उत्पन्न करने वाले हो। अच्छा, तुम सब भूतों को उत्पन्न करते हो, लेकिन क्या वे सब निरंकुश हो जाते हैं? नहीं-नहीं तुम भूतों को न केवल उत्पन्न करते हो, वे सब तुम्हारे अधीन भी हैं। माता-पिता अपनी छाती पर हाथ रख कर बोलें क्या आपके बच्चे आप के अधीन हैं? माता-पिता अपने बच्चों को पैदा तो कर देते हैं, पर आजकल के बच्चे ज्यादातर स्वतंत्र हो जाते हैं। तो न केवल आप भूतभावन हैं, बल्कि आप भूतों के स्वामी भी हैं। भूतों के स्वामी हो करके भी

आप अत्यन्त सामर्थ्यवान हैं, देवताओं के भी देवता हैं, और सारे संसार का पालन करने वाले हैं, सारे संसार की रक्षा करने वाले हैं। इसलिये आप मेरे भी स्वामी हैं, मुझको भी सत्पथ पर चलने की प्रेरणा दें, मुझको अपना बनाकर, मुझको अपना रहस्य बता दें।

भगवान् के भीतर के तत्त्व को जानने की स्पृहा से प्रेरित होकर अर्जुन भगवान् की स्तुति कर रहा है। *'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये'* सच्चे हृदय से की गई स्तुति से कौन तुष्ट नहीं होता। यह कालिदास ने कहा है। तो सच्चे हृदय से की गई स्तुति समझनेवाला ठीक समझता है कि यह सच्चे मन से कर रहा है, या केवल बनावटी, झूठी स्तुति कर रहा है। लोग पहचाननेवाली आँख रखते हैं, कान भी रखते हैं, स्वर से ध्वनित होता है कि इसमें सच्चाई है या बनावट है। हे प्रभु मेरी प्रार्थना है कि आप मेरे लिए अशेष, निशेष, सम्पूर्ण रूप से अपनी विभूतियों का निरूपण करें। जब प्रार्थना करो, तो कम पाने की क्यों प्रार्थना करो। *"हम तो सारे का सारा लेंगे जीवन, कम से कम की बात न हमसे कहिए"* रघुवीर सहाय की पंक्ति है। तो थोड़ा क्यों मांगे भाई *'वक्तुमर्हस्यशेषेण'* अशेष रूप से आप अपनी दिव्य विभूतियों का निरूपण करें :—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्यतिष्ठसि।। (१०/१६)

'विभूति' क्या चीज है। आज के प्रवचन का शीर्षक भी *'विभूति योग'* है। और दसवें अध्याय को गीताकार ने भी विभूति योग कहा है। जो होता है वह 'भूत' है, 'भूति' है। 'वि' के अनेक अर्थ हैं। एक अर्थ है विविध, एक है विशेष, एक है विपरीत। 'वि' उपसर्ग लगाकर जब कहा गया विशुद्ध तो मतलब हुआ विशेष शुद्ध। जब कहा गया कि विमल, तो क्या मतलब हुआ विशेष मल? नहीं, यहां अर्थ है विहीन। विमल का अर्थ है, मल विहीन। उसी तरह 'वि' का मतलब होता है विविध, 'वि' का मतलब होता है विपरीत। यहाँ विभूति का अर्थ है कि आप अपनी इन अभिव्यक्तियों को जिनको हम नहीं जान पाते, अपनी समस्त अभिव्यक्तियों को, विशेषताओं को, समग्रता से बताएँ— *'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्यतिष्ठसि'*। हम कहते हैं परमात्मा सर्वव्यापी है। सर्वव्यापी परमात्मा अव्यक्त रूप में है कि व्यक्त रूप में? अव्यक्त रूप में परमात्मा सर्वव्यापी है, यह बात भी कही जा सकती है; किन्तु अव्यक्त रूप से व्याप्त परमात्मा को हम पहचानें कैसे? देख कर नहीं, क्योंकि अव्यक्त परमात्मा हमारी पहुँच के, हमारी पकड़ के बाहर है। इसलिए गीता में अर्जुन ने सीधे-सीधे पूछा कि मैं अपने लिए पूछ रहा हूँ। मैं सामान्य व्यक्ति हूँ। मैं ज्ञानी नहीं हूँ। मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ। मैं अव्यक्त रूप

आप अत्यन्त सामर्थ्यवान हैं, देवताओं के भी देवता हैं, और सारे संसार का पालन करने वाले हैं, सारे संसार की रक्षा करने वाले हैं। इसलिये आप मेरे भी स्वामी हैं, मुझको भी सत्पथ पर चलने की प्रेरणा दें, मुझको अपना बनाकर, मुझको अपना रहस्य बता दें।

भगवान् के भीतर के तत्त्व को जानने की स्पृहा से प्रेरित होकर अर्जुन भगवान् की स्तुति कर रहा है। *'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये'* सच्चे हृदय से की गई स्तुति से कौन तुष्ट नहीं होता। यह कालिदास ने कहा है। तो सच्चे हृदय से की गई स्तुति समझनेवाला ठीक समझता है कि यह सच्चे मन से कर रहा है, या केवल बनावटी, झूठी स्तुति कर रहा है। लोग पहचाननेवाली आँख रखते हैं, कान भी रखते हैं, स्वर से ध्वनित होता है कि इसमें सच्चाई है या बनावट है। हे प्रभु मेरी प्रार्थना है कि आप मेरे लिए अशेष, निशेष, सम्पूर्ण रूप से अपनी विभूतियों का निरूपण करें। जब प्रार्थना करो, तो कम पाने की क्यों प्रार्थना करो। *"हम तो सारे का सारा लेंगे जीवन, कम से कम की बात न हमसे कहिए"* रघुवीर सहाय की पंक्ति है। तो थोड़ा क्यों मांगे भाई *'वक्तुमर्हस्यशेषेण'* अशेष रूप से आप अपनी दिव्य विभूतियों का निरूपण करें :—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्यतिष्ठसि।। (१०/१६)

'विभूति' क्या चीज है। आज के प्रवचन का शीर्षक भी *'विभूति योग'* है। और दसवें अध्याय को गीताकार ने भी विभूति योग कहा है। जो होता है वह 'भूत' है, 'भूति' है। 'वि' के अनेक अर्थ हैं। एक अर्थ है विविध, एक है विशेष, एक है विपरीत। 'वि' उपसर्ग लगाकर जब कहा गया विशुद्ध तो मतलब हुआ विशेष शुद्ध। जब कहा गया कि विमल, तो क्या मतलब हुआ विशेष मल? नहीं, यहां अर्थ है विहीन। विमल का अर्थ है, मल विहीन। उसी तरह 'वि' का मतलब होता है विविध, 'वि' का मतलब होता है विपरीत। यहाँ विभूति का अर्थ है कि आप अपनी इन अभिव्यक्तियों को जिनको हम नहीं जान पाते, अपनी समस्त अभिव्यक्तियों को, विशेषताओं को, समग्रता से बताएँ— *'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्यतिष्ठसि'*। हम कहते हैं परमात्मा सर्वव्यापी है। सर्वव्यापी परमात्मा अव्यक्त रूप में है कि व्यक्त रूप में? अव्यक्त रूप में परमात्मा सर्वव्यापी है, यह बात भी कही जा सकती है; किन्तु अव्यक्त रूप से व्याप्त परमात्मा को हम पहचानें कैसे? देख कर नहीं, क्योंकि अव्यक्त परमात्मा हमारी पहुँच के, हमारी पकड़ के बाहर है। इसलिए गीता में अर्जुन ने सीधे-सीधे पूछा कि मैं अपने लिए पूछ रहा हूँ। मैं सामान्य व्यक्ति हूँ। मैं ज्ञानी नहीं हूँ। मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ। मैं अव्यक्त रूप

में आपके सर्वव्यापी स्वरूप को समझने की स्थिति में नहीं हूँ; तो *'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्यतिष्ठसि'* आप जो अपनी प्रकट विभूतियों के द्वारा समस्त सृष्टि को व्यक्त करके विराजमान हैं, अपनी उन प्रकट व्यक्त विभूतियों को विस्तार से बताइये।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।। (१०/१७)

इसमें *'योगिन्'* शब्द पर ध्यान देने की आवश्यकता है। योगिन् सम्बोधन है। जिसमें योग है, उसको योगिन् कहते हैं। हे योगिन्! हे परमात्मा! हे योगस्वरूप! हे योगी। आप हमको यह बताइए कि हम कैसे आपका चिंतन करें। *'सर्वतोभक्ति परिचिन्तयन्'*— परितः यानि चारों तरफ से कैसे आपका चिंतन करें? *'केषु-केषु च भावेषु'* किन-किन भावों में, किन-किन स्थितियों में, किन-किन रूपों में चिंतन करें। हे भगवान् आप ही बताइये। अगला श्लोक है—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।। (१०/१८)

पहले सातवें श्लोक में वही कह चुके हैं :—

एतां विभूतिं योग च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।

जो मेरी विभूति को, मेरे योग को तत्वतः जान लेगा वह अविकम्प योग से मुझसे युक्त हो जायेगा। किसी भी स्थिति में वह मुझसे अलग होगा ही नहीं। उसका मुझसे युक्त होना अविचलित है। भगवान् की इस वाणी को अर्जुन ग्रहण करता है।

जिस बात को आप विशेष रूप से जानना चाहें, जो गम्भीर बात है, मर्म की बात है, उसको आपने रेखांकित किया कि नहीं, गुरु यह भी तो जानेगा। कही गई दस बातों में से सबसे महत्त्वपूर्ण बात है उसको अगर आपने पहचाना तो गुरु आप पर कृपालु होकर कहेगा कि बुद्धिमान है। और तब उसके मर्म को और खोलकर कहेगा। बात समझ में नहीं आई तो पूछने का हमको अधिकार है। हमको समझ में नहीं आई, आपने उसका संकेत दिया, आप हम पर कृपालु हैं, आप उसको समझाइये।

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।।
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति-अनुसारा।।

रामचरितमानस (१/३०)

मैं नहीं समझता हूँ। मेरी बुद्धिहीनता है यह। लेकिन प्रभु आप तो कृपापूर्ण हैं। भगवान् तो कृपा के अतिरिक्त और कुछ करते ही नहीं। बाबा ने कहा भगवान् की मूर्ति किसकी बनी हुई है – लोहे की, पत्थर की, हाड़मास की है? *'है तुलसी परतीति एक, प्रभु मूरति कृपामयी है।'*

तुलसी का यह दृढ़ विश्वास है कि प्रभु की मूर्ति तो कृपा से बनी है। तुम तो कृपामय हो। मेरी इस जिज्ञासा को अगर आप संगत, उचित समझते हैं, तो आप इसका समाधान विस्तार से कीजिए। तत्त्वतः मैं आपके योग को समझ सकूँ, तत्त्वतः मैं आपकी विभूतियों को समझ सकूँ और आपकी विभूतियों को, आपके योग को समझ कर मैं अविकम्प योग के द्वारा आपसे युक्त हो जाऊँ, यह मेरी अभीप्सा है। छोटी इच्छा नहीं है। अभीप्सा माने महान् इच्छा। यह अभीप्सा है; और मेरी इस अभीप्सा की पूर्ति प्रभु कृपापूर्वक आप करें। हे योगिन्! मैं किन रूपों में आपका चिन्तन करूँ? कैसे आप मेरे चिन्तन की परिधि में आयेंगे? हे जनार्दन आप अपने योग, अपनी विभूति को विस्तार से बताइए। अर्द धातु का एक अर्थ है जाना, एक अर्थ होता है याचना। जो असुरों को नरक देते हैं; वे जनार्दन और जिनसे ऊँची से ऊँची याचना की जा सकती है, मुक्ति तक की, वे जनार्दन। यह ज्ञान की याचना है। इसलिए जनार्दन याचना के अर्थ में अर्द धातु में आये हैं। हे जनार्दन! मैं आपसे याचना करता हूँ कि आप विस्तार से मुझको अपना योग और अपनी विभूति बताएँ। *'भूयःकथयः'* — देखिये कैसा सावधान शिष्य है। वह कहता है कि आप ने जो *'प्रभास्मि शशि सूर्ययो'* सप्तम अध्याय में कहा है, वह मुझे मालूम है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। (७/८/१)

मैं समस्त द्रवों में जल हूँ। हे कौन्तेय! मैं द्रवणशील पदार्थों में जल हूँ। मैं ही चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा हूँ, किरण हूँ।

'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्' – मैं ही क्रतु हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही स्वधा हूँ। बताया है, आपने संक्षेप में बताया है। *'भूयः कथय'* — आप उसको फिर से कहें। आप उसको विस्तार से कहें। *'तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्'।* तृप्ति कब होती है? जब किसी विषय की उपलब्धि के प्रति 'पर्याप्त हो गया' यह भाव होता है, तब तृप्ति होती है। किसी विषय की प्राप्ति की इच्छा में पर्याप्तता का बोध जब हो जाता है तो फिर उसकी और इच्छा नहीं होती, तब कहते हैं अब तृप्ति है। भोजन करने के बाद कहते हैं *'तृप्तोऽहं'*, अब जगह नहीं है भाई, अब तृप्ति हो गई। लेकिन क्या यह स्थिति है? *'राम चरित जे सुनत अघाहीं, रस विशेष जाना तिन नाहीं'। 'जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना,*

कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना' भरहिं निरन्तर होहि न पूरे....। भगवान् के गुणगान में तृप्ति नहीं होती। *शृण्वतोनास्ति तृप्ति*— सुनने में मुझे तृप्ति नहीं है। क्यों नहीं है? *अमृतम्* – आप की वाणी तो वाणी नहीं है, अमृत है। अमृत के पान में तृप्ति कैसी? *'और और की ध्वनि है केवल, तृप्ति प्रलय पर्यन्त नहीं'।*

निरन्तर प्रेम में पूर्णिमा नहीं होती। प्रेम का जो लक्षण नारद ने बताया है उसका एक लक्षण है— *प्रतिक्षण वर्धमानम्* — प्रेम प्रति क्षण बढ़ता है। जो प्रेम प्रतिक्षण नहीं बढ़ता, उसका फिर ह्रास शुरू हो जाता है। अगर प्रेम में तृप्ति आई, तो समझिए कि फिर विरक्ति भी होने वाली है। *'शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्'*— आपकी जो अमृतमयी वाणी है, उस अमृतमयी वाणी के द्वारा आपका जो परम रहस्य है उसको सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं है। मैं और-और सुनना चाहता हूँ। मैं उसको समग्रता से जानना चाहता हूँ। विस्तार से आप अपनी बात बताइये। योग और विभूति इन दोनों बातों को समझना है। योग क्या है? विभूति क्या है? योग है अनेक में एक को देखने की क्षमता – एक होते हुए भी जो अनेक हो जाने की क्षमता है, पात्रता है वह योग है। कोई-कोई उसको योग माया भी कह देता है। लेकिन *'पश्य मे योगमैश्वरम्:'* मेरे ऐश्वर्य को देखो, मैं सब में हूँ और किसी में नहीं हूँ। नवें अध्याय में कहा है – सब मुझमें है और मुझमें कुछ भी नहीं है। मेरे इस अद्भुत ऐश्वर्य, सामर्थ्य को देखो। मेरे इस अद्भुत ईश्वरीय सामर्थ्य को देखो। जीव की दृष्टि से हम देखते हैं, तो सब प्रभुमय है। प्रभु की दृष्टि से देखते हैं तो प्रभु के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तो कोई उसमें नहीं है। मेरे इस ईश्वरीय सामर्थ्य को देखो कि मैं अकेला हूँ, मुझमें सब हैं और कुछ भी नहीं है। तो वहीं एक उस अद्भुत सामर्थ्य के साथ परमात्मा का जो ऐश्वर्य योग है उसके कारण वह एक, अनेक हो जाता है। *'एकोऽहं बहुस्याम'* मैं एक हूँ, मैं बहुत हो जाऊँ। बहुत हो जाने की उनकी इच्छा और इस इच्छा के अनुरूप बहुत रूप धारण कर लेने की उनकी क्षमता यह विभूति है। ईशावास्योपनिषद् का पहला मंत्र है –

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।

इस संसार में जो कुछ भी जड़-चेतन है, उसको परमात्मा से आच्छादित कर दो, परमात्मा उसमें है, यह समझ लो। परमात्मा सर्व में है हमारे आपके लिए यह समझना कितना कठिन है। कुत्ते में भी, बिल्ली में भी, डाकू में भी, हत्यारे में भी, कोढ़ी में भी, अज्ञानी में भी, लोभी में भी, ज्ञानी में भी – सबमें परमात्मा है, इसको समझ लेना कितना कठिन है।

विभूति का मतलब क्या है? जहाँ-जहाँ उनका विशेष प्रकाश हुआ है। भगवान् ही सबकुछ हो गये हैं। *'ईशावास्यमिदं'* ये सारी सृष्टि परमात्मा की है; लेकिन सारी सृष्टि को परमात्मा समझ लेने की क्षमता हममें नहीं है। अब डाकू को परमात्मा मान लेना बहुत ही मुश्किल है। कुत्ते को आप ठाकुर घर में जाने देते हैं? नहीं जाने देते। सुअर को? सारी गन्दगी से लिपटा हुआ सुअर भी परमात्मा ही है। क्या हम सारी गन्दगी में लिपटे हुए सुअर को ग्रहण कर लेंगे। रावण भी परमात्मा है, कंस भी परमात्मा है, ये संयुक्त अक्षर है। उस संयुक्त अक्षर को समझने से पहले जिसमें सरल रूप से भगवान् की विभूति का विशेष प्रकाश हुआ है, जिसमें भगवान् की क्षमता का विशेष रूप से उद्रेक हुआ है, उसको समझ लें, उसके बाद फिर हम दूसरे स्तर पर और भी आगे बढ़ सकते हैं। विभूति का मतलब है विशेष भूति। कहते हैं नगर की विभूतियाँ यहाँ आई हैं। मैं कह सकता हूँ कि इसमें बड़े बड़े विद्वान् हैं— वैदुष्य की विभूतियाँ यहाँ आई हुई हैं। जो किसी क्षेत्र में असाधारण हैं, उसको हम विभूति कहते हैं। तो भगवान् विभूतियों के रूप में, सारी सृष्टि में कैसे-कैसे व्याप्त हैं? देखो परमात्मा को निर्गुण, निराकार, अव्यक्त रूप में समझना बहुत कठिन है। आँख बन्द करके ध्यान करो तो किसका चेहरा आयेगा? आँख बंद करो तो कोई न कोई हमारे स्नेही या स्वजन का चेहरा आयेगा। या जिसने धोखा दिया है, गाली दी है, उसका चेहरा आयेगा; या अन्धेरा आयेगा।

उस कठिन अव्यक्त स्वरूप को समझने से पहले, हम व्यक्त से आरम्भ करते हैं। साकार से निराकार तक जाते हैं। सगुण प्रभु से निर्गुण तक जाते हैं। इसीलिए गीता में बताया गया है कि परमात्मा ही सब कुछ हुआ है, इसको समझने से पहले उनकी जो विभूति है— विशेष क्षमता के साथ जहाँ वे प्रकट हुए हैं, पहले उसको समझो; उनके ऐश्वर्य योग को समझो; उनकी उस ईश्वरीय क्षमता को समझो। ईश्वरीय क्षमता से भी एक होते हुए अनेक हो जाते हैं। इन दोनों बातों को समझ लेने से, हमको सर्वत्र प्रभु का आभास होगा— हमको सर्वत्र प्रभु के दर्शन होंगे *'सर्वत्र कृष्ण दर्शनम्'।* जिसको हम देख रहे हैं उसके भीतर प्रभु है, इसको पहचान सकें, यह क्षमता प्राप्त होगी, अगर हम उनके योग को, अनेक रूपों में व्यक्त करने की क्षमता को, और उनके रूपों को समझ सकेंगे।

अपनी जिज्ञासा बड़ी श्रद्धा के साथ, बड़ी सूक्ष्मता के साथ अर्जुन ने व्यक्त की। स्वाभाविक रूप से गुरु प्रसन्न हुआ; क्योंकि उसको लगा कि हमने जो कहा था, *'एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः'* इसने ठीक पकड़ लिया है। इसलिए अनुग्रह हुआ।

भगवान् ने कहा कि तुमने प्रश्न तो अपनी श्रद्धा से कर लिया कि सब बता दो, पर मैं समग्रता से कैसे बता दूँ? श्री भगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। (१०/१९)

हरि अनन्त हैं और हरि की कथा भी अनंत है। तो जो अनन्त हरि हैं, उनको समग्रता में बताओ, अनंतकाल तक बताओ और फिर अनंतकाल तक बताने पर भी अनन्त तो अनन्त ही रहता है। उसका अन्त होगा क्या? जिसका अंत है, वह तो अनन्त नहीं है। शब्द ही गलत हो जायेगा। तो *'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता'* उस अनन्त हरि की अनन्त कथा को, अनन्त विभूतियों को कहके नहीं समझाया जा सकता। इसलिये मैं तुमको प्रधानता से, अपनी विभूतियों को समझाऊँगा। हन्त! यह कभी हर्ष में, कभी क्षोभ में किया गया सम्बोधन है। यहाँ है हर्ष में। प्रसन्न हुए – अच्छा-अच्छा, मैं बताता हूँ, अपनी दिव्य आत्मविभूतियों को। क्योंकि परमात्मा की सारी विभूतियाँ ही दिव्य हैं। वह अदिव्य है ही नहीं। *'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'* भगवान् का जन्म भी दिव्य, भगवान् का कर्म भी दिव्य। हमारा आपका जन्म कैसे होता है? हमारा आपका जन्म होता है कर्मों के बन्धन के कारण। अच्छे-बुरे, जैसे कर्म किये उसके अनुसार जन्म मिला। हमारे आपके कर्मों पर, हमारे आचरण पर, हमारे पूर्व संस्कार हावी हैं। परमात्मा का जन्म क्या उनके किसी कर्म-बन्धन के कारण होता है? परमात्मा का कर्म क्या किसी अभाव के कारण होता है, बाध्यता के कारण होता है? यह तो उनकी इच्छा है। लीला है उनकी। तो मैं अपनी दिव्य आत्म विभूतियों को प्रधान-प्रधान रूप से संक्षेप में कहूँगा; क्योंकि विस्तार करने पर तो कोई अन्त ही नहीं है— *'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे'*।

अब इसके बाद जो श्लोक है, वह बहुत ही गम्भीर श्लोक है। किन-किन रूपों में मैं तुम्हारा ध्यान करूँ? किन-किन रूपों में मैं तुम्हारा चिन्तन करूँ? यह उक्ति उत्तम अधिकारी के लिए है। मध्यम और सामान्य अधिकारी के लिए उक्तियाँ बाद में हैं। उत्तम अधिकारी के लिए उक्ति है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (१०/२०/१)

देखो ! गुडाकेश कहा गया है। *'गुडाका'* का मतलब है, नींद। नींद को जो जीत लेता है। निद्रा जो है यह तमोगुण का लक्षण है।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबहध्नाति भारत। (१४/८)

तमोगुण को जो जीतने वाला है, जो सत्व गुणी है, वह इस बात को समझेगा,

दूसरा समझेगा भी नहीं। इसलिए उसको सम्बोधित किया है, *'गुडाकेश'*! याद रखिए कि सम्बोधन साभिप्राय होते हैं। 'अर्जुन' कहा – तुम अर्जन करने वाले हो इसलिए 'अर्जुन'। तो क्या अर्जन करोगे? ज्ञान का अर्जन करोगे, इसलिए अर्जुन कहा। गुडाकेश हो तुम, तुम निद्रा को जीतने का सामर्थ्य रखने वाले हो, क्षमता रखने वाले हो, तुम तमोगुण पर विजय प्राप्त कर सकते हो। प्रारंभ में कहा— *'अहमात्मा'*। समस्त प्राणियों के हृदय में मैं आत्मा हूँ। परमात्मा समस्त भूतों के हृदय में आत्मा के रूप में ही रहता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (१८/६१/१)

परमात्मा तो सर्वत्र है। लेकिन हमारे आपके अन्तःकरण में, हमारे आपके हृदय में, हमारे आपके आशय में है। इसलिए कहते हैं महाशय। जिसका हृदय महान् होता है, उसको कहते हैं महाशय। दुराशय – जिसका हृदय दुष्ट होता है, उसीको कहते हैं दुराशय। आशय मतलब हृदय। महाशय – अच्छा है हृदय जिसका। तो मैं सबों के हृदय में आत्मा के रूप में निवास करता हूँ। अगर तुम चाहते हो मेरा चिन्तन करना, तो अपने ही हृदय में, जो तुम्हारा अन्तरंगतम तत्त्व है, सच्चिदात्मा है, उसके रूप में मेरा चिन्तन करो। *'मुझको कहाँ ढूंढे रे बन्दे, मैं तो तेरे पास में'*।

'तदनन्तरस्थ सर्वस्थ तद्सर्वास्थ बाह्यतः' – वे सबके अंतःकरण में हैं। अपनी ही आत्मा के रूप में परमात्मा को उपलब्ध कर लेना, उत्तम अधिकारी का लक्षण है। गीता में इसको बताया है। शरीर से सूक्ष्म क्या है– इन्द्रियाँ – *इन्द्रियाणि पराण्याहुः*, इन्द्रियों से सूक्ष्म क्या है – *'इन्द्रियेभ्यः परं मनः'* – इन्द्रियों से सूक्ष्म क्या है – मन – *'मनसस्तु पराबुद्धिः'* – मन से सूक्ष्म क्या है – बुद्धि – *'यो बुद्धेः परतस्तु सः'* – जो बुद्धि से भी सूक्ष्म है, वह परमात्मा है। वह अपना है। वह आत्मा है हमारे ही भीतर।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। (३/४३)

तृतीय अध्याय में भगवान् ने बताया है कि उत्तरोतर अन्तरात्मा, उत्तरोत्तर भीतर प्रत्यरात्मा। एक होता है परात, एक होता है प्रत्यग। बाहर जो कुछ है वह सब जड़ है, हम तुम चलने वाले, हमारा शरीर देवता है, शरीर जड़ है – हमारा चैतन्य नहीं दिखता। तो बाहर जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब परात है। परात जो है यह जड़ है। और जो भीतर के भीतर है प्रत्यग – सबसे भीतर। इसलिए उस परमात्मा का एक दूसरा नाम है प्रत्यगात्मा। आप लोगों ने संन्यासियों का नाम सुना होगा – प्रत्यगानन्द सरस्वती, आत्मानन्द सरस्वती – तो प्रत्यगात्मा – माने भीतर के भीतर के भीतर के सबसे भीतर

जो है, जो सबसे सूक्ष्म है वह आत्मा। उसके रूप में मेरा जो अपना आत्मा है (संस्कृत में आत्मा पुलिंग है, हिन्दी में आत्मा स्त्रीलिंग है) यही परमात्मा है।

इस रूप में *'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'*— तुमने पूछा कि मैं किस रूप में चिन्तन करूँ, तो यह उत्तम अधिकारी का निरूपण किया कि तुम्हारे ही अंतःकरण में जो प्रत्यगात्मा है, वही मैं हूँ। तुम्हारे भीतर आत्मा के रूप में मैं स्थित हूँ। उसी के रूप में मेरा चिन्तन हो, तो अच्छा। *अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः*— यह बात समझ में नहीं आई तो दूसरी बात है मध्यम अधिकारी के लिए —

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च। (१०/२०/२)

समस्त प्राणियों का आदि मैं हूँ, समस्त प्राणियों और वस्तुओं का मध्य मैं हूँ, समस्त प्राणियों और वस्तुओं का अन्त मैं हूँ। अच्छा इसको थोड़ा सा समझाते हैं। सोने के गहने आपने देखे होंगे। सोने के गहनों के आदि में क्या है? सोना है। सोने के गहने के मध्य में क्या है? सोना है। सोने को गला दो तो फिर क्या रहेगा? सोना ही रहेगा। जैसे मिट्टी के बर्तन जब बनते हैं तो मिट्टी के बर्तन के आदि में मिट्टी, बर्तन बने हुए हैं तो मिट्टी और टूट जायें तो फिर मिट्टी की मिट्टी। सब मिट्टी में मिल गया। है ना। तो आदि, मध्य, अन्त जो है – उपादान जो है, वह आदि में है, मध्य में भी है, और अन्त में भी है। अभिन्न निमित्तोपादान कारण परमात्मा है तो सबके आरम्भ में भी परमात्मा, मध्य में भी – जब वह है, दिखाई पड़ रहा है तब भी। जब वह विलीन हो गया तो किसमें गया वह? परमात्मा में ही गया। इस रूप में मुझको समझो। सब के आदि, मध्य और अन्त में परमात्मा ही है। सब में मैं ही सब रूप में झलक रहा हूँ। यह भी समझ में नहीं आता, तब सामान्य अधिकारी के लिए आगे की बात कही जाती है। पहले उत्तम अधिकारी को बताया गया कि मैं सबकी आत्मा के रूप मे भीतर स्थित हूँ; फिर आदि, मध्य, अन्त के बारे में बताया गया। आदि, मध्य और अन्त में किसी चीज को बाद नहीं दिया गया। कोई भी चीज छोड़ी नहीं गई। कोई चीज छोड़े बिना सबके–

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।

समस्त भूतों में जो कुछ बना है वह प्राणी हो, वस्तु हो, स्थिति हो, सब। यह भी बात नहीं समझ में आती, इसके भी अधिकारी इसकी भी पात्रता नहीं है कि हम आदि को भी समझ लें, मध्य को भी, अन्त को भी समझ लें, तो फिर जो व्यक्त रूप है, और विशेष रूप है, उसमें वे अपने को समझाने की चेष्टा करते हैं।

किसी के प्रति आपके मन में श्रद्धा भक्ति कब आती है? इस बात को छाती पर

हाथ रखकर सोचिए। श्रद्धा और प्रेम जब दोनों युक्त होते हैं, तो भक्ति होती है। श्रद्धा किसके प्रति होती है, माहात्म्य ज्ञान से श्रद्धा होती है। श्रद्धा बाजार में खरीदने से मिलेगी? कोई लाख रुपया देगा, आप उसपर श्रद्धा कर लेंगे? चाहे दुराचारी हो, व्यभिचारी हो। श्रद्धा बाजार में खरीदने से नहीं मिलती। श्रद्धा दान में नहीं मिलती। जिसके प्रति माहात्म्य ज्ञान आपके मन में होगा, उसके प्रति आपके मन में श्रद्धा होगी। उस माहात्म्य ज्ञान युक्त के प्रति आपके मन में प्रेम भी होगा। तब आपके मन में उसके लिए भक्ति होगी।

भक्ति, अपने से बड़े के प्रति प्रेम को कहते हैं; चाहे वह पितृ-भक्ति हो, चाहे मातृ-भक्ति हो, चाहे गुरु-भक्ति हो, चाहे देश-भक्ति हो। जिसको आप अपने से बड़ा मानते हैं, उसको आप श्रद्धा की दृष्टि से पहले देखें। जब तक श्रद्धा है, तब तक भक्ति नहीं है। श्रद्धा में निकटता नहीं है। श्रद्धा में एक दूरी रहती है, यह भाव रहता है कि उसके सामने कैसे जायें? लेकिन श्रद्धा को जब प्रेम आवृत्त करता है – जिसके प्रति माहात्म्य ज्ञान है, उस माहात्म्य ज्ञान के साथ-साथ जब उसके प्रति प्रेम जागृत होता है, तब उसके प्रति भक्ति होती है। तो किसके प्रति आपकी भक्ति होगी? उसके प्रति भक्ति होगी, जिसका माहात्म्य ज्ञान आपने ठीक-ठीक समझ लिया हो – बिना माहात्म्य ज्ञान को ठीक-ठीक समझे, भक्ति अगर होगी तो टूट जायेगी। इसलिए भगवान् के प्रति भक्ति कब होगी? जब भगवान् के माहात्म्य को आप समझ लेंगे। वल्लभाचार्य ने भक्ति की जो परिभाषा की है –

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेह भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा।।

उसमें इस बात को साफ कहा है *'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु'*, श्रद्धा और प्रेम का मिलन भक्ति है। तुलसी बाबा ने कहा है–

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।

बिना जाने विश्वास नहीं होगा। जिसपर आप विश्वास ही नहीं करते, उससे प्रेम कैसे करेंगे? *'प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई'* माहात्म्य ज्ञान और उसके साथ विश्वास युक्त प्रेम यह भक्ति का लक्षण है। हम सब विभूतियों को जानेंगे तो क्या होगा? माहात्म्य ज्ञान के साथ उनसे प्रेम करेंगे।

हम भगवान् को जान रहे हैं। उनके माहात्म्य को जितनी दृढ़ता से, जितनी समग्रता से जानेंगे, उतना प्रेम दृढ़ होगा, अविकम्प योग होगा। यह सब क्या है? यह

भगवान् के माहात्म्य ज्ञान का निरूपण है। *अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः* – कैसा चमत्कार ! एक परमात्मा, असंख्य-असंख्य प्राणी, उन असंख्य-असंख्य प्राणियों के हृदय में परमात्मा आत्मा के रूप में रहता है। कैसा आश्चर्य है। शरीर अलग, आशय अलग है। मैंने आपको बार-बार बताया है कि हममें और आपमें अन्तर कहाँ है? हममें, आपमें, सबमें आत्मा एक है। है कि नहीं? हममें, आपमें, सबमें पंच महाभूत एक है। है कि नहीं? तो प्रकृति जिनसे हमारा यह शरीर बनता है, वह सबमें एक है। आत्मा सब में एक है। अन्तर क्या है? अतःकरण का अन्तर है- आशय का अन्तर है। हर एक का हृदय अलग है – मन, बुद्धि, चित्त, अहंचित्त हर एक का अलग है। अंतःकरण की विभिन्नताओं के कारण, असंख्य अन्तःकरणों के कारण यह अन्तर प्रतिफलित होता है। तो भगवान् को समझो, भगवान् के माहात्म्य को समझो। कैसे हैं भगवान? इन असंख्य तत्त्वों में एक ही परमात्मा है। सबका शरीर अलग, सबका हृदय अलग, सबमें एक ही परमात्मा है।

उनके माहात्म्य को ठीक-ठीक समझ लेने की चेष्टा है – योग। योग उनके उस अद्‌भुत सामर्थ्य को समझना। उनके उस माहात्म्य को समझना योग को समझना है; और उस माहात्म्य के कारण उनकी एकता में विविधता प्रकट कर देना – यह विभूति है। सारी विविधता में एकता को देख लेना, यह योग है; और वही एक सबमें विविध हुआ है; यह उनकी विभूति है। विविध रूप से जो अपने को व्यक्त करने में समर्थ है वह परमात्मा है। अब ये जो विभूतियाँ बताई गई हैं – ७३ विभूतियाँ हैं। इन विभूतियों में भगवान् ने जो जिसमें श्रेष्ठ है, उसका नाम दिया है। सोना तो सबमें है; लेकिन कितना भरी सोना किसमें है? कोई है जिसमें माशा भर सोना है; कोई है जिसमें मन भर सोना है; कोई है जिसमें टन भर सोना है। सोना तो है; लेकिन सोने का आकार और सोने का वजन सबमें अलग है कि नहीं ! हम सब लोग एक तो हैं; लेकिन हममें भगवान् का कितना प्रकाश है, व्यक्त कितना है और अव्यक्त कितना है। अव्यक्त जो रह गया, वह तो प्रकट नहीं हुआ, वह तो समग्र है; लेकिन उस समग्र के भीतर अव्यक्त कितना है और व्यक्त कितना है। जिसमें जितना अंश व्यक्त होता है, वह उतना विभूतिमान होता है। इसलिए जब सरल अक्षरों में वर्णमाला सिखा रहे हैं कि सर्वत्र परमात्मा है, सबमें परमात्मा है तो उसमें परमात्मा का कितना प्रकाश, कितनी अभिव्यंजना है? श्रेष्ठता का अगर एक अंश भी किसी में आ गया अभिव्यक्ति के रूप में, वह अपने क्षेत्र में बहुत ऊपर है। इसलिए ये जो सारी विभूतियाँ हैं; विभिन्न क्षेत्रों से विभूतियाँ चुनी गई हैं; ये विभूतियाँ उदाहरण मात्र हैं। ये विभूतियाँ समग्र नहीं हैं।

'प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ'— करने में जो श्रेष्ठ है, सामर्थ्य में जो श्रेष्ठ है, जो सीख करके ज्ञान को कर्म में उतार लेता है, वह कुरुश्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।। (१०/२१)

'आदित्यानामहं विष्णु'— अदिति के पुत्र को आदित्य कहते हैं। दिति खण्डन है। दिति वह है जो टुकड़े-टुकड़े कर दे। जो समाज को टुकड़े-टुकड़े करे, वह है दिति, उसका बेटा है दैत्य। और जो समाज को जोड़े वह है अदिति। उसका बेटा है आदित्य; और आदित्य बारह माने गए हैं। उन बारहों में श्रेष्ठ हैं विष्णु। टीकाकारों ने बताया है कि अदिति के पुत्र वामन थे। तो यहाँ विष्णु का अर्थ वामन है। तो *'आदित्यानामहं विष्णु'* – विष्णु का मतलब होता है विवेष्टी – जो सारे संसार को व्याप्त किए हुए है।

जले विष्णुः थले विष्णुः विष्णु पर्वत मस्तके।
ज्वाला माला कुलेः विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्।।

तो सारे विश्व में जो व्याप्त है वह विष्णु है। तो आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, आदित्यों में मैं वामन हूँ। अदिति के पुत्रों में जो समग्रता के साथ सबको जोड़ना चाहते हैं *'ज्योतिषां रविरंशुमान्'*। ज्योति कहते हैं – द्योतति जो चमके, जो प्रकाश दे। अंशु कहते हैं किरण को, तो अंशुमान माने किरणों से युक्त रवि। सबसे बड़ी ज्योति भगवान् सूर्य नारायण, सूर्य नारायण को देखकर मन में श्रद्धा होती है कि नहीं। कुछ नहीं कहते; किन्तु भगवान् उदित होते हैं और सब लोग काम करने लगते हैं। सूर्योदय हुआ – तो पक्षी चहचहाने लगते हैं, लोगों की नींद टूटती है। बिना कुछ कहे, बिना कुछ किए, सबको जो कार्य में प्रवृत्त करता है, वह विष्णु, वह सूर्य। इसलिए हमारे यहाँ सबसे बड़ा मंत्र है गायत्री, वह भगवान् सूर्य के तेज को ही सम्बोधित करके अपनी बुद्धि को शुद्ध करने का मंत्र है तो *'रविरंशुमान्'*।

'मरीचिर्मरुतामस्मि' – दिति के मन में आया कि हमारे बेटों को देवता हरा देते हैं – तो एक ऐसा बेटा उत्पन्न हो, जो देवताओं को भी हरा दे। कश्यप ने वर दिया और उनके गर्भ में मरुत आए। जब इन्द्र को यह पता चला तो दिति के गर्भ में प्रविष्ट हो गए; और उन्होंने अपने वज्र से उनके पुत्र को सात टुकड़ों में बाँट दिया। तो भी वे जीवित रहे तो हर एक टुकड़े को सात-सात टुकड़ों में फिर बाँटा–४९। तो भी जीवित रहे और उन्होंने कहा कि आप भी दिति के गर्भ में हैं और हम भी दिति के गर्भ में हैं, तो हम दोनों भाई-भाई हो गए। तुम क्यों हमारी हत्या करना चाहते हो? तो उन्होंने अपना भाई मान लिया। उन्होंने कहा *'मारुत मत रोओ'*। तो वे ४९ मारुत हुए। इसलिए

उनचास पवन। इन्द्र ने उनको जीवनदान दिया, तो वे देवताओं के पक्ष में आ गए। ४९ मारुतों में मैं *मरीचिर्मरुतामस्मि* – मैं मरीचि नाम का पवन हूँ। मरीचि कहते हैं जो कि शीतल ठण्डी हवा होती है, जल लाने वाली। मरीचि किरण को भी कहते हैं। इसलिए कभी-कभी मरीचिमाली सूर्य को भी कहते हैं। तो जो हमारी प्राणशक्ति है, हम सब काम करते हैं – पवन चल रहा है –

'दस द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन।
रहिबे को आचरज है, जाए तो अचरज कौन।।

प्राण पखेरू उड़ गए कहते हैं न? प्राण तो वायु है। *'मरीचिर्मरुतामस्मि'* तो इसमें किरण वाला अर्थ लिया तो इसका मतलब होता है कि मैं प्राणवायु की चमक हूँ, मैं प्राणवायु की विशेषता हूँ, क्षमता हूँ जिससे हम बड़े-बड़े काम कर सकते हैं। एक ये कि मैं शीतल वर्षा लाने वाली हवा हूँ मरीचि, एक यह कि मैं प्राणशक्ति को उद्भासित करने वाली क्षमता हूँ।

'मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी' – जो सर्वत्र गमन करे वह नक्षत्र है, तो मैं ऐसे २७ नक्षत्रों में या असंख्य नक्षत्रों में सबसे प्रभायुक्त चंद्रमा हूँ।

सौमनस्य की दृष्टि से, तेज की दृष्टि से सूर्य; और कोमलता की दृष्टि से, भाव को उद्बुद्ध करने की दृष्टि से चंद्रमा हूँ। आगे कहा है—

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।। (१०/२२)

'वेदानां सामवेदोऽस्मि' – वेद कहते हैं ज्ञान को। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद – चतुर्वेद हैं। चारों वेदों में सामवेद क्यों हैं? दो कारण हैं। सामवेद में, ऋग्वेद का सारांश है। ऋग्वेद का जो श्रेष्ठ अंश है, वह सामवेद में आ गया। दूसरा यह कि सामवेद गाया जाता है, एकमात्र वेद जो संगीत है। गीता मूलतः भक्ति का ग्रंथ है, ऐसा हमलोग मानते हैं। कुछ लोग कर्म का मानते होंगे, कुछ लोग ज्ञान का भी मानते होंगे; लेकिन देखिए *'आदित्यानामहं विष्णु'* – वैष्णव ग्रंथ है, विष्णु को पहले बताया। भगवान् ने कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद् भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

सामवेद चूँकि अत्यंत मधुर है, श्रुति मधुर है, ज्ञान भी और श्रुति मधुर भी, इसलिए कहा है कि वेदों में मैं सामवेद हूँ। देवताओं का राजा है इन्द्र – मैं देवताओं का राजा इन्द्र हूँ। *'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि'*–भगवान् ने दस इन्द्रियां दीं – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ,

पाँच कर्मेन्द्रियाँ। देखिए मूल बातें बता दीं–ये जो बात बताई जा रही हैं, वह व्यक्तोपासना है, इस बात को समझिए। जो आत्मा के रूप में परमात्मा को ग्रहण नहीं कर सकते, जो समस्त वस्तुओं के आदि, मध्य और अन्त में परमात्मा को ग्रहण नहीं कर सकते, उनको, इन सामान्य बुद्धि के अधिकारियों को, मेरे जैसे लोगों को, बताया जा रहा है कि किन-किन वस्तुओं में उनकी विशेष क्षमता चमक उठी है। विभूति योग का मतलब यह नहीं है कि विभूतियों का वर्णन किया जा रहा है, इसलिए सूर्य की उपासना करो, चंद्रमा की उपासना करो – नहीं-नहीं; सूर्य, चंद्रमा के माध्यम से प्रभु की उपासना करो। जिसने इतना बड़ा सूर्य बनाया है, जिसका तेज सूर्य में, जिसकी कोमलता, सौमनस्यता चंद्रमा में, वायु में है, उस परमात्मा का ध्यान करो। इनके माध्यम से हम परमात्मा की ओर उन्मुख हों, इसलिए विभूतियोग है। तो इन्द्रियाँ बेकार हैं, अगर मन न लगे।

उपनिषद् का उदाहरण है। एक कर्मकार था। रथ का पहिया ठीक कर रहा था। राजा की सवारी बाजे-गाजे के साथ चली गई। उससे एक आदमी ने पूछा– - राजा की सवारी इधर से गुजरी? उसने कहा 'मुझे तो मालूम नहीं'। 'अरे कैसा आदमी है? राजा की सवारी गई, तुझे मालूम नहीं?' वह तो पूरा मन लगाकर लोहे को पीटकर ठीक कर रहा था। छोटा उदाहरण देता हूँ। आप उपन्यास पढ़ रहे हैं, मन लग जाएगा। कोई आपका नाम लेकर पुकारे, आपको सुनाई पड़ता है? मन जो है वह समग्र इन्द्रियों के माध्यम से काम करता है। तो समस्त इन्द्रियों में मैं मन हूँ, समस्त प्राणियों में चेतना हूँ। चेतना माने विशेष बुद्धि या चैतन्य – निश्चेतन हो जाए शरीर या बेहोश हो जाए या मृत हो जाए तो क्या कीमत है? मेरा एक नौकर मर गया – कम उम्र का था। उसका नाम था बैताली। उसकी लाश उठी तो उसकी बिरादरी का एक आदमी कुछ देर से आया, मैं खड़ा था दरवाजे पर। बहुत दुख हुआ मुझको, क्योंकि शाम को बीमार हुआ सुबह मर गया। विलंब से आए उसके परिजन ने मुझसे पूछा — 'बाबूजी मिट्टी उठ गई?' मैं इस शिक्षा को जीवनभर नहीं भूलूँगा। यह हमारा देश है, जो हमको बताता है कि आत्मा अगर चली जाय तो यह शरीर मिट्टी है। और यह बात किसी ज्ञानी ने, महामहोपाध्याय ने नहीं कही, निरक्षर कहार ने कही। तो *'भूतानामस्मि चेतना'*– समस्त भूतों को जो संचालित करती है, इस शरीर को जो एक बनाकर रखती है और जो क्रियान्वित करती है ; यह चेतना है। हमारी इस चेतना को कुछ लोगों ने बुद्धि वृत्ति विशेष कहा और कुछ लोगों ने इसको चैतन्य तत्व कहा है। लेकिन जिस अर्थ में भी लें, शरीर को जिसके कारण महत्व मिलता है, वह चेतना है।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।। (१०/२३)

'रुद्राणां शंकरश्चास्मि'—मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूँ। रुद्र का तात्पर्य होता है रुलानेवाला। *'रोदयति असुरान् इति रुद्रः'* जो कल्याण करे वह शंकर—*'शंकरोति इति शंकरः'*। *'वित्तेशो यक्षरक्षसाम्'*—यक्षों और राक्षसों में जो देवता जाति के हैं, मैं कुबेर हूँ। कु माने खराब, बेर माने 'शरीर'। कुबेर जो होता है ; बड़ा, मोटा, थुलथुल होता है। ज्यादा खाता है, आराम करता है, व्यायाम तो करता नहीं, इसलिए थुलथुल हो जाता है। *'वसूनां पावकश्चास्मि'*–आठ वसुओं में सर्व तेजस्वी पावक मैं हूँ। समस्त पहाड़ों में मैं सबसे ऊँचा पहाड़ *'मेरु'* हूँ। मेरु सोने का पहाड़ है, वह भगवान् की विभूति है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।। (१०/२४)
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् (१०/२५/१)

जैसे देवताओं का राजा इन्द्र है वैसे देवेन्द्र का जो पुरोहित है वह *बृहस्पति* मैं हूँ। सबसे बड़ा जो ज्ञानी वह बृहस्पति। सब सेनानियों में – सेना को जो ले जाए, वह सेनानी होता है– मैं देवताओं का *सेनानी* स्कंध हूँ। जलाशयों में सबसे बड़ा *सागर* हूँ। महर्षियों में *भृगु* हूँ। जो अपने ज्ञान से, 'भून' देने की क्षमता रखे – उसको भृगु कहते हैं। वह कहानी तो आपको मालूम ही होगी कि उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश – तीनों की परीक्षा ली। ब्रह्मा को नमस्कर नहीं किया वह नाराज हो गए – 'मेरा बेटा और मुझको नमस्कार नहीं करता।' शिवजी पार्वती के साथ क्रीड़ारत थे – वहाँ चले गए – 'बड़ा असभ्य है! ऐसे ही बिना सूचना दिए चला आया।' तो दोनों को क्रोध आ गया। विष्णु की छाती में लात मार दी। 'प्रभो आप! मेरा कठोर वज्र जैसा हृदय और आपके कोमल चरण, आपको दर्द तो नहीं हुआ? कष्ट तो नहीं हुआ?' तो तीनों देवताओं की जो परीक्षा करने वाला बड़ा ऋषि, वह भृगु। *'गिरामस्म्येकमक्षरम्'* – *'ओमित्ये काक्षरम् ब्रह्म'* – एक ही अक्षर ओम्।

मैं एक रहस्य की बात बताता हूँ। भारतवर्ष में जितने धर्म, उपधर्म हुए हैं, सबमें साँझी बात *'ओम'* है। वेदों का तो सार सर्वस्व ओम है ही। *'प्रणवः सर्व वेदेषु'*। *'ओमित्ये काक्षरम् ब्रह्म'* – बौद्धों का मंत्र ओम – मैं पद्म हूँ। जैनियों का मंत्र है— उसमें भी ओम लगाकर कहते हैं। सिक्खों का जो मंत्र है 'एक ओंकार सत्नाम' उसमें भी ओम है। भारतीय धर्म की साँझी सम्पत्ति ओम है। तो *'गिरामस्म्येकमक्षरम्'* – तो मैं एक ही अक्षर के रूप में, वाणियों, गिराओं में, वह मैं ओम रूपी अक्षर हूँ।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालय।। (१०/२५/२)

इसको थोड़ा समझना चाहिए। *'जपात् सिद्धि, जपात् सिद्धि, जपात् सिद्धि न संशय'।* जप किसको कहते हैं? जन्मना 'पातु' – जन्म से जो रक्षा करे, जन्म मरण के चक्र से जो हमको बचाए, वह है जप। सारे यज्ञों में हिंसा होती है। सारे वैदिक कर्मकाण्डी यज्ञों में अनेक प्रकार की सामग्री चाहिए, बहुत से लोग चाहिएँ। फिर उसमें बलि होती है। जप यज्ञ में कोई सामग्री नहीं चाहिए। शुचिता है, पवित्रता है; और उसमें अपने इष्टदेव के साथ तल्लीन कर देने की अद्‌भुत क्षमता है। हमलोग जो नाम-जप पर विश्वास करते हैं, हम यही मानते हैं। तुलसी बाबा ने तो कहा है सगुण, निर्गुण दोनों से राम नाम बड़ा है—

प्रिय राम नाम ते जाहि न रामो।
ताको भलो घोर कलिकालहुँ आदि मध्य परिनामो।।

बाबा ने कहा— एक तरफ स्वयं रामजी खड़े हैं, एक तरफ रामजी का नाम है, तो भैया हम तो रामजी का नाम पुकारेंगे। रामजी हमको आज मिलेंगे। कल नहीं मिलेंगे। रामजी का नाम हम नहीं छोड़ेंगे, वह हमारे साथ है।

तो यह नाम-जप अद्‌भुत है। मंत्र-जप में तो फिर भी गुरु से मंत्र दीक्षा लीजिए, एक निश्चित संख्या में उसका जप कीजिए – एक निश्चित् आसन पर बैठिए – अनेक प्रकार के बंधन हैं। लेकिन नाम-जप में कोई बंधन ही नहीं है।

नाम्नामकारिबहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिती नियमितः स्मरणेन कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि दुर्दैर्वमिहशमिहाजनि नानुरागः।।

(चैतन्यदेव)

हे रामजी आपने अपने अनेक नाम बताए – सब रामजी के नाम हैं – चाहे उसको राम कहो, कृष्ण कहो, दुर्गा कहो, शिव कहो, काली कहो, जिन कहो, बुद्ध कहो; सब रामजी के नाम हैं और तुमने उस नाम को लेने का कोई नियम नहीं बनाया, कोई स्थान नहीं बताया, कोई क्रम नहीं बताया – इतनी बड़ी तुम्हारी कृपा और मेरा इतना बड़ा दुर्भाग्य कि तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम नहीं जागा। इस रहस्य को समझिए। आपने कभी किसी से प्रेम किया है। जिससे आपने प्रेम किया है। जो आपको प्यारा है, वह आपको कहाँ याद आएगा, इसका कोई नियम हो सकता है? किस समय याद आएगा – इसका कोई नियम हो सकता है? कितनी बार याद आएगा? – इसका कोई नियम हो सकता है? न स्थान का नियम, न काल का नियम, न संख्या का नियम। प्यार है उससे बार-बार याद आता है, सब जगह याद आएगा। उठते-बैठते याद आएगा। भगवान्

से आपको प्रेम है, तो उनका नाम-जप कोई संख्या गिनकर लेंगे? किसी स्थान विशेष में करेंगे? किसी क्रम से करेंगे? *'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि'*। भगवान् ने कितना बड़ा सहारा दिया है हम लोगों को। भगवान् का नाम लेते हैं *'तद् जप तदर्थ भावनाम्'* – उसके अर्थ का चिन्तन करते, 'उसका जप करते रहें – भगवान् हमारे साथ हैं। *'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः'* – *'स्थैर्ये हिमवानिव'* – वाल्मीकि ने कहा, भगवान् श्रीराम की स्थिरता का उदाहरण दिया हिमालय की तरह। हमारी श्रद्धा है कि (स्थिर रहने वालों में) हिमालय की तरह स्थिर रहें – मेरु सबसे ऊँचा होगा, लेकिन सबसे स्थिर हिमालय है।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।। (१०/२६)

'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां'— अश्वत्थ का एक मतलब समझिए। 'श्व' का मतलब कल। जो कल तक नहीं रहेगा, वह अश्वत्थः। अश्वत्थ का मतलब जिसकी जिन्दगी आज ही तक है – जो चंचल है – आपने पीपल देखा है?

'पीपर पात सरिस मन डोला'
'पीपल के पत्ते गोल गोल, कुछ कहते रहते डोल डोल'

कभी स्थिर ही नहीं होते और यह विश्वरूपी ब्रह्माण्ड रूपी, जगत् रूपी जो अश्वत्थ है वह – *'उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्यम्'* नाशवान है, जबकि मूर्ख लोग इसको अव्यय कहते हैं। जगत् नश्वर है, इसको समझाने वाला वह पवित्र पीपल है। वह पवित्र है, क्योंकि वह हमको हमारी नश्वरता का बोध कराता है। तो वृक्षों में पवित्र पीपल जो हमको हमारी नश्वरता का, क्षणभंगुरता का स्मरण कराता है, वह मैं अश्वत्थ हूँ। देवर्षियों में नारद हूँ। नारद भगवान् के हृदय हैं। भगवान् जो लीला करना चाहते हैं, उसकी भूमिका नारद बनाते हैं। कहते हैं नारद लड़ाते-झगड़ाते हैं। लीला के अनुकूल वे आचरण करते हैं। नारद वे हैं जिन्होंने वाल्मीकि को रामायण रचने की प्रेरणा दी; नारद वे हैं, जिन्होंने व्यास को श्रीमद्भागवत रचने की प्रेरणा दी। झगड़ालू? नहीं! भगवान् की लीला की भूमिका तैयार करवाने वाले नारदीय भक्ति सूत्र के, भक्ति के सबसे बड़े आचार्य देवर्षि नारद। *'गंधर्वाणां चित्ररथः'* – अर्जुन के सखा थे चित्ररथ। अर्जुन ने उनसे ही गान विद्या सीखी थी। अर्जुन की रक्षा करने के लिए वे आए थे। मैं गंधर्वों में चित्ररथ हूँ। *'सिद्धानां कपिलो मुनिः'* – सिद्ध उसको कहते हैं, जो जन्म से ही बिना किसी साधन के ही अनन्त ऐश्वर्य योग को लेकर उत्पन्न होता है। पिछले जन्म तक सारी साधना पूर्ण हो चुकी होती है। कोई बात रह गई, उसको जन्म लेना पड़ा–

प्रवचन-३०*

विभूति योग (२)

भगवान् की कृपा है कि 'विभूति योग' का अनुशीलन आज भी किया जा रहा है। विभूति योग के मर्म को समझने की चेष्टा की जानी चाहिए। भगवान् सर्वत्र हैं, सर्वव्यापी हैं— यह बार-बार हम कहते-सुनते हैं। गीता में अनेक स्थानों पर यह कहा गया है – *'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'* – जिससे मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है, जो सारी सृष्टि में समाया हुआ है, ऐसा है वह पुरुष। अगर वह जो सर्वत्र समाया हुआ है, सबमें है तो आज अभी यहाँ है कि नहीं? होना चाहिए कि नहीं? अगर आज अभी यहाँ इस कुर्ते में, इस माइक में, माला में, इस किताब, इस चित्र में, इस चौकी में आपमें, मुझमें, बत्ती में प्रभु नहीं हैं, तो कहीं नहीं हैं। प्रभु सर्वत्र हैं, सर्वव्यापी हैं – बुद्धि से इस बात को कह देना एक बात है; और उस सच्चाई को हृदय से ग्रहण कर लेना, दूसरी बात है। हमारा संस्कार क्या है? हमारा संस्कार यह है कि जहाँ हम रोज रहते हैं, मालूम नहीं कितनी अच्छी बुरी बात करते हैं, कहते हैं। जो कपड़ा हम पहनते हैं, उसी को हम धोते रहते हैं, पीट-पीटकर। उस कपड़े में रामजी हैं। उस कमरे में भी रामजी हैं, जिस कमरे में बैठकर हम खाना खाते हैं। मालूम नहीं काम, क्रोध, लोभ की कितनी बातें उस कमरे में, उस पलंग में, उस कुर्सी में करते हैं, जहाँ रामजी हैं। अभी बात कर रहे हैं, इस कक्ष में, इस स्थान में – यह बात सिद्धांत के तौर पर निरूपित करना अलग है, और इस बात को ग्रहण कर पाना, दूसरी बात है। हमारे पुरखों ने इस बात को ग्राह्य बनाने के लिए कैसी-कैसी युक्तियाँ खोजी हैं – पहले उसको समझें तो फिर विभूति योग ठीक से समझ सकेंगे।

कभी आपलोगों ने इस पर विचार किया है कि तीर्थयात्रा का रहस्य क्या है? यह जो कहा जाता है कि चार धाम करने वाले को मुक्ति प्राप्त हो जाएगी, बदरीनाथ चलो, केदारनाथ चलो, रामेश्वरम् चलो, द्वारकाजी जाओ, पुरी चलो, बनारस जाओ, मथुरा जाओ, वृन्दावन जाओ – यह क्या है? यह और कुछ नहीं है, हमारे पुरखों ने बड़ी युक्ति

* दशम अध्याय (विभूति योग) : श्लोक संख्या २७ से ४२

से, बड़ी चतुराई से हमें समझाया है। वे स्थान विशेष को रेखांकित कर रहे हैं, स्थान को पवित्र बना रहे हैं। यहाँ इस स्थान में परमात्मा का बोध नहीं होता। क्यों नहीं होता? क्योंकि हम जानते हैं कि यह तो पुस्तकालय है। यहाँ अच्छी-बुरी सब तरह की किताबें पढ़ते हैं। ज्ञान की भी पढ़ते हैं, काम वासना की भी पढ़ते हैं, चतुराई की भी पढ़ते हैं, धूर्तता की भी पढ़ते हैं, झूठी कहानियाँ भी पढ़ते हैं, जासूसी उपन्यास भी पढ़ते हैं – यह हमारे दैनन्दिन व्यवहार का स्थान है – यह कैसे पवित्र होगा? इसमें पवित्रता का अनुभव नहीं होता। इसलिए जहाँ पवित्रता का विशेष अनुभव हो, जहाँ हम थोड़ी तपस्या करके जाएँ, थोड़ा संकल्प करके जाएँ, व्यय करके जाएँ, कष्ट उठाकर जाएँ ; जहाँ एक व्यापक दिव्य स्वरूप का अनुभव हो, वह स्थान रेखांकित किया गया। एक बार आँखें बंद करके देखिए। जो लोग उत्तराखण्ड गए हों – चारों तरफ राग-द्वेष से मुक्त स्थान। पुरी जाओ – सामने वह लहराता हुआ समुद्र जिसको देखकर चैतन्य महाप्रभु के मन में स्फूर्णा हुई कि यह तो मेरा कृष्ण है; और उसमें कूद पड़े। स्थान विशेष के महत्त्व को, माहात्म्य को रेखांकित करके जो परमात्मा कण-कण में है, सर्वत्र है, उसको किसी-किसी तीर्थ में विशेष रूप से अनुभव किया जाता है, यह हमारे पुरखों ने बताया – और उसको तीर्थ का नाम दे दिया।

कभी आपलोगों ने विचार किया है कि जिसको हम पर्व कहते हैं, उत्सव कहते हैं – वह क्या है? हम कह देते हैं कि आज का दिन पवित्र नहीं है, आज का दिन क्यों पवित्र नहीं है भाई? क्या आज का दिन परमात्मा से रहित है? नहीं, आज के दिन भी इसी समय परमात्मा है, लेकिन इस काल में परमात्मा का बोध नहीं होता। क्यों नहीं होता? क्योंकि इस काल में हम सोए, उठे, जागे, प्रतिदिन का काम किया। दैनन्दिन में पवित्रता का, परमात्मा का अनुभव ही नहीं होता, तो हमारे पुरखों ने काल को रेखांकित कर दिया – यह एकादशी है, यह पूर्णिमा है, यह अमावस्या है, यह जन्माष्टमी है, यह रामनवमी है – तो उस दिन जब हम उठते हैं तो पवित्रता का अनुभव करते हैं। आज श्रीराम का आविर्भाव दिवस है, आज भगवान् श्रीकृष्ण का अविर्भाव दिवस है। पवित्र रहो, बुरे काम मत करो, भगवान् का स्मरण करो – यह और कुछ नहीं है, यह काल को रेखांकित करना है। हर क्षण में प्रभु हैं; लेकिन विशेष को महत्त्व देकर उसको पर्व बना देना, उसको किसी महापुरुष, भगवान् के किसी अवतार से जोड़ देना और उसमें पवित्रता का, दिव्यता का अनुभव करना। हर वस्तु में तो प्रभु हैं, लेकिन यह तो माइक है – इसमें प्रभु का रूप नहीं दिखता। जो मैं बोल रहा हूँ – यह मेरी ध्वनि का विस्तार करता है। जिस कलम से मैं लिख रहा हूँ, उस कलम में प्रभु का बोध नहीं होता – वह

तो रोज मेरी इच्छा से लिखती है। किन्तु शिवलिंग में, भगवान् की मूर्ति में, ओंकार में, स्वस्तिक में प्रभु के बोध का अनुभव करते हैं। वस्तुओं के माध्यम से प्रभु का बोध हो। उसको पवित्र बना दें। अब आप देखिए, यही विभूति योग का रहस्य है। भगवान् ने गीता में इसी दसवें अध्याय में कहा है— *'एतां विभूतिं योगं च मम् यो वेत्ति तत्त्वतः, सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः'* जो मेरी विभूति को, मेरे योग को तत्त्वतः समझ लेता है, वह अविकम्प योग से मुझसे युक्त होता है।

अविकम्प माने जो कभी काँपता नहीं, जो कभी विचलित नहीं होता, जो अविचलित रूप से हमको प्रभु से जोड़ दे – वह हुआ 'अविकम्प योग'। प्रत्येक स्थिति में बिना अलग हुए, बिना बिछड़े जब हम प्रभु से जुड़े रहें तो अविकम्प योग होता है। इस अविकम्प योग की प्राप्ति का उदाहरण उन्होंने दिया कि मुझको विभूति से, योग से तत्त्वतः समझ लो। विभूति के रूप में मैं क्या हूँ और योग के रूप में मैं क्या हूँ, इसको अगर तुमने तात्त्विक रूप से, अंतरंग रूप से, भली-भाँति उसका अन्तर्दर्शन करके समझ लिया, तो मुझसे अविकम्प रूप से जुड़ जाओगे। अर्जुन को लगा यह तो बहुत अच्छी बात है। अगर भगवान् ने यह संकेत दिया है, तो इसको मुझे आयत्त कर लेना चाहिए। इसलिए उसकी यह शंका है, यह जिज्ञासा है कि— *'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया'* — बताओ मैं किस- किस रूप में तुम्हारा चिन्तन करूँ। तुम अपनी विभूतियों का विस्तार से वर्णन करो। यह ठीक है कि तुमने सप्तमं अध्याय में भी विभूति का थोड़ा-थोड़ा निरूपण किया। यह ठीक है कि तुमने १०वें अध्याय में भी भावों के माध्यम से यश, अपयश, पाप, पुण्य आदि के रूप में अपना निरूपण किया, लेकिन उतने संक्षिप्त सूत्रवत् कथन से मुझको सन्तोष नहीं होता। मैं विस्तार से तुम्हारा अमृत-स्वरूप वचन सुनना चाहता हूँ। इसलिए विस्तार से अपनी विभूति का निरूपण करो।

यह केवल निरूपण के लिए निरूपण नहीं है, हम भगवान् से जुड़ना चाहते हैं। हम भगवान् से जुड़ने का कोई माध्यम चाहते हैं, कोई तरीका चाहते हैं। निर्गुण, निराकार, निर्विकार, घट-घट व्यापी, सर्वत्र, सर्वकाल में रहने वाले प्रभु को हम ग्रहण नहीं कर पाते। वह अपने अनन्त विस्तार में, वह अपनी निराकार सत्ता में, वह अपनी सूक्ष्मता में ; हमारी समझ, हमारी बुद्धि, हमारी पकड़ के बाहर है। क्या कोई उपाय हो सकता है, जिससे हम अपनी बुद्धि और क्षमता के अनुसार उसे पकड़ लें और उससे जुड़ जाएँ। जिससे हम भगवान् के रूप का चिन्तन कर सकें?

अर्जुन का प्रश्न है कि किस-किस रूप में मैं तुम्हारा चिन्तन करूँ? तात्त्विक

रूप से भगवान् का उत्तर अलग है और व्यावहारिक रूप से अलग है। व्यावहारिक रूप से उन्होंने कुछ विभूतियों के नाम गिना दिये। लेकिन तात्त्विक रूप से इसका उत्तर यह है कि जिस-जिस रूप का ध्यान तुम्हारे मन में आता है। वह-वह रूप मैं ही हूँ। किस-किस रूप में तुम मेरा चिन्तन करो? इस सवाल का सही जवाब यह है कि जो- जो रूप, जो-जो भाव तुम्हारे मन में आता है, उस-उस रूप, उस-उस भाव में, मैं ही हूँ। इस बात को हम कब समझ पाएँगे? इस बात को हमने कई बार दोहराया है; लेकिन भगवान् अगर दोहराते हैं तो हमलोगों को भी दोहराना चाहिए। बात समझ में आनी चाहिए। हमारी भारतीय दृष्टि एवं अन्य दृष्टियों में मौलिक अंतर है। यहूदी, मुस्लिम, ईसाई दृष्टि सत् और असत् के रूप में सृष्टि को बाँटती है। अच्छा-अच्छा-अच्छा – भगवान् का। बुरा-बुरा-बुरा – शैतान का। उसमें भगवान् और शैतान की लड़ाई चलती ही रहती है। शैतान कभी भगवान् नहीं हो सकता और भगवान् कभी शैतान नहीं हो सकता। यह बात प्रारम्भिक स्थिति की बात है। यह बात तात्त्विक बात नहीं है। शैतान क्या इतना क्षमताशाली है कि भगवान् के बिना हो सकता है? क्या भगवान् के अतिरिक्त उसकी सत्ता सम्भव है? हमारी दृष्टि, औपनिषदिक दृष्टि, तात्त्विक दृष्टि नहीं है। किन्तु वे तमाम लोग मानते हैं कि भगवान् बनानेवाला है। बनने वाला कुछ अलग है। बनानेवाला यह निमित्त कारण, जिससे बना वह उपादान कारण है। निमित्त कारण अलग है, उपादान कारण अलग है। इस्लाम में सबसे बड़ा पाप है – बन्दे को खुदा कह देना। खुदा से साझेदारी? यह सबसे बड़ा पाप है। मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही सत्य हूँ – यह कहने का अपराध करने के कारण मनसूर हलाल का सिर काट दिया गया। हमलोग यह नहीं मानते हैं। हमलोग कहते हैं कि उसके अलावा कुछ है ही नहीं। जो धर्म निमित्त और उपादान को अलग-अलग मानते हैं – वे धर्म, परमात्मा से साझेदारी को सबसे बड़ा पाप मानते हैं। वे धर्म भगवान् और शैतान की अलग-अलग दुनिया मानते हैं; और वे शैतान को कभी भगवान् नहीं मान सकते। वे सृष्टि को, बंदे को कभी भगवान् नहीं मान सकते। वे सब के सब एकेश्वरवादी हो सकते हैं, लेकिन द्वैतवादी है, त्रैतवादी है, अनंतवादी है। एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद एक नहीं हैं। एकेश्वरवाद का मतलब होता है, सारी दुनियाँ पर शासन करनेवाला एक ही ईश्वर है; लेकिन वह ईश्वर इस्लाम की धारणा के अनुसार या बाइबल की धारणा के अनुसार सातवें आसमान पर है। उसने हम सब को बनाया, अब हमारा शासन करता है। वह और हम एक नहीं हैं।

एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद में जमीन आसमान का फर्क है। अद्वैतवाद का मतलब होता है कि दूसरा कोई है ही नहीं। दूसरे किसी की सत्ता नहीं है। जो कुम्हार

है, जो चाक है, वही घड़ा है। जो बनाने वाला है, और जो बना है, दोनों एक हैं। जो कुछ इस संसार में दृष्टिगोचर होता है, जो कुछ इस संसार में अनुभूत होता है – वह सब परमात्मा ही है। अपनी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ राम भी परमात्मा का रूप हैं; और रावण भी परमात्मा का ही रूप है। रावण में भी परमात्मा का ही तेज वर्तमान है। उसको समझना कठिन होता है – वह संयुक्त अक्षर है, वह क्लिष्ट है। राम सरल अक्षर हैं, समझ में आते हैं जल्दी। लेकिन रामचरितमानस में तुलसीदास ने बताया क्या – रावण का तेज कहां समाया? कुम्भकर्ण का तेज कहां समाया? राम के ही मुख में समाया। वह राम का ही तेज था। राम से भिन्न कुछ नहीं है। *'सर्व सर्वगत सर्व उरालय'* – प्रभु सर्व हैं, सब में समाये हुए हैं, सब का हृदय उन्हीं का घर है। तो जो बुरा काम करते हैं, जो अन्यायी हैं, उनके उत्साह में वृद्धि नहीं करेंगे। *'रामादि वत् वर्तितव्यम् न रावणादिवत्'* – राम की तरह आचरण करना चाहिए, रावण की तरह नहीं। क्योंकि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत होकर कर रहा है और हम जितना अपने ऊपर नियंत्रण करेंगे, हम जितनी राम की प्रेरणा से आचरण करेंगे ; काम के बन्धन से उतने मुक्त होंगे, क्रोध के बन्धन से उतने मुक्त होंगे, लोभ के बन्धन से उतने ही मुक्त होंगे। तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण तीनों उसी के हैं। लेकिन पहले तमोगुण से रजोगुण में आओ, रजोगुण से सतोगुण में आओ और तब त्रिगुणातीत हो जाओ। परम सत्य तो त्रिगुणातीत है। यात्रा तो त्रिगुणातीत होने की है। लेकिन तमोगुण सीधे-सीधे त्रिगणातीत नहीं हो सकता। इसलिए तमोगुण से रजोगुण की ओर आओ, रजोगुण से सत्वगुण की ओर आओ, सत्वगुण का भी अतिक्रमण हो। यह क्रम है, ये सीढ़ियाँ हैं। इन सीढ़ियों से हम क्रम का अतिक्रमण करेंगे।

विभूति का मतलब क्या होता है— विशेष रूप से होना। भूति माने होना, भूत माने जो हुआ। जो कुछ हुआ, उसको हम भूत कहते हैं। भूति माने उस होने की क्रिया का भाव। 'वि' माने विशेष विभूति – माने जिसमें प्रभु का अंश विशेष रूप से झलक उठा है, चमक उठा है – यह नहीं है कि परमात्मा केवल सदाचारी में है, केवल सद्गुणी में है। परमात्मा गरीब में भी है, परमात्मा पापी में भी है, परमात्मा कुत्ते में भी है, परमात्मा गाय में भी है। भगवान् ने गीता में कहा कि –

विद्याविनयसम्पने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। (५/१८)

परमात्मा विद्या तथा विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में भी है; और जिसको समाज की दृष्टि में महा अन्यायपूर्वक गलत ढंग से चाण्डाल कह कर, अपवित्र कह दिया गया,

अस्पृश्य कहा गया, उसमें भी है। परमात्मा *'सर्व, सर्वगत, सर्वउरालय'* है। परमात्मा सब कुछ है, परमात्मा सब में समाया हुआ है, परमात्मा सबके हृदय में है। इस सत्य का सीधे-सीधे ज्ञान हो जाना – इस सत्य की सीधी-सीधी अनुभूति हो जाना बहुत मुश्किल है। इसलिए हम स्थूल माध्यम से सूक्ष्म की ओर जाते हैं। भगवान् वेदव्यास ने तीन अपराधों की क्षमा मांगी है— वे कहते हैं कि मुझसे तीन बड़े-बड़े अपराध हो गये हैं—

रूपं रूपविवर्जितस्यभवतो ध्यानेन यत्कल्पितम्
स्तुत्या निर्वचनीयताखिलगुरौ दूरी कृता यन्मया।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीश तद्विकलता दोषत्रयं मत्कृतम्।।

साधारण तौर पर हमलोग ध्यान करने के लिए जब आँख मूँद कर बैठते हैं तो बाजार की याद आती है, जब ध्यान करने के लिये आँख मूँद कर बैठते हैं तो किसने आपको कब गाली दी थी उसका स्मरण आता है, कौन-कौन से काम कब करने हैं वही सब बातें याद आती हैं। लेकिन ध्यान में प्रभु का स्वरूप आ जाय तो हम समझते हैं बड़ी भारी उपलब्धि हो गई। उस उपलब्धि को अपराध मान रहे हैं भगवान् वेदव्यास, क्योंकि वे तो तत्त्वतः रूप-विवर्जित हैं, उनका कोई रूप नहीं है।

रूपम् रूपविवर्जितस्यभवतो ध्यानेन यत् कल्पितम्— आप रूपाकार रहित हैं, रूप से परे हैं। फिर भी हमने ध्यान से आपके रूप की कल्पना की, यह बड़ा भारी दोष हुआ। भगवान् की स्तुति करना दोष है कि पुण्य है? हमलोग रोज स्तुति करते हैं स्तोत्र पाठ करते हैं; और समझते हैं पुण्य करते हैं—

स्तुत्या निर्वचनीयताखिलगिरो दूरी कृता यन्मया

वेदव्यास कहते हैं बड़ा अपराध हो गया। भगवान् तो अवाङ्मनसगोचर हैं, वाणी-मन-इन्द्रिय के परे हैं, उनकी स्तुति हो ही नहीं सकती। वे तो अनिर्वचनीय हैं, अनिर्वचनीय को स्तुति की, यह भी अपराध हो गया।

व्यापित्वं च निराकृतम् भगवतो यत् तीर्थयात्रा दिना—

मैंने तीर्थ यात्रायें कीं। मतलब क्या, मैंने सोचा कि भगवान् केवल तीर्थ में हैं। तीर्थ में भगवान् को मानने के कारण भगवान् की सर्वव्यापकता का निषेध हो गया, इसलिये वह भी अपराध हो गया। इसे एक स्तर पर अपराध माना जा सकता है, भगवान् वेदव्यास के स्तर पर, परन्तु हमारे आपके लिये तो यही पुण्य है। हमारे आपके लिये भगवान् कैसे विचार के, चिन्तन के आलम्बन बन जायँ, इसके लिये

विभूति योग है। योग माने जोड़ देना। भगवान् से हमको, आपको जोड़ देने का एक सरल मार्ग है कि विभूति का चिन्तन करो। जिस क्षेत्र में तुम्हारी रुचि है उससे जुड़ो। सब विभूतियाँ सबके काम की नहीं हैं। जितनी विभूतियाँ बताई गई हैं, सब किसी व्यक्ति विशेष के काम की नहीं हैं। इन विभूतियों में भी अपना चयन हमको करना होगा। आखिर हम इष्टदेव क्यों चुनते हैं? इष्टदेव का पहला अर्थ क्या है? जो हमारा प्रिय देव है, इच्छित देव है, जिस देव के नाम से, रूप से, शील से, चरित्र से हमारा सहज तादात्म्य होता है, जिसके प्रति हमारा सहज आकर्षण होता है, जिसमें हमारा मन रमता है। वे हमारे इष्टदेव हैं। सब नाम, सब रूप भगवान् के ही हैं; लेकिन इष्टदेव एक ही होता है। इष्टदेव तो मेरा एक ही है। इष्टदेव तो मेरे रामजी ही हैं। मैंने अपने दोहे में यह बात कही है :

औरों के हैं जगत में स्वजन बन्धु धन धाम।
मेरे तो हैं एक ही सीतापति श्रीराम।।

मेरे तो हैं एक ही इष्टदेव श्रीराम; क्योंकि मेरा तादात्म्य उनके साथ सहज होता है। लेकिन इसका मतलब यह थोड़े ही है कि भगवान् के अन्य रूप नहीं हैं। तो जैसे इष्टदेव का हम चयन करते हैं अपनी क्षमताओं, अपनी रुचि, अपनी प्रकृतियों के अनुरूप ; और वे सहज रूप से प्रभु से जोड़ देने का सेतु बन जाते हैं, माध्यम बनते हैं। वैसे ही बहुत से रूप बताये हैं, चिन्तन करने योग्य विभूतियों के रूप में। हमारा किससे तादात्म्य होता है, उसका चयन हमको करना है। गुरु की कृपा से हम अपनी रुचि को पहचानें, क्योंकि अपनी रुचि को पहचानना ही बहुत मुश्किल है। हमें क्या नहीं चाहिये? हाथ में रुपया हो तो सब कुछ चाहिये। न्यू मार्केट में हैं, वे सारी चीजें, अपने घर में ला सकते हैं, तो ले आना चाहिये। अपनी रुचि को पहचानने का यह तरीका नहीं है। अपनी रुचि को पहचानने का तरीका बड़ा उल्टा है। जिसके बिना हमारा काम चल सकता है उसको छोड़ दें। इसके बिना चल सकता है, इसे छोड़ दो। जिसके बिना नहीं चल सकता, वह हमारा वास्तविक अभाव है ; नहीं तो हमारा संग्रही स्वभाव तो हमको सब कुछ लेने के लिये प्रेरित करेगा। जिसको हम छोड़ कर रह सकते हैं, वह हमारा अभाव नहीं है। जिसको छोड़े बिना, जिसको छोड़ने पर, हम जी नहीं सकते, वह हमारा वास्तविक अभाव है। जब हमारा वास्तविक अभाव हमको समझ में आता है, तो भगवान् उसको पूर्ण करने के लिये आलम्बन बन जाते हैं। भगवान् उसको पूर्ण करेंगें। भगवान् अभाव नहीं रहने देते। भगवान् समस्त अभावों को पूर्ण कर देते हैं। हमारा वास्तविक अभाव है, उस अभाव के दूरीकरण का आलम्बन बन कर प्रभु हमारे सामने

हैं। हमको कौन, क्या चाहिये? क्या हम अपने को अनाथ अनुभव करते हैं? क्या हम अपने को दुर्बल अनुभव करते हैं? क्या हमको कोई रक्षक चाहिये? तो फिर हमारा सम्बन्ध प्रभु से सेवक-सेव्यभाव का होगा। वे हमारे माता हैं, पिता हैं, गुरु हैं, स्वामी हैं। हम उनके पुत्र हैं, हम उनके शिष्य हैं, हम उनके सेवक हैं। क्या हमको पुत्र चाहिये? सखा चाहिये? जो हमारा वास्तविक अभाव है, प्रभु वह बन जायेंगे। दशरथ-कौशल्या को पुत्र चाहिये, नन्द-यशोदा को पुत्र चाहिये, प्रभु पुत्र बन जायेंगे। अर्जुन को सखा चाहिये, प्रभु सखा बन जायेंगे। मीरा को पति चाहिये, प्रभु पति बन जायेंगे। क्या नहीं बन सकते प्रभु? अपने वास्तविक अभाव का अनुभव हमको नहीं है, वास्तविक अभाव को बिना समझे हम सब कुछ संग्रह करते रहते हैं और उस परिग्रह में मरते हैं, उसके बोझ से दब जाते हैं। इसलिये भगवान् ने बताया बहुत कुछ है लेकिन उसमें हमारा जो वास्तविक अभाव है, उस वास्तविक अभाव को पूर्ण करने के लिये प्रभु उस रूप में आलम्बन (आलम्बन माने भाव का आश्रय) हैं। मेरे मन में अगर मेरी पौत्री के प्रति वात्सल्य है तो मैं वात्सल्य भाव का आश्रय हूँ; और पौत्री वात्सल्य भाव का आलम्बन है। उसके ऊपर मेरा वात्सल्य उमड़ता है। जो हमारा वास्तविक अभाव है, उस अभाव की पूर्ति करने वाले रूप को धारण करके प्रभु आयेंगे। वह उनकी विभूति हो जायेगी, और विभूति से हम अपने को जोड़ सकेंगे।

विभूति योग का मर्म यह है कि हमारा वास्तविक अभाव क्या है। किस वास्तविक अभाव को पूर्ण करने के लिये हम भगवान् से प्रार्थना करें कि वे उसके अनुरूप आलम्बन बन कर हमारे साथ, हमको अपने साथ जोड़ लें। विभूति के माध्यम से एक विशेष प्रकार का रूप धारण करने के प्रभु के अनुग्रह से उस रूप के माध्यम से प्रभु से जुड़ना, यह विभूति योग है। संसार में असंख्य श्रेणियाँ हैं, असंख्य कोटियाँ हैं, असंख्य जातियाँ हैं। जातीय राजनीति के कारण आजकल यह बहुत दूषित शब्द हो गया है। जाति का मतलब है आकार सूचक जाति। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यह जाति नहीं है, मनुष्य जाति है, पशु जाति है, नाग जाति है – ये जातियां हैं। आकार सूचिका जो है यह जाति है और वर्णन से जिसका बोध हो वह वर्ण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ण हैं; जिसका वर्णनात्मक बोध होता है। वह जो बोध है, असंख्य श्रेणियाँ हैं, असंख्य श्रेणियों में, जिसमें प्रभु का तेज उत्कृष्ट रूप से पुंजीभूत हुआ, वह उस श्रेणी की विभूति है। विशेष रूप से जिसमें प्रभु की क्षमता, शक्तिमत्ता, ज्ञान, शक्ति, सौन्दर्य या सामर्थ्य, जो भी किसी में प्रकट हुआ, वह प्रभु की विभूति के रूप में; और उन असंख्य वर्गों की कुछ श्रेणियाँ चुन ली गईं और इन श्रेणियों से उदाहरण दिये गये। जो

आज का प्रकरण है इस तत्त्व को, इस आधार को अगर हम समझेंगे, तभी निरूपण की महिमा को समझ सकेंगे, उसका आस्वादन कर सकेंगे।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।। (१०/२७)

तीन जातियाँ हुईं, एक घोड़े की, एक हाथी की, एक मनुष्य की। इसमें किसमें प्रभु की विभूति ज्यादा पुंजीभूत हुई। जब समुद्र-मन्थन हुआ था, समुद्र मन्थन में चौदह रत्न निकले थे। उन चौदह रत्नों में तीन का उल्लेख यहाँ पर है। दो का तो इसी श्लोक में है – घोड़ों में उच्चैःश्रवा और हाथियों में ऐरावत। दोनों इन्द्र को प्राप्त हुये। तो अमृत मन्थन में अमृत के आविर्भाव के साथ-साथ जो विशेष अश्व, जो विशेष गज प्रकट हुआ वह दिव्य है, वह असाधारण है, इसलिये वह भगवान् की विभूति है।

जिसको देवताओं का राजा माना गया, उसके लिये उन दोनों का उपयोग होता है। इसलिये उनका महत्त्व है। मनुष्यों में प्रजा का पालन, पोषण, नियमन करने के कारण, राजा को विशिष्टता प्राप्त होती है। तुलसी बाबा ने कह दिया है कि जो श्रेष्ठ नृप है उसी पर ईश अंश है। ईश्वर का अंश उसी पर उतरता है, दुष्ट नृपों पर नहीं। उनको विभूति मानने की प्रेरणा नहीं है, इसलिये राजा को हम विभूति मानें, कोई आवश्यक नहीं है। आजकल नेताओं को मानते हैं, राजाओं को नहीं मानते। सब नेता भी एक जैसे नहीं होते; लेकिन जिस भी व्यक्ति में, जिस श्रेणी की चर्चा हो रही है उस श्रेणी में जहाँ वैशिष्ट्य है, वैशिष्ट्य के सामने झुकना, व्यक्ति के सामने झुकना नहीं है, वह वैशिष्ट्य व्यक्ति का नहीं है। अगर भगवान् की कृपा से किसी में विद्या है, किसी में प्रतिभा है, किसी में कोई विशेष गुण है, तो वह विशेष गुण उस व्यक्ति का नहीं है, प्रभु की कृपा से है। उसके गुण के कारण उस व्यक्ति को महत्त्व नहीं देना चाहिये, उस गुण के कारण प्रभु का स्मरण करना चाहिये। किसी का सौन्दर्य देखें तो उसी को सुन्दर न मानकर, यह मानना चाहिए कि प्रभु की कृपा उसपर बरस गई है। किसी को विद्वान् समझना, बुद्धिमान समझना, बलवान, शक्तिशाली, प्रतिभाशाली समझना – यह प्रभु की कृपा समझनी चाहिए। उस गुण के माध्यम से हम प्रभु से जुड़ें, इसलिये विशेष विभूति के रूप में, विशेष सत्ता के रूप में, उसका वर्णन है। अब आगे देखें—

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।। (१०/२८)

आयुधानामहं वज्रं— अब वज्र की कल्पना की। वृत्रासुर का वध करने के लिये दधीचि की हड्डियों से बना हुआ आयुध। हड्डी में दधीचि का तप प्रविष्ट है। वज्र क्यों इतना बड़ा आयुध बन सका? क्योंकि उस वज्र के पीछे दधीचि का अपना तप है और लोकहित का उत्सर्ग है। दधीचि लोक-मंगल के लिये, लोकहित के लिये अपना शरीर त्याग देते हैं। उस लोकहित की क्षमता सम्भावना, उस तपस्या की क्षमता सम्भावना उस वज्र में निहित है; और इसलिये वह बड़ा आयुध हुआ। कोई न कोई कारण समझ में आयेगा *'धेनूनाम् अस्मि कामधुक्'* कामधेनु भी अमृतोद्भव है, उससे जो माँगोगे, मिलेगा। सम्पूर्ण कामनाओं की तृप्ति। हम माँगना भी नहीं जानते। माँगने की कई-कई कहानियाँ हैं। एक कहानी मुँह पर आ गई, सुना दें। कल्पवृक्ष के नीचे जो भी कामना की जाये, वह पूरी होती है। एक व्यक्ति जंगल में जाते-जाते अनजाने में ही कल्पवृक्ष के नीचे बैठ गया। चारों तरफ कठोर भूमि थी। उसने कहा हाय! इतनी मेहनत हुई, अगर कहीं एक पलंग मिल जाता तो कितना अच्छा होता। पलंग आ गया। बोले, पलंग तो आ गया, मगर भूखा हूँ अगर भोजन मिल जाता तो कितना अच्छा होता। भोजन भी आ गया। उसने कहा, यह तो ठीक है मगर इतना सुनसान स्थान है कहीं बाघ आकर मुझको खा जाय तो? बाघ आकर खा गया। भगवान् से भी हम ऐसे ही माँग रहे हैं, जैसे कल्पवृक्ष से उस व्यक्ति ने माँगा था। क्या माँग रहे हैं? तुलसी बाबा का एक सवैया है—

जाके बिलोकत लोकप होत बिसोक लहैं सुरलोक सुठौरहि।
सो कमला तजि चंचलता करि कोटि कला रिझवै सिरमौरहि।।

जिसके एक बार देख देने मात्र से बड़े-बड़े लोकपाल शोकरहित होते हैं, समृद्ध हो जाते हैं, वह विभूति लक्ष्मी अपने चंचल स्वभाव को छोड़कर करोड़ों कलाओं से श्रीराम जी को रिझाती रहती है।

ताको कहाय, कहै तुलसी, तू लजाहि न माँगत कूकुर कौरहि।
जानकी जीवन को जनु ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहि।।

(कवितावली/उत्तराकांड/२६)

तू अपने को कहता है राम का और तू माँगता है कुत्ते का कौर, छिः। हम रामजी से क्या माँग रहे हैं? कुत्ते का कौर माँग रहे हैं। क्या राम जी से यही माँगना चाहिये?

रामजी का सेवक होने के बाद किसी दूसरे से याचना और रामजी से भी कुत्ते के कौर की याचना – जो रामजी देते हैं बहुत देते हैं, रामजी ने जो दिया है बहुत दिया

है, जो रामजी की मौज होगी मिलेगा। कामधेनु से, रामजी से माँगें क्या, कैसे माँगें? हमको माँगना ही नहीं आता। मेरे गुरुजी ने माँगना सिखाया मुझको। मेरे गुरुजी ने कहा कि रामजी से यह नहीं कहना चाहिये, हमको यह चीज दे दो। तुमको यह नहीं मालूम कि वह चीज तुमको अगर मिल जाय तो तुम्हारा भला होगा कि बुरा होगा। झूठ नहीं कहना रामजी से। मन में कामना हो, तो यह नहीं कहना चाहिये कि हम निष्काम हैं। सच्ची बात कहनी चाहिये। रामजी! हमारे मन में इस चीज की कामना आ गई है। अगर इस चीज की प्राप्ति से हमारा भला होने वाला हो, तो हमारी कामना पूरी हो जाय; अगर इस चीज की प्राप्ति से हमारा बुरा होने वाला हो, तो हमारे मन से इस कामना को मिटा दें। रामजी के लिये असम्भव क्या है? यह कामना जब तक रहेगी तब तक दुःख देगी। जब कामना मिट जायेगी, तो सुख ही सुख है। रामजी से माँगने का तरीका आना चाहिये। रामजी से कुछ नहीं माँगना अच्छा है—

'तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाइ'

रामजी से प्रेम करते हैं उसका फल चाहते हैं? रामजी से प्रेम करने का फल जल जाय। रामजी से प्रेम तो हम प्रेम के लिये करते हैं।

साधन सिद्धि रामपद नेहू, मोहिं लखि परत भरत मत एहू।

रामजी से प्रेम साधन है, इसका साध्य क्या है? रामजी से प्रेम। साधन भी रामजी से प्रेम, सिद्धि भी रामजी से प्रेम। रामजी से रामजी का प्रेम छोड़कर और कुछ नहीं माँगना चाहिये। *'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः'*— प्रजनन काम भाव से ही होता है और इसीलिए भगवान् ने कहा कि धर्म से अविरुद्ध मैं काम हूँ।

'धर्माविरुद्धेषु भूतेषू कामोऽस्मि भरतर्षभ'

अगर काम धर्मविरुद्ध है तो फिर प्रभु का नहीं है, फिर विकार ही है। विकार भी प्रभु की ही विकृति समझ लो फिर भी सरल अक्षर नहीं है। संयुक्त अक्षर है, क्लिष्ट अक्षर है। सरल बनना है हमलोगों को, तो धर्म से अविरुद्ध काम प्रभु हैं। आगे कहते हैं—

'सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः'— भगवान् का आसन है वासुकिनाग। सर्पों का राजा वासुकि नाग प्रभु है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।। (१०/२९)

'अनन्तश्चास्मि नागानां'— नागों में अनन्त यानी शेषनाग मैं हूँ— यह कहा। शेषनाग सम्पूर्ण नागों के राजा हैं। इनके एक हजार फण हैं। ये क्षीरसागर में सदा

भगवान् की शय्या बनाकर उनको सुख पहुँचाते हैं। ये अनेकबार भगवान् के साथ अवतार लेकर उनकी लीलाओं में शामिल हुए हैं। इसलिए इन्हें विभूति बताया है।

'वरुणो यादसामहम्'— वरुण हैं समुद्र के राजा, सम्पूर्ण जलजन्तुओं के स्वामी। पुराने समय में जो नाविक होते थे, वे वरुण देवता की उपासना करते थे। बिना वरुण देव की उपासना के उनका काम नहीं चलता था। इसलिए इनको भी विभूति बताया।

'पितृणामर्यमा चास्मि'— हमलोग पितृभक्त हैं, हमलोग पितृपूजक हैं, क्योंकि हम कृतज्ञ लोग हैं। कृतज्ञ होना चाहिये। ये शरीर हमको माता-पिता की कृपा से मिला है। हम इतने बड़े पैदा नहीं हुये थे। बच्चा जितना बड़ा पैदा होता है, उसको देखो जरा। कितना असहाय होता है। मनुष्य का शिशु सबसे असहाय है और सबसे अधिक सेवा की आवश्यकता मानव-शिशु को है। जिन माता-पिता के तप से हम बड़े हुये, उन माता-पिता के प्रति हममें कृतज्ञता होनी चाहिये। और इसलिये हम पितरों का पूजन करते हैं। सात पितरों में सबसे बड़े पितृ अर्यमा माने गये हैं।

'यमः संयमतामहम्'— प्राणियों पर शासन करने वालों में सबसे बड़े शासक यमराज हैं। इनका शासन न्याय और धर्मपूर्वक होता है। अतः इन्हें भी विभूति कहा; परन्तु इन विभूतियों में जो विलक्षणता दिखती है, वह तो भगवान् से ही आई है। कभी-कभी हमलोग कहते हैं कि अगर कर्म-सिद्धान्त ही चरम सिद्धान्त होगा तो भगवान् की आवश्यकता ही नहीं। कर्म-सिद्धान्त का क्या मतलब है, जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा। चित्रगुप्त की बही में तो सबका पाप-पुण्य लिखा हुआ है। यमराज तो सबको उसके पाप-पुण्य का फल देंगे। तो फिर प्रभु की आवश्यकता ही क्या है? कर्म-सिद्धान्त के ऊपर, कृपा सिद्धान्त है। प्रभु का प्रयोजन कृपा के लिये है। प्रभु कृपा करते हैं। केवल कर्म-फल देना यह छोटी बात है। कर्म-फल अगर आजकल की भाषा में कहें, तो उच्च न्यायालय का आदेश है। उससे ऊपर सर्वोच्च न्यायालय है। सर्वोच्च न्यायालय के दंडादेश को भी राष्ट्रपति क्षमा कर सकता है। किसी को प्राण-दण्ड हो जाय, तो राष्ट्रपति से क्षमा प्राप्त होती है। वैसे ही कृपा-सिद्धान्त कर्म-सिद्धान्त से बड़ा है। कर्म संयमन् करने वालों में कर्म-फल देना, यानी कोई दुष्ट कर्म करे तो उसको दण्ड देना, सत्कर्म करने वाले को पुरस्कृत करना। अतः सबसे बड़े शासक यमराज हैं; पर यमराज से भी ऊपर कृपा के क्षेत्र में प्रभु हैं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।। (१०/३०)

'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां' – दैत्यों में मैं प्रह्लाद हूँ।

अद्भुतं रामनाम जपतां कुतोभयम्।
सर्वताप-शमनैक-भेषजम् पश्यतात्, मम गात्र सन्निधौ।
पावकोपि सलिलायते धुना।

प्रह्लाद ने कहा *'रामनाम जपतां कुतोभयम्'*, रामनाम जपने वाले को कहाँ से भय। *'सर्वताप शमनैक भेषजम्'* समस्त तापों का दमन करनेवाली एक दवा है, श्रीराम नाम। *'पश्यतात् मम गात्र सन्निधौ, पावकोपि सलिलायते धुना'* देखो-देखो पिता, मैं राम का नाम ले रहा हूँ। तुमने मुझको अग्नि पर बैठा दिया। यह अग्नि भी मेरे लिये शीतल हो गई है, जड़ हो गई है। कई बार लोग बहुत नाराज हो जाते हैं, कैसे कठोर हृदय थे प्रभु कि प्रह्लाद को इतना कष्ट दिया गया और प्रभु पसीजे नहीं। प्रह्लाद को समुद्र में डुबाया गया, प्रह्लाद को आग में जलाया गया, प्रभु पसीजे नहीं? बाबा ने एक अद्भुत दोहा कहा है—

होइ न चातक पातकी जीवन-दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रह्लाद की समुझि प्रेम पथ गूढ़।।

चातक इतना प्यासा है – पी कहाँ? पी कहाँ? रटता रहता है।

चातक खड़ा चोंच खोले है, सम्पुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिये खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी।।

तो चातक चोंच खोले खड़ा है, क्यों नहीं चातक की चोंच में स्वाति-नक्षत्र का जल आता है? क्या चातक पापी है? या तो चातक पापी है या बादल मूर्ख है। उसको अपने इतने एकनिष्ठ प्रेमी का ज्ञान नहीं है। बाबा कहते हैं, 'नहीं-नहीं दोनों बातें गलत हैं। फिर सही बात क्या है? सही बात यह है कि प्रह्लाद की गति-समझो। प्रभु अपने को निन्दित करते हैं। सहृदय लोग प्रभु की निन्दा करते हैं, भर्त्सना करते हैं कि कैसे कठोर हैं प्रभु कि आग में जलते हुये, समुद्र में डूबते हुये प्रह्लाद की रक्षा नहीं करते। क्यों इतना कष्ट दे रहे हैं? लेकिन प्रह्लाद का यश बढ़ा रहे हैं प्रभु। प्रेम की गति गूढ़ है। स्वयं निन्दित होकर भी अपने भक्त का यश बढ़ाना प्रभु का अभीष्ट है। प्रह्लाद यशस्वी हो, मैं अगर निन्दित होता हूँ, तो होऊँ। यह रामजी की सूक्ष्मता है उसमें। प्रह्लाद के यश को बढ़ाने के लिये अपनी निन्दा भी प्रभु समेटते हैं। इसीतरह से चातक की निष्ठा की महिमा को प्रतिपादित करने के लिये बादल समय पर साल में एक रोज बरसता है, स्वाति नक्षत्र में। इससे चातक की महिमा बढ़ती है। भक्त की महिमा बढ़ती है इसलिये भगवान् उसको कठिन परीक्षाओं से उत्तीर्ण होने का अवसर देते हैं। भगवान्

की महिमा बढ़े यह भगवान् को अभीष्ट नहीं है ; भक्त की महिमा बढ़े यह भगवान् को अभीष्ट है। भक्त की महिमा कठिनतम परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने पर ही बढ़ेगी। इसलिये स्वयं निन्दा सहकर भी भक्त की महिमा को बढ़ाते हैं।

'कालः कलयतामहम्'— मैं गणना करने वालों के लिए काल या समय हूँ। क्षण, फिर घण्टा, फिर दिन, फिर मास, फिर वर्ष आदि। गणना करने के साधनों में काल भगवान् भी विभूति है। एक काल आगे भी आयेगा *'अहमेवाक्षयः कालः'*। एक है अखण्ड काल और एक है खण्ड-खण्ड काल। तुलसी बाबा की एक बहुत अच्छी उक्ति है—

लवनिमेष परमानु जुग बरष कलप सर चण्ड।
भजसि न मन तेहि रामको, काल जासु कोदण्ड।।

क्षण, लव निमेष, युग, वर्ष शताब्दी ये भगवान् के बाण हैं, खण्ड-खण्ड काल और उनका जो कोदण्ड है, उनका जो धनुष है वह है अखण्ड काल। तो अखण्ड काल के ऊपर वे खण्ड-खण्ड कालों के बाण चढ़ाकर लोगों को मारते हैं— *'कालो जगत् भक्षकः'* – काल सारे संसार का भक्षक है। तो यहाँ खण्ड-खण्ड काल की बात कही – *'कालः कलयतामहम्'*।

'मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं'— मृग का अर्थ आजकल हरिण हो गया है। मृग का मतलब है पशु; इसीलिये मृगेन्द्र यानी पशुओं का राजा सिंह। जैसे 'मार्ग' शब्द का अर्थ विस्तार हो गया। जंगल में जिस तरफ से मृग जाते थे, तो उनकी पगडण्डियाँ होती थीं, उसको मार्ग कहते थे। आजकल हम, आप गाड़ी, घोड़ा, ट्रक सब मार्ग से चलने लगे हैं। तो मार्ग का अर्थ विस्तार हो गया है। पशु मात्र का अर्थ था मृग।

'वैनतेयश्च पक्षिणाम्'— पक्षियों के राजा गरुड़, भगवान् नारायण के वाहन। वासुकिनाथ भगवान् विष्णु की शय्या, ये भगवान् के वाहन। कहते हैं कि जब ये उड़ते हैं, तो इनके पंखों से स्वतः सामवेद की ऋचायें ध्वनित होती हैं। इसलिए इन्हें विभूति कहा है—

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।। (१०/३१)

'पवनः पवतामस्मि'— पवतामस्मि के दो अर्थ बताये। एक तो पवित्र करने वालों में मैं पवन हूँ। सबसे ज्यादा पावन है वायु *'ऊर्णावातयेन शुद्धति'*— सूती कपड़े को तो रोज-रोज धोया जाता है, परन्तु ऊनी कपड़े को रोज-रोज धोया जाय तो उसकी गर्मी ही चली जायेगी। *ऊर्णावातयेन शुद्धति*। ऊन का कपड़ा वायु से ही पवित्र हो जाता

है, तो एक तो पवित्र करने वालों में मैं पवन हूँ, यह एक अर्थ। गतिशीलों में मैं पवन हूँ, यह दूसरा अर्थ।

'रामः शस्त्रभृतामहम्'— राम भक्तों के लिये तो परब्रह्म परमेश्वर हैं, लेकिन शस्त्रधारियों में अपने को भी यहाँ उन्होंने राम बताया है।

'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'— आगे ३७वें श्लोकों में भी कहते हैं। इसलिये *'रामः शस्त्रभृतामहम्'*। हाथ में लेकर जिससे आक्रमण किया जाय, दूसरे को काटा जाय, वह शस्त्र है – जैसे तलवार, छुरा, भाला आदि। फेंक कर जो मारा जाय, वह अस्त्र है -- अस् माने फेंकना – जैसे चक्र, तीर, गोली। शस्त्र में अस्त्र समाहित है— *रामः शस्त्रभृतामहम्*— अर्थात् शस्त्रास्त्रधारियों में मैं राम हूँ। राम का तो कोदण्ड है, बाण है, कोदण्डधारी हैं। शाब्दिक विश्लेषण किया जाय तो वे तो अस्त्र है; लेकिन उन्होंने शस्त्रभृतामहम् कहा तो शस्त्र में अस्त्र समाहित है।

'झषाणां मकरश्चास्मि' – मछलियों में, मछली जाति में मैं सबसे बड़ी मछली, मगर हूँ। *'स्रोतसामस्मि जाह्नवी'*– बहने वाले स्रोतों में, नदियों में मैं गंगा हूँ।

गतिश्चक्लिश्यमानाम्, न गंगा सदृशी क्वचित्।
सुखदा मोक्षदा गंगा, गंगैव परमा गतिः।।

एक बढ़िया दोहा रहीम का है। रहीम के बहुत से दोहे हैं; लेकिन यह दोहा तो अद्भुत है – माता गंगे! तुम्हारे लिये असम्भव क्या है ? तुम जिसको जो चाहो वह बना दो—

अच्युत चरण तरंगिनी शिवसिर मालतिमाल।
हरि न बनायो सुरसरी कीज्यो इन्दव भाल।।

भगवान् के चरणों से निकली हैं गंगा। इसलिये इतनी पवित्र हैं – *अच्युत चरण तरंगिणी शिवसिर मालतिमाल* – भगवान् शिवकी जटाओं में मालती की माला की तरह लिपटी रहती हैं गंगा। माँ! तुम तो किसी को कुछ भी बना सकती हो, मुझको विष्णु मत बनाना; चन्द्रमा को अपने ललाट पर धारण करने वाला शिव बनाना, जिससे मैं तुमको अपने मस्तक पर धारण करूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।। (१०/३२)

आगे भी उन्होंने कहा है कि मैं आदि, मध्य, अन्त हूँ, उसमें चेतन प्राणियों का कहा— इसमें सृष्टिमात्र का कहा। सृष्टिमात्र— *'सर्गाणाम् आदिः अन्तः च मध्यं चैवाहं अर्जुन'*— जो कुछ है उसका बीज भी प्रभु, जो कुछ (जगत्) विषरूपी जगत् यह भी

प्रभु, और इस विषरूपी जगत् का जो प्रलय होगा, वह भी प्रभु में ही। आदि भी प्रभु, मध्य भी, वर्तमान स्थिति भी प्रभु और समापन की स्थिति भी प्रभु। यह भगवान् का योग है। भगवान् का जब विशेष रूप धारण होता है, तब होती है विभूति। भगवान् का वास्तविक रूप आदि, मध्य, अन्त है, यह कहने के लिये विभूति भी कह लीजिये और यही उनका वास्तविक रूप है। योग के दो अर्थ होते हैं– एक योग मिला देना, दूसरा उनकी शक्ति। योगमाया जिसे कहते हैं— योगमाया में योग उनकी क्षमता है; क्योंकि वे सारी सृष्टि के बीज हैं, वे सारी सृष्टि के मध्य हैं, वे सारी सृष्टि के प्रलय हैं।

'भवभव विभव पराभव कारिनि' — भगवती के लिए यह कहा गया। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश तीनों – यही भगवती का रूप बताया गया है, यही भगवान् का रूप है।

'अध्यात्मविद्या विद्यानां'— आजकल लोगों को अध्यात्म शब्द का अर्थ समझ में नहीं आता। अंग्रेजी के अनुवाद के कारण Spiritualism तो हो गया अध्यात्मवाद और materialism हो गया जड़वाद, भौतिकवाद। जो भौतिकता से परे है, वह हो गया अध्यात्म। यह अर्थ नहीं है। हमारे देश में अध्यात्म का अर्थ है *'आत्मने अधि'* – अपने भीतर। तो वह विद्या अध्यात्म विद्या है, जो हमारे भीतर क्या-क्या है इसको समझाये। हमारे शरीर से सूक्ष्म हैं हमारी इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से सूक्ष्म है मन, मन से सूक्ष्म है बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म है परमात्मा। उस परमात्मा तक जो समझाने की विद्या है, वह अध्यात्म विद्या है। अध्यात्म विद्या हमारे शरीर के भीतर जो कुछ है, सबकी विद्या है। इसीलिये कहा— *'दैहिक-दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहिं व्यापा'।*

आधिभौतिक ताप माने दूसरे किसी ने हमको लाठी से मार दिया, किसी पशु ने मार दिया। आधिदैविक ताप— बहुत पानी बरस गया, बहुत सर्दी हो गई, सूखा पड़ गया। और आध्यात्मिक ताप – अपने मन में काम आ गया, अपने मन में क्रोध आ गया, अपने मन में लोभ आ गया, अपने मन में ईर्ष्या आ गई – ये आध्यात्मिक ताप है। ताप दो प्रकार का हुआ – जब बाहर प्रकट हो, तो फोड़ा-फुन्सी, ज्वर ये भी आध्यात्मिक ताप हैं। जब वह भीतर रहे तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ये भी आध्यात्मिक ताप हैं। तुलसी बाबा ने दैहिक को आध्यात्मिक का प्रतिनिधि बना दिया।

दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहिं व्यापा – वहाँ दैहिक का मतलब है आध्यात्मिक। अपने भीतर जो कुछ है। वह विद्या जो हमको अपने काम, क्रोध, लोभ, मोह से मुक्त करे। वह विद्या जो हमको अपनी भक्ति से, अपनी श्रद्धा से युक्त करे ; वह विद्या जो हमारे भीतर रहने वाले परमात्मा से हमको जोड़ दे— वह

अध्यात्म विद्या है। इसलिये अध्यात्म विद्या बाहरी विद्याओं से बड़ी विद्या है। विद्याओं में सबसे बड़ी विद्या अध्यात्म विद्या है, उसको ठीक-ठीक जानने से मुक्ति प्राप्त होती है।

'वादः प्रवदतामहम्'— प्रवदतामहम् का अर्थ कई लोगों ने वक्ता बताया है। शंकराचार्य ने इसका ठीक अर्थ किया है। उन्होंने कहा कि तीन प्रकार के वचन होते हैं— एक होता है वाद, एक होता है जल्प, और एक होता है वितण्डा। जब किसी से शास्त्रार्थ होने लगता है तो सही-सही सत्य के बोध के लिये जो शास्त्रार्थ होता है उसको कहते हैं वाद।

'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'— जब वाद हो, बातचीत शास्त्रार्थ हो तो यह दृष्टि नहीं होनी चाहिये कि मैं किसी तरह से जीत जाऊँ। मैं किसी तरह से जीत जाऊँ, यह वृत्ति जल्प है; और उसको किसी तरह से हरा दो, यह वृत्ति वितण्डा है। तो वाद, जल्प और वितण्डा इन तीन प्रकार की युक्तियों में मैं वाद हूँ, सत्य को जाननेवाली दृष्टि हूँ। आगे कहा है—

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।। (१०/३३)

'अक्षराणामकारोऽस्मि'— सारे अक्षरों में मैं अकार हूँ। सबसे पहला भी है, बीज भी है और व्यञ्जन तो अकार के बिना बोला ही नहीं जा सकता। आप 'क' बोलिये तो उसमें 'अ' आयेगा, 'ख' बोलिये तो उसमें अ आयेगा। 'अ' में अ आया, आ में अ जोड़ आ है। अ, इ, उ, ऋ यही चार मूल हैं लेकिन अ प्रथम है, इसलिये वह अक्षर है। स्वर और व्यञ्जनों दोनों में आधार अ है। इसलिये अकार को महिमा दी।

'द्वन्दः सामासिकस्य च' – दो शब्दों का जब योग होता है तो समास होता है। पहला शब्द प्रधान है तो अव्ययीभाव! दूसरा शब्द प्रधान है तो तत्पुरुष। दोनों शब्द अप्रधान हैं तो बहुव्रीहि। दोनों शब्द प्रधान हैं तो द्वन्द्व। तो दोनों शब्दों की प्रधानता होने से इसे विभूति कहा है। पहला शब्द प्रधान है तो अव्ययीभाव जैसे यथाशक्ति, प्रतिदिन। राजपुत्र, यह तत्पुरुष है — राजा का बेटा, इसमें दूसरा शब्द प्रधान है। पीताम्बर में पीले पर जोर है न अम्बर पर, पीताम्बरधारी विष्णु पर जोर हो गया तो बहुव्रीहि हो गया। जब दोनों शब्द प्रधान हैं, जैसे : कृष्णार्जुन, जैसे : रातदिन, तो द्वन्द्व हो गया। जिसमें दोनों शब्दों की प्रधानता हो वह द्वन्द्व समास मैं हूँ।

'अहमेवाक्षयः कालो'— मैं वह अखण्ड काल हूँ, जिसकी चर्चा मैंने अभी की। अनादि अनन्त काल, महाकाल, काल का भी काल।

'धाताहं विश्वतोमुखः'— सब तरफ जिसका मुँह है, वह चारों तरफ मुँह वाला ब्रह्मा मैं हूँ। धाता, विधाता और सबको धारण किये हुये, अनन्त सिरों वाला परमात्मा मैं हूँ। आगे कहते हैं—

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्य नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।। (१०/३४)

'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'— सबका हरण, सबका नाश कर देनेवाली मृत्यु भी मैं हूँ। इसीलिये भक्तलोग मृत्यु से डरते हैं। परन्तु सुन्दरदास की एक युक्ति मुझको बार-बार याद आती है—

सुन्दर संशय को नहीं, महामहोत्सव एह।
आतम परमातम मिल्यो, देह खेह की खेह।।

मृत्यु तो महामहोत्सव है। मृत्यु से डरना नहीं चाहिये। रवीन्द्रनाथ ने भावसिंह पदावली में कहा – *'मरण रे तू मम श्याम समान'*। तुम तो मेरे श्याम के समान हो। इसी कारण *'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'*। सर्व हरण कर लेने वालों में मैं मृत्यु हूँ। मृत्यु में चिन्ता, मोह सभी कुछ मिटा देने की ताकत है अतः उसे विभूति कहा है।

चेतो हरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः।
सद् बान्धवाः प्रणति नम्र गिरश्च भृत्याः।।
मत्तेमयूथनिवहास्तरलास्तुरंगाः।
सम्मीलिते हि नयने नहि किञ्चिदस्ति।।

चेतो हरा युवतयः – चित्त को हर लेने वाली बहुत सी सुन्दर स्त्रियाँ तुम्हारे पास हों ; *सुहृदोऽनुकूलाः* – अनुकूल सुहृद तुम्हारे पास हों ; *सद् बान्धवाः* — अच्छे बान्धव हों, नाते रिश्तेदार हों। *प्रणति नम्र गिरश्चभृत्याः* — सिर झुकाये हुये नम्र वचन बोलने वाले भृत्य हों। *मत्तेमयूथनिवहा* – मतवाले हाथियों के अनेक झुन्ड हो। आजकल हवाई जहाज हैं ; कार, मर्सिडीज, गाड़ियों के झुण्ड हों। *तरलास्तुरंगाः* – बड़े तेज घोड़े हों। सब कुछ हो। *सम्मीलिते हि नयने नहि किञ्चिदस्ति* – आँखें मुँदी तो कुछ नहीं। *'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'*— मृत्यु सब कुछ हरण कर लेगी।

'उद्भवश्च भविष्यताम्' – और भविष्य में जो कुछ होने वाला है, उसका बीज मैं हूँ। मेरे गुरुजी विनोद में कहते थे कि ये सब पुरुष-पुरुष कहते हैं, देखो नारियों के लिये कितना कह दिया – *'कीर्तिः श्रीः वाक् च नारीणां स्मृतिः मेधा धृतिः क्षमाः'* पुरुषों में कोई एक-एक गुण किसी में होगा। नारियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा ये सात-सात गुण के रूप में प्रभु विराजमान हैं। नारीणां – समस्त नारियों

में, ब्राह्मण, श्रत्रिय या वैश्य में नहीं, समस्त नारियों में। नारी मात्र में। यद्यपि विनोबा भावे ने इसमें एक और अर्थ जोड़ा। कहा, नारी का मतलब होता है नरशक्ति। नारी का मतलब यहाँ होना चाहिये – मनुष्य मात्र – मतलब नर भी नारी की शक्ति। दोनों अर्थ अच्छे हैं। महिलाओं को तो आजकल विशिष्ट मान देना ही चाहिये। लेकिन मनुष्य मात्र के लिये भी ये सात गुण आवश्यक हैं। *कीर्ति*— किसी का यश कैसे होता है? अच्छे कर्मों के बिना किसी का यश नहीं होगा। सद्गुणों से संसार में जो प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा मिलती है, उसे कीर्ति कहते हैं।

श्री माने लक्ष्मी भी और सुन्दरता भी। जिसके पास होगी वे विशिष्टता पाते हैं – 'वाक् च' – *वाणी* – कैसी वाणी?

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय।।

गुरुजी कहते थे – *'सारं सुष्ठु मितं मधु'*। चार विशेषता होनी चाहिये वाणी की। सार-सार बोलें – बहुत विस्तार करके बोलने की जरूरत नहीं। सुष्ठु बोलें – अच्छा बोलें। मित और मधु बोलें। हितकर बोलें तो।

'स्मृतिः' – स्मरण रहे। *'मेधा'* – वह बुद्धि जो विद्या को धारण करे। *'धृति'* – जो दुःख कष्ट के आघात पर भी विचलित न होने दे। *'क्षमा'* – शक्ति रहते हुये भी दूसरों के दोष को क्षमा कर दे। उदारता होनी चाहिये। ये सात भगवदीय गुण हैं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।। (१०/३५)

'बृहत्साम तथा साम्नां'— सामों में मैं बृहत्साम् हूँ – साम वेद में बृहत्साम एक विशेष स्तुति है, जिसमें भगवान् को इन्द्र के रूप में वर्णित करके उनकी स्तुति की गई है।

'गायत्री छन्दसामहम्'— वेदमाता गायत्री समस्त छन्दों में श्रेष्ठ है। जो त्राण करे, जिसका चिन्तन मनन करने से हमारा कल्याण हो। गायत्री में क्या मांगा गया है देखो – मैं भूः भुवः स्वः तीनों लोकों में व्याप्त तेजस्वरूप, प्रकाशस्वरूप भगवान् नारायण का ध्यान करता हूँ जो मेरी बुद्धि को शुद्ध कर अच्छे कर्मों में प्रवृत्त करें। *शुद्धाहि बुद्धिः किलकामधेनुः*। वैष्णव गायत्री है—

जनक सुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुगपद कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।।

निर्मल मति और अच्छा काम – *गायत्री छन्द सामहम्।*

'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'— भगवान् का विवाह हुआ था शायद मार्गशीर्ष मास में और महाभारत काल में यह पहला मास माना जाता था। नवान्न आता है घरों में, इसलिये मासों में मार्गशीर्ष श्रेष्ठ माना गया है। ऋतुओं में वसन्त – कुसुमित चारों तरफ फूल हों – *'ऋतूनां कुसुमाकरः'*

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।। (१०/३६)

'द्यूतं छलयतामस्मि'— जुआ भी राम जी ही हैं। दो कारणों से बताया गया -एक तो छलों में सबसे बड़ा छल इसी में होता है। दूसरे राजाओं की क्रीड़ा थी, इसलिये भी इसको विभूति बता दिया गया। लेकिन इस विभूति का कोई ध्यान न करे ; नहीं तो महाभारत का परिणाम होगा। मैंने अपने प्रवचन के प्रारम्भ में कहा कि सब विभूतियाँ सबों के लिये ग्राह्य नहीं हैं।

'तेजस्तेजस्विनामहम्'— तेजस्वियों का जो तेज है, वह मैं हूँ। तेज उस भाव को कहते हैं, जिससे सामनेवाला आक्रान्त हो जाय। जिससे सामनेवाला अभिभूत हो जाय। लक्ष्मण तेजस्वी थे, उनका प्रकट तेज था। रामजी का तेज, संयत तेज था।

'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि'— मैं ही विजय हूँ, मैं ही दृढ़ संकल्प हूँ। व्यवसाय का मतलब व्यापार हो गया है, आजकल। यह अर्थ नहीं है। *अवसानं अवसायः*– कोई काम शुरू किया गया तो उसका; अवसाय तक देख लेना, विशेष रूप से—यह व्यवसाय है। कैसे काम शुरू होकर कैसे काम समाप्त होगा – आदि से अन्त तक जब बात दृष्टि में स्पष्ट हो जाय, तब बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है। भगवान् ने गीता में कहा है व्यवसायात्मिका बुद्धिः–जो दुर्बल लोग हैं उनमें व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं आती। व्यवसायात्मिका बुद्धि आनी चाहिये, निश्चयात्मक बुद्धि होनी चाहिये। आदि से अन्त तक कौन-कौन प्रक्रिया कैसी होगी, समझ में आनी चाहिये। तो व्यवसाय भी मैं हूँ।

'सत्त्वं सत्त्ववतामहम्'— सत्त्व का एक अर्थ तो गुण है। सत्त्व गुण सात्त्विकों का सत्त्व गुण। सत्त्व का एक अर्थ चित्त है। कैसा चित्त है तुम्हारा? चित्त का उत्साह कैसा है? एक बढ़िया श्लोक है—

विजेतव्यालंका चरणतरणीयो जलनिधिः
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्येको रामः सकलमपि हन्ति प्रतिबलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे।।

विजयेतव्या लंकाः – जीतनी थी लंका। *रणभूमि सहायश्च कपयः* – और

रणभूमि में सहायक थे बन्दर-भालू। *चरणतरीणयो जलनिधिः* – जलनिधि पैदल पार करना था। *विपक्षः पौलस्त्यः* – विपक्ष में रावण था। *तथापेक्यो रामः* – तो भी अकेले रामजी ने समस्त राक्षसों का वध कर दिया। *क्रिया सिद्धि सत्वे वसति महताम् नोऽपकरणे* – क्रिया की सिद्धि महान् पुरुषों के चित्त में, चित्त के संकल्प में, चित्त के उत्साह में निवास करती है, उपकरणों में नहीं।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।। (१०/३७)

'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'— वृष्णि वंश में, यादवों में, वार्ष्णेयों में मैं वासुदेव हूँ। *'पाण्डवानां धनञ्जयः'*— पाण्डवों में मैं धनञ्जय, अर्जुन हूँ। वक्ता भी प्रभु और श्रोता भी प्रभु। गुरु भी प्रभु, शिष्य भी प्रभु। *'मुनीनामप्यहं व्यासः'*— मुनियों में मैं व्यास हूँ। भगवान् व्यास के हमलोग बहुत ऋणी हैं। हमलोग कृतज्ञ देश के निवासी हैं। भगवान् वेदव्यास ने वेद को चार भागों में बाँटा। उसका वर्गीकरण किया। भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। भगवान् वेदव्यास ने महाभारत की रचना की। अठारह पुराण अठारह उपपुराण। कहा है— *'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वं'*— सारा संसार व्यास की जूठन है। चार मुँह नहीं हैं लेकिन ब्रह्मा हैं, तीन नेत्र नहीं हैं लेकिन शिव हैं, चार भुजायें नहीं हैं लेकिन विष्णु हैं।

ऐसी मान्यता हमलोगों ने वेदव्यास को दी थी। जिस पीठ पर बैठ कर मैं बोल रहा हूँ, उसको कहते हैं व्यास पीठ। तो *मुनीनामप्यहं व्यासः* — मननशील महापुरुषों में मैं व्यास हूँ। मुनि माने मननशील, मुनि का भाव जो है वह मौन है। मननशील व्यक्ति मुनि होता है और वह जब चुपचाप सोचता रहता है तो मौन होता है। मुँह से नहीं बोलना पर भीतर गालियाँ दिये जा रहे हैं, यह मौन नहीं है। मुनि के भाव को मौन कहते हैं। *मुनेः भावः मौनम्* — मननशीलता जब रहे शान्ति के साथ, तब मौन होता है।

'कवीनामुशना कविः'— कवियों में मैं उशना कवि हूँ। कवि का मतलब आजकल हमलोग सिर्फ छन्द, गीत रचनाकार को मानते हैं। कवि का अर्थ केवल इतना ही नहीं, कवि का अर्थ है क्रान्तदर्शी। कवि का अर्थ है विचारक। कवि का अर्थ है विद्या का ज्ञाता। उशना मतलब शुक्राचार्य। वे संजीवनी विद्या के ज्ञाता थे। संजीवनी विद्या के ज्ञाता होने के कारण उनको यहाँ सम्मान दिया गया – *'कवीनामुशना कविः'*। विद्वानों में विद्या के ज्ञाताओं में मैं उशना कवि हूँ। अगर कोई छन्दकार ही मान ले, तो उनकी शुक्रनीति भी है। यद्यपि लोग शुक्रनीति से विदुर नीति को ज्यादा अच्छा मानते हैं, फिर भी नीति के रूप में यह महत्त्वपूर्ण पुस्तक उनकी है।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।। (१०/३८)

'दण्डो दमयतामस्मि'— जो कुपथगामी हैं, उनको सन्मार्ग पर लाने वाला मैं दण्ड हूँ। *'नीतिरस्मि जिगीषताम्'*— जो विजय कामना करनेवाले हैं, उनके लिये नीति हूँ। *'मौनं चैवास्मि गुह्यानां'*— जो गुह्य, गोपनीय, उसमें मैं मौन हूँ। गुह्य का मतलब जिसे कोई समझ नहीं सके। क्या मतलब है मौन का? कहीं मौन का मतलब हाँ है, कहीं मौन का मतलब ना है, जो आपके समझ में आये। मौन जो रहता है, उसके मर्म को दूसरा नहीं समझ पाता। *'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्'*— ज्ञानियों का मैं ज्ञान हूँ। निराला ने कहा है- *— ज्ञानियों के ज्ञान हैं, अज्ञान बने बैठे हैं, सब लोगों में योग ध्यान बने बैठे हैं।* हाँ, तो ज्ञानियों के ज्ञान और अज्ञानियों के अज्ञान भी वे ही हैं।

यच्चापि सर्व भूतानां बीजं तदहमर्जुन।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।। (१०/३९)

सारी सृष्टि रूपी जो अश्वत्थ वृक्ष है, उसका मैं बीज हूँ। बीज ही वृक्ष में रूपान्तरित होता है। जो बीज में नहीं है, वह वृक्ष में नहीं हो सकता। *'बीज बिना तरु जमे कहो तुम मोहि कहाँ ते - जो उनमें गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते'*— उनमें अगर गुण नहीं तो और गुण आये कहाँ से। तो उनमें गुण हैं। वे बीज हैं सारी सृष्टि के।

इस सारे चर और अचर, चलनेवाले और स्थायी, सारे संसार में मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं। और भी—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। (१०/४०)

'हरि अनन्त, हरि कथा अनन्ता'। मेरी विभूतियों के विस्तार का कोई अन्त नहीं है। हे शत्रुओं को ताप पहुँचाने वाले अर्जुन। मेरी विभूतियों के विस्तार की कोई सीमा नहीं है। मैंने तो केवल निर्देश करने के लिये संक्षेप में थोड़ी सी विभूतियों की चर्चा की है। यह जो सारा कहा गया है, ये इसी में समाहित नहीं हैं, यह केवल निर्देश मात्र है। अनन्त विभूतियाँ हैं, जो कुछ हैं, वे प्रभु का ही रूप है। प्रभु ही सब बने हैं। उसमें जहाँ-जहाँ उनकी विशेष शक्ति की झलक है, उसमें उनको पहचानो -

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। (१०/४१)

इस संसार में जहाँ कहीं भी जो ऐश्वर्यवान है, (विभूति का मतलब यहाँ ऐश्वर्य), जो सत्यवान है, सद्गुण है, जिसमें लक्ष्मी है, जिसमें सौन्दर्य है, जिसमें सत्य

है, जिसमें ऊर्जा है— *'तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेर्जोऽशसम्भवम्'*। सब का सब मेरे तेज के एक अंश मात्र का अभिव्यक्त स्वरूप है। सारी सृष्टि में प्रभु समाये हुये तो हैं, लेकिन सृष्टि तक ही सीमित नहीं हैं। ऐसी अनन्त-अनन्त और सृष्टि वे कर सकते हैं।

'रोम-रोम ब्रह्माण्ड'— एक-एक रोएँ में करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं, तुलसी बाबा ने कहा। ऐसे ही इस सारी सृष्टि में प्रभु हैं, लेकिन इस सृष्टि तक प्रभु सीमित नहीं हैं। इसमें भी हैं और इसके परे भी, सर्वत्र हैं। यह जो सारी सृष्टि है, उनके एक अंश से निर्मित है। वेद में कहा है कि एक पाद से यह सृष्टि है। ऋग्वेद की ऋचा है, *'पादोऽस्य सर्वाणि भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि'*— पाद का मतलब भी - अंश, अंश भी केवल कहने के लिये। अंश भी कुछ होता नहीं। जैसे घटाकाश, जैसे मठाकाश और जैसे अनन्ताकाश। एक घड़े में भी आकाश है, तो क्या घड़े से सीमित हो गया। घड़े के भीतर भी है, बाहर भी है।

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर - भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कथौ गियानी।।

तो घड़े के भीतर जो आकाश है उससे यह बँध नहीं जाता, वह उसके परे भी है। सारी सृष्टि में हमको केवल उसके अंश का आभास कराता है घड़ा। घड़ा इसको सीमित नहीं कर सकता; लेकिन हमको उससे उसके एकांश का आभास होता है। उसी तरह से यह सारी सृष्टि प्रभु के तेज के एक अंश से उत्पन्न है; और प्रभु का वास्तविक स्वरूप तो बहुत विशिष्ट है, अत्यंत महिमामय है। अब समापन कर रहे हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।। (१०/४२)

बहुत बोल के क्या होगा? संक्षेप में यह समझ लें कि केवल एक अंश में सारा जगत् व्याप्त और स्थिर है। यह जो सारा जगत् है – विद्यमान जगत्, मेरे एक छोटे से अंश की अभिव्यक्ति मात्र है। सृष्टि में जो कुछ विशिष्ट है, जो कुछ असाधारण है, उसमें प्रभु का तेज, प्रभु की ऊर्जा, प्रभु का सौन्दर्य, प्रभु की शक्ति है। उस क्षर को, उस नश्वर को उसका स्वामी मत मानो। उस क्षर, उस नश्वर में प्रभु की क्षमता का एक अंश झलक गया है। उसके माध्यम से प्रभु से जुड़ें। जहाँ भी, जो कुछ भी उत्कृष्ट है, श्रेष्ठ है, उसके माध्यम से प्रभु से जुड़ना चाहिये। विभूति योग में यही बताया गया है। जैसा मैंने आरम्भ में कहा, ये अभिन्न निमित्तोपादान कारण रचयिता, रचना में स्वयं अभिव्यक्त हो रहा है। इस सच्चाई को समझाने के लिये टुकड़ों-टुकड़ों में विभूतियों के माध्यम से यह बात बताई गई है। इन समस्त टुकड़ों का समग्र रूप, विश्वरूप दर्शन अगले अध्याय का विषय है। ●

विश्वरूप दर्शन

जब प्रवचन-क्रम आरम्भ हुआ था तब तो विश्वास ही नहीं था कि इतनी विचित्र घनघोर राजनीतिक व्यस्तता में यह चलता रहेगा। जिस प्रभु की कृपा से यह सम्भव है, मैं उनको बारबार प्रणाम करता हूँ। आज का प्रसंग बड़ा अद्‌भुत है। भगवान् के स्वरूपमय दर्शन का यह अत्यन्त काव्यमय, अत्यन्त गम्भीर, अत्यन्त ज्ञानमय प्रसंग है और इसमें भगवान् की कृपा का संकेत निहित है। अच्छा गुरु कौन होता है? अच्छा गुरु वह होता है जो अपने उपदेश क्रम में शिष्य की जिज्ञासा को जगा दे। जिस जागी हुई जिज्ञासा के कारण वह शिष्य नया-नया विषय सुनने की इच्छा प्रकट करे। दशम अध्याय की ही चर्चा करें जिससे कि इस एकादश अध्याय का विकास हुआ है, उसमें प्रभु ने कहा – *एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।* (१०/७)

जो मेरे योग को और मेरी विभूति को तत्त्वतः समझ लेता है, उसको अविकम्प भक्ति-योग की प्राप्ति होती है। किसी भी स्थिति में वह क्यों न हो, उसकी भक्ति खण्डित नहीं होती, विचलित नहीं होती। भक्ति-योग अविकम्प रूप से, कैसे हो, इसका संकेत दिया कि मेरे योग को और मेरी प्राप्त विभूति को तत्त्वतः समझ लो, तुमको अविकम्प भक्ति-योग प्राप्त हो जायेगा। स्वाभाविक रूप से अर्जुन की इच्छा हुई कि मुझको भी यह अविकम्प भक्ति-योग प्राप्त हो। वह कहता है कि प्रभु आप ही मुझको बता दीजिये कि आपका योग क्या है, आपकी विभूति क्या है? दशम अध्याय में उन्होंने योग, अपनी विभूति के विषय में बताया। इस दशम अध्याय के अन्तिम श्लोक में उन्होंने कहा कि तुम बहुत विस्तार से जान कर क्या करोगे ; इतना ही समझ लो कि मैंने अपने एक अंश से इस पूरे जगत् को धारण कर रखा है –

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।। (१०/४२)

---

* ११वाँ अध्याय (विश्वरूप दर्शन योग) : श्लोक संख्या १ से १४

मैंने इस सारे संसार को स्तब्ध करके, नियंत्रित करके अपने एक अंश के द्वारा धारण कर रखा है। समग्र में नहीं केवल एक अंश में, अपनी मर्यादा में स्थित होकर मेरी आज्ञा का निर्वाह करता हुआ, यह जगत् विद्यमान है; और उस जगत् में मैं ओत-प्रोत रूप से युक्त हूँ।

अब देखिये भगवान् ने अर्जुन के मन में एक और जिज्ञासा का बीज बो दिया। वह बीज यह है कि जिस एक अंश में समग्र विश्व है, क्या मैं उस विश्व रूप का दर्शन कर सकता हूँ। पहले उन्होंने विभूति और योग की बात कही और तब उसकी जिज्ञासा हुई तो उन्होंने विभूति और योग के विषय में बताया। उस विभूति और योग के विवेचन क्रम में उन्होंने एक शगूफा छोड़ दिया कि मैं सारे विश्व को अपने एक अंश में धारण करके स्थित हूँ। अगर प्रभु का एक ही अंश समस्त विश्व को, ब्रह्माण्ड को, धारण किये हुए है, तो क्या मैं उस विश्वरूप का दर्शन कर सकता हूँ? अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा हुई। जिस तरह योग्य गुरु अपने शिष्य के मन में जिज्ञासा जगाते रहते हैं, वैसे ही योग्य शिष्य हैं अर्जुन। पहले चार श्लोकों से यह बात समझ में आनी चाहिये कि अपने गुरु से कैसे प्रश्न पूछना चाहिये, कैसे प्रार्थना करनी चाहिये? प्रार्थना आदेश देना तो नहीं है, प्रार्थना प्रकृष्ट रूप से अर्चना है, जो कि अच्छी चीज है, बड़ी चीज है। पर उस बड़ी चीज को चाहने का क्रम कैसा होना चाहिये, कैसे प्रार्थना करनी चाहिये? अब आप देखिये, अर्जुन पहले प्रमाण देते हैं कि प्रभु आपने पहले जो कहा है, वह मैंने ध्यान से सुना है। मैं आपका योग्य शिष्य हूँ। आपने जो कुछ कहा है, मैंने इस कान से सुनकर उस कान से निकाल नहीं दिया है। मैंने दोनों कानों से सुनकर, उसको हृदय में धारण किया है। मैं उसको प्रमाणित कर रहा हूँ। उन्होंने आरम्भिक दो श्लोकों में जो कुछ अपने गुरु श्रीकृष्ण से कहा उसको संकेतित किया है। फिर बहुत ही विनम्रता से वे अपनी इच्छा प्रकट करते हैं। उस विनम्रता में वे अपनी सीमा को भी संकेतित करते हैं। यह प्रार्थना का क्रम अपने में बहुत विशिष्ट है। हमलोगों को यह बात भी सीखनी चाहिये कि कोई अपने गुरु से प्रार्थना करे, तो प्रार्थना कैसे करनी चाहिये। अर्जुन कहता है—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।। (११/१)

अब पहला ही शब्द देखिये, अनुग्रह। बहुत से लोग अनुग्रह को सीधे-सीधे कृपा कहते हैं। कृपा अलग चीज है, अनुग्रह अलग चीज है। हमसे आपसे तो तुलसी बाबा ज्यादा जानते थे, उन्होंने एक जगह कहा है—

कृपा अनुग्रह अंग अघाई। कौन्हि कृपानिधि सब अधिकाई।।

एक ही अर्धाली में कृपा और अनुग्रह दोनों शब्द आते हैं। अगर अनुग्रह और कृपा पर्यायवाची शब्द होते तो एक ही अर्धाली में दोनों शब्दों का प्रयोग नहीं होता। दोनों शब्दों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। क्या अन्तर है? कृपा अहैतुकी होती है।

रक्षणे सर्व भूतानां अहमेव परो विभुः।
इतिसामर्थ्यसंधाना कृपा सा परमेश्वरी।।

(गोस्वामी श्रीकान्त शरण कृत 'प्रपत्ति रहस्य' पृष्ठ ३७३)

समस्त प्राणियों की रक्षा में मैं ही सबसे समर्थ हूँ। जब यह सामर्थ्य-संधान प्रभु अपने में करते हैं और अकारण अहैतुकी दृष्टि से किसी का भला करते हैं तो यह कृपा है। कृपा संरक्षण-पालन में मैं ही सर्वोपरि हूँ। भाव के जाग जाने से अनायास बिना किसी प्रार्थना के, बिना किसी हेतु के, बिना कारण के, जब प्रभु किसी का मंगल करते हैं, वह कृपा है। अनुग्रह शब्द में 'अनु' शब्द इस बात का द्योतक है कि इसके पहले कुछ है। अनुज है तो इसके पहले अग्रज है कि नहीं। अनुमान तो इसके पहले प्रत्यक्ष-प्रमाण है कि नहीं। प्रमाण के आधार पर अनुमान होता है। अग्रज है तब कोई अनुज होता है। अनुग्रह शब्द संकेतित करता है *'गृह्णन्तम् अनुगृह्णाति'* जिसने ग्रहण किया है मुझको, अपना सब कुछ, मान लिया है जिसने, उसके ऊपर अनुग्रह है। पहले भक्त आने शरणदाता के रूप में, अपने सर्वस्व के रूप में, प्रभु को ग्रहण कर ले और उसके बाद जब कृपा हो तो उसको अनुग्रह कहते हैं। जिसने प्रभु को ग्रहण कर लिया पहले, प्रभु ने फिर उसको अपना लिया।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।। (मानस, सुन्दरकांड ४३/२)

पहले जीव प्रभु के सन्मुख हुआ, यानी प्रभु से विमुख था सो प्रभु की ओर चला; प्रभु की ओर उन्मुख होते ही उसके करोड़ों जन्मों का पाप नष्ट हो गया। तो अर्जुन ने प्रभु को क्यों ग्रहण किया था। प्रभु से अर्जुन ने कहा— *'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'* मैं आपका शरणागत शिष्य हूँ, आप मेरा शासन कीजिये, मुझको उपदेश दीजिये। इस रूप में अर्जुन ने प्रभु को अपने गुरु के रूप में वरण किया; और प्रभु को जब अपने गुरु के रूप में वरण कर लिया, तब प्रभु ने उस पर अनुग्रह भी किया। *मदनुग्रहाय* – मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये ही— *परमं गुह्यमध्यात्म संज्ञितम् यत्त्वयोक्तं वचस्तेन।*

आपने जो परम गोपनीय अध्यात्म विषयक वचन कहे उससे मेरा मोह नष्ट हो गया। अध्यात्म क्या है? अध्यात्म का मतलब होता है, आत्म और अनात्म का विवेक।

मैंने अपने शरीर को अपना आपा मान रखा है, इस शरीर के सम्बन्धियों को अपना सम्बन्धी मान रखा है। मैं अपने को शरीर मानता हूँ; यह तो मोह है भाई, यह तो अज्ञान है। अध्यात्म क्या करता है? जो अनात्म है, जो आत्मा नहीं है, उससे आत्मा को अलग कर देता है। आप जरा इस बात पर ध्यान दीजिये कि 'मैं' शब्द का प्रयोग आप किन-किन अर्थों में करते हैं; और जब विशेष अर्थ होता है, तो मैं का प्रयोजन क्या होता है। जब आप कहते हैं कि मैं मोटा हूँ, मैं लम्बा हूँ, मैं नाटा हूँ, तो आप किसको संकेतित कर रहे हैं? तब आप अपने शरीर को संकेतित कर रहे हैं। आपका शरीर मोटा है, आपका शरीर लम्बा है, आपका शरीर नाटा है। आप कहते हैं कि मैं भावुक हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं बहुत ही असहाय हूँ, मैं विह्वल हूँ, तब आप अपने मन को कह रहे हैं। जब आप कहते हैं कि मैं बहुत ही बुद्धिमान हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं ज्ञानी हूँ तब आप अपनी बुद्धि को कह रहे हैं। यानी आप कभी 'मैं' के द्वारा अपने शरीर को, कभी अपने मन को, कभी अपनी बुद्धि को व्यक्त करते हैं। ये तीनों ही अनात्मा हैं। इन तीनों के परे जो आत्मस्वरूप है, जो सदा सच्चिदानन्द स्वरूप है, वही आपका वास्तविक रूप है। तो आत्मा से अनात्मा को अलग कर देने वाले जो वचन हैं, वे अध्यात्मपरक वचन होते हैं; और यही बात उन्होंने दूसरे अध्याय में समझाई थी—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।। (२/११)

यहां से उन्होंने शुरू किया – तू शोक किसके लिये कर रहा है। शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। इसलिये किसको तू मारेगा, कौन मारेगा? द्वितीय अध्याय के एकादश श्लोक से ही उन्होंने आत्म का अनात्म से विभाजन कर लिया; और अर्जुनको बताया कि तू अपने शरीर के सम्बन्धियों को अपना मान रहा है, इससे बड़ी मूर्खता और क्या है? दशम अध्याय को ही लिया जाय तो उन्होंने विभूति के रूप में अपने को सर्वत्र संकेतित किया है; और उन संकेतमय वचनों के द्वारा, गुह्य वचनों के द्वारा, गोपनीय वचनों के द्वारा उन्होंने उस भक्त के सामने अपना रूप उद्घाटित कर दिया है। अब शिष्य बता रहा है कि आपने जो कुछ उपदेश दिया है वह मैंने ध्यान से सुना है। मैंने उसको याद रखा है और याद रखने के बाद मैं उसको अपने जीवन में उतारने की चेष्टा कर रहा हूँ। यह संकेत गुरु को और कृपालु करेगा कि नहीं करेगा? योग्य शिष्य – पात्र पर कृपा होती है। कृपा तो खैर अपात्र पर भी होती है, मुझ जैसे अपात्र पर भी, प्रभु की कृपा हो जाती है; लेकिन गुरु जब अनुग्रह करते हैं, तो वे प्रमाण देख लेते हैं कि शिष्य योग्य है या नहीं।

अर्जुन कह रहा है— *'मोहोऽयं विगतो मम'* मेरा अज्ञान दूर हो गया। अर्जुन ने बड़ी बात जल्दी में कह दी। अगर अज्ञान सचमुच दूर हो गया होता, तो अठारह अध्याय तक जाने की जरूरत नहीं थी। अन्तिम उक्ति भी यही है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। (१८/७३/१)

यदि ग्यारहवें अध्याय में ही उसका मोह विगत हो गया होता, नष्ट हो गया होता, तो और सात अध्यायों की आवश्यकता नहीं होती। जैसे छोटे बच्चे स्वयं को बड़ा प्रमाणित करने के लिये कहते हैं कि मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ; तो बच्चों के इस प्रयास पर माता-पिता रीझते हैं कि खीजते हैं? तो अर्जुन ने कह दिया– *'मोहोऽयं विगतो मम'*–मेरा मोह तो दूर हो गया। मोह माने उल्टी बुद्धि। जो जैसा नहीं है उसका उलट मानना, यह मोह है। जो जैसा है उसको वैसा मान लिया, जान लिया, तो मोह दूर हो जाता है। अब फिर प्रमाण दे रहे हैं कि मैंने आपको ध्यान से सुना है-

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।। (११/२)

आपने विस्तार से प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय सब समझाया, वह मैंने ध्यान से सुना है। *त्वत्तः* – आपसे ही सुना है। श्रुतौ का एक अर्थ – श्रुति में भी, वेदों में भी सुना है, हे कमलनेत्र – हे परमसुन्दर और आपसे भी सुना है। *माहात्म्यमपि चाव्ययम्* — मैंने आपके अव्यय माहात्म्य को भी सुन लिया, समझ लिया। माहात्म्य का क्या मतलब होता है? महात्मा का जो भाव होता है वह होता है माहात्म्य। जो जिसकी विशेषता है, जो जिसका प्रभाव है, जिसकी महिमा है वह है माहात्म्य। प्रभु का क्या माहात्म्य है। प्रभु की क्या विशेषता है? प्रभु की विशेषता यह है कि वे सम्पूर्ण सृष्टि के स्रष्टा हैं; और फिर भी अकर्त्ता हैं। सब कुछ रचते हैं; और कुछ भी नहीं रचते। सब कुछ करते हैं, सब से कराते हैं, पर किसी में लिप्त नहीं होते। सब का संहार करते हैं, पर किसी के प्रति द्वेष नहीं है। यह जो असम्भव को सम्भव कर देने की उनकी अद्भुत क्षमता है, वे कर्त्ता होते हुये भी अकर्त्ता हैं, वे सर्वत्र होते हुये भी, सब कुछ उनमें होते हुये भी, इनमें कुछ नहीं है। वे सबके प्रेरक हैं; और सबसे असंग हैं। यह जो उनकी अद्भुत महिमा है, इस अद्भुत महिमा को, शाश्वत – अव्यय महिमा को, हे प्रभु मैंने आपके मुँह से सुना है और केवल सुना ही नहीं – उसको स्वीकार किया है उस पर विश्वास किया है — *एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।* (११/३/१)

हे परमात्मा, जो कुछ आपने अपने बारे में कहा, वही प्रमाण है, मैं मानता हूँ। जो सच आपने बताया, मैं उसको सत्य मानकर स्वीकार करता हूँ। *'एवमेतद्यथात्थ*

त्वमात्मानं परमेश्वर' – ये सारी बातें, ये अढाई श्लोक प्रार्थना की भूमिका हैं। प्रार्थना करने के पहले जो प्रार्थनीय है, उसके हृदय को थोड़ा कोमल कर दिया जाय, उसके हृदय को थोड़ा प्रसन्न कर दिया जाय, झूठ नहीं, खुशामद नहीं। याद रक्खो, सच्चाई में और खुशामद में मौलिक अन्तर है। खुशामद तो झूठी होती है।

अकबर-बीरबल का एक प्रचलित किस्सा है। एकबार अकबर ने बीरबल से कहा - 'बीरबल यह बैगन बहुत ही अच्छा है।' 'हाँ महाराज, सचमुच कितना अच्छा है यह बैगन', बीरबल बोले— 'कैसा इसका श्याम रंग है, क्या उसका ताज है, क्या उसकी महिमा है। बैगन सचमुच बहुत ही अच्छी तरकारी है।' बाद में पेट में दर्द हुआ तो महाराज बोले, 'बैगन बहुत खराब है।' बीरबल ने कहा 'महाराज बहुत ही खराब है बैगन; इसीलिये तो इसको बेगुन कहते हैं। स्वामी ने कहा अच्छा, तो बहुत अच्छा। स्वामी ने कहा बुरा, तो बहुत बुरा। यह है खुशामद। यह है चाटुकारिता, यह है चापलूसी। रामजी चाटुकारिता से प्रसन्न नहीं होते। रामजी सत्य और असत्य को समझते हैं। इसी संसार के थोड़े से अज्ञानी-अहंकारी थोड़ी सी चाटुकारिता से, चापलूसी से प्रसन्न हो सकते हैं। भगवान् तो यथार्थ से प्रसन्न होते हैं। जो जैसा है वैसा ही कह दो, कह दो कि मैं नहीं जानता। भगवान् प्रसन्न हो जायेंगे। भगवान् से झूठ मत बोलो। भगवान् कामी से कामी व्यक्ति को भी अपना लेते हैं। सुग्रीव को अपनाया कि नहीं? क्रोधी से क्रोधी व्यक्ति को भी अपना लेते हैं। परशुराम को अपनाया कि नहीं? लोभी से लोभी व्यक्ति को भी अपना लेते हैं। विभीषण को अपनाया कि नहीं? परन्तु कपटी व्यक्ति को नहीं अपनाते।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।। (सुन्दरकाण्ड ४३/५)

तुम हो कुछ और, पर बताते कुछ और हो, यही कपट है। भगवान् कपटी को स्वीकार नहीं करते। तुम अपनी दीनता को पूरी तरह से व्यक्त कर दो, भगवान् तुमको स्वीकार कर लेंगे। भगवान् जानना चाहते हैं कि तुममें सत्य है कि नहीं। तुम सच्चे हृदय से आये हो कि नहीं। समस्त बुराइयों के साथ आओ, बुराइयाँ प्रतिबन्धक नहीं हैं। तुम्हारे सारे दोष प्रतिबन्धक नहीं हैं, लेकिन तुम्हारा कपट प्रतिबन्धक है। तुम जो नहीं हो, वह अगर प्रकट करते हो, तो रामजी तुमको स्वीकार नहीं करेंगे। यह जो बात अर्जुन ने कही, यह चाटुकारिता नहीं है ; झूठ नहीं है, यह सच्ची बात है। सच कह कर वह पुनः विनम्र प्रार्थना करता है। वह प्रार्थना क्या है—

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम। (११/३/२)

हे प्रभु! आपने जो कहा मैंने उसको वैसा ही स्वीकार कर लिया। आपने कहा कि *'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्'* – मेरे एक ही अंश में यह सारा विश्व, ब्रह्माण्ड स्तब्ध होकर मेरे आदेश के अनुसार अपनी मर्यादा में रहता हुआ विद्यमान है। आपने कहा मैंने मान लिया। लेकिन अब मैं क्या करूँ? मैं अपने को लाचार पा रहा हूँ। मेरे कर्ण धन्य हो गये। मैंने कानों से आपके अमृत वचन को सुना। लेकिन मेरी आँखें प्यासी हैं। इन प्यासी आँखों को अपने दर्शन का अमृत पिलाइए। जैसे प्यासे कानों को आपने अपने प्रवचन का अमृत पिलाया था, वैसे ही मेरी प्यासी आँखों को अपने विराट रूप का दर्शन करा कर तृप्त करें। एक महात्मा ने कहा कि पड़ोसी में ईर्ष्या होती है। पड़ोसी के घर अगर रंगीन टी.वी. आ गया तो जिसके पास ब्लैक एण्ड ह्वाइट है वह फिर रंगीन ही लेगा। जबतक नहीं आयेगा, छटपटायेगा। अगर उसने केबल ले लिया तो उसको भी केबल लेना ही है। अगर इंटरनेट जुड़ गया तो उसको भी इंटरनेट से जुड़ना है। तो कान ने सुन लिया लेकिन, उसकी पड़ोसन आँखें कहती हैं, अरे! हम तो प्यासी ही रह गईं, हमको भी प्रभु आप तृप्त करें, हमको अपने दिव्य दर्शन से अनुगृहीत करें।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम। (११/३/२)

हे पुरुषोत्तम! मैं आपके उस ऐश्वर्य रूप का दर्शन करना चाहता हूँ, जिस ऐश्वर्य रूप के कारण आप अपने एक अंश में ही सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को धारण कर लेते हैं। आपके उस ऐश्वर्य रूप का, आपकी ईश्वरता को प्रमाणित करने वाले रूप का, इस क्षमता का कि वह अपने एक ही अंश में सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड को धारण करते हैं, उस ईश्वरीय क्षमता के प्रतिपादक रूप को मैं प्रत्यक्ष करना चाहता हूँ। इसलिये आप दिखा दीजिये। यह आदेश नहीं, प्रार्थना है। गुरु को कोई आदेश देगा?

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।। (११/४)

हे प्रभु, हे सर्वसमर्थ। यदि आप यह स्वीकार करते हैं, मानते हैं कि मेरे द्वारा आपका वह दिव्य रूप देखा जा सकता है। तब हे योगेश्वर! आप मुझे अपने उस अव्यय रूप का दर्शन कराइये।

जितने सम्बोधन होते हैं, साभिप्राय होते हैं। जो चीज आपको माँगनी है, उसके अनुरूप सम्बोधन करें। आपको संसार रूपी व्याल ने ग्रस लिया है, तो गरुड़गामी प्रभु का स्मरण कीजिये; गरुड़, व्याल को खा जायेगा। *'तू दयालु-दीन हौं'* मैं दीन हूँ तो तू दयालु है, मैं अगर भिखारी हूँ तो तू दानी है। मैं अपनी स्थिति के अनुरूप आपसे जो

प्रार्थना करना चाहता हूँ, वैसा ही साभिप्राय सम्बोधन करता हूँ। गीता में जहाँ-जहाँ सम्बोधन हैं, वे बड़े साभिप्राय हैं। यहाँ 'कमलपत्राक्ष' क्यों नहीं कहा भाई? यहाँ क्यों कह दिया 'योगेश्वर'? आप शब्द सुनिये, अगर आप यह समझते हैं कि मैं आपके उस विश्व-ब्रह्माण्ड स्वरूप का दर्शन कराने योग्य हूँ, तो हे योगेश्वर आप अपने उस अव्यय, शाश्वत्, सनातन रूप का दर्शन कराइये। हे योगेश्वर! जो समस्त योगों के स्वामी हैं। किसी ने 'योगेश्वर' को, योग को योगी के अर्थ में लेकर के 'योगीश्वर' भी कहा है। लेकिन मेरे गुरुजी और बहुत से महात्मा कहते हैं, योगों के स्वामी, योगियों के स्वामी नहीं। समस्त योगों के स्वामी। समस्त योग – भक्ति योग, कर्म योग, ज्ञान योग, ध्यान योग, लय योग, मन्त्र योग, जितने योग सम्भव हैं, समस्त योगों के स्वामी-योगेश्वर। और योग का क्या अर्थ होता है? योग का एक अर्थ होता है उपाय। योग का एक अर्थ होता है साधन। योग का एक अर्थ होता है युक्ति। अगर मैं समर्थ नहीं हूँ; आपका दर्शन करने के योग्य नहीं हूँ तो आप तो योगेश्वर हैं, समस्त योग, समस्त युक्तियाँ आपके पास हैं। आप मेरी असमर्थता को दूर कर, अपनी कृपा से, मुझको अपने दर्शन के योग्य बना लीजिये। इस योगेश्वर शब्द में एक प्रार्थना भी निहित है। अपनी सीमा पहले संकेतित है कि यदि आप मुझे अपने दिव्य रूप का दर्शन करने का अधिकारी मानते हों, और अगर अधिकारी न भी मानते हों, मैं अगर अनधिकारी हूँ तो भी आप के लिये क्या असम्भव है महाराज? आप मुझको अधिकारी बना लीजिये। हो सकता है कि मैं आपके उस दिव्य रूप के दर्शन करने का अधिकारी न हूँ। ठीक है, मेरी सीमा है, आपकी तो कोई सीमा नहीं है। क्या आपकी भी कोई सीमा है? आप तो समस्त योगों के स्वामी हैं। *'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ'* हैं। *कर्तुं* माने करने में समर्थ हैं, *अकर्तुं* माने नहीं करने में समर्थ हैं, *अन्यथा कर्तुं* माने दूसरे ढंग से करने में समर्थ हैं। तो आप जब कर्तुं अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं तो मेरी अपात्रता को, मेरी अनधिकारिता को, अधिकारी बना देने में आपको क्या विलम्ब लगेगा। कितना सार्थक कितना साभिप्राय सम्बोधन है, 'योगेश्वर'।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्। (११/४/२)

तब हे प्रभु, हे योगेश्वर, अपने उस अव्यय, उस सार्थक, उस सनातन स्वरूप का मुझको दर्शन कराइये। भगवान् तो करुणा वरुणालय हैं, भगवान् तो कल्पवृक्ष हैं। जो माँगो, भगवान् ना नहीं करते—

द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते।
द्विशरमनभिसंधत्ते द्विःस्थापयतिनाश्रितान्।।

राम दो बार बाण नहीं चलाते किसी को मारने के लिये, एक ही बाण काफी है। *द्विशरमनभिसंधत्ते द्विःस्थापयतिनाश्रितान्* — जो उनका आश्रित है, एक बार स्थापित कर दिया तो फिर दो बार स्थापित नहीं करते। जिसको प्रभु ने स्थापित कर दिया, उसको कौन विस्थापित कर सकता है – *उथपै तेहि को जेहि राम थपै। द्विशरमनभिसंधत्ते द्विःस्थापयतिनाश्रितान।*

द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो – जो माँगने वाला है उसको दो बार थोड़े ही देते हैं। एक ही बार देते हैं, उसकी सारी याचनायें पूर्ण कर देते हैं। *रामो द्विर्नाविभाषते* - राम दो बार नहीं बोलते। एक बार जो बोल दिया वह अन्तिम। तो प्रभु ने दान देना शुरू कर दिया। लुटा दिया अनमोल खजाना अपना। उनके लिये अर्जुन के लिये कुछ भी अदेय नहीं है। जन के लिये कुछ भी अदेय नहीं है। बार-बार तुलसी बाबा ने इस बात को कहा है — *जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे।* भक्त के लिये कुछ भी अदेय नहीं है। बड़ी से बड़ी बात जो भक्त चाहता है, भगवान् उसको पूर्ण करते हैं। अर्जुन जैसे भक्त की, जिसने इतनी योग्यता से सुना, जिसने जो सुना, उसको याद रक्खा, जिसने प्रमाणित किया, फिर उसने यह प्रार्थना की तो भगवान् तुरंत बोले— *पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।* (११/५/१)

अब भगवान् का उत्साह देखो। दान देते समय भगवान् यह भी भूल जाते हैं कि हम तो दिये चले जा रहे हैं, लेकिन जिसको दे रहे हैं उसमें समायेगा या नहीं।

'बहुत दिया देने वाले ने आँचल ही न समाय तो क्या कीजे'

आँचल कितना बड़ा है? वे दिये चले जा रहे हैं, दिये चले जा रहे हैं। एक बार नहीं, दो बार नहीं, तीन बार 'पश्य' 'पश्य' बोलते हैं। एक बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट कर दूँ। भगवान् का जो विश्व रूप है, इस विश्व रूप को तीन बार संकेतित किया है, एकादश अध्याय में। पाँचवें से आठवें श्लोक तक भगवान् स्वयं अपने विश्व रूप का संकेत करते हैं, बहुत संक्षेप में। फिर दसवें से लेकर चौदहवें श्लोक तक संजय भगवान् के उस विश्व रूप का, दिव्य रूप का संकेत करते हैं; और फिर पन्द्रहवें से लेकर अगले १६ श्लोकों तक अर्जुन अपने अनुभव के आधार पर भगवान् के विश्वरूप का वर्णन बताते हैं। यानी भगवान् के विश्व रूप को एकादश अध्याय में संक्षेप में एक बार स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने, एक बार संजय ने और फिर अपने अनुभव के आधार पर अर्जुन ने कहा है। जो महत्त्वपूर्ण बात होती है उसको बार-बार कहना चाहिये, क्योंकि एक बार कहने से बात समझ में नहीं आती है। एक बार आपने सुन लिया और आप समझ जायेंगे? तुलसी बाबा तो नहीं समझ पाये थे। हाँ, तुलसी बाबा ने कहा —

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तस बालपन तब अति रहेउँ अचेत।।
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।।

गुरु कृपालु हैं। उनको मालूम हो गया कि सामने वाले ने हाँ - हाँ कह तो दिया; *'मोहोऽयं विगतो मम'* -- कह दिया तो क्या श्रीकृष्ण ने मान लिया। नहीं माना। लेकिन उसकी भर्त्सना भी नहीं की, यह उनकी कृपा है। जब तक उसका मोह दूर नहीं होगा तब तक वे यह गीता सुनायेंगे। यह उनकी प्रतिज्ञा है। उदार भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्त की एक बार प्रार्थना पर ही तुरंत कहा, लो देखो क्या-क्या देखना चाहते हो?

'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः'

हे पार्थ! मेरे शतशः सहस्रशः रूपों को देखो। *शतशः* माने सैकड़ों, *सहस्रशः* माने हजारों। ये शतशः, सहस्रशः असल में अनन्त रूप का संकेत है। ये शतशः सहस्रशः संख्या में प्रभु को बाँधा नहीं जा सकता। याद रखिए कि प्रभु को संख्या में बाँधा नहीं जा सकता। इसीलिये उनको अनन्त कहा जाता है, इसीलिये उनको अद्वैत कहा जाता है। प्रभु को एक क्यों नहीं कहा जाता?

एक कहौं तो है नहीं, दुई कहौं तो गारि।
जैसा है तैसा रहे कहें कबीर विचारि।।

मैं अगर प्रभु को एक कहूँ तो कैसे कह दूँ एक। क्या वे एक में बँध गये। प्रभु क्या संख्या में बँध जायेंगे। दो कहूँगा तो वह गाली है। प्रभु को छोड़कर कुछ और? प्रभु तो दो हो ही नहीं सकते। तो जैसा है तैसा रहे, मैं कह नहीं सकता कि वह क्या है। कबीर ने विचारपूर्वक कहा कि उनको एक भी नहीं कहा जा सकता, दो कहें तो गाली है। चूँकि उसको एक नहीं कहा जा सकता, इसलिये अद्वैत कहा। जो द्वैत नहीं है, दो नहीं है तो क्या एक है? नहीं, एक भी नहीं है। क्यों एक नहीं है; क्योंकि एक तो संख्या में बँध गया। प्रभु संख्या में बँधते नहीं हैं। इसलिये अद्वैत। एक का आधा होता है, एक का चौथाई होता है। एक और एक दो हो जाते हैं, एक और एक और एक तीन हो जाते हैं। अद्वैत का आधा नहीं होता। अद्वैत का चौथाई नहीं होता। अद्वैत अद्वैत रहता है। तो इसलिये वे अद्वैत हैं। अद्वैत अत्यन्त सूक्ष्म और दार्शनिक शब्द है। एकेश्वरवाद से बहुत भिन्न चीज है यह। ईसाइयों, मुसलमानों का जो एकेश्वरवाद है और हमारा जो अद्वैतवाद है, उसमें जमीन-आसमान का, आकाश-पाताल का अन्तर है। एक में नहीं बँधता राम, उसको एक भी नहीं कहा जा सकता; और कहा भी जा सकता है अगर तुम्हारा मन हो तो। लेकिन तत्त्वतः वह अद्वैत ही है। तो इसलिये कहा—

पश्यमे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।। (११/५)

इसमें अनेक प्रकार के दिव्य वर्ण और आकृतियों को देखो। *'नानाविधानि'* – – अनेक प्रकार के। दिव्य माने अप्राकृत, अलौकिक, अनेक प्रकार के वर्ण – लाल, नीले हरे, पीले और मालूम नहीं कितने – अनेक प्रकार की आकृतियाँ। एक और पश्य रह गया अतः फिर कहते हैं—

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्चाश्चर्याणि भारत।। (११/६)

फिर पश्य तीसरी बार। अपने उस असाधारण, उस महिमामण्डित उस विश्व रूप का दर्शन कराते समय स्वयं प्रभु पुलकित हैं, उल्लसित हैं। अपने उस विराट् अनन्त ऐश्वर्य को अभिव्यक्त करते जा रहे हैं। कह रहे हैं कि देखो – आदित्यों को देखो। बारह आदित्य होते हैं। वसुओं को देखो मुझमें, आठ वसु होते हैं। रुद्रों को देखो – ग्यारह रुद्र होते हैं। अश्विनी कुमारों को देखो, दो अश्विनी कुमार होते हैं। जोड़िये आप – १२ आदित्य, ८ वसु, एकादश रुद्र और अश्विनी कुमार २ कुल ३३। ये ही वैदिक देवता हैं। वैदिक देवताओं को ३३ कोटि कहा जाता है। कोटि माने प्रकार। पुराण युग में ३३ कोटि माने ३३ करोड़ हो गये। *'मरुतस्तथा'* ४९, मरुत होते हैं– मरुत दिति के पुत्र होने के कारण, दैत्य। चूँकि इन्द्र ने उसके गर्भ में प्रविष्ट होकर उनको टुकड़े-टुकड़े कर दिया, लेकिन उनका प्राण नाश नहीं किया, इसलिये वे कृतज्ञ होकर दैत्यों का साथ छोड़कर देवताओं के साथ आ गये। तो उनकी भी संख्या गिना दी कि ४९ मरुतों को देखो। *'बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्चाश्चर्याणि भारत'*। फिर जो तुमने न कभी सुना, न कभी देखा, न शास्त्रों में जिनका वर्णन है, उन समस्त आश्चर्यों को भी देखो। जिसको देखकर मुख खुला रह जाय, वह आश्चर्य है। जब आदमी अपने ऊपर नियंत्रण न रख पाये, मुँह खोलकर आह-आह करे, वह आश्चर्य है। आगे कहा—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।। (११/७)

फिर पश्य आ गया। इसी शरीर में, मेरे इसी शरीर में, *'एकस्थं'* – एकत्र ही *'जगत्कृत्स्नं'* – सम्पूर्ण जगत् में, सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को *'पश्याद्य'* – अभी-अभी देख लो। देरी का कोई काम नहीं। *अद्य* – अद्य का मतलब आज। आज का मतलब यहाँ अभी-अभी देख लो। *'सचराचरम्'* – चल जगत् को देख लो, अचल जगत् को देख लो। सब कुछ देख लो *'मम देहे'* – मेरे ही शरीर में देख लो, हे गुडाकेश!

'यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि' – जो कुछ तुम देखना चाहते हो, देख लो। अतीत अलग है, वर्तमान अलग है, भविष्य अलग है। वह अनादि अनन्त काल उनमें ज्यों का त्यों विद्यमान है। तुम उनके शरीर में अतीत की गाथायें देख सकते हो, तुम उनके शरीर में वर्तमान की स्थितियाँ देख सकते हो, तुम उनके शरीर में भविष्य देख सकते हो। देखो जो देखना चाहते हो – *'यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि'* – जो कुछ तुम अन्य भी देखना चाहते हो देख लो, एकत्र मुझमें ही देख लो। इतना सब बोल जाने के बाद उनको लगा कि मैं तो बोल रहा हूँ कि देखो— देखो–देखो! लेकिन यह तो भौंचक्का सा खड़ा है। इसकी तो दृष्टि बता रही है कि इसने कुछ नहीं देखा। अरे रे रे रे – इन आँखों से कैसे देखेगा अर्जुन–

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।। (११/८)

तुम अपने इन चर्म नेत्रों से मुझको नहीं देख सकते; अतः मैं तुमको दिव्य चक्षु देता हूँ। मेरे ऐश्वर्य योग को देखो।

अब थोड़ा सा रुक कर सोचें। यह कौन सा रूप है भगवान् का? यह कैसा रूप है? और यह दिव्य चक्षु किसको कहते हैं? भगवान् का यह रूप भगवान् का अव्यक्त रूप नहीं है। भगवान् का निर्विकल्प, निराकार रूप नहीं है। भगवान् का यह रूप उनका मायामय जगत् रचयिता का समग्र रूप है। भगवान् कहते हैं कि मैं सारी सृष्टि में जिस रूप में व्यक्त हूँ, उसको एकत्र, एक स्थान पर देखो। वेदों में जो पुरुष सूक्त है उस सूक्त को स्वीकार करके ये बातें वे कह रहे हैं। आपको पुरुष सूक्त की याद दिलाऊँ—

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिँ सर्वतस्पृ त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।। १।।
पुरुष एवेदग ँ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।२।।
एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।३।।

लम्बा है लेकिन मैंने पहले तीन मन्त्र बताये – और इन तीन मन्त्रों में प्रभु अपने को ब्रह्माण्ड में व्यक्त समग्र रूप में संकेतित कर रहे हैं। *सहस्रशीर्षा पुरुषः* भगवान् का जो विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त अभिव्यक्त स्वरूप है, उसके अनन्त सिर हैं। यहाँ सहस्र का मतलब एक हजार नहीं। यहाँ सहस्र संख्यावाचक नहीं है, अनन्त द्योतक है। *सहस्राक्षः सहस्रपात्*— असंख्य नेत्र, असंख्य बाहु, असंख्य भुजायें। हमारे आपके

सबके सिर उन्हीं के सिर हैं। हमारी आपकी सबकी भुजायें उन्हीं की भुजायें हैं। हम आप सब उन्हीं के अभिव्यक्त रूप हैं। उनके सिवा कुछ और है नहीं। प्रभु ही सब बन गये हैं। देखिये एक अद्‌भुत बात। विश्वरूप दर्शन का मतलब क्या है? और दिव्य चक्षु का मतलब क्या है? दिव्य चक्षु मध्यवर्तिनी दृष्टि है। एक तो है चर्मचक्षु, प्राकृत नेत्र, प्राकृत नेत्रों से हम प्राकृत सृष्टि ही देख सकते हैं। प्रकृति ने जो कुछ बनाया है, प्रकृति के बनाये हमारे शरीर हाड़-माँस पुतले देख सकते हैं। ये मकान देख सकते हैं, ये सूरज, चाँद, सितारे देख सकते हैं। प्रकृति के द्वारा निर्मित जो पदार्थ हैं, हम अपने प्राकृत चक्षुओं से उनको देख सकते हैं। इन प्राकृत चक्षुओं से ऊपर दिव्य चक्षु, जिसमें तमोगुण, रजोगुण तो नहीं हैं; लेकिन भगवान् का शुद्ध, सत्य स्वरूप और उसमें अभिव्यक्त जो सारी सृष्टि है, उसके शुद्ध रूप को देखने की क्षमता है। यह कृपा प्रसाद लब्धदृष्टि है। अर्जुन ने ये दिव्य नेत्र, ये दिव्य चक्षु अपनी साधना से प्राप्त नहीं किये।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः — उसने अपनी सीमा को पहले ही स्वीकार कर लिया था— *'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो'* – अगर आप मुझको इस योग्य मानते हैं कि मैं उनका दर्शन कर सकूँ और अगर इस योग्य न मानते हों तो आप योगेश्वर हैं, आप मुझको इस योग्य बना लें। यह उनकी निहित प्रार्थना है। उस निहित प्रार्थना को स्वीकार करके प्रभु उसको योग्यता दे रहे हैं कृपापूर्वक। यह जो दिव्य दृष्टि है, ये जो दिव्य चक्षु हैं, ये प्राकृत नेत्रों से कुछ श्रेष्ठ हैं। लेकिन यह सर्वश्रेष्ठ दृष्टि नहीं है। मेरे गुरुजी कहते थे कि सर्वश्रेष्ठ दृष्टि तो ब्रह्म दृष्टि है। आत्मदृष्टि और दिव्यदृष्टि का मौलिक अन्तर नौवें अध्याय में बताया गया है। नवम अध्याय में *'पश्यमे योगमैश्वरम्'* ज्यों का त्यों आया है। उसमें वे कहते हैं – चौथा और पाँचवा श्लोक नौवें अध्याय का-

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।। (९/४)
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। (९/५)

भगवान् का जो निर्गुण, निराकार और अव्यक्त स्वरूप है, उस अव्यक्त स्वरूप से वे सारे संसार को व्यापे हुये हैं, सारी सृष्टि में वे व्याप्त हैं। *'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः'*— मुझमें सारे प्राणी हैं, मुझमें सारी सृष्टि है, मैं उनमें नहीं हूँ।

चौथे श्लोक में कहते हैं, *'मत्स्थानि सर्वभूतानि'* सब भूत, सब सृष्टि मुझमें है।

पांचवें में कहते हैं *'न च मत्स्थानि भूतानि'* – मुझमें कुछ भी नहीं है – *पश्य मे योगमैश्वरम्* – यह उनका ऐश्वर्य रूप है। यहाँ भी (ग्यारहवें अध्याय में) भगवान् बार-बार कहते हैं कि *'पश्य मे योगमैश्वरम्'* भगवान् का यह ऐश्वर्य योग है कि दिव्य दृष्टि से उनके शरीर में सब कुछ दिखता है। जीव की जो ज्ञान दृष्टि है, उससे वह सबकुछ को प्रभु में देख लेता है। लेकिन ब्रह्म दृष्टि से उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। हमारी आँखों से आकाश नीला दिखता है कि नहीं। आकाश में नीलिमा है क्या? आकाश में नीलिमा नहीं है। हम अपनी तरफ से जब देखते हैं तो भगवान् में सब कुछ है। भगवान् में सब कुछ है; यह हमारी दृष्टि है। ब्रह्म की दृष्टि से उनके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तो सब कुछ का क्या होगा? *'एकोऽहं'* – वे अकेले ही हैं। उनमें और कुछ है ही नहीं। *'बहुस्याम्'* – वे एक हैं, बहुत हो गये। तो वे जो बहुत हो गये, यह अनेकता का आरोपण है। यह आगे बताया जाएगा। यह जो नानात्व है, अपने में तो मिथ्या है। मृषा है। *नेहनानास्ति किंचिना* – यह नानात्व तो कुछ है ही नहीं। अपने में नानात्व मिथ्या है। लेकिन एक नानात्व होता है वह अपने में सत्य है, सनातन है, शाश्वत है। आप दोनों का अन्तर समझिये।

ब्रह्म अद्वितीय है, अद्वैत है। लेकिन वही अद्वितीय-अद्वैत ब्रह्म सारी सृष्टि बनता है। वह जो सारी सृष्टि का बना हुआ रूप है, वह उसके अलावा कुछ नहीं है। जो कुछ है वही है, इसलिये हमको बहुत से रूप तो दिख रहे हैं, पर विभक्त रूप देख रहे हैं। मैं अपनी आँखों के सामने आप सबके अलग-अलग रूप देख रहा हूँ। आप मुझको भी अलग-अलग देख रहे हैं। माइक को अलग देख रहे हैं, चित्र को अलग देख रहे हैं, मुझको अलग देख रहे हैं। लेकिन उन अनेकधा विभक्त रूपों द्वारा वास्तव में वह एक ही इन अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। यह बात समझ में आती है कि जब विश्व रूप दिखेगा तो यह दिखेगा कि एक ही अनेक हो गया है। एक का अनेक हो जाना, एक ही में अनेक का होना, यह दिखेगा। यह है विश्व दृष्टि, यह है दिव्य दृष्टि। एक ही अनेक के रूप में सारी सृष्टि में विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है और उसके अनेक प्रकार के विभक्त नानात्व को एक ही में देखना, यह विश्व दृष्टि, दिव्य दृष्टि है। इससे ऊँची जो ब्रह्म दृष्टि है उसमें क्या है? उसमें तो और कुछ नहीं है। जैसा कि नवम अध्याय के पाँचवें श्लोक में जब कहा— *'न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम्'*— मेरे ईश्वर योग को देखो कि सब कुछ मुझमें है; और मुझमें कुछ भी नहीं। तो मुझमें कुछ भी नहीं है यह है ब्रह्म दृष्टि। ब्रह्म की दृष्टि से और कुछ है ही नहीं, दिखेगा क्या? जीव की दृष्टि से सारी सृष्टि, सब कुछ उसी में है; और जीव

दृष्टि जब दिव्य दृष्टि होती है, तो सबको अलग-अलग एक ही में देख लेती है, प्रत्यक्ष। अनुमान से, ज्ञान से समझना कि वही प्रभु सभी में अभिव्यक्त हो रहे हैं, यह एक प्रकार का विकसित बुद्धि – वैभव है। एक सीमा तक ज्ञान है। लेकिन उसको प्रत्यक्ष देख लेना कि एक ही में सब कुछ है, यह है दिव्य दृष्टि। इसलिये मेरे गुरुजी यह कहते थे कि तीन दृष्टियाँ हुई। एक प्राकृत दृष्टि – चर्म चक्षु, एक दिव्य दृष्टि – जिस दिव्य दृष्टि से भगवान् के शरीर में एक ही अनेक रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उस एक में अनेक को देख लेना – एक ही अनेक बना है उसको समझ लेना – इसकी उपलब्धि कर लेना -यह दिव्य दृष्टि है। तीसरी दृष्टि ब्रह्म दृष्टि – आत्म दृष्टि से उसके अलावा कुछ है ही नहीं। कुछ नहीं – ज्यों का त्यों जैसा का तैसा है। ये तीनों दृष्टियाँ हैं, उसमें दूसरी दृष्टि की बात, दिव्य दृष्टि की बात, यहाँ कही जा रही है। भगवान् का जो विश्व रूप है, यह विश्व ब्रह्माण्ड रूप है, वह क्या है? विश्व रूप दर्शन का यह मतलब हुआ कि प्रभु के विराट रूप को जो तीनों कालों में, तीनों लोकों में, असंख्य रूप में अभिव्यक्त है – उन तीनों कालों में, तीनों लोकों और उन असंख्य रूपों की सत्ता को एक ही भगवान् के शरीर में देखो। शरीर में, यानी पूरे शरीर में।

एकांशेन स्थितो जगत् – किसी एक अंश में देख लो – भगवान् के नखाग्र में देख लो। भगवान् *'अणोरणीयान महतोमहीयान'* हैं। बड़े से बड़े भी वे हैं; और छोटे से छोटे भी वे हैं। तो जो अणोरणीयान है वह पूरा है कि अधूरा है? जब हम उसको अणोरणीयान कहते हैं – अणु से भी छोटा अणु कहते हैं, तो उस अणु से छोटे अणु में वह आधा है, चौथाई है कि पूरा का पूरा है। महतोमहीयान जो है वही अणोरणीयान है। इस बात को कबीर ने अच्छे ढंग से समझाया है —

हेरत-हेरत हे सखी, रहा 'कबीर' हेराय।
बूँद समानी सिन्धु में, सो कत हेरी जाय।।

हे सखी खोजते-खोजते खुद खो गया। जो बूँद थी, वह समुद्र में समा गई। अब अगर बूँद समुद्र में समा जाय तो समुद्र ही हो जायेगी। बूँद में समाये हुये समुद्र को कैसे खोजा जाय। बूँद को अलग से पहचाना जा सकता है। बूँद अगर समुद्र में समा गई तो बूँद रही कि समुद्र हो गयी? तो जो बूँद समुद्र बन गई है, उस बूँद को अलग से पहचाना नहीं जा सकता। कैसे खोजा जायेगा? वह तो समुद्र में खो गई। क्या इतना ही कहा उन्होंने? नहीं – इतना ही नहीं – इसके बाद एक और दोहा कहा–

हेरत-हेरत हे सखी रहा 'कबीर' हेराय।
समुद समाना बूँद में सो कत हेरा जाय।।

पूरा का पूरा समुद्र एक बूँद में समाया हुआ है। उसको कैसे खोजें? *बिन्दु में सिन्धु समाना, जो आचरज कासों कहूँ* – पूरा का पूरा सिन्धु बिन्दु में समाया हुआ है। मैं इस आश्चर्य को किससे कहूँ। यानि प्रभु के टुकड़े नहीं होते। प्रभु के अलग-अलग रूप में टुकड़े नहीं होते – अपने 'अणोरणीयान' रूप में भी वे समग्र हैं और अपने 'महतोमहीयान' रूप में भी वे समग्र हैं। इसलिये प्रभु कहते हैं कि मेरे एक अंश में भी, मेरे नखाग्र में भी तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार कर सकते हो। यह आश्चर्य – देखो-देखो। जैसे जादूगर अपने आश्चर्य को दिखाता है। वैसे प्रभु निरंतर कह रहे हैं कि देखो-देखो— देखो मेरा ईश्वर रूप। देखो मेरा यह आश्चर्यजनक रूप। देखो *'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा'* – तुम अपने इन चर्म चक्षुओं से प्राकृत नेत्रों से मेरे इस रूप को नहीं देख सकते – *'दिव्यं ददामि ते चक्षुः, पश्य मे योगमैश्वरम्'*— मेरे इस ऐश्वर्य योग को, मेरे इस सर्व समर्थ रूप को दिव्य दृष्टि से देखो। एक श्लोक याद आ रहा है –

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरजा।।

समग्र ऐश्वर्य, समग्र तेज, समग्र सौन्दर्य, समस्त ज्ञानवैराग्य – ये मिलकर जो होता है ; वह भक्तियुक्त होता है वह भगवान् होता है। मेरे समस्त ऐश्वर्य, तेज, सौन्दर्य, माधुर्य और उग्र से उग्र, कोमल से कोमल, सब भावों को – मेरे इस ऐश्वर्य रूप को देखो।

इस दिव्य दृष्टि के बारे में कुछ लोग कहते हैं कि यह एकाग्र मन ही है। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् की कृपा से प्राप्त अपने अनुभव की सीमा का विस्तार -- वह जो उसका ज्ञान है, वही है। क्या है, यह तो रामजी जानें। लेकिन उस दिव्य दृष्टि से, उस एकाग्र चित्त में, बिन्दु में पूरे सिन्धु को देखने की क्षमता रखने वाली दृष्टि में, भगवान् के समग्र रूप को, उनके शरीर के एक अंश में देखने का आह्वान किया। अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान कर दी।

भगवान् ने बहुत थोड़े में अपने उस विराट् रूप का वर्णन किया। संजय कुछ विस्तार से वर्णन करते हैं–

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।। (११/९)

अर्जुन ने कहा था योगेश्वर— इन्होंने उसको महायोगेश्वर कह दिया। एक बात और ! संजय को भी दिव्यदृष्टि प्राप्त थी। संजय को दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, गुरु कृपा से।

भगवान् वेदव्यास ने पहले धृतराष्ट्र को ही दिव्य दृष्टि देनी चाही थी कि तुम अपने महल में बैठे-बैठे महाभारत का सारा युद्ध देख लो। धृतराष्ट्र काँप गया। बोला— नहीं, मैं अपने वंशजों का वध होते हुये किसी भी तरह नहीं देख सकता। लेकिन मैं सुनना चाहता हूँ। मैं देखना नहीं चाहता वह बीभत्स दृश्य, लेकिन क्या हो रहा है, यह मैं जानना चाहता हूँ। तो उन्होंने संजय को दिव्य दृष्टि दी। और यह पूरी गीता संजय ने कही। अपने गुरु व्यास देव की कृपा से जो दिव्य दृष्टि और दिव्य श्रुति प्राप्त की थी सब कुछ सुन लिया था, सब कुछ देख लिया था। वे संजय बता रहे हैं। इसलिये अर्जुन ने जो अपनी दिव्य दृष्टि से देखा, वही संजय ने भी अपनी दिव्य दृष्टि से देखा। ये दोनों दृष्टियाँ कृपा-प्राप्त दृष्टियाँ हैं। एक पर गुरु की कृपा है, एक पर प्रभु की कृपा है। हमलोग गुरु को प्रभु से भी बड़ा मानते हैं। हमारे लिये प्रभु तो हैं सब कुछ, लेकिन-

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपकी जिन गोविन्द दिया दिखाय।।

गुरु और गोविन्द दोनों अगर मिल जायँ तो गुरु को ही पहले नमस्कार करना चाहिये; क्योंकि गुरु की कृपा से गोविन्द के दर्शन हुये। तो अर्जुन को प्रभु की कृपा प्राप्त है; और संजय को गुरु की। *महायोगेश्वर हरिः* — हरि यानि जो शोक को हर ले, जो दुःख को हर ले, जो अज्ञान को हर ले, जो मोह को हर ले, और भक्तों के लिये जो चित्त को भी हर ले। यह बड़ा चोर है कृष्ण। सब चुरा लेता है। एक भक्त ने कह- – मैं तो अपने को *'दासोऽहं, दासोऽहं'* कहता था। मेरे *'दासोऽहं'* का *'दा'* शब्द गोपी वस्त्र चुराने वाले कृष्ण ने चुरा लिया। *'दा'* शब्द चुरा लिया तो क्या रह गया *'सोऽहं, सोऽहं'*। तो ये *दासोऽहं* से *सोऽहं* की भूमिका आ गई। ये *'दा'* शब्द को भी चुरा लेता है कृष्ण। हरि सब कुछ हर लेता है। अज्ञान को भी हर लेता है, शोक को भी हर लेता है। तो उस अर्जुन के मोह को हर लेने वाले महायोगेश्वर कृष्ण ने अपना परम ऐश्वर्य रूप पार्थ को दिखा दिया। वह परम ऐश्वर्य रूप कैसा है अब देखिए। एक महत्त्वपूर्ण बात पर ध्यान दीजिये, *परमं रूपमैश्वरम्* - एकवचन है। रूपान् नहीं है। रूपम् एकवचन है और इस एकवचन एक ऐश्वर्य रूप में अर्जुन क्या देखता है—

"अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।। (११/१०)
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।। (११/११)

उस एक ऐश्वर्य रूप में अर्जुन को प्रभु ने अनेकों मुख, अनेक नयन, अनेक

अद्भुत वस्तुओं के दर्शन करा दिये। बहुत अलौकिक गहने थे, अलौकिक आयुध थे, शस्त्रास्त्र थे, मालायें थीं, वस्त्र थे, गन्ध, कस्तूरी, चन्दन मालूम नहीं कौन-कौन से अलौकिक दृश्य। गन्ध तो घ्राण का विषय है, नेत्र का विषय नहीं है। लेकिन दिव्य नेत्र न केवल देख सकते हैं, सूँघ भी सकते हैं। स्वाद भी ग्रहण कर सकते हैं।

'दिव्यगन्धानुलेपनम् सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्'— वह अनन्त आश्चर्यमय देव विश्वतोमुख – चारों तरफ उसके मुख या जिधर से देखो उधर से उसको पूर्ण देखो। हमलोग तो एक तरफ ही देख सकते हैं। अगर चारों तरफ मुख हों, जिधर से देखो पूरा दर्शन कर सकते हैं।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।। (११/१२)

असम्भव का वर्णन कैसे किया जाता है। भाषा असमर्थ है। भगवान् के उस तेज का, उस सौन्दर्य का, उसके प्रकाश का, उस ज्योति का, *ज्योतिनामस्ज्योतिः* — जो ज्योतियों की ज्योति है। *यस्यभासा सर्वमिदं विभाति*— जिसकी ज्योति से सारी सृष्टि आलोकित है, उसके प्रकाश का, उसके आलोक का, उसकी ज्योति का कैसे वर्णन किया जाय? एक कल्पना कि अगर आकाश में हजारों सूर्य एक साथ उदित हों, उन हजारों सूर्यों का जो प्रकाश होगा, उन हजारों सूर्यों से भी बढ़कर उनका प्रकाश है। एक ही सूर्य को आप देखें तो आँखें चौंधियाँ जाती हैं। हजारों सूर्य उदित होने पर जो प्रकाश होगा, उसका केवल अनुमान किया जा सकता है। उसकी उपमा देने की एक चेष्टा की है। अगर एक ही साथ (युगपत्) आकाश में हजारों सूर्य उगें तो उनका जो तेज होगा, उनकी जो ज्योति होगी, उस महात्मा, उस महान् शरीर वाले विश्वरूप प्रभु का वैसा ही तेज था।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।। (११/१३)

ध्यान दीजिये — *'एकस्थ'*– उसी एक शरीर स्थित *'जगत्कृत्स्नं*– कृत्स्नं माने सम्पूर्ण जगत्, सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड। *'प्रविभक्तमनेकधा'*— जो अनेक रूप से, अनेक प्रकार से नियत था – अनेकधा – कुछ देवता, कुछ दैत्य, मनुष्य, पशु, पक्षी अर्थात् अनेक प्रकार की अनेक विधायें, प्रविभक्त वह सम्पूर्ण जगत् उनके शरीर में एकत्र ही उसको दिखाई पड़ गया। फिर ध्यान दीजिये – योगमैश्वरम् एक है - अनेक है — वह ऐश्वर्य – माने एक ही अनेक होता है – इस बात को समझिये – *एकेते बहु होय, अनेकते न एक होय* – एक ही बहु हो सकता है – *'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'* सत्ता

एक है विद्वान् लोग उसको नाना रूपों में वर्णित करते हैं। एक ही अनेक होता है। अनेक से एक नहीं हो सकता। अगर सत्तायें बहुत हों, तो उस अनेकता से एकता नहीं आती। यह मौलिक सच्चाई है।

एकेते बहु होय, बहु ते एक न होय।
बीचहि आपहु खोय, मोहमद एकहु होय रहो।।

यह भारत का दर्शन है जो मलिक मोहम्मद जायसी के माध्यम से बोल रहा है। अपने को खोकर फिर एक हो जाओ। जब तक तुम अपने को अपनी सत्ता, अपने अस्तित्व को, मानते रहोगे, तब तक गलत है। और इसीलिये विश्वदृष्टि भी मध्यम कोटि की दृष्टि है, ब्रह्म दृष्टि नहीं है, सर्वोत्कृष्ट दृष्टि नहीं है। क्योंकि यहाँ भी अर्जुन अपने को अलग मानता है। विश्वरूप को अलग मानता है। इसीलिये बाद में कहता है कि तुम्हारे इस विश्व रूप को देर तक नहीं देख सकता। तुम मुझे सौम्य रूप दिखाओ। वह अपने को अलग मानता है। इसलिये गुरुजी कहते हैं कि यह दृष्टि मध्यम दृष्टि है। दिव्य दृष्टि मध्यम दृष्टि है, यह उत्कृष्ट दृष्टि नहीं है। उत्कृष्ट दृष्टि तो अद्वैत दृष्टि है। उत्कृष्ट दृष्टि तो ब्रह्म दृष्टि है। लेकिन यह एक ही साथ भगवान् के शरीर में सम्पूर्ण सृष्टि को प्रत्यक्ष करता है और उसमें यह रहस्य है कि एक ही अनेक बना है। यह *'अनेक'* सैद्धान्तिक रूप से अनेक नहीं है। अनेक दिखता है, अनेक है नहीं। प्रभु ही अनेक बन गये हैं। अनेक मुख बने, अनेक नेत्र बने, अनेक हाथ बने, अनेक सिर बने और ये सारे ही *'पादस्यविश्वभूतानि'* – यह सारा का सारा विश्व ब्रह्माण्ड उनके एक पाद में एक अंश में है।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् (१०/४२)

यह सारा का सारा विश्व ब्रह्माण्ड, सारा का सारा जगत् भगवान् के एक अंश में है। और कृपा, कृपा तो दिव्य है। कुछ लोग इसीलिये कहते हैं कि भगवान् की सृष्टि दो प्रकार की है। एक मायामय सृष्टि है, जो अनित्य है। जो परिवर्तमान है। जिसका उद्भव है, मध्य है, अन्त है। एक नित्य सृष्टि है। प्रभु अपनी नित्य लीला में, नित्य सृष्टि में त्रिपाद से विद्यमान हैं और अपने स्वानुभव के आनन्द से विभोर हैं। वे इस माया जगत् में अपने केवल एक अंश से विद्यमान हैं। अपने एक अंश में सारे मायामय जगतको धारण कर रखा हैं। तो यह – *'अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा'*— उसने यह सब देखा और देखने के बाद क्या हुआ—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।। (११/१४)

ध्यान दीजिये इस पर— यहाँ अद्‌भुत रस का आविर्भाव हुआ है। प्रथम अध्याय में जहाँ अर्जुन का शोक है वहाँ करुण रस है। शोक स्थायी भाव है अर्जुन का; और वहाँ करुण है। द्वितीय अध्याय के एकादश श्लोक से यहाँ तक शांत रस है। उस शांत रस में गीता में भगवान् ज्ञान का निरूपण करते हैं। यहाँ एकत्र केवल भगवान् के शरीर के एक अंश में सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को देख लेना; यह अद्‌भुत बात है। यहाँ अद्‌भुत रस है। *'ततः स विस्मयाविष्टो'*— जो साहित्य के विद्यार्थी हैं, वे इस बात को जानते हैं कि यों तो सभी रसों में चमत्कार होता है *'रसेसु सारं चमत्कारम्'* – रस का सार चमत्कारिता ही है। अगर चमत्कार न हो तो कोई रस, रस ही नहीं होता। लेकिन चमत्कार अपने व्यापक रूप में, समग्र रूप में अद्‌भुत रस में आता है। अद्‌भुत रस का स्थायी भाव है विस्मय। *ततः स विस्मयाविष्टो* – अर्जुन ने जब वह विलक्षण, असाधारण, सारा विश्व ब्रह्माण्ड भगवान् के शरीर के एक अंश में देखा तो वह विस्मयाविष्ट हो गया। उसका हृदय विस्मय से भर गया। हृदय में स्थायी भाव आश्रय से होता है। अर्जुन आश्रय है। अर्जुन के हृदय में भगवान् के उस विराट रूप का दर्शन करने से विस्मय का आविर्भाव हुआ। और उस विस्मय से उसका चित्त आविष्ट हो गया। आलम्बन हैं भगवान श्रीकृष्ण – और उद्दीपन है उनका यह विराट रूप। श्रीकृष्ण कृपा करके जब उसको उपदेश दे रहे थे, तो उसी श्रीकृष्ण के रूप में भगवान् ने जब अपने विश्व रूप का दर्शन करा दिया तो वह इस विस्मय का उद्दीपन विभाव हो गया। उसको उद्दीप्त कर दिया। और फिर *'हृष्टरोमा'* – उसको रोमाञ्च हो गया।

'विभाव अनुभाव संचारीसंयोगाद् रस निष्पतिः'— रस की निष्पत्ति होती है, जब स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा पुष्ट होता है। तो आश्रय है अर्जुन, विभाव यानि आलम्बन और उद्दीपन ये दोनों हैं श्रीकृष्ण। आलम्बन है रूप और उद्दीपन है उनका विराट रूप। उसके द्वारा सात्विक हुआ उसको रोमाञ्च हो गया। रोमाञ्च होने के साथ ही साथ उसको अनेक प्रकार की स्मृति धृति, हर्ष ; अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होने लगीं और उस अनुभूति से वह विनम्र हो गया। यह विनम्रता है उस महान् के प्रति, उस महाआश्चर्यपूर्ण, दिव्य अनुभवों के प्रति। विनम्र होकर उसने अपना सिर झुका दिया—

'प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत'

हाथ जोड़कर, सिर झुका कर उसने अपना अनुभव सुनाना शुरू किया। इस अद्‌भुत रस का अनुभव करते हुए, उसने फिर अपनी विनम्रता व्यक्त की। सिर झुका देना – मतलब अहंकार का त्याग कर देना। सिर झुका देना – मतलब मेरा सारा

विचार, मेरी सारी बुद्धि आपको अर्पित। हाथ जोड़ देना – खाली हाथ – जो आपकी आज्ञा वही करूँगा। किंकर – मैं क्या करूँ? किंकर माने नौकर। हाथ जोड़ कर – माने अपनी क्रिया शक्ति ; माथा झुका कर माने अपनी विवेक शक्ति, अपनी बुद्धि शक्ति और अपना प्रेम – तीनों अर्पित करके अर्जुन भगवान् के उस विराट् रूप का अनुभवजन्य वर्णन आगे करता है। अर्जुन के अनुभवजन्य वचनों की चर्चा अगले व्याख्यान में की जाएगी। •

प्रवचन-३२*

विश्वरूप दर्शन की अनुभूति

भगवान् के विश्वरूप के दर्शन से अर्जुन की प्रतिक्रिया क्या हुई? उस विराट् अनुभव के साक्षात्कार का उसपर क्या प्रभाव पड़ा – यह बात बड़ी मार्मिक भाषा में इन श्लोकों में अभिव्यक्त हुई है। कई बार हमलोग आग्रह, कभी-कभी दुराग्रह के द्वारा, (जिसके हम पात्र नहीं हैं उसकी भी) याचना करते हैं। कभी कभी गुरुजन दे भी देते हैं। लेकिन जब हम सम्भाल नहीं पाते, तो उसको पाने का परिणाम क्या होता है, वह भी इसमें संकेतित है। अपनी मर्यादा, अपनी सीमा के भीतर रहकर जो हम प्राप्त कर सकते हैं, वह हमारे लिए मंगलमय है। मर्यादा का अतिक्रमण करके जब हम प्राप्त करना चाहते हैं, तो कई बार उसका परिणाम उतना अनुकूल नहीं होता, जितना होना चाहिये। भगवान् की कृपा हो तो हमारी पात्रता बढ़ जाती है, हमारी क्षमता बढ़ जाती है, हम उसको ग्रहण कर सकते हैं। लेकिन अर्जुन की इस छटपटाहट की ओर भी आप ध्यान दें। उसको कभी-कभी लगता है कि उसकी जो सामर्थ्य है, उसकी जो क्षमता है, उससे बहुत ज्यादा उसको प्राप्त हो गया है, और वह उसको सम्भाल नहीं पा रहा है। पिछली बार मैंने आपको बताया था कि अर्जुन विस्मयाविष्ट होकर कह रहा है। विस्मय अद्भुत रस का स्थायी भाव है। श्रीमद्भगवद्गीता में शान्त रस की प्रधानता है। यहाँ पर पहले अद्भुत रस और बाद में भयानक रस की प्रधानता है। अद्भुत और भयानक इन दोनों के आठ-आठ श्लोक हैं। १७वाँ श्लोक एक जिज्ञासा से संपृक्त है। विराट् का साक्षात्कार उसके मन में विस्मय दिलाता है। लेकिन भगवान् यहीं रुकते नहीं। क्यों नहीं रुकते? क्योंकि अर्जुन ने कहा था कि मुझे मालूम नहीं कि मैं जीतूँगा या कौरव जीतेंगे— *'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'* (२/६)

मैं युद्ध भी करूँ तो युद्ध का परिणाम क्या होगा ; यह तो मुझे ज्ञात नहीं। हो सकता है कि वे ही जीत जाएँ, तो इतना बड़ा पाप मैं अपने सिर क्यों लूँ? अर्जुन की इस जिज्ञासा का उत्तर भी इसमें ही है। उस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए भगवान् अपनी

* ग्यारहवाँ अध्याय (विश्वरूप दर्शन योग) : श्लोक संख्या १५ से ३१

सम्पूर्णता का बोध भी कराते हैं। भगवान् के तीन रूपों का हमलोग अनुमान कर सकते हैं। उपनिषदों में आया है – *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'*। (तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, अनुवाक् १)

जिससे यह सारी सृष्टि उत्पन्न होती है – एक रूप वह है। जिस रूप से उत्पन्न सृष्टि जीवित रहती है – दूसरा रूप वह है; और तीसरा रूप है – जिसमें यह सारी सृष्टि लय हो जाती है। यह तीसरा रूप अत्यंत भयानक रूप है। इस भयानक रूप का भी इसमें संकेत है। इसलिए ये अनुभव के श्लोक हैं; और इन अनुभव के श्लोकों में जिन गूढ़ तथ्यों की ओर संकेत है, उनको यथासम्भव स्पष्ट करने की चेष्टा की है। एक बात पर और ध्यान दीजिए – गीता अनुष्टुप छंदों में है। यहाँ छंद – परिवर्तन होता है। *'इन्द्र वज्रा उपेन्द्र वज्रा'* छंदों में ये श्लोक आते हैं। यह छन्द परिवर्तन अनुभव की गहनता को, अनुभव की गम्भीरता को व्यक्त करने के लिए है। आठ-आठ-आठ, चरणों के स्थान पर ११–११–११ अक्षरों के ये छन्द अपनी गति में थोड़े मंद, और अपने विस्तार में थोड़े अधिक हैं।

गीता में इस श्लोक परिवर्तन के द्वारा अर्जुन की मानसिकता के परिवर्तन को रेखांकित किया जा रहा है। अर्जुन की बदली हुई मानसिकता हमको आपको स्पष्ट प्रतीत हो, इसलिए अनुष्टुप की जगह *'इन्द्र वज्रा उपेन्द्र वज्रा'* छंद आता है। इसमें एक विलक्षण बात की ओर आप आज के प्रवचन के पहले ही श्लोक पर ध्यान दीजिए।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।। (११/१५)

समग्र दर्शन का अर्थ क्या होता है? हमलोगों को खण्ड दर्शन होते हैं– यहाँ का दर्शन हो रहा है, तो बाहर का दर्शन नहीं है, घर का दर्शन नहीं है। यहाँ का दर्शन हो रहा है तो विदेश का दर्शन नहीं है ; समग्र दर्शन में न केवल देश काल का लोप हो जाता है, समस्त लोकों का एक साथ सह अवस्थान दिखाया जाता है।

देवता रहते हैं स्वर्ग में, देवलोक में ; ऋषि और मनुष्य रहते हैं भूलोक में ; नाग पाताल लोक में रहते हैं – तीनों लोकों का एकत्र वर्णन है – आपके इस शरीर में। भगवान् का शरीर सर्वव्यापक है और इसलिए उसी एक ही शरीर में एकत्र, सब कुछ दिखाई पड़ रहा है। *'ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं'*— इसका साधारण अर्थ यह है कि देवताओं के स्वामी ब्रह्मा को कमलासन पर बैठे हुए देख रहा हूँ। मेरे गुरुजी ने इसका अर्थ किया कि ब्रह्मा को भी देख रहा हूँ, ईश यानी शिवजी को भी देख रहा हूँ; और कमलासन पर बैठे हुए लक्ष्मी नारायण को भी देख रहा हूँ – तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश

तीनों को देख रहा हूँ आपके इस शरीर में। समस्त ऋषियों को देख रहा हूँ *'ऋषयः मंत्र द्रष्टारः'*— जो मंत्रों के द्रष्टा हों उनको ऋषि कहते हैं। क्यों हम वेदों को अपौरुषेय कहते हैं? वेद यानी ज्ञान – ज्ञान किसी का बनाया हुआ नहीं होता, ज्ञान को हम उपलब्ध करते हैं। जैसे न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का आविष्कार किया कि निर्माण किया? आविष्कार किया। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत तो था ही। उसके पहले ज्ञात नहीं था। सापेक्षता के गुरुत्वाकर्षण-सिद्धांत का आविष्कार किया आइनस्टीन ने, या निर्माण किया? आविष्कार किया। वह सिद्धांत तो था ही। सिद्धांत किसी का बनाया हुआ नहीं है। सिद्धांत है, उस बने बनाये सिद्धांत को जाना जाता है, समझ में लाया जाता है। वेदों में इस प्रकार के मंत्रों का जिन्होंने दर्शन किया, जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया, उनके द्वारा उन मंत्रों का उपहार विश्व को मिला, इसलिए ऋषि तो हुए मंत्रद्रष्टा; और वह ज्ञान का संपुंजित ग्रंथ, अपौरुषेय माना जाता है; अर्थात् वह ज्ञान किसी का बनाया हुआ नहीं है।

'सर्वानुरगांश्च दिव्यात्'— सब दिव्य हैं। नाग, सर्प, ऋषि, भूत, देवता सब दिव्य हैं। 'दिव्यांश्च' – यह विशेषण सब में लग जाएगा; क्योंकि अंगी अगर दिव्य है तो अंग भी दिव्य होंगे। जैसे हरे-भरे वृक्ष की हर पत्ती जीवन्त होती है, वैसे ही दिव्य परमात्मा के अंग-प्रत्यंग को और उस अंग-प्रत्यंग के रूप में जिसको भी देखा, उन सबको वह दिव्य देख रहा है।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।। (११/१६)

अनेक शब्द का मतलब है अनन्त। 'अनेक' का मतलब होता है जो एक न हो। तो चार को भी अनेक कह देंगे, सात को भी अनेक कह देंगे, लेकिन यहां *'अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं'*— अनेक बाहुएँ, अनेक उदर, अनेक नेत्र – ये तीन ही अंग दिख रहे हैं? नहीं। ये तीन अंग उपलक्षण हैं – इन तीन अंगों के माध्यम से समस्त अंगों का संकेत है। एक भी अंग से उपलक्षण के रूप में हम समस्त अंगों का संकेत पा सकते थे। लेकिन उन्होंने तो बाहु, उदर, वक्त्र, नेत्र आदि सब कहा। तो क्या इसका मतलब वक्षस्थल नहीं है? क्या इसका मतलब पैर नहीं हैं? सब है। समस्त अंगों का संकेत है। जैसे पुरुष सूक्त में कहा गया है। पुरुष सूक्त का आरम्भ ही होता है –

'ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'

हजार-हजार मतलब अनन्त, असंख्य। ये जितने सिर हैं, जितने हाथ हैं, जितने पैर हैं – सब भगवान् के ही हैं। उनके उस अनन्त बाहुओं, नेत्रों, मुखों, शरीरों को सब

ओर से अर्जुन अनंत रूपों में देख रहा है। *'सर्वतोऽनन्तरूपम्'*— कहीं भी उसका कोई अन्त नहीं। अनन्त किसको कहते हैं? अनन्त कहते हैं, जिसका अन्त न हो। इस बात पर ध्यान दीजिए कि अन्त किसका होता है? अन्त उसका होता है जिसका आदि होता है, आरम्भ होता है। जिसका आरम्भ होगा, उसका अन्त होगा। जिसका आरम्भ ही नहीं होगा, उसका अन्त भी नहीं होगा। आप देखिए इसमें कहते क्या हैं? कहते हैं – *'सर्वतोऽनन्तरूपम् नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप'* – हे विश्वेश्वर! तुम सारी सृष्टि के स्वामी भी हो और सृष्टिमय भी हो। भगवान् ही सारी सृष्टि के रूप में प्रकट भी हैं और उस सारी सृष्टि के अज्ञान से आवृत्त लोगों के लिए वे उसके स्वामी भी हैं। वे स्वयं स्रष्टा होते हुए सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त भी हैं और उस सृष्टि का नियमन भी वे ही करते हैं, इसलिए वे इसके स्वामी भी हैं। मैं तो तुम्हारा न अन्त देख रहा हूँ, न मध्य देख रहा हूँ, न आदि देख रहा हूँ। आदि, मध्य, अन्त उसी का होगा जो जन्म लेगा। हमारा, आपका, इस शरीर का जन्म होता है, हमारे-आपके शरीर का मध्य होता है। हमारा आपका शरीर 'श्रीराम नाम सत्य है' कहकर फूँक दिया जाता है। उसका अंत होता है। आत्म तत्त्व का, परमात्म तत्त्व का न कोई आदि है, न मध्य है, न कोई अंत है। वह तो विश्वरूप है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।। (११/१७)

भगवान् मुकुट धारण किए हुए हैं, गदा लिए हुए हैं, चक्र लिए हुए हैं। अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। काल की गदा है। कालचक्र का चक्र है। वे तेजोराशि हैं। वे तेज ही तेज हैं। *सर्वतो दीप्तिमन्तम्* चारों तरफ उनकी दीप्ति, चारों तरफ उनका प्रकाश, चारों तरफ उनकी आभा छिटकी हुई है, दीप्तिमान है। उनको अन्धकार स्पर्श नहीं कर सकता। वे स्वयंप्रकाश हैं। हम आप परप्रकाश हैं। ये सब बिजलियाँ जल रही हैं, पंखे चल रहे हैं – कहीं से बिजली उत्पन्न होकर यहाँ आ रही है, वह बंद हो जाए तो सब बंद हो जाएगा। सूरज, चाँद – ये भगवान् के प्रकाश से प्रकाशित हैं। ये सब परप्रकाश हैं, दूसरों के द्वारा प्रकाशित हैं। परमात्मा स्वयंप्रकाश हैं। परमात्मा का कोई दूसरा प्रकाशक नहीं है। बाबा ने कहा है— *'जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू'* सारा जगत, सारी सृष्टि प्रकाश्य है और प्रकाश करने वाले स्वयं रामजी हैं। किन्तु रामजी स्वयंप्रकाश हैं—

'तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता'।

दिव्य दृष्टि को प्राप्त करके अर्जुन कह रहा है कि आप दुर्निरीक्ष्य हैं। आपको

देख लेना, आपका निरीक्षण करना बड़ा कठिन है। आप सूरज को देख पाते हैं क्या? सूरज को देखते ही आँखें चौंधिया जाती हैं। सूर्य-ग्रहण देखने के लिए लोग कहते हैं कि काले शीशे के माध्यम से देखो। अगर काले शीशे के माध्यम से नहीं देखोगे तो कभी कभी आँखें खराब हो जाती हैं। हमारी आपकी आँखों के लिए सूर्य दुर्निरीक्ष्य है; तो जहाँ हजार-हजार सूर्य व्याप्त हों, लाख-लाख सूर्यों की रोशनी, ज्योति जिसमें हो– वह सुनिरीक्ष्य कैसे हो सकता है? वह दिव्य दृष्टि की प्राप्ति के बाद भी दुर्निरीक्ष्य है। कठिनाई से उसकी ओर दृष्टि कर देखा जा सकता है। मुश्किल से दिखाई पड़ते हैं। अपने ही जाज्वल्यमान प्रकाश में वे अपने को गोपन रखते हैं। *'दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्'* – – चारों तरफ से *'दीप्तानलार्कद्युतिप्रमेयम्'* – जैसे प्रदीप्त अग्नि हो, जैसे प्रदीप्त सूर्य हो, ऐसे तुम्हारी अप्रमेय, ऐसी तुम्हारी द्युति है और तुम अप्रमेय हो। परमात्मा को किसी प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। साक्षात् दर्शन कर रहा है, लेकिन साक्षात् दर्शन करने पर भी उसको सब कुछ कहाँ दिख रहा है। सब कुछ उसको कहाँ समझ में आ रहा है। परमात्मा को न प्रत्यक्ष, न अनुमान, न उपमान, न शब्द – किसी भी प्रमाण से जाना नहीं जा सकता; इसलिए उनको कहते हैं अप्रमेय। परमात्मा को नापा नहीं जा सकता। परमात्मा को किसी प्रमाण से जाना नहीं जा सकता। आचार्य लोग कहते हैं कि परमात्मा को किसी प्रयोगशाला में प्राप्त नहीं किया जा सकता। वे नाप, तोल आदि के विषय नहीं हैं। जड़ वस्तु की नाप-तोल होती है। कोई तराजू ऐसा नहीं बना जो परमात्मा को तोल सके। कोई छुरी ऐसी नहीं बनी, जो परमात्मा को काटकर टुकड़े-टुकड़े कर सके। तो इसलिए परमात्मा अप्रमेय।

इसके बाद का श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस एक ही श्लोक में परमात्मा के निर्गुण-निराकार; परमात्मा के सगुण-निराकार और परमात्मा के सगुण-साकार— तीनों रूपों की ओर संकेत है। यह श्लोक, उस दिव्य दर्शन के ज्ञानात्मक अनुभव का निचोड़ है। अनुभव के कई स्तर हैं। एक स्तर विस्मय का है, एक स्तर भय का है, एक स्तर ज्ञान का है। ज्ञानात्मक स्तर का निचोड़ इस १८वें श्लोक में आया है—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।। (११/१८)

'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं'— हे प्रभु! आप ही परम अक्षर हैं। परमात्मा कभी क्षर नहीं होता, परमात्मा का कभी नाश नहीं होता। मेरे गुरुजी ने इसमें एक बहुत अच्छी कल्पना की है। उन्होंने कहा है कि लिपियाँ क्षर हैं, और लिपियों के द्वारा जो ध्वनि व्यंजित की जाती है, वह अक्षर है। उदाहरण के लिए कहा 'अ' – तो 'अ' जो है इसे

नागरी लिपि में भी लिखा जा सकता है, यह बंग्ला लिपि में भी लिखा जा सकता है, गुजराती, सिंधी, तमिल, तेलुगु, मलयाली, कन्नड़ और रोमन लिपि में भी लिखा जा सकता है 'अ'। लिपियाँ अलग-अलग, ध्वनि एक। लिपियाँ क्षर – मिटा दी जाती हैं, पोंछ दी जाती हैं, और एक बार जो उच्चारण होता है अक्षर, वह कभी नष्ट नहीं होता। आकाश में गूँजता ही रहता है, ऐसा वैज्ञानिक भी मानते हैं। तो जैसे क्षर लिपियाँ अक्षर का संकेत करती हैं, वैसे ही पृथ्वी की प्रत्येक क्षर वस्तु अक्षर परमात्मा का संकेत करती है, अक्षर का संकेत करती है। ये जो सृष्टि की क्षर वस्तुएँ हैं – ये सब अपने निर्माता की ओर संकेत करती हैं। हम हैं तो हमको कोई बनानेवाला भी है। हम हैं तो हमारा कोई पालनकर्ता है। हम नहीं रहेंगे तो जिसके कारण हम नहीं रहेंगे, वह कोई है। *'त्वमक्षरं परमं'* – तुम ही परम अक्षर हो, *'परमं'* – तुम सबसे बड़े हो, निर्गुण निराकार हो– *'वेदितव्यं'* – तुम ही एकमात्र जानने योग्य हो। *'वेदांत वेद्यं'* – भगवान् ने अपने को कहा है, मैं वेदांत वेद्यं हूँ। उपनिषद् में कहा गया है –

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' (केन २/५)

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति – अगर तुमने उसको जान लिया तो तुम्हारा जीवन धन्य हो गया, कृतार्थ हो गया, चरितार्थ हो गया; और तुमने उसको नहीं जाना तो महा विनाश हो गया। एकमात्र जिसके जानने के लिए हमारा जीवन समर्पित होना चाहिए, वह तो परमात्मा ही है।

'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'— तुम ही इस सम्पूर्ण विश्व के आश्रय हो। 'निधान' माने आश्रय – जिसको जहाँ रख दिया जाय वह उसका निधान होता है। तो यह सारा विश्व किसपर टिका हुआ है? इसका आधार कौन है? इसका अधिष्ठान कौन है? इसका अधिष्ठान तो परमात्मा ही है। तो परमात्मा निराकार होते हुए भी, किसी का अधिष्ठान बन रहा है, खजाना बन रहा है, आश्रय बन रहा है। उतनी मात्रा में सगुण हो गया। तो पहली पंक्ति में निर्गुण निराकार का, दूसरी पंक्ति में सगुण निराकार का संकेत किया गया। तीसरी पंक्ति पर देखिए— *'त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता'*- – तुम अव्यय हो, अविनाशी हो लेकिन बार-बार जन्म लेकर अधर्म का नाश करके धर्म का रक्षण करते हो।

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।।
तब तब धरि प्रभु बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।

'धर्मगोप्ता'- सगुण साकार हैं। भगवान् अवतार लेकर धर्म की रक्षा करते हैं–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। (४/७-८)

तो निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार – तीनों का संकेत करते हुए अर्जुन कहता है – *"सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे"* – मेरा यह सुचिंतित मत है, मैं अब इस उपलब्धि पर पहुँचा हूँ कि तुम्हीं एकमात्र सनातन तत्त्व हो ; बराबर रहने वाले तत्त्व हो। जो कभी न बदले, जो कभी न अनुपस्थित रहे, जिसका नाश कभी न हो ; वह सनातन तुम्ही हो।

अनादि - मध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।। (११/१९)

तुम्हारा कोई आदि नहीं है, तुम्हारा कोई मध्य नहीं है, तुम्हारा कोई अन्त नहीं है – पहले भी कहा, फिर कहा। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि तुम आदि, मध्य और अन्त रहित हो, परम वीरता का भाव 'अनन्त वीर्य', वास्तव में तुम ही हो। 'अनन्त बाहु हो' – बाहु जो है वह क्रिया शक्ति का द्योतक है। सम्पूर्ण क्रियाशक्ति तुम्हारे अन्दर ही निहित है, तुम ही सम्पूर्ण क्रिया शक्तियों के प्रेरक हो।

'शशिसूर्यनेत्रम्' – चंद्रमा और सूर्य तुम्हारे नेत्र हैं। रामानुजाचार्य ने इसमें बहुत अच्छी कल्पना की है। रामानुजाचार्य ने कहा है कि भगवान् प्रसाद और प्रताप की दृष्टि से देखते हैं। शशि शीतल होता है, सौम्य होता है – तो उनकी एक दृष्टि में प्रसाद है, कृपा है, अनुग्रह है। शशि के समान शीतल दृष्टि है। एक दृष्टि सूर्य के समान प्रतापी है, सूर्य की दृष्टि से वे देखते हैं, तो 'शशिसूर्यनेत्रम्'। वे निग्रह और अनुग्रह दोनों करने में समर्थ हैं। जब अनुग्रह करते हैं तो उनकी दृष्टि शशि की तरह होती है। जब निग्रह करते हैं, नियंत्रण करते हैं, दण्ड देते हैं – तो अत्यंत प्रतापी, तेजस्वी हो जाते हैं। विनोबा भावे ने इसी बात को और आगे बढ़ाया। बोले अहिंसा और सत्य की दृष्टि आधी-आधी। लेकिन मुझको रामानुजाचार्य की बात बहुत अच्छी लगी कि भगवान् के अनुग्रह और निग्रह – शशि, सूर्य दोनों हैं।

'पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्' – तुम्हारे मुख में जैसे अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है। इतना तेजस्वी है कि बिल्कुल अग्नि के समान तुम सारी सृष्टि को अपने तेज से तपा रहे हो। मेरे गुरुजी ने इसमें भी एक कल्पना की है कि भगवान् तपाते हैं, तो भी कृपा करते हैं। मेरे गुरुजी ने कहा कि भगवान् कृपा के

सिवाय कुछ करते ही नहीं। हम अपनी मूर्खता के कारण यह अनुभव करते हैं कि प्रभु जब हमारी इच्छा पूरी करते हैं, तब कृपा करते हैं; और जब हमारी इच्छा खण्डित करते हैं तब क्या भगवान् कृपा नहीं करते? जब वे हमको तपाते हैं, दुख पहुँचाते हैं, रुलाते हैं, तब क्या भगवान् कृपा नहीं करते? भगवान् तब भी कृपा करते हैं। गुरुजी ने कहा है कि वह तापनी कृपा है, वह द्रावणी कृपा है। तुम्हारा पत्थर जैसा कलेजा हो गया था, किसी दूसरे के दुख से तुम दुखी ही नहीं होते थे। तुम पर संकट डालकर, दुख डालकर उन्होंने तुम्हारे हृदय को कोमल कर दिया। क्या यह कृपा नहीं है?

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन परि कहै न जाना।।
निज परिताप द्रवइ नवनीता। परदुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता।।

(उत्तरकांड १२४/७-८)

कहते हैं कि सन्तों का मन मक्खन की तरह कोमल होता है। कहा, अच्छा ही कहा; लेकिन ठीक नहीं कहा। क्यों ठीक नहीं कहा? क्योंकि दूसरे के दुख से मक्खन नहीं पिघलता वह अपने ही ताप से पिघलता है; और सन्त दूसरों के दुख से पिघल जाते हैं। तुमको दूसरों के दुख से पिघलना चाहिए – इस योग्य बनाने के लिए भगवान् ने तुमको दुख दिया, द्रवित कर दिया तुम्हारे हृदय को। द्रावणी कृपा है यह। भगवान् तुमको तपाते हैं, तपाना कृपा है – तपाने से तुम और शक्तिशाली बनोगे, सहिष्णु बनोगे। तप से ही कोयला हीरा बन जाता है। कोयला हीरा कब बनता है? जब उसको असह्य ताप और असह्य भार का युगपत अनुभव होता है। जो लोग विज्ञानवेत्ता हैं, वे जानते हैं कि हीरा और कुछ नहीं है – कोयले का ही रूपान्तरण है। साधारण कोयला हीरा नहीं बनता। जिस कोयले पर बहुत ताप लगता है और बहुत बोझ आता है, वही हीरा बनता है। तो यह ताप हमको, आपको हीरा बनाने के लिए है। आप हीरा बनना नहीं चाहते? आप कोयला बने रहना चाहते हैं? तो भगवान् हमको तपाकर भी कृपा करते हैं, रुला कर भी कृपा करते हैं – भगवान् कृपा के अतिरिक्त कुछ नहीं करते।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।। (११/२०)

समस्त दिशाओं में एकमात्र तुम ही व्याप्त हो – द्विलोक में हो, पृथ्वी में हो, सर्वत्र उसके बीच में हो, अंतरिक्ष में सर्वत्र तुम ही विराजमान हो।

अब देखो स्वर बदलने वाला है, अब विस्मय से भय की ओर जाने वाला है। हे महात्मा, हे भगवान्, तुम्हारे इस रूप को देखकर तीनों लोक – 'प्रव्यथित' हैं – बहुत ज्यादा पीड़ित हो गये हैं। तीनों लोकों को क्या दिव्य दृष्टि मिली थी? तीनों लोकों को

तो दिव्य दृष्टि मिली नहीं। दिव्य दृष्टि तो अर्जुन को ही मिली थी। लेकिन अर्जुन स्वयं प्रव्यथित है तो उसको लगता है कि सारी सृष्टि प्रव्यथित है। स्वयं विस्मयाविष्ट है, तो उसको लगता है सारी सृष्टि विस्मयाविष्ट है, तो कहता है सारी सृष्टि, तीनोंलोक प्रव्यथित हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।। (११/२१)

देखो! देखो!! ये देवताओं का समूह तुममें प्रवेश कर रहा है। ये, कुछ लोग भयभीत होकर, *'प्राञ्जलय'*, अञ्जलिबद्ध होकर हाथ, जोड़कर आपकी स्तुति कर रहे हैं। जो महर्षि हैं वे 'स्वस्ति-स्वस्ति', 'कल्याण हो', 'कल्याण हो' कहकर, आपकी स्तुति और जगत् की कल्याण कामना कर रहे हैं। *'स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः'* – पुष्कल अनेक उत्तम स्तुतियों के द्वारा वे आपकी स्तुति कर रहे हैं। मोटे तौर पर जब हमलोग स्तुतियाँ करते हैं, लौकिक अर्थ में, तो गुण-रूप का वर्णन करते हैं, और अक्सर जब हमलोग किसी एक की स्तुति करते हैं तो उसके रूप-गुण को ज्यादा बढ़ाकर कहते हैं। *'चंद्रमुखी'* – सौंदर्य चाहे जैसा हो चंद्रमुखी ही बताते हैं। जैसे भी नेत्र हों *'कमलनेत्र'* कहते हैं। तो हमलोग जिन साधारण मर्त्य लोगों का रूप-गुण वर्णन करते हैं, तो लगता है कि उसके जितने रूप-गुण का वह पात्र है, उससे बढ़ाकर करते हैं। भगवान् की कोई स्तुति कर सकता है? भगवान् की कोई स्तुति नहीं कर सकता। मैंने एक श्लोक सुनाया था *'स्तुत्या निर्वचनीयता खिल गुरौदूरीकृता यन्मया'* – वेदव्यास ने कहा कि मैंने तुम्हारी स्तुति करके, तुम्हारी निन्दा कर दी। हम तुमको क्या बता सकते हैं कि तुम कितने ज्ञानी हो। अब कोई कहे कि डॉ. प्रेमशंकर को 'क', 'ख', 'ग', 'घ' लिखना आता है – तो वह प्रेमशंकर की स्तुति है कि प्रेमशंकर की निन्दा है? इतना विद्वान् आदमी (एम.ए., पी-एच.डी.) उसकी स्तुति में कहे कि उसे क, ख, ग, घ लिखना आता है। तो वह उसकी स्तुति हुई कि निन्दा। उससे अनन्त अनन्त गुणा अधिक अनुपात होता है बड़े-बड़े ऋषियों की स्तुति और परमात्मा की वास्तविक सत्ता में। इसलिए हमलोग उनकी स्तुति कर ही नहीं सकते। अपने मन को संतुष्ट करने के लिए हम उनकी स्तुति करते हैं – *'पुष्कल'*।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।। (११/२२)

ये एकादश रुद्र, बारह आदित्य, अष्ट वसु, बारह साध्य, दस विश्वे देवता, दो अश्विनी कुमार, उनचास मरुत, सात *'उष्मपा'* – इस पर ध्यान दीजिए। उष्मपा का

मतलब होता है पितर। जो लोग श्राद्ध करते हैं, वे लोग ध्यान दें – पितर गरम-गरम भोजन पसन्द करते हैं, इसलिए उनका नाम है उष्मपा। पितरों के नाम पर ठण्ढा भोजन नहीं कराना चाहिए। हमलोग पत्तल भेजते हैं, तो एकदम ठण्डी लक्कड़ करके भेजते हैं; ऐसा नहीं करना चाहिए। अगर आप पितरों को संतुष्ट करना चाहते हैं, तो सामने ब्राह्मण देवता को बैठाकर उनको श्रद्धापूर्वक गर्म भोजन कराना चाहिए – पितर जो हैं, उष्मपा हैं। सब गंधर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध – सब के सब तुमको विस्मय के साथ देख रहे हैं। अद्‌भुत रस चल रहा है, सब विस्मित हैं यह विराट् रूप, यह विश्व रूप, यह सर्वव्यापी रूप – वे उनके अंग हैं, फिर भी चकित होकर उनको देखने की चेष्टा कर रहे हैं। उस विस्मय का अनुभव करते हुए अर्जुन कहता है कि–

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।। (११/२३)

'हे प्रभु! आपका जो यह महान् रूप है – (फिर देखिए पुनरावृत्ति) अनेक मुख हैं, अनेक नेत्र हैं, अनेक बड़ी बड़ी बाहुएँ हैं, अनेक उरु हैं, बाहु है। जाँघें हैं, चरण हैं, उदर हैं, भयानक दाँत हैं - इसे देख कर सारा संसार प्रव्यथित है, डर रहा है।' अर्जुन खुद ही कभी विस्मृत होता है, खुद ही कभी डर जाता है और इसका आरोपण कर रहा है – सारी सृष्टि पर।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।। (११/२४)

जो सर्वव्यापक होता है उसका नाम है विष्णु। तो हे सर्वव्यापी भगवान्, आप आकाश का स्पर्श कर रहे हैं, चारों तरफ आपकी प्रज्ज्वलित दीप्ति है ; आप अनेक वर्णों के हैं। चारों तरफ आपके मुख हैं, विशाल नेत्र हैं – आपको इस विशाल रूप में देखकर भयभीत अन्तःकरण वाले मुझको धीरज नहीं हो रहा है।

धृति या धैर्य किसको कहते हैं? धैर्य कहते हैं जब कोई प्रतिकूल स्थिति आ जाए, तो भी उसमें अपनी इन्द्रियों को, अपने मन को, अपनी बुद्धि को सम्हाल कर रखें – तब धृति है। धीर वह है जो कि प्रतिकूल से प्रतिकूल स्थिति में विचलित नहीं होता। मैं विचलित हो गया हूँ, मेरा धीरज भ्रष्ट हो गया है – आपके उस विशाल, उस विराट विकराल रूप को देख कर, *'दंष्ट्राकरालं'* भयानक दाँतों को देखकर। फिर दोहराता है-

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।। (११/२५)

यह भय की वृत्ति है। *कालानलसन्निभानि* – कालानल माने प्रलय काल की

अग्नि। प्रलय काल की अग्नि जब सारी सृष्टि को भस्म कर दे – उस प्रलय काल की अग्नि के समान प्रज्वलित और दाढ़ों के कारण विकराल आपके मुख को देखकर मैं दिग्मूढ़ हो गया हूँ। जब व्यक्ति कोई निर्णय न कर पाए कि वह कहाँ है, कहाँ जाना है; तो हमलोग कहते हैं दिग्मूढ़ हो गया। दिग्मूढ़ का मतलब दिशाओं का निर्णय नहीं कर सकना। हम-आप दिशाओं का निर्णय कैसे करते हैं? सूर्य से करते हैं। जिस दिशा में सूर्य उगता है, उसका नाम है पूर्व ; उसके पीछे जो है वह है पश्चिम ; बाँयें हाथ की ओर उत्तर, दाहिने हाथ की ओर दक्षिण। एक सूर्य उगे तो दिशाओं का ज्ञान होता है; और हजार-हजार सूर्य उग जाएँ तो? किधर पूर्व, किधर पश्चिम? किधर उत्तर, किधर दक्षिण? हजारों सूर्य उदित हो गए हैं, इसलिए मेरा दिशा का ज्ञान नष्ट हो गया है। मेरा कल्याण, मेरी शान्ति नष्ट हो गई है। *शर्म*–पात्रता से अधिक पा लेने की परिणति है। जितना हम सह सकते हैं, उससे ज्यादा पा लेने की परिणति है। वह दिग्मूढ़ हो गया – उसकी शान्ति नष्ट हो गई। अतः चिल्लाने लगा, *'प्रसीद देवेश जगन्निवास'* – हे सारे संसार में निवास करने वाले प्रभु–कृपा करो, कृपा करो, मुझको और मत डराओ। मैं और भयभीत नहीं होना चाहता। देख क्या रहा है –

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।। (११/२६)

उसको भय था कि भीष्म है, द्रोणाचार्य है, कर्ण है – क्या इनको मैं हरा सकूंगा? भगवान् दिखा रहे हैं कि धृतराष्ट्र के सारे पुत्र – दुर्योधन, दुःशासन आदि, उनके पक्ष के जितने राजा हैं – *अवनिपाल सङ्घैः* – समूह के साथ, भीष्म भी, द्रोण भी, सूतपुत्र कर्ण भी – केवल कौरव ही कौरव? नहीं *'सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः'* – हमारे जो मुख्य-मुख्य योद्धा हैं, वे सब *'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति'* – आपके मुख में शीघ्रतापूर्वक प्रवेश कर रहे हैं। यह उनके भावी निधन का द्योतक है। इस युद्ध में दुर्योधन मारा जाएगा, दुःशासन मारा जाएगा, भीष्म, द्रोण, कर्ण मारे जाएँगे। अर्जुन -- पांडव मुख में नहीं जा रहें हैं। परन्तु अर्जुन और पांडवों के पक्ष के मुख्य-मुख्य राजा मारे जाएँगे – उनके निधन की पूर्वसूचना है। यह तीसरा रूप है – जिसमें सब विलीन हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। जिससे होते हैं, जिसके कारण स्थिर रहते हैं – यह तीसरा रूप है, भयंकर रूप। मृत्यु का रूप, सर्वनाशी रूप। इस बात को आप समझिए कि हमारा धर्म एक ही साथ परमात्मा के दोनों रूपों को स्वीकार करता है। परमात्मा का सुन्दर रूप भी; और परमात्मा का विकराल रूप भी। परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय है परमात्मा। वह करुण भी है, कोमल भी है, कठोर भी है, क्रूर भी है। वह स्रष्टा भी

है, संहर्ता भी है। अर्जुन उसके संहारक रूप, भयंकर रूप को देख रहा है; और भय से थर-थर-थर-थर काँप रहा है।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।। (११/२७)

ये तुम्हारे मुख में प्रवेश कर रहे हैं। उनका सिर तुम्हारे दाँतों से टकरा रहा है, उनके सिर चूर-चूर हो रहे हैं, तुम उनको चबा डाल रहे हो – यह भयंकर साक्षात्कार अर्जुन को व्यथित कर रहा है। अब इसमें देखिए दो उदाहरण हैं। इन दोनों उदाहरणों को एक साथ लेता हूँ –

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति। (११/२८)
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।। (११/२९)

ऐसे ही ये सब लोग मोहवश अपना नाश करने के लिए बड़े वेग से दौड़ते हुए आपके मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं। जैसे नदियों के जल के बहुत से प्रवाह स्वाभावतः ही समुद्र की ओर दौड़ते हैं, ऐसे ही संसार के महान् शूरवीर आपके प्रज्ज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं; तथा जैसे पतंगे मोहवश अपना नाश करने के लिए बड़े वेग से उड़ते हुए प्रज्ज्वलित अग्नि में प्रवेश करते हैं ऐसे ही ये सबलोग मोहवश अपना नाश करने के लिए बड़े वेग से दौड़ते हुए आपके मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं।

एक उदाहरण है नदी और समुद्र का। दूसरा उदाहरण है पतंगे और दीपक का। ये दो उदाहरण क्यों? पहला उदाहरण – *'नरलोकवीरा'* – जो श्रेष्ठ हैं। जो लोक में वीर हैं। जो भक्त हैं। जो नरवीर हैं, वे तो भगवान् का तादात्म्य प्राप्त करते हैं; और जो पापी हैं, वे नष्ट हो जाते हैं – इसलिए दो उदाहरण। दो उपमाएँ – एक समुद्र में प्रवेश करने वाली नदी जो अपना नदीपन छोड़कर समुद्र ही बन जाएगी – जो भगवान् के साथ एकाकार हो जाएगी। वे, जिनका तादात्म्य हो जाएगा भगवान् से। और दूसरे वे, जो पतिंगे के समान दीपक से टकराकर जलकर नष्ट हो जाएँगे; लेकिन दीपक नहीं बनेंगे। तो ये दोनों प्रकार के लोग तीव्र वेग से तुम्हारे मुँह में प्रवेश कर रहे हैं। भगवान् उनको दाँतों से चबा रहे हैं; लेकिन उतने में ही भगवान् तृप्त नहीं होते –

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।। (११/३०)

भगवान् अपनी विकराल जिह्वा निकालकर उनको चाट भी लेते हैं। न केवल

चबाते हैं; बल्कि उसका आस्वाद भी लेते हैं। जो थोड़ा सा भी होठों में लगा है, उसको भी खा लेते हैं – उसका स्वाद ले रहे हैं। भगवान् विकराल रूप धारण करके इन तमाम योद्धाओं को नष्ट कर रहे हैं; और उनको अपनी विकराल, विशाल, जिह्वा से लपेट ले रहे हैं, उनका आस्वाद ले रहे हैं। सारा का सारा लोक जैसे उनके जलते हुए मुँह में प्रवेश कर रहा है – *'तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो'* हे विष्णु भगवान्! आपके उस तेज से, आपके उस ताप से सारा विश्व तप रहा है – कृपा करो, कृपा करो, रक्षा करो। यह भयानक रस का वर्णन है। अर्जुन स्वयं प्रव्यथित है, स्वयं भयभीत है – सारी सृष्टि उसको भयभीत लग रही है। यहाँ विस्मयाविष्ट और भयाविष्ट – दोनों स्थितियाँ हैं। भगवान् के विराट रूप को देखकर, अपनी स्थिति के पोषक रूप को देखकर वह उल्लसित हुआ था, विस्मयाविष्ट हुआ था। लेकिन भगवान् के भयानक, संहारक रूप को देखकर वह भयभीत है; और उसको लग रहा है कि सारी सृष्टि को प्रभु चबा जाएँगे। फिर वह समझ रहा है कि हम समझ नहीं पा रहे हैं कि किनको देख रहे हैं। आप एक बात पर ध्यान दीजिए – इसके पहले वह सर्वत्र त्वं त्वं बोल रहा है – यहाँ तक कि जिसको मैंने परम विशिष्ट श्लोक बताया, उसमें चारों चरणों में त्वं आया है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परंनिधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।

ये त्वं निकटता का द्योतक है। जैसे दो मित्र आपस में तू – तड़ाक करते हैं कि नहीं? तो तू - तड़ाक करने वाली निकटता है। श्रीकृष्ण ही का रूप मैं देख रहा हूँ, यह मानकर वह त्वं त्वं त्वं बोल रहा है। बहुत निकटता से अनुभव करते हैं, तो भगवान् को भी तू बोलते हैं। लेकिन भयभीत हो जाने के बाद, इस विकराल, इस उग्र रूप के साथ निकटता? मैं कहाँ, मैं कहाँ – मैं उसकी तुलना में कुछ भी नहीं। मैं उसको त्वं कैसे कहूँ? जिसको समझ नहीं पा रहा हूँ। और यहाँ देखिए 'भवान्' शब्द आता है - - अद्भुत है!

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।। (११/३१)

प्रभु! दर्शन कर लेने का मतलब समझ लेना भी है क्या? अवतारकाल में रामजी को किसने-किसने देखा होगा। कितने लोगों ने देखा, सब समझ गए थे? देखने से समझ में आता है? तुलसीदास नहीं समझे थे! चित्रकूट के घाट पर तुलसीदास चंदन घिसकर जिसे तिलक लगा रहे हैं, वे रामजी हैं, तुलसीदास समझे ही नहीं। तो हनुमान

जी को कहना पड़ा, समझाने के लिए। बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता। जो चीज दिख रही है, वह वस्तुतः क्या है इसका बोध नहीं होता। तुम जो इतने उग्र, भयंकर, सर्वव्यापी रूप में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हो, तुम कौन हो?

'आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो' – मुझे बताइए कि आप कौन हैं? 'त्वं त्वं' से 'भवान्' – आप कौन हैं। भय के मारे थरथरी छूट गई है बेचारे की। मैं आपको समझ नहीं पा रहा हूँ। बताइए, आप ही बताइए। और कोई बता नहीं सकता है। भगवान् को कौन बता सकता है, भगवान् के सिवाय। ये उग्र रूप धारण करने वाले आप कौन हैं? आप ही मुझको बताइए।

'नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद' – देव नहीं, देववर। हे श्रेष्ठ देव, आपको मेरा नमस्कार। हाथ जोड़कर नमस्कार करना माने अपना सब कुछ समर्पित कर देना। 'न मम' मेरा कुछ नहीं। सब आपका ; झुक जाना। 'प्रसीद' – आप कृपालु हैं, कृपा करें।

'विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं' – भगवान् ही सबके आदि स्रोत हैं, भगवान् ही आदि रूप हैं। भगवान् के आगे कोई नहीं, सबके आदि रूप भगवान् हैं। मैं आपको जानना चाहता हूँ।

'न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्' – आपने यह भयंकर विकराल रूप क्यों धारण किया है? आप क्या करना चाहते हैं? आपकी प्रवृत्ति क्या है? मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। आप मुझको समझाइए। यह विनम्र शरणागति है। आरम्भ की शरणागति और इस शरणागति का अंतर देखिए। आरम्भ की शरणागति में क्या कहा है? आरम्भ की शरणागति में कहता है कि मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, लेकिन करूँगा मैं वही, जो मैं चाहता हूँ। आप देखिए कैसे मजे का श्लोक है –

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। (२/७)

केवल जबानी जमाखर्च करता है कि अब मैं आपका शरणागत हूँ, आप मेरा शासन कीजिए। लेकिन करूँगा क्या? मैं युद्ध नहीं करूँगा। अरे! तुम शरणागति भी ले रहे हो, तुम कह रहे हो कि मुझको बताओ और यह भी कह रहे हो कि युद्ध नहीं करूँगा? यह कैसी शरणागति? युद्ध नहीं करोगे! निर्णय तुम्हारा और शरणागति मेरी? कोई शरणागत अपने आप स्वतंत्र निर्णय करने का अधिकारी है क्या? भगवान् की इच्छा मेरी इच्छा। जो भगवान् कराएँगे, करेंगे। शरणागत तो वही होता है। यहाँ लेकिन वह एकदम विचलित है, विगलित है। वह कहता है कि मैं नहीं जानता कि आप कौन हैं? आप ही कृपापूर्वक बताइए। आप जो कहेंगे, मैं वही करूँगा। •

प्रवचन-३३*

निमित्त की धारणा और प्रक्रिया

प्रभु की कृपा है कि हमलोग श्रीमद्भगवद्गीता का मर्म समझने की चेष्टा कर रहे हैं। मर्म तो भगवान् की कृपा से ही समझ में आएगा; लेकिन यह चेष्टा भी भगवान् को प्रिय लगती है। वे यह तो देखते हैं कि हम अपनी तरफ से प्रयास कर रहे हैं। इस प्रयास में जितनी ईमानदारी होगी; जितना सत्य होगा, प्रभु की अनुकूलता उतनी ही होगी। आज का विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि गीता के कुछ बीज वाक्यों में से एक वाक्य ३३ वें श्लोक में आया है– *'निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्'।*

अर्जुन ने प्रश्न किया कि इस विराट् विश्व रूप में कौन है? पहले उसके मन में विस्मय उदित हुआ था। भगवान् के विश्वरूप को देखकर उसके मन में आश्चर्य जागा था, अद्भुत रस का अनुभव हुआ था। उसी विश्व रूप की क्रमिकता में जब उसने भगवान् के भयावह रूप को देखा – विशाल दाँतों से सारी सृष्टि को चबाते हुए भयंकर रूप में भगवान् के दर्शन किए तो अद्भुत रूप, भयानक रस में बदल गया ; विस्मय, भय में बदल गया। उस भयानकता का अनुभव करते हुए, उसने पूछा कि 'प्रभु, आप कौन हैं? क्या है आपकी प्रवृत्ति? क्यों इस रूप में आप मुझको दर्शन दे रहे हैं?' वह भूल गया कि उसने स्वयं ही कहा था कि आप अपना विश्व-रूप दिखाइये। उस विश्व-रूप की कल्पना हमलोगों के मन में क्या होती है और वास्तव क्या होता है, इसका अंतर इसमें चिह्नित है। हमलोग भगवान् को अत्यन्त कोमल, अत्यन्त प्रीतिकर, अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त उदार, क्षमाशील मानते हैं। हैं भगवान् ऐसे, लेकिन क्या इतने ही हैं। वे इतने ही नहीं हैं। भारतीय चिंतन यहूदी, ईसाई, इस्लामी चिंतन से अलग है। यहूदी, इस्लामी चिंतन में दो भाग कर लिए – एक भाग अच्छा-अच्छा है, वह है भगवान्, गॉड, यहोवा, अल्लाह; और दूसरा भाग बुरा-बुरा है – वह है शैतान। वे भगवान् और शैतान का द्वैत स्वीकार करके चलते हैं। हमलोग ऐसा नहीं मानते। हमलोग ऐसा मानते हैं कि भगवान् के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, तो भयानक भी

* एकादश अध्याय (विश्वरूप दर्शन योग) : श्लोक संख्या ३२ से ४६

भगवान् ही है। यह मानना कि भगवान् केवल मधुर हैं, कोमल हैं अपनी दृष्टि को सीमित करके मानना है। *'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'* — भगवान् का सब कुछ मधुर है, यह जितना सच है उतना ही सत्य यह भी है कि *'भीषणं भीषणानाम्'* – भगवान् भयंकरों में भी भयंकर हैं। वे ही हमारे स्रष्टा हैं, वे ही हमारे पालक हैं; और वे ही हमारे संहारक हैं। स्रष्टा कोई और है, संहारक कोई और है – यह दृष्टि अधूरी दृष्टि है, यह दृष्टि गलत दृष्टि है। भगवान् को समग्र रूप में देखने-समझने की पात्रता हममें आए, वह क्षमता हमको मिले, इसकी भगवान् से ही प्रार्थना करनी चाहिए।

भगवान् ने अपना भयावह रूप हमारे सामने उद्घाटित करते हुए अपने उस रूप का कुछ परिचय दिया—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। (११/३२/१)

मैं काल हूँ! और इस समय इस लोक का नाश करने के लिए अग्रसर हूँ, लोक का संहार करने के लिए प्रवृत्त हूँ। अब इसमें काल है भगवान्। यह बात थोड़ी विस्तार से समझनी चाहिए। काल भगवान् की विभूति हैं, ऐसा वे पहले कह चुके हैं। *'कालः कलयतामहम्'* जो गिनती करने वाले हैं, उनमें मैं काल हूँ। हम – आप साधारण तौर पर काल का अर्थ समझते हैं, समय। यानी काल का एक अर्थ है समय। काल का और एक अर्थ होता है मृत्यु। ये दोनों अर्थ जुड़े हुए हैं।

हमारी जानकारी में काल अंशों में, खण्डों में बँटा हुआ है; और हम किसी गति से काल को नापते हैं। दो बड़ी गतियाँ हैं, जिनसे काल को नापा जाता है। एक सूर्य की गति है, एक चन्द्रमा की गति है। इसीलिये सौरमास होते हैं, चान्द्रमास होते हैं। इसमें सूर्य की गति को प्रधानता दी गई है। उस सूर्य की गति के अनुसार हमने सारे समय को बाँटा है। पृथ्वी सूर्य का एक पूरा चक्र, एक पूरी परिक्रमा ३६५ दिन और कुछ घंटों में करती है। हमने उसको एक वर्ष की संज्ञा दी। फिर उसको १२ महीनों में बाँटा। फिर उन महीनों को पक्षों में बाँटा। हर महीने में दो पक्ष हुए। उसमें हमने चन्द्रमा की गति को स्वीकार कर लिया, क्योंकि शुक्लपक्ष आता है, कृष्णपक्ष आता है। फिर हमने सप्ताह में बाँटा, दिन में बाँटा, घंटों में बाँटा, मिनटों में बाँटा, क्षणों में बाँटा और इसके लिए, अपने व्यवहार के लिए हमने एक घड़ी बना ली। घड़ी भी एक चाल से समय को नापती है। गति से काल को नापा जाता है, गिना जाता है। इसलिए भगवान् ने कहा *'कालः कलयतामहम्'*। खण्ड-खण्ड रूप में जब हम गिनती कर करके काल को समझते हैं, तो टुकड़े-टुकड़े रूप में वह खंड काल, गिनती करने वाला काल – वह मैं हूँ। क्या केवल काल को टुकड़ों में ही बाँटा जाता है? ऐसा नहीं है। भगवान् ने गीता

में ही कहा है *'अहमेवाक्षयो कालो'* – मैं अक्षय काल हूँ, अखंड काल हूँ। काल का खंड-खंड रूप भी होता है; और एक अखंड रूप भी होता है। गिनती अगर न हो तो काल अखण्ड है। वह पंक्ति आपलोगों ने सुनी होगी – *'कालो न यातः वयमेव याताः'* काल नहीं बीता, हम ही बीत गए। *'तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णाः'*— तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हो गए। काल नहीं बीत रहा है। काल तो ज्यों का त्यों है। हम ही लोग बीते चले जा रहे है। अपने उस बीतने की गिनती हम चाहे सूर्य की गति से, चाहे चन्द्रमा की गति से, चाहे उनकी प्रतिनिधि के रूप में बनाई हुई घड़ी की गति से करें– यह खण्ड-खण्ड काल उस अखण्ड काल को समझाने के लिए एक रूप मात्र है। यह काल क्या करता है? यह काल भगवान् की विभूति के रूप में हमारी सृष्टि करता है। आप देखिये समग्र काल अगर प्रभु है, तो अपनी समग्रता में प्रभु हमारी सृष्टि कर रहे हैं। काल में ही हमलोग जन्म लेते हैं, काल में ही हमलोग बड़े होते हैं। एक ने पूछा-भई, क्या खबर है आजकल? उसने कहा – खबर तो एक ही है। बोले—

मासर्तुदर्वी परिवर्त्तनेन सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
अस्मिन् महामोहमये कटाहे, भूतानि कालः पचतीति वार्ता।।

'इति वार्ताः'— यही एक खबर है कि हमलोग जो कल्पित करते रहते हैं वह सब गौण है। वह सब तुच्छ है। वास्तविक समाचार, वार्ता, खबर एक ही है। इति वार्ताः – क्या वार्ता, कौन सी वार्ता है? *'मासर्तु दर्वी परिवर्त्तनेन, सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन, अस्मिन् महामोहमये कटाहे भूतानि कालः पचतीति वार्ता'* संसार रूपी महान् कड़ाहा है – *अस्मिन् महामोहमय कटाहे* – कटाह माने कड़ाहा – कड़ाही नहीं कड़ाहा – बहुत बड़ा कड़ाहा जो मोहमय है, अज्ञानमय है, इस कड़ाहे के नीचे क्या है? *सूर्याग्निना* – सूरज की आग जल रही है – काल का वाचक, काल की प्रधान गति सूर्य है। उसमें ईंधन क्या है? *रात्रिदिवेन्धनेन* – रात और दिन का ईंधन है; और उसमें कलछुल है, जिससे उलटा पलटा जा रहा है। *'मासर्तुदर्वी परिवर्त्तनेन'*– महीने और ऋतुओं की कलछुल से उलटा पलटा जा रहा है। किसको? हमको, आपको। *'भूतानि कालः पचतीति'* – हम समस्त प्राणियों को यह काल पका रहा है, हम सब पक रहे हैं।

कल छोटा बच्चा पैदा हुआ, दो वर्ष का हुआ, खूब उसको ले के गोदी में खिलाते हैं। गुड़िया-गुड़िया, गोलू-गोलू बोलते हैं – बढ़ता जाता है, किशोर होता है, तरुण होता है, युवा होता है, प्रौढ़ होता है, वृद्ध होता है— फिर राम नाम सत्य। हम सब पक रहे हैं – काल के द्वारा पकाये जा रहे हैं। यही बात समझने की है, सबसे बड़ी खबर

यही है। इससे जो बेखबर है, जो यह नहीं समझता कि हमारा समय बीत रहा है, वह घाटे में रहता है। शंकराचार्य का एक अद्‌भुत श्लोक है—

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनम्
प्रत्यायान्ति गता पुनर्न दिवसाः कालो जगत भक्षकः
लक्ष्मीस्तोयतरंगभङ्‌ग चपला विद्युत्चलं जीवितम्
तस्मान् मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना।

'आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनम्' – देखो भाई देखो, आंख खोल के देखो, आयु प्रतिदिन बीत रही है, नष्ट हो रही है। *'याति क्षयं यौवनम्'* – 'जिस यौवन का बड़ा अहंकार होता है, जिस यौवन का, सौन्दर्य का बड़ा मद होता है, वह प्रतिक्षण क्षय की ओर जा रहा है— *प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसा*— जो दिन बीत गए, वे फिर लौटकर नहीं आते। *कालो जगत् भक्षकः* – यह काल सारे संसार को खा जाएगा। *'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो'। 'लक्ष्मीस्तोयतरङ्‌गभङ्‌गचपला'*— बहुत पैसा है, बहुत रुपया है, अरे भैया! यह रुपया, यह पैसा, यह पदवी, यह मंत्री पद, ये सारे सम्मान के सूचक पद उठी हुई समुद्र की तरंग के बिखर जाने के समान क्षणजीवी हैं। आपलोग समुद्र में गए हैं। समुद्र में देखा है – तरंग उठती है, तो टूट जाती हैं। *'लक्ष्मीस्तोयतरंगभङ्‌ग चपला'* – जल की तरंग के बिखर जाने के समान लक्ष्मी है, *विद्युत्चलं जीवितम्* – हमारा आपका जीवन बिजली की कौंध के समान क्षणिक है। इसका अनुभव कर लेने के बाद भगवान् से प्रार्थना है -*'तस्मान् मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना'* – हे भगवान्! हे शरणदाता! इसलिए मुझ शरणागत को आप अभी, अभी अपनी शरण में ले लीजिये। मालूम नहीं एक क्षण का विलम्ब होने के बाद यह शरीर रहेगा कि नहीं रहेगा। आपकी शरण नहीं मिली तो इस शरीर की क्या गति होगी? इस जीव की क्या गति होगी? काल का यह महत्व है। भगवान् कहते हैं कि मैं काल हूँ। याद रखो, काल एक विभूति है। भगवान् केवल काल ही नहीं हैं, भगवान् महाकाल भी हैं।

जब मिले काल जय महाकाल बोलो रे,
सतश्री अकाल सतश्री अकाल बोलो रे। ....

काल व्याल कर भच्छक जोई – बाबा ने भी रामचरितमानस में बार-बार भगवान् को काल भी कहा है। *'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता।'* (उत्तरकांड/४०/५) मैं काल रूप हूँ। जो पाप करते हैं, जो अन्याय करते हैं, जो पुण्य करते हैं, उनके शुभ और अशुभ कर्मों का फल देने वाला, मैं कालरूप हूँ। भगवान् अपने को काल भी कहते हैं। लेकिन बाबा कहते हैं वे केवल काल ही नहीं

हैं– *काल-व्याल भक्षक* – वे काल रूपी सर्प को खा लेने वाले भी हैं। *'रघुकुल केतु सेतु श्रुति रच्छक। काल करम सुभाउ गुन भक्षक।।'* (उत्तरकांड/३४/८) – हम आप पाप क्यों करते हैं? हम, आप गलत दिशा में क्यों जाते है? इसका भी एक कारण है कि काल –

कालः सम विषम करः परिभव सम्मानकारकः
कालः करोति पुरुषं दातारं याचितारं च।

कालः सम विषम करः – काल किसी को सम किसी को विषम बना देता है। किसी को सम्मान दे देता है, किसी को अपमानित कर देता है। किसी को दाता बनाता है, किसी को याचक बनाता है— काल की यह भूमिका है। बाबा ने कहा है— *'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा।।'* (उत्तरकांड/४३/५) हम आप सब चार-चार बड़े बंधनों से ग्रस्त होकर, व्याकुल होकर इधर-उधर छटपटा रहे हैं, भटक रहे हैं। माया के द्वारा प्रेरित हम इधर-उधर भटक रहे हैं — चार बातें – काल, कर्म, स्वभाव और गुण – सत्व, रज, तम – तीनों गुण, हमारा स्वभाव और जो हमने अच्छे बुरे कर्म किए हैं, उनका समन्वित रूप काल में है। इस काल, कर्म, स्वभाव, गुण से घिरे हुए मनुष्य जीव की रक्षा कहाँ है? भगवान् ही रक्षक हैं। *'रघुकुल केतु सेतु श्रुति रक्षक'* वे श्रुति के सेतु के रक्षक हैं, रघुकुल के केतु हैं, पताका के सदृश हैं श्रीराम। *'काल, कर्म सुभाव गुन भक्षक'* – काल, कर्म, स्वभाव, गुण को, उसके प्रभाव को खा लेने वाले हैं। हम काल से बचना चाहते हैं तो श्रीराम की शरण में जायें। और कोई उपाय नहीं है। कबीरदास का दोहा आपने सुना होगा –

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।।

तुलसी बाबा ने इसका जबाब दिया है—

जग चक्की प्रभु कील है, प्राणी भयो अनांव।
तुलसी जो उबरन चहौ शरन कील की जाव।।

अब तो चक्की चलती नहीं। मैं जब छोटा था तब मेरे घर में चक्की चलती थी। हमलोग भी कभी-कभी चक्की चलाते थे। चक्की में एक कील होती है। उसमें पत्थर का पाट होता है और हाथ से लेकर महिलायें चलाती थीं। उसमें एक जगह होती है -- जिसमें गेहूँ या जो चीज डालनी हो डाल दो। वह पिस जाता था। लेकिन जो गेहूँ का कण कील के पास आ जाता था वह नहीं पिसता था। आपलोगों ने इसको अगर देखा नहीं हो, तो फिर देख लीजिये। कील के पास जो गेहूँ का दाना गया, वह नहीं पिसता।

तो *'जग चक्की प्रभु कील है, प्राणी भयो अनांव'* – प्राणी अनाज की तरह है जो उसमें डाला जाता है। *'तुलसी जौं उबरन चहौ शरण कील की जाव'।*

कील की शरण में जाओगे तो काल के प्रभाव से बच जाओगे। *'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः'* – मैं संसार को नष्ट करने के लिए अग्रसर उग्र काल हूँ। इसमें वाच्यार्थ नहीं लेना है, लक्ष्यार्थ लेना है। भगवान् सारे संसार का नाश करते हैं। महाभारत में आगे उन्होंने कहा है – *'प्रत्यनीकेषु योधाः'*— दोनों सेनाओं में जो बड़े-बड़े योद्धा हैं, केवल पाँच पांडव, श्रीकृष्ण, सात्यकी, कृपाचार्य और अश्वत्थामा आठ व्यक्तियों को छोड़कर सबका नाश हो गया। तो भगवान् कह रहे हैं कि मैं सारे संसार का नाश कर दूंगा। यह केवल उन्होंने लक्ष्यार्थ में ग्रहण करने के लिये कहा है। भगवान् का अवतार क्यों होता है –

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे-युगे।। (४/८)

तो दुष्कृत कार्यों का नाश करने के लिये मैं काल के रूप में अग्रसर हूँ – *'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे'। 'समाहर्तुं'* माने सम्यक् रूप से नाश करने के लिए। तो खा जाऊँगा मैं, यानी भगवान् खा जायेंगे दोनों सेनाओं के बड़े-बड़े योद्धाओं को। आपको याद दिलाऊँ, गीता के आरम्भ में अज्ञानवश अर्जुन ने कहा –

'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह' (२/९/२)

मैं युद्ध नहीं करूँगा। इसको भगवान् याद रखते हैं और यहाँ इसका उत्तर देते हैं—

'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः' (११/३२/२)

तुम युद्ध करो-करो, न करो – न करो। दोनों सेनाओं के योद्धा कालपक्व हो चुके हैं। मैं उनको खा जाऊँगा। तुम युद्ध करोगे, तुम मारोगे, यह अहंकार तुम्हारा मिथ्या है। अब आगे वह बीज वाक्य है—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।। (११/३३)

इसलिये तुम उठो, यश प्राप्त करो। भगवान् कितने कृपालु हैं। काम खुद करते हैं और यश भक्त को दे देते हैं। भगवान् की कृपा का अनुभव करो। मारा किसने? अर्जुन ने? नहीं, अर्जुन ने नहीं मारा। मैंने उनको मार कर रखा है। लेकिन तुम यश तो प्राप्त करो। यह यश तुमको मिलेगा जब तुम निमित्त मात्र होकर काम करोगे *'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'*। क्या कह रहे हैं प्रभु, क्यों कह रहे हैं? हम सब लोग

अपने को कर्त्ता मानते हैं। छाती पर हाथ रखकर सच बोलो – कौन अपने को कर्त्ता नहीं मानता? हम सबलोग समझते हैं, करने वाले हम हैं। परन्तु हम भगवान् की योजना से करते हैं। भगवान् ने यह बताया है ; अपनी परम्परा में यह बताया गया है कि हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं; और फल भोगने में परतन्त्र हैं। *'स्वतन्त्रः कर्त्ता'*— कर्त्ता वही है जो स्वतन्त्र है। तो कर्म करने में हम अगर अपने को स्वतन्त्र मानेंगे तो हम कर्त्ता हैं, और तब जो करेगा वह फल भोगेगा, वह भोक्ता होगा। जो करता है, वही भोगता है। यह नहीं हो सकता कि *'आन करे अपराध कोउ, आन पाव फल भोग'*। दूसरे के किये का फल हमको नहीं मिलता *'कोउ ना काह सुख-दुख कर दाता। निजकृत करम भोग सब भ्राता'*। कोई दूसरे के कर्म के फल का भोग नहीं करता। अपने ही किये हुये कर्मों के फल का हम भोग करते हैं। तो हम अगर कर्त्ता हैं, तो भगवान् के हाथ के निमित्त नहीं है। *'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'* – निमित्त बनो। निमित्त और कारण इन दोनों का अन्तर समझिये। कारण वह है, जिसके द्वारा कार्य सम्भव होता है, कारण नहीं बदला जा सकता। बिना कारण के कार्य नहीं होता। निमित्त वह है, जो उपलक्षण है, जो उपकारण बनता है। जो बदला जा सकता है, जो स्वयं कारण नहीं है। छोटा उदाहरण देता हूँ – एक कलम से आप लिख रहे हैं। लेखक है कर्त्ता, लेखनी है निमित्त। लेखनी लिख रही है कि लेखक लिख रहा है— लेखक लिख रहा है, लेखनी निमित्त है। अगर लेखक चाहे तो लेखनी को बदल सकता है कि नहीं। एक कलम को छोड़ दे, दूसरी कलम ले ले। पेन से लिखे, स्याही वाली कलम से लिखे, किसी और से लिखे। निमित्त बदले जा सकते हैं, मूल कारण नहीं बदला जा सकता। निमित्त जो है यह दिखावटी कारण है, बनावटी कारण है, इसको केवल उपकारण माना गया है। यह कैसे सम्भव हुआ, हम कैसे निमित्त बनेंगे, भगवान् के हाथ में? इस बात को समझना चाहिये।

जब तक हम अपने को कर्त्ता मानेंगे, तब तक हम निमित्त नहीं बन पायेंगे। भगवान् यहाँ क्या कह रहे हैं? भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि तुम अपने कर्तृत्व के अहंकार का, स्वातन्त्र्य बोध का विसर्जन कर दो। मैं करता हूँ, मैं करनेवाला हूँ, यह जो तुम्हारी भ्रान्ति है, एक सीमा तक सही है। जिस भूमिका की जो बात है, उस भूमिका पर, वह बात सही होती है। उस भूमिका से ऊपर उठ जाने पर वह बात सही नहीं होती। एक दूसरी भूमिका की बात सही होती है। किस भूमिका पर कह रहे हैं? हमलोग अगर इस जगत् की भूमिका पर हैं, हमलोग अगर इस संसार का आचरण करते हुये, कर्म फल सिद्धान्त को मानते हुये काम कर रहे हैं, तो हम काम करने में स्वतन्त्र हैं। फल भोगने में परतन्त्र हैं, तब हम कर्त्ता हैं। लेकिन जब हम उससे ऊपर की भूमिका पर पहुँचते

हैं, ऊपर की भूमिका पर पहुँचने पर हम देखते क्या हैं कि यह कर्तृत्त्व का अहंकार तो बिल्कुल झूठा है, गलत है। हम कर्त्ता बने हैं किसी की पूर्व योजना से बने हैं। हम कर्त्ता बने हैं, किसी की महत् कल्पना के अन्तर्गत बने हैं। हम कर्त्ता बने हैं, लेकिन उसका प्रेरक कोई और है। हम प्रेरितकर्त्ता हैं, हम मूलकर्त्ता नहीं हैं। यह बात ऊँची भूमिका पर पहुँचने पर ही समझ में आती है। जब हम पूरे विश्व की रचना के भीतर का जो रहस्य है इसके मर्म को समझने की चेष्टा करते हैं और समझते हैं *'लोकवत् लीला कैवल्यं'* -- जिसकी लीला के रूप में सृष्टि की रचना हुई है, तो वह बात समझ में आती है। भगवान् ने कहा है उसको—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया।। (१८/६१)

ईश्वर समस्त जीवों के भीतर बैठा हुआ है। जैसे बच्चों के मेले में बिजली के द्वारा गोल-गोल झूले पर विभिन्न बच्चे झूल रहे हैं। कौन झुला रहा है उनको? वह झूल रहा है कि किसी के द्वारा झुलाया जा रहा है। बैठा है वह लेकिन क्या वह बिजली का यन्त्र स्वयं चला रहा है? *'यन्त्रारूढ़ानि मायया'*— हम यन्त्र पर आरूढ़ हैं बस; और उस यन्त्र पर आरूढ़ हमको कोई चला रहा है। यह उच्चतर भूमिका जब हमको समझ में आती है, तब हमको समझ में आता है कि—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत रामु गोसाईं।।

दारु माने लकड़ी, जोषित माने स्त्री, दारु जोषित माने कठपुतली। राम गोसाईं कठपुतली की तरह सबको नचा रहे हैं; लेकिन यह कठपुतली अपने को कठपुतली नहीं मानती, यह कठपुतली अपने को कर्त्ता मानती है। और जब तक वह कर्त्ता मानती रहेगी, तब तक वह भोक्ता भी रहेगी और सुख-दुख से ऊपर नहीं उठ सकेगी। वह निमित्त बन जाय – अपने कर्तृत्व का अहंकार छोड़ दे।

कैसे कोई निमित्त बनता है? निमित्त माने भगवान् के हाथ का उपकरण। निमित्त माने भगवान् के हाथ का औजार। रामकृष्ण परमहंस कहते थे – *आमि जंत्र तुमि जंत्री* – मैं तुम्हारे हाथ का यंत्र हूँ, तुम यंत्र चालक हो, मैं तुम्हारे हाथ का एक छोटा सा यंत्र हूँ, उपकरण हूँ। कैसे मनुष्य यंत्र बनता है? अच्छा भगवान् के जो उपकरण हैं, उनकी ओर विचार करें। एक बहुत प्यारा उपकरण है भगवान् की बाँसुरी। बाँसुरी कैसे बाँसुरी बन गई? सूरदास ने, कृष्ण भक्त कवियों ने एक बहुत मधुर विषय की अवतारणा की है – सब गोपिकायें बाँसुरी पर नाराज हैं – यह बाँसुरी बड़ी दुष्ट है। यह बाँसुरी बड़ी पापिन है। देखो कितनी अहंकारी है। कृष्ण की अधर शय्या पर सोई हुई

है। कृष्ण इसके चरण दबाते रहते हैं। कृष्ण का अधरामृत पान करती रहती है। कैसी अहंकारी है, हमलोगों से आँख भी नहीं मिलाती, हमलोगों का कोई ख्याल ही नहीं करती। जो हमारा प्राप्य है, भगवान् श्रीकृष्ण का अधरामृत, यह दुष्टा पीये चली जा रही है; और इधर-उधर छलकाती है। फिर वे नाराज होती हैं कि *'मुरली बदत न काहू को'* – ये किसी को बदती ही नहीं।

'बांस से उत्पत्ति जाकी कहाँ बुद्धि ठहराई।।'

अरे यह नीच कुल की है, बाँस की उत्पत्ति है ; ब्रज में आकर हमलोगों पर हुक्म चला रही है। भक्तों की कल्पना है, रसखान ने तो कह दिया कि और सारा रूप धारण करूंगी, लेकिन— *या मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी अधरा न धरौंगी।*

यह मेरी सौत है, अतः मुरली के ऊपर बहुत नाराज होती हैं। सूरदास ने मुरली से जवाब दिलवाया है। सूरदास का पद है—

मेरे दुख को ओर नहीं।
षटऋतु शीत उष्म वर्षा में ठाढ़ै पाइ रही
कसकी नाहिं नैकुहूँ काटत घामैं राखौ डारि
अगिनि सुलाक देत नहिं मुरकी बेह बनावत जारि
तुम जानति मोहि बाँस बँसुरिया अगिनि छाप दै आई
सूरस्याम तुम लेहु न ऐसे खिझति कहाँ हौ माई

ओ सखी! तुम खीजती क्यों हो? मैं भगवान् की कृपा पात्र बन सकी, मैं भगवान् के हाथ का उपकरण बन सकी। भगवान् की उस आनन्द लीला का निमित्त बन सकी, यह तुमको दिखाई पड़ता है और यह नहीं दिखाई पड़ता कि कैसे बनी? निमित्त बनने की प्रक्रिया क्या है? कैसे भगवान् ने हमको अपना निमित्त बना लिया? क्यों भगवान् अपना उपकरण बना लेंगे? किसको बनायेंगे भगवान् अपना उपकरण? अहंकारी को, घमण्डी को, भोगी को? नहीं, नहीं बनायेंगे। किसको बनायेंगे? जो बाँसुरी की तरह समर्पित है। बरसों एक पैर पर खड़ी रहती है, छहों ऋतुओं में – वर्षा में भी, गर्मी में भी – बाँस एक पैर पर खड़ा है और फिर उसको जब काटा— *कसकी नाहि नेक हूँ काटत* — जब काटा गया तो कसकी नहीं, *नैन सिकोड़े नाहिं,* धूप में जब उसको डाल दिया गया तो उसने यह नहीं कहा कि हमको छाया मिल जाय। *अग्नि सलाक देत नहीं मुरकी* – जब अग्नि की शलाका से छेद किया गया तो भी उसने अपने अंगों को सिकोड़ा नहीं। *बेह बनावत जारि*— जला-जला कर छेद किया गया। भीतर पोला, कुछ अपना नहीं – कुछ भी अपना नहीं। बाँसुरी को छेद भगवान् जो राग निकालना चाहें,

निकालें। यही राग निकालें, ऐसा आग्रह भी नहीं। यही करें, ऐसा आग्रह भी नहीं। इस तरह से जो अपने को पोला बना देगा, इस तरह अपने को अहंकार-शून्य बना देगा, इस तरह से जो समस्त दुखों-कष्टों को सह लेगा, इस तरह से जो अपने अस्तित्व को समर्पित कर देगा, वह भगवान् के हाथ का निमित्त बनेगा ; वह भगवान् के हाथ का उपकरण बनेगा।

हम और आप भगवान् के क्या उपकरण बनेंगे। क्या निमित्त बनना इतना सरल है? भगवान् आपको, हमको इसी तरह से अपना उपकरण बना लेंगे? *निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्* – हे अर्जुन! तुम निमित्त मात्र बनो। इसका मतलब यह है कि तुम कर्त्तव्य के अहंकार को, स्वाधीनता के अहंकार को छोड़ दो। सम्पूर्णतः मुझ पर निर्भर हो जाओ और फिर अनुकूल-प्रतिकूल की बात छोड़ दो। जो प्रभु की इच्छा वह मेरी इच्छा। मेरी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं। ऐसा जब हमको अनुभव हो कि हम भगवान् के द्वारा आदिष्ट होकर यह काम कर रहे हैं, तब उस काम में हमको अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगानी पड़ेगी। हमारे गुरुजी एक बात कहते थे – ये जो तुमको प्रेरणा मिल रही है, यह राम की प्रेरणा है या काम की प्रेरणा है। काम की प्रेरणा कामना होती है कि नहीं? अपनी कामनाओं की इच्छा की पूर्ति के लिये जो काम हम करते हैं, उसमें स्वसुखी भाव होता है। मैं उससे सुखी हो जाऊँ, यह भाव होता है। जब तक स्वसुखी भाव है, तब तक काम की प्रेरणा है। राम की प्रेरणा तब होगी जब तत्सुखी भाव होगा। रामजी उससे प्रसन्न हों, रामजी की कृपा है। जब तत्सुखी भाव होगा तब यह समझना चाहिये कि यह मेरी प्रेरणा नहीं यह राम की प्रेरणा है। मेरे गुरुजी कहते थे राम तुम्हारे बीच में बोलते तब हैं, जब तुम चुप हो जाते हो। जब तक तुम बक-बक करते रहोगे, रामजी चुप रहेंगे।

छूट गई भाषा अकथ्य की, अकथ कथा कहने की।
बकते-बकते भूल गये हम, महिमा चुप रहने की।।

केवल बकवास! सुबह से बड़-बड़ किये जा रहे हो, थोड़ा चुप रहा करो भाई। मौन रहना सीखो। मौन रहने का यह मतलब नहीं कि भीतर से गाली दिये जा रहे हो; और ऊपर से चुप हो। नहीं, वह भीतर वाला भी बन्द। जब हम अपने को प्रभु में लीन कर देंगे, जब हमारी वाणी निस्तब्ध हो जायेगी, जब हमारी क्रिया प्रभु को समर्पित हो जायेगी, तब प्रभु हमारे भीतर बोलेंगे। तब उनकी प्रेरणा जागेगी। तब हमको लगेगा कि उनका यह आदेश है – *'निमित्त मात्रं भव सत्यसाचिन्'* – भगवान् का आदेश है और हम केवल निमित्त के रूप में काम कर रहे हैं। यह निमित्त बनने की प्रक्रिया एक दीर्घ

प्रक्रिया है। यह अहंकार-शून्यता की प्रक्रिया है। यह सम्पूर्ण समर्पण की प्रक्रिया है, अपने सम्पूर्ण कर्मों को निषेध कर देने की प्रक्रिया है। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक हम भगवान् के उपकरण नहीं बन सकते। इस बात को समझना चाहिये। भगवान् आगे कहते हैं—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।। (११/३४)

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य सब योद्धा मेरे हाथों पहले ही मारे जा चुके हैं। उनकी मृत्यु का प्रकट कारण तू बन जा। शोक मत कर। युद्ध कर। निश्चय ही सब शत्रुओं पर तू विजय प्राप्त करेगा। इसके द्वारा भगवान् ने अर्जुन को यह आश्वासन दिया कि मेरे द्वारा मारे हुओं को ही तू मार दे, तेरी जीत होगी। इसके बाद अर्जुन ने क्या किया—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।। (११/३५)

भगवान् केशव का यह वचन सुनकर कम्पित हुए दिव्य मुकुटधारी अर्जुन ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया और फिर डरते-डरते बारम्बार प्रणाम करके गद्गद होकर कहा।

आप देखेंगे कि इसके बाद के ग्यारह श्लोकों में अर्जुन प्रार्थना कर रहा है, यह निमित्त बनने की प्रक्रिया का संकेत है। केवल निमत्त बनो – अहंकार मत करो कि तुम कर्त्ता हो, तुम्हारे बिना भी काम हो सकता है। जहाँ मुर्गा नहीं होगा, वहाँ क्या सुबह नहीं होगी? भगवान् अपना काम करने में सर्वथा स्वतन्त्र हैं, वे तुम्हारे ऊपर आश्रित नहीं हैं। इस बात को समझना चाहिये। उन्होंने कहा कि मैंने इनको पहले से मार कर रखा है। किनको मार के रखा है। देवता जिनको हरा नहीं सके, उन भीष्म को मारा है। परशुराम भी भीष्म को हरा नहीं सके। द्रोण को मारा है, कर्ण को मारा है, जयद्रथ को मारा है। ये पहले से मरे हुये हैं। तुमको केवल इन मरे हुओं को मारना है। यह अहंकार छोड़ो कि मैं मारने वाला हूँ। मारने वाले तो भगवान् हैं। अपना अहंकार छोड़कर उस पूर्व-निर्धारित भूमिका के अनुसार अपनी भूमिका का निर्वाह करो। भक्त लोग इस संसार को रंगभूमि कहते हैं। भगवान् का नाम है 'श्री रंगनाथ'। इस संसार रूपी नाटक में हम सब अभिनेता हैं। हम सब अपनी-अपनी भूमिका का सही-सही निर्वाह करें, तो भगवान् की कृपा प्राप्त होगी। क्या हम उसमें अपने को कर्त्ता मानकर अहंकार से काम करेंगे? कैसा होना चाहिये इसका एक उदाहरण और। लक्ष्मण जी

को शक्ति-बाण लगा। वे बेहोश हो गये। संजीवनी बूटी दी गई। वे जागे। जब जागे तो उनसे पूछा गया कि क्या आपको बहुत दर्द हुआ, बहुत चोट लगी? लक्ष्मणजी ने अद्‌भुत उत्तर दिया—

घाव हृदय मेरे, पीर रघुबीरे।

पाय सजीवन जागि कहत यों, प्रेम विवश बिसराय सरीरे।।

हाँ चोट तो मुझको लगी, दर्द मुझको नहीं हुआ। *'घाव हृदय मेरे, पीर रघुबीरे'* – दर्द तो राम जी को हुआ। अगर तुमको यह पूछना है कि कितना दर्द हुआ, तो रामजी से पूछो। यह है निमित्त उपकरण की भूमिका। लक्ष्मणजी रामजी के उपकरण हैं। रामजी लक्ष्मणजी से काम कराते हैं। कितनी समर्पित भूमिका लक्ष्मणजी की है, इस बात का अनुमान करना चाहिये। *'निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्'* – अब उन्होंने कह तो दिया, सुनकर भयभीत होकर वह काँप रहा है। क्योंकि उसे साक्षात् मृत्यु के दर्शन हुये। साक्षात् काल का दर्शन। उस काल में और एक बात समझिये। काल दोनों अर्थों में है। मृत्यु भी और समय भी। भगवान् अक्षयकाल हैं; इसलिये भगवान् तीनों कालों को एक साथ दिखा सकते हैं। हम केवल वर्तमान में जीते हैं; और भूत का हम संचय कर रखते हैं। उसमें भी वही बातें हमको याद रहती हैं, जिसने हमको बहुत सुख दिया या बहुत दुख दिया, और सब भूल जाते हैं। लेकिन भगवान् कालस्वरूप हैं। वे तीनों कालों को एक साथ दिखा सकते हैं – अतीत को भी, वर्तमान को भी और भविष्य को भी – और उन्होंने भविष्य दिखा दिया। जो घटना अभी घटी नहीं है – अभी भीष्म, द्रोण, जयद्रथ की मृत्यु होनी है, व्यवहार जगत् में। उन्होंने भविष्य को दिखा दिया, क्योंकि वे काल स्वरूप हैं ; वे अक्षयकाल हैं, उन्होंने दिखा दिया – अर्जुन भयभीत होकर गद्‌गद् होकर प्रणाम करता है; और उसने अपनी बात कहनी शुरू की। ये ग्यारह श्लोक हैं -- ३६ से ४६ तक। भक्तों के लिये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन है। इन ग्यारहों इन्द्रियों को समर्पित करने का संकेत है। उन्होंने ग्यारह श्लोकों में स्तुति की। यह अनायास नहीं है। हम अपनी सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों को, अपनी सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों को और अपने मन को प्रभु में अर्पित कर देंगे, तभी निमित्त बन सकेंगे। हमारा कुछ भी नहीं। सब कुछ समर्पित है और उस समर्पित स्थिति में पहुँचने के लिये अपने अभिमान को कैसे गलाया जाता है, इसको आप अर्जुन की स्तुति में देखिये। *'स्तोत्रं कस्य न तुष्टे'* – स्तोत्र किसको तुष्टि का, आनन्द का विधान नहीं करते। स्तुति सुनकर भगवान् प्रसन्न होंगे, हम यह कल्पना करते हैं। लेकिन मैं बार-बार एक बात समझाता रहा हूँ कि हमारे बड़े-से-बड़े विद्वान् शंकराचार्य की लिखी हुई स्तुति भी, भगवान् की वास्तविकता से

बहुत कम है। फिर भी भगवान् उससे रीझते हैं; जैसे अपने छोटे बच्चे गोलू की बात सुनकर हम रीझते हैं। कोई छोटा बच्चा तुतली बात जब अपने माता-पिता से कहता है, तो उसकी विद्वत्ता देखते हैं कि उसकी प्रियता को देखते हैं। उसकी तुतली वाणी से माता-पिता रीझते हैं। इसी प्रकार हमारी भी तुतली वाणी से, हमारी असमर्थ स्तुति से, भगवान् प्रसन्न होते हैं। हम तो कम बोल पाते हैं; लेकिन अगर हमारी स्तुति श्रद्धा है, समर्पण है, तो भगवान् उससे रीझेंगे। उनको लगेगा यह अटपटी वाणी में हमको याद कर रहा है, और प्रार्थना कर रहा है। अर्जुन कह रहा है—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।। (११/३६)

पहला जो शब्द है *'स्थाने'* इसको समझना चाहिए। 'स्थाने' यहाँ पर अवयव है। *'स्थाने'* का मतलब स्थान नहीं है, यहाँ पर 'स्थाने' का मतलब उचित, उपयुक्त। हाँ ऐसा ही है, यही ठीक है। हे हृषिकेश। अब यह 'हृषिकेश' सार्थक सम्बोधन है। *'हृ'* कहते हैं इन्द्रियों को, हृषिकेश मतलब इन्द्रियों के स्वामी।

हमारी दसों इन्द्रियाँ, हमारा मन तुमको समर्पित है। हे हृषिकेश, हे इन्द्रियों के स्वामी! तुम्हारा कीर्तन, तुम्हारे गुणों का प्रकृष्ट कीर्तन करने से जगत् अति प्रसन्न हो रहा है। कीर्तन माने कीर्ति का विस्तार, *'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्'।* कीर्तन भगवान् की नवधा भक्ति में से एक है। कीर्तन का मतलब हुआ, भगवान् की कीर्ति का विस्तार। कीर्ति का विस्तार कैसे करते हैं? भगवान् के नाम, भगवान् के रूप, भगवान् के गुण और भगवान् की लीला का गान करके। उससे उनकी कीर्ति का विस्तार होता है। तो आपकी कीर्ति का विस्तार करने से यह सारा संसार प्रसन्न होता है। आपके गुणों के द्वारा आपकी ओर अनुरक्त होता है। *'अनुरज्यते च'* – अनुरक्त होता है। भगवान् का गुण सुनेंगे तो हम भगवान् की तरफ जायेंगे।

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव-भीर।
त्राहि-त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुवीर।।

मैंने अपने कानों से सुना है कि तुम शरणागतवत्सल हो और इसलिये मैं तुम्हारा गुण सुनकर तुम्हारी शरण में आ गया हूँ। कीर्तन – भगवान् के गुण, भगवान् के नाम, भगवान् की लीला, भगवान् के गुणों की महिमा का गान। तुम्हारा कीर्त्तन करने से संसार प्रसन्न होता है, तुम पर अनुरक्त होता है; और राक्षस भाग जाते हैं। भगवान् का नाम अमोघ कवच है। समस्त राक्षस, समस्त दुष्टकर्मा, दुष्ट लोग तुम्हारा नाम सुनकर तुम्हारा गुण सुनकर भाग जाते हैं; और बड़े-बड़े सिद्ध तुमको नमस्कार करते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।। (११/३७)

क्यों न नमस्कार करें तुमको? नमस्कार किसको किया जाता है? हम उसी को नमस्कार करते हैं जिसको अपने से बड़ा मानते हैं। दिखावटी नमस्कार तो हम किसी को भी कर सकते हैं। दिखावटी नमस्कार की बात नहीं हो रही है। आंतरिक नमस्कार की बात हो रही है। आंतरिक नमस्कार हम उसी को करते हैं, जिसके प्रति हमारी श्रद्धा होती है। श्रद्धा गुणों के कारण होती है। श्रद्धा आचरण की शुद्धता के कारण होती है। श्रद्धा अनुभूत सत्य के कारण होती है। तो तुमको नमस्कार करते हैं, बड़े-बड़े सिद्ध महात्मा लोग। क्यों न करें? क्योंकि तुम सबसे बड़े हो। *गरीयसे*— गरीयान् गुरु से भी बड़ा गरीयान होता है। सबसे बड़े हो। श्रद्धा के भी तुम आदिकर्ता हो। सारी सृष्टि बनाई किसने? ब्रह्माने बनाई। ब्रह्मा को किसने बनाया? ब्रह्मा का आदि कर्त्ता कौन है? भगवान् हैं। भगवान् का कर्त्ता कौन है? भगवान् का कर्त्ता कोई नहीं। जो आदि कर्त्ता है और जिसका कोई कर्त्ता नहीं है, जो सारी सृष्टि का कारण है, उसका कोई कारण नहीं है, तुम वह हो। इसलिये हे अनन्त! तुम्हारा कोई अन्त नहीं है। तुम्हारी कोई सीमा नहीं है। तुम सब देवताओं के स्वामी हो, सारा संसार तुम पर आश्रित है। सारा संसार तुममें निवास करता है। तुम अक्षर हो तुम्हारा कभी विनाश नहीं हो सकता। 'तू सदा सलामत निरंकार तू सदा सलामत रहे' — गुरुनानक देव जी की बात। *'सदसत्तत्परं यत्'* – सत् माने जो है, जो व्यक्त है, जो कार्य के रूप में दिखाई पड़ता है। असत् एक अर्थ होता है, जो अव्यक्त है, जो कारण के रूप में है और कारण कार्य के भी जो परे, जो सबका कारण है, वह पर वह रूप परमात्मा का सत्, असत् और पर– व्यक्त अव्यक्त और परम रूप तीनों तुम्हारे हैं। मैं और सारी सृष्टि, सारे सिद्ध लोग तुमको नमस्कार करते हैं।

यह बार-बार नमस्कार करना भगवान् के महत्त्व के सामने अपने लघुत्व का अनुभव करना है। जब तक हमको अपने लघुत्व का अनुभव नहीं होगा, तब तक हमारा अहंकार नहीं जायेगा। अपने क्षुद्र अहंकार को छोड़कर भगवान् की व्यापक योजना के अन्तर्गत हमको अपनी भूमिका निभानी है। जैसे नाटक की दी हुई भूमिका को अभिनेता निभाता है। नाटक का जो अभिनेता है, वह क्या कुछ नया काम कर सकता है? जो दी हुई भूमिका है, वह निभाता है। हमको इस संसार रूपी नाटक में अपनी दी हुई भूमिका को निभाने की शक्ति भी भगवान् की कृपा से प्राप्त हो। इसलिये हम उनकी इस महिमा का, उस महत्त्व का अनुभव कर रहे हैं। जैसे-जैसे

हम उनके महत्त्व का अनुभव करेंगे, वैसे-वैसे हम अपने लघुत्व का, अपनी सीमा का अनुभव करेंगे।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।। (११/३८)

'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः'— तुम आदि देव हो। तुमसे पहले कोई नहीं। तुम पुरुष हो, पुरुष का मतलब स्त्री इसमें समाहित है। यहाँ पुरुष का मतलब क्या है *'नव द्वारे पुरे देहि'*। इस नवद्वार वाले पुर में जो निवास करता है। नवद्वार कौन से हैं -- दो आँख, दो कान, दो नाक, एक मुँह – सात और मलमूत्र त्याग करने के स्थान। नव द्वार तो जानते हैं और दसवाँ द्वारा है ब्रह्मरन्ध्र जिससे योगियों का निर्वाण होता है। तो *'नव द्वारे पुरे देहि'*। इस नव द्वार वाले पुर में जो रहता है वह पुरुष है। शरीर स्त्री का भी नव द्वार वाला है। हमलोग जिसको बोलचाल में पुरुष कहते हैं, उसका भी नव द्वार वाला ही है। तो यहाँ पुरुष का मतलब है जीवात्मा – स्त्री पुरुष का अंतर नहीं है।

'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः' – यह पुराण शब्द ठीक से समझना चाहिये– पुराण शब्द का मतलब पुराना नहीं। इतिहास और पुराण का मौलिक अन्तर समझिये। इतिहास का मतलब होता है – *इति ह आस* – ऐसा ही था। इतिहास जो है कालांकित है। पुराने समय का इतिहास बीत गया। पुराने समय में जो था, वही हम बताने की चेष्टा करते हैं। पुराण कालांकित नहीं है। हमारे जो पुराण हैं, वे कालांकित नहीं हैं। पुराण की सबसे अच्छी परिभाषा है *पुरा अपि नव एव*। पुराना होते हुये भी जो नया है। इतिहास जो है, वह बीत चुका है, वह कालांकित है। उस काल में उस शताब्दी में यह घटना घटी। वैसे ही घटना आज ज्यों की त्यों घटे वैसी कोई सम्भावना नहीं है। लेकिन पुराण किसे कहते हैं? पुराण कहते हैं कि जो पुराना होते हुये भी नया है। नयी-नयी भूमिकाओं पर हमको संकेत देता रहता है। इसलिये हमलोग पुरातन नहीं कहते हैं, हमलोग सनातन कहते हैं। बराबर इस बात को याद रखिये। हमलोग सनातन धर्म मानने वाले हैं। जो पुराना होगा वह तो, गलेगा, सड़ेगा। सनातन जो होगा उसमें जो पुराना पड़ता जायेगा वह छँटता जायेगा। जो सदा एकरस रहनेवाला है वह बना रहेगा। सनातन धर्म का मतलब यह नहीं होता कि आज से चार सौ साल पहले जैसा था वैसा ही हम आज करेंगे। *'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'*। पहचानो, पहचान कर जो आज करने योग्य है उसका संग्रह करो और जो कालांकित हो गया, जो इतिहासबद्ध हो गया, उसको छोड़ दो। इतिहास का अंश छूटता है।

'नूतने वै पुराणे' – मतलब एक ही साथ जो नया भी रहता है और पुराना भी रहता है। सरस्वती की वन्दना है – *नूतने वै पुराणे* – वह पुरानी भी है और नई भी। नित्य नूतन है। *'पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'* – एक ही बात को बार-बार दोहराता है। क्यों बार-बार दोहराता है – अभी कहा न *'जगन्निवास'* फिर कह रहा है *'विश्वस्य परं निधानम्'* – क्योंकि कहे बिना रहा नहीं जाता। ऐसा बड़ा अनुभव हुआ है कि उस बड़े अनुभव को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए बार-बार पुनरावृत्ति होती है, और यह पुनरावृत्ति दोष नहीं है। कविता में पुनरावृत्ति दोष है। लेकिन नाम जप में पुनरावृत्ति पुण्य है। हमलोग राम-राम एक बार कहते हैं कि असंख्य बार कहते हैं? बराबर राम-राम कहते रहते हैं कि नहीं। श्री राम जय राम जय-जय राम.... यहां पुनरावृत्ति गुण है। क्योंकि एक बड़े सत्य से हम बार-बार अपने को जोड़ते हैं। बार-बार सत्य से जोड़ते रहने पर उस सत्य का अंश हमारे जीवन पर उतरेगा। *'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्। वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम'*— अद्‌भुत बात कही है। वेत्ता का मतलब जाननेवाला – इस सारी सृष्टि को जाननेवाला कौन है? परमात्मा। और इस संसार में *वेद्य* कौन है? वेद्य माने? जानने योग्य। जानने योग्य कौन है – परमात्मा है। तुम्हीं वेत्ता हो और तुम्हीं वेद्य हो। *'आपै अमृत आप अमृत घट आपै पीवनहारी, आपै ढूँढे, आप ढुंढावै, आपै ढूँढनहारी।'* वे स्वयं अमृत हैं, स्वयं अमृत का घड़ा हैं और स्वयं अमृत को पीने वाले हैं। खुद ढूँढ रहा है, खुद ही ढुंढवाता है, खुद ही खोजता है, है वह खुद। *'वेत्तासि वेद्यं'* – क्या मतलब है इसका? इसका मतलब है तुम अभिन्न निमित्तोपादान कारण हो।

भगवान् इस सृष्टि के उपादन कारण भी हैं; और भगवान् इस सृष्टि के निमित्त कारण भी हैं। भगवान् ही इस सृष्टि के वेत्ता हैं, जाननेवाले हैं और भगवान् ही इस सृष्टि में वेद्य हैं— जानने योग्य। हम जो कुछ जानते हैं किसको जानते हैं? भगवान् को ही जानने की चेष्टा करते हैं। तो वेत्ता और वेद्य दोनों भगवान् हैं। *'परं च धाम'* वे सबसे बड़े आश्रय हैं। सबसे, बड़ा पद भगवान् का है। *'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'* हे विश्वरूप, हे अनन्तरूप! तुम सबमें व्याप्त हो। इस तत शब्द को ठीक से समझना चाहिये। आपलोगों ने बंगला में ताँती सुना होगा। तत का मतलब होता है सूत। कपड़े में क्या है सूत के सिवाय? धोती में क्या है? दिखता है धोती है, कुर्त्ता है, अंगरखा है? सूत के अलावा क्या है? जैसे कपड़े में सूत ही व्याप्त है, वैसे ही सारी सृष्टि में परमात्मा ही व्याप्त है। तत माने व्याप्त। सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा हैं। परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। *'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'*– हमको दिखता है यह संसार। लेकिन

वास्तव में संसार का यह दृश्य परमात्मा के असंख्य रूप हैं। यह समझने की बात है। जितने देवता हैं सब भगवान् हैं।

'वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च' (११/३९/१)

तुम ही वायु हो, तुम ही यम हो, तुम ही अग्नि हो, तुम ही वरुण हो, तुम ही शशांक यानि चन्द्रमा हो, तुम ही ब्रह्मा हो और तुम ही ब्रह्मा के पिता भी हो। सब कुछ तुम हो *'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति, अग्निर्यमा मातरिश्वा दधाति'*— वेद की इस ऋचा को ज्यों का त्यों दोहरा दिया गया। भगवान् एक ही हैं लेकिन विद्वान् उसको अनेक प्रकार से कहते - समझते हैं।

'नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते' (११/३९/२)

भगवान् की महिमा का अनुभव करने पर उनको नमस्कार। नमस्कार माने नमन। झुककर नमस्कार का भक्त लोग अर्थ लिखते हैं *'न मे'*। मेरा नहीं है, सबकुछ तुम्हारा है। मैं तुमको बार-बार झुक-झुककर नमन कर रहा हूँ, प्रणाम कर रहा हूँ – *'नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः'*

सहस्र लगा दिया माने हजारों बार नमस्कार कर रहा हूँ। एकबार कर दिया 'सहस्रकृत्वः' लेकिन संतोष नहीं हुआ। *'पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते'* – फिर नमस्कार बार-बार नमस्कार। आपलोगों को ईशावास्य उपनिषद् का अंतिम मन्त्र याद होगा *'भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम'*। एक बड़े सत्य का साक्षात्कार करने के बाद, पुलकित चित्त, कृतज्ञ चित्त अपनी विनम्रता को बार-बार व्यक्त करता है। इसलिये हजार-हजार बार नमस्कार।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व। (११/४०/१)

सामने से नमस्कार, पीछे से नमस्कार। दाहिने से नमस्कार, बाएँ से नमस्कार। ऐसा क्यों कह रहा है? क्योंकि सर्वत्र परमात्मा हैं। आगे भी परमात्मा, पीछे भी परमात्मा, ऊपर भी नीचे भी। तो सब तरफ से हम उसको नमस्कार कर रहे हैं। *'नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व'*— क्योंकि तुम सर्वत्र हो, इसलिये तुम सर्व ही हो।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।। (११/४०/२)

तुम अनन्त वीर्य हो। वीर्य का मतलब – क्षमता, शक्ति, उत्साह। अमित विक्रम हो – विक्रम का मतलब? शंकराचार्य ने बताया कि उत्साह। वीर्य स्वाभाविक है, और विक्रम प्रशिक्षा से प्राप्त है। कोई जो अपना विक्रम दिखाता है, यानी युद्धकाल में उत्साह के साथ पैंतरे दिखाता है, युद्ध में शत्रु का वध करता है, वह उसका विक्रम है, पराक्रम है। तो तुम अनन्त उत्साह, अनन्त विक्रम, अनन्त पौरुष हो। परमात्मा सब

कुछ है, उसमें सब समाहित है, तुम सब कुछ हो। सब कुछ परमात्मा, जिस परमात्मा में समाया हुआ है ईशावास्य उपनिषद् में हम कहते हैं —

ॐ पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

सर्व, सर्वों में समाया हुआ है, सर्व से जो निकला है, वह भी सर्व है और जो सर्व में समाया है, वह भी सर्व है। इसी प्रकार की बात है कि यह सृष्टि जिस रूप में है, वह परमात्मा ही है। यद्यपि हमको दिख रही है, अलग-अलग रूपों में।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति। (११/४१/१)

हे सखा! मैंने कभी हठपूर्वक कभी प्रमादवश तीन बातें कही हैं। मैंने तुमको कई बार हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा! कहा, कैसे कहा?

अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि (११/४१/२)

तुम्हारी इस महिमा को, तुम्हारे इस महत्त्व को बिना जाने कहा। अज्ञान से कहा। 'प्रमादात्' – कभी-कभी प्रमाद करके कहा, गलती करके कहा, थोड़ी दुष्टता करके कहा। दोस्त हैं, दोस्ती में बराबरी में कह दिया। कभी-कभी अत्यन्त प्रेम से कहा। तीन कारण बताता है अर्जुन। अजानता, प्रमादात्, प्रणयेन – मैंने तुमको कभी अज्ञान से, कभी भूल से, कभी प्रेम से कह दिया कि हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा। तुम मेरे सखा हो? शान्तं पापम्। लेकिन मैंने क्या किया? मैं जब तुमको जानता नहीं था, तो मैंने तुमको मनुष्य माना था, मैंने तुमको अपना मित्र माना था, मैंने तुमको अपना रिश्तेदार माना था। अपना रिश्तेदार, अपना मित्र मानकर कभी तुम्हारी हँसी उड़ाई थी।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।। (११/४२)

'यच्चावहासार्थ'– अवहास माने हँसी उड़ाने के लिये। *'असत्कृतोऽसि'* – कभी-कभी तुमको अपमानित कर दिया था। सत्कार-अपकार। सत्कृत – जिसको सम्मानित किया, असत्कृत– तुम्हारा कभी-कभी अपमान कर दिया था। कब? *'विहारशय्यासनभोजनेषु'* विहार करते समय, खेलते समय, सोते समय, भोजन करते समय। महाभारत में आता है कि दोनों इतने सखा थे कि कभी-कभी कृष्ण की गोद में अर्जुन अपना पाँव रख देते थे। कृष्ण की गोद में अर्जुन का पाँव? सखा मानकर ही कहा कि तुम हमारे सारथी बनो। रथी बड़ा होता है कि सारथी बड़ा होता है? रथी बड़ा होता है। अपना सखा मानकर तुमसे मैंने कहा कि सारथी बनो। तुमने सारथी बनना स्वीकार कर

लिया। कभी प्रेम से, कभी अज्ञान से, कभी धृष्टता से, भोजन करते समय, सोते समय, अकेले, सबके सामने।

'एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं' – सबों के सामने हमने कह दिया अरे जा - जा ग्वालिया। झूठ बोलता रहता है, झूठी कसमें खाता है। यह जो तुमको अपना सखा मानकर, अपना दोस्त मानकर बराबरी का व्यवहार करते हुये आचरण किया, अब मैं उसके लिये पीड़ित हूँ। एक बात समझने की है। सख्य भक्ति तब होती है, जब बराबर के स्तर पर हो। लेकिन सख्य भक्ति में अगर ज्ञान आ जाय कि मैं छोटा हूँ; और भगवान् बड़े हैं, तो सख्य भक्ति का स्वरस्य नष्ट हो जाता है। सख्य भक्ति का सबसे बड़ा उदाहरण कौन सा है? ग्वालों ने कहा —

खेलन में को काको गोसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबसहीं कत करत रिसैयाँ
जाँति-पाँति हमतें बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ
अति अधिकार जनावत यातै, अधिक तुम्हारी हैं कछु गैयाँ।
रुहठि करै तासौं को खेलै रहे बैठ जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेलोइ चाहत दाँव दियो करि नंद-दुहैया।।

खेल हो रहा था। श्रीकृष्ण हार गये, श्रीदामा जीत गये। शर्त यह बदी थी कि जो हारेगा वह घोड़ा बनेगा और जो जीतेगा उस घोड़े पर सवारी करके टिक-टिक करके दौड़ायेगा। खेल में श्रीदामा जीत गये, श्रीकृष्ण हार गये। रूठने लगे। अरे! तुमने बेइमानी की, तुम गलती से जीत गये। तुम्हें हम दाँव नहीं देंगे। 'अच्छा, तुम दाँव नहीं दोगे'? सब ग्वाल-बाल बोले, तुम क्या हम पर अपना अधिकार जमाते हो? तुम भी ग्वाले हो, हम भी ग्वाले हैं। हमसे कोई जाँत-पाँत में तुम बड़े नहीं हो। हम कोई तुम्हारे अधीन नहीं है, कमाते खाते हैं हमारे पिता भी। तुम्हारे कोई हम देनदार हैं? जो बेईमानी करेगा, उसके साथ खेलेंगे नहीं। इतना कहकर सारे साथी इधर-उधर बैठ गये। अब कन्हैया तो खेलना चाहता है। अतः दाँव देने को राजी हो गया। नन्दबाबा की दुहाई देकर, यह कहकर कि गलती हो गई, माफ कर दो, कन्हैया घोड़ा बना। श्रीदामा उस पर सवार हुआ, टिक-टिक-टिक करके कन्हैया को दौड़ा दिया।

सख्य भक्ति का वास्तविक उदाहरण यही है। जब दोनों में समानता हो। अर्जुन भी सखा हैं और उन्होंने इसीलिये 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा!' कहा ; बराबरी का व्यवहार किया। अब उनके इस विराट् रूप को, विश्व रूप को देखकर उनके महत्त्व का और अपने लघुत्व का युगपत् बोध हुआ। एक साथ बोध हुआ कि कृष्ण

कितने बड़े हैं, मैं कितना छोटा हूँ। इसलिये क्षमा माँग रहा हूँ। अर्जुन को क्षमा मांगनी पड़ रही है कन्हैया से। क्योंकि उसको ज्ञान प्राप्त हो गया।

'पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्' (११/४३/१)

तुम सारे संसार के पिता हो। इस चराचर जगत् के तुम पूज्य हो, तुम गुरुओं के भी गुरु हो। योगसूत्र में यही कहा –

'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योगसूत्र १/२६)

परमात्मा सबके गुरु हैं। कोई भी गुरु किसी काल में पैदा होता है। परमात्मा तो अकाल हैं। काल के पहले पैदा हुए अतः परमात्मा गुरुओं के भी गुरु हैं।

'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव' (११/४३/२)

तुम्हारे समान ही कोई नहीं है, तो तुमसे बड़ा कौन हो सकता है। कोई तुमसे बड़ा नहीं है। तुम्हारा प्रभाव संसार में अप्रतिम है। अप्रतिम माने – उसका कोई प्रतिमान नहीं हो। *'न तस्य प्रतिमाऽस्ति'* / वेदों में एक उक्ति आती है कि उसकी कोई प्रतिमा नहीं है। प्रतिमा का मतलब यहाँ मूर्ति से नहीं है। भगवान् की कोई प्रतिमा नहीं है, मतलब भगवान् का कोई प्रतिमान नहीं है। भगवान् के बराबर कोई नहीं है। दो बातें यहाँ कहीं है— *लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव* – अप्रतिम है। अप्रतिम मतलब – जिसका प्रतिमान, जिसका उदाहरण, जिसकी बराबरी का कोई नहीं है – 'लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव'।

'तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्' (११/४४/१)

प्रणिधाय कायं – अपने शरीर को तुम्हारे चरणों में झुका रहा हूँ। यद्यपि यह युद्धकाल है। युद्धक रथ पर बैठे साक्षात् दण्डवत् वास्तव में किया होगा कि नहीं यह बात अलग है, लेकिन व्यवहार में बोल रहे हैं कि मैं अपने शरीर को तुम्हारे चरणों में झुकाकर तुमको प्रणाम कर रहा हूँ। तुम प्रणम्य हो, स्तुति करने योग्य हो, तुम सबके स्वामी हो। तुम मुझ पर प्रसन्न होकर मुझ पर कृपा करो। तुमको अप्रसन्न करने के लिये मैंने इतने अपराध किये हैं, उन अपराधों को तुम क्षमा करो। इसलिये मैं तुमको प्रणाम करता हूँ। अब तीन बातें कहते हैं, मिलाओ उनको – जैसे पिता अपने पुत्र को, जैसे सखा अपने मित्र को, जैसे प्रिय अपनी प्रिया को क्षमा करता है—

अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि। (११/४१/२)

पुत्र अज्ञान से अपने पिता के सामने गलत काम करता है, तो पिता पुत्र के अज्ञान को क्षमा करता है। अगर मैंने कोई काम अज्ञानवश किया तो जैसे पिता अपने अज्ञानी पुत्रों को क्षमा करता है, वैसे ही मुझे क्षमा करो। मैंने अगर प्रमादवश गलत काम किया हो, तो जैसे मित्र अपने मित्र की गलती क्षमा करता है, वैसे ही तुम मुझे

क्षमा करो। मैंने अगर कोई प्रेमवश गलत व्यवहार किया हो, तो जैसे प्रियतम अपनी प्रियतमा का अपराध क्षमा करता है, वैसे ही तुम मुझे क्षमा करो। जो तीन गलतियाँ हुई हैं, उसके लिये तीन उदाहरण हैं—

'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्' (११/४४/२)

हे देव! आप मेरे अपराधों को सहने के योग्य हैं, क्षमा करने के योग्य हैं। अपराध क्षमा किया जाता है; यानी क्या किया जाता है? अपराध का दण्ड देने की शक्ति होने पर भी जब उदारतापूर्वक उस अपराध को सह लिया जाता है, तो क्षमा किया जाता है। तो *'देव सोढुम्'*— तुम सहने के योग्य हो। मैंने जो अपराध किया है, उसको क्षमा करो। *'प्रियः प्रियायार्हसि'*— यह व्याकरण की दृष्टि से बहुत शुद्ध नहीं है। षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग हो गया है; लेकिन फिर भी यह आर्ष प्रयोग है। लोकमान्य तिलक ने केवल दो ही उदाहरण माने। लेकिन अधिकांश लोगों ने तीन उदाहरण माने हैं। और इसकी संगति बैठती है; इसलिये मैं भी मानता हूँ कि तीन उदाहरण स्वीकार करने चाहिये।

'अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे' (११/४५/१)

मैंने कभी तुम्हारा इतना व्यापक रूप, विश्वरूप देखा ही नहीं। उस विराट्, विश्व रूप को देखकर मैं एक ही साथ प्रसन्न भी हुआ और भय से थर-थर काँप भी उठा। प्रसन्न हुआ, जब तुम्हारा मधुर रूप देखा, प्रसन्न हुआ; जब तुम्हारा व्यापक रूप देखा; भयभीत हुआ, जब तुम्हारा भयानक रूप देखा, जब तुम्हारा काल रूप देखा। भगवान् एक ही साथ स्रष्टा और संहर्ता, दोनों रूपों में प्रकट हुये। स्रष्टा और पालकरूप देखने से प्रसन्नता होती है; और संहर्ता रूप देखने से भय होता है। इसलिये मैं बहुत व्यथित चित्त से तुमको प्रणाम कर रहा हूँ।

'तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास' (११/४५/२)

अब इस बात को समझिये। अपनी पात्रता से बड़ी माँग की थी अर्जुन ने। अपनी पात्रता से बड़ी माँग करने का परिणाम देखिये। समस्त विश्व रूप, चतुर्भुज रूप दर्शन करने की पात्रता अर्जुन में नहीं थी। लेकिन उसने प्रेमवश आग्रह किया और प्रेम-पराधीन भगवान् ने भक्त की इच्छा पूर्ण करने के लिए विश्वरूप दिखाया। *'अहंभक्त पराधीन'*— श्रीमद्भागवत् में कहा कि मैं भक्त-पराधीन हूँ। तो भक्त की इच्छा पूर्ण करने के लिये उन्होंने विराट् रूप, विश्व रूप दिखाया, तो उस विराट् विश्व रूप को देखकर मैं थर-थर काँप रहा हूँ, मैं तुम्हारा सौम्य रूप देखना चाहता हूँ। सौम्य रूप में भी चतुर्भुज रूप देखना चाहता हूँ। उस चतुर्भुज रूप से आप मेरे सामने फिर प्रत्यक्ष हों।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।। (११/४६)

अब इस चतुर्भुज रूप को क्यों देखना चाहता था अर्जुन? भक्तों ने इसमें कई कल्पनायें की हैं। एक कल्पना यह की है कि भगवान् का चतुर्भुज रूप अर्जुन का इष्ट रूप था। इष्ट देव रूप। श्रीकृष्ण को तो वह अपना सखा मानता था। श्रीकृष्ण तो हमारे सम्बन्धी हैं, मित्र हैं। उनको तो मनुष्य मानता था। भगवान् का जो रूप उसको इष्ट था वह चतुर्भुज रूप है; इसलिये वह यहाँ कह रहा है कि इस विराट् विश्व रूप के बाद अब तुम मेरे इष्ट रूप में, चतुर्भुज रूप में, सौम्य रूप में मुझे अपना फिर से दर्शन दो। मैं चाहता हूँ कि तुम सिर पर मुकुट धारण करके, हाथ में गदा लेके, चक्र लेकर—

सशंखचक्रं सकिरीट कुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षस्थल कौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्।।

भगवान् के चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म। भगवान् का चतुर्भुज रूप, इष्ट रूप है अर्जुन का। इसलिये अपने इष्टदेव का वह रूप देखना चाहता है; और उसने उस रूप को दिखाने का फिर से अनुरोध किया, प्रार्थना की।

अब इन ग्यारह श्लोकों में मूल बात क्या है? इन ग्यारह श्लोकों में मूल बात यह है कि अर्जुन का अहंकार नष्ट हुआ है, अर्जुन का अभिमान गला है। अर्जुन की अपनी इच्छायें, अर्जुन की अपनी कामनायें दूर हुई हैं। उसने यह अनुभव किया है कि परमात्मा ही सब कुछ कराते हैं। करानेवाले परमात्मा, करनेवाले परमात्मा। तो परमात्मा के हाथ का मैं खिलौना हूँ। मैं उनकी इच्छा के अनुसार काम करूँ, मैं सचमुच निमित्त बन सकूँ। निमित्त बनने की यह प्रक्रिया समझ में आनी चाहिये। निमित्त हम तब बनेंगे जब हम अपने अहंकार का विसर्जन कर देंगे। निमित्त बनने का मतलब निकम्मा बनना नहीं है। निमित्त बनने का मतलब है, अहंकार छोड़कर, अपने पौरुष का चरम प्रदर्शन करना। निमित्त बनने का मतलब हाथ पे हाथ धर कर बैठ जाना नहीं, निरुद्योगी हो जाना नहीं। निमित्त बनने का मतलब है कि हम प्रभु के द्वारा प्रेरित होकर काम करें। प्रभु ने हमको जो शक्ति दी है, प्रभु ने हमको जो क्षमता दी है, अपनी सम्पूर्ण क्षमता का प्रयोग करते हुये, हम यह मानते रहें कि हम प्रभु के निर्देश के अनुसार कार्य कर रहे हैं। मैं स्वतन्त्र कर्ता नहीं हूँ, मैं प्रभु के हाथ का प्रेरित कर्त्ता हूँ। प्रभु के हाथ का मैं एक उपकरण हूँ, प्रभु के हाथ का एक खिलौना हूँ, उनकी इच्छा के अनुसार काम कर रहा हूँ – निमित्त बनने का मतलब यह है।

समस्त पौरुष, समस्त विद्या, समस्त क्षमता, लेकिन प्रभु के द्वारा नियोजित

रूप में। अहंकार का त्याग करना, निरहंकार होकर, समर्पित भाव से भगवान् की इच्छा के अनुसार काम करना, भगवान् की इच्छा को स्वीकार कर लेना, अपनी इच्छा के जितना भी प्रतिकूल क्यों न हो, भगवान् की इच्छा को स्वीकार करके, काम करते रहना यह निमित्त बनना है।

कई बार भगवान् हमारी परीक्षा लेते हैं। कागभुशुण्डि ने कहा है कि मुनि की बुद्धि को भ्रांत करके *'लीन्ही प्रेम-परिच्छा मोरी'* – प्रभु मेरे प्रेम की परीक्षा ले रहे हैं। परीक्षा लेते समय प्रतिकूल स्थिति आयेगी, विकराल स्थिति आयेगी। उस विकराल, प्रतिकूल स्थिति में भी बिना भयभीत हुये, बिना हार माने, बिना डरे, भगवान् के द्वारा जो प्रेरित कर्म हैं, वह करता रहूँगा, सारी दुनिया विरोध क्यों न करे। लेकिन उसमें अहंकार नहीं होना चाहिये। वह काम की प्रेरणा से नहीं होना चाहिये, वह राम की प्रेरणा से होना चाहिये। राम की प्रेरणा से हम जब निमित्त बनेंगे, तो हममें अपूर्व शक्ति का आविर्भाव होगा। भगवान् की शक्ति हममें उतर आयेगी। भगवान् की शक्ति हम पर, आप पर उतरे, यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी शक्ति का अहंकार छोड़ दें। जब तक धृतराष्ट्र की सभा में द्रौपदी अपनी शक्ति का अहंकार करके अपने वस्त्रों को रोकती रही तब तक भगवान् की शक्ति नहीं उतरी। अपनी शक्ति का जब हम समापन करते हैं, अपनी शक्ति जब हम भगवान् को समर्पित कर देते हैं और दोनों हाथ उठा देते हैं कि भगवान् अब तुम्हारी इच्छा ; तब भगवान् की शक्ति उतरती है। भगवान् की शक्ति हममें-आपमें उतरे, हम निमित्त के रूप में भगवान् की इच्छा को पूर्ण करें। •

प्रवचन-३४*

भगवत्प्राप्ति के साधन

भगवान् की कृपा है कि यह क्रम चल रहा है। आज के प्रवचन में एक विशेष बात है। इसके आखिरी श्लोक को शंकराचार्य ने गीता का सर्वार्थ सार कहा है; और इसमें बताया गया है कि किन साधनों के द्वारा हम-आप भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् की इतनी बड़ी कृपा हम पर बरस रही है, हम एकाग्रचित्त होकर इसको समझने की चेष्टा करें।

अर्जुन ने भगवान् के विराट् रूप के दर्शन किये, और उस विराट् रूप के दर्शन से वह भयभीत हो गया, व्यथित हो गया, डर गया। उसने कहा कि भगवान् आप मुझे अपने पूर्वरूप का दर्शन कराइये। पहले उसने कहा अपना चतुर्भुज रूप दर्शाइए। फिर अपना सौम्य रूप दिखाइए। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं।

एक कि भगवान् तो कृपापूर्वक हमारी प्रार्थना स्वीकार करें, लेकिन हमको भी अपनी पात्रता का ध्यान रखना चाहिए। पात्रता से अधिक मांगने का परिणाम क्या हो सकता है, उसका संकेत अर्जुन के इस भय में है ; अर्जुन की इस विमूढ़ता में है। भगवान् ने कहा कि मैंने तुम्हें डराने के लिए तो अपना विराट् रूप दिखाया नहीं। मैंने तो प्रसन्न होकर अपने आत्मयोग से तुमको यह परम रूप दिखाया है। प्रसन्न होने का मतलब – हिन्दी में – खुश होकर। संस्कृत में – *'प्रसादस्तु प्रसन्नता'*। *प्रसाद* – इसमें एकतरफ निर्मलता आती है, एक तरफ अनुग्रह आता है। तो भगवान् ने प्रसन्न होकर दर्शन कराया, मतलब भगवान् ने अनुग्रहपूर्वक दर्शन कराया। इस बात को मैं आगे और स्पष्ट करूँगा कि 'अनुग्रहपूर्वक दर्शन कराया' इसका क्या अभिप्राय है। इसको इसी के बाद वाले श्लोक के संदर्भ में और स्पष्ट किया है। चूँकि मैंने अनुग्रहपूर्वक तुमको यह दर्शन कराया था, तो अपने आत्मयोग से, दूसरे के सहयोग के बिना, अपने ऐश्वर्य योग से, अपनी दिव्य शक्ति से मैंने अपने उस रूप का, जो अत्यन्त तेजोमय है, जो विश्वव्यापी है, जो अनन्त है, का दर्शन कराया। अनन्त का मतलब – जो आदि, मध्य

* ग्यारहवां अध्याय (विश्वरूप दर्शन) : श्लोक संख्या ४७ से ५५

और अन्त तीनों से रहित है – अनन्त यहाँ केवल उपलक्षण है। जो आदि, मध्य और अन्त तीनों से रहित है; और जो सृष्टि का आद्य रूप है। सृष्टि की रचना के पहले भगवान् के मन में जो कल्पना आती है, उस कल्पना के अनुसार उनका वह विश्व व्याप्त रूप, उनका वह विराट् रूप बनता है, तो उस आद्य रूप को मैंने तुम्हें दिखाया। तुम्हारे पहले ऐसा रूप किसी ने नहीं देखा। अब बहुत से लोग कह सकते हैं कि श्रीरामजी ने कौशल्या माता को दिखाया था। श्रीमद्भागवत में आता है कि यशोदा मैया को दिखाया था। महाभारत में आता है कि दुर्योधन की सभा में उन्होंने अपना विराट् रूप दिखाया था। विराट् रूप तो दिखाया था, लेकिन ऐसा विराट् रूप नहीं दिखाया था। उसके दो अर्थ हैं।

एक कि उनमें से किसी को यह प्रतीति नहीं हुई थी कि यह विराट् रूप भगवान् का है, और कृष्ण ही वे विश्वरूप परमात्मा हैं। न यह प्रतीति कौशल्या को हुई, न यशोदा को हुई, न दुर्योधन आदि को हुई। यह एक बात। भगवान् का विराट् रूप, विश्व रूप देखकर अर्जुन को यह प्रतीति हुई कि मैं केवल इनको अपना सखा मानता था, सखा मानकर मैंने इनसे उपहास किया और फिर उसने इसकी क्षमायाचना की। मैंने अपने पिछले प्रवचन में इसको स्पष्ट किया था कि अपने उस अपूर्व बोध को, श्रीकृष्ण को मानव मानकर, सखा मानकर, उनके साथ अज्ञान या प्रमाद के कारण या परिहास के कारण, उनके साथ जो असंगत व्यवहार उसने किया था, उसकी क्षमा मांगता है। यानी विश्व रूप दर्शन के बाद अर्जुन को प्रतीति हो गई कि यह रूप भगवान् का है और श्रीकृष्ण परमात्मा–ब्रह्म–विश्वरूप हैं। ऐसी प्रतीति इसके पहले किसीको नहीं हुई थी।

दूसरी बात – इस रूप में अतीत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों का जो युगपत् चित्रण है, ऐसा भी पहले किसी में नहीं है। यह पहला रूप था, जिसमें दोनों सेनायें काल के कराल-गालमें जा रही हैं, यह भी प्रत्यक्ष होता है। भीष्म, द्रोण ये सब मरने वाले हैं, मैंने उनको मार दिया है, तुम केवल निमित्त मात्र बनो। यह जो अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों की एकरूपता के साथ विराट् रूप का दर्शन, यह अर्जुन के पहले किसी ने नहीं किया था। इसलिए यह कहना बिल्कुल संगत है कि तुम्हारे पहले ऐसा दर्शन किसीने नहीं किया था। ऐसा दर्शन न तो वेदाध्ययन से हो सकता है, न यज्ञ के द्वारा हो सकता है, न स्वाध्याय के कारण हो सकता है, न दान के कारण हो सकता है, न क्रियाओं के कारण हो सकता है, न तपस्या के कारण हो सकता है। ये जो सारी बातें हैं, इन बातों से यह संकेत है कि मेरा यह दर्शन, क्रिया- साध्य नहीं है, कृपा-साध्य है; और इस कृपा-साध्यता की ओर संकेत है कि —

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।। (११/४७)

मैंने प्रसाद के रूप में, अनुग्रह के रूप में, तुम्हें अपना दर्शन कराया था, जो दर्शन किसी भी क्रिया के द्वारा संभव नहीं है। क्यों संभव नहीं है? क्योंकि ये समस्त क्रियायें सीमित उद्देश्य के फल से की जाती हैं।

न वेद यज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।। (११/४८)

वेद का अध्ययन – वेद के ज्ञानके सम्बन्ध में है; यज्ञ – किसी देवता की प्रसन्नता के लिए है; स्वाध्याय – अपनी जानकारी बढ़ाने के लिए है; दान – परलोक में या परजन्म में श्रेष्ठ सिद्धि पाने के लिए है। सब क्रियाओं के छोटे-छोटे लक्ष्य हैं। उन लक्ष्यों की पूर्ति उन क्रियाओं से होती है। मेरे विराट् रूप के दर्शन के लिए कोई भी क्रिया समर्थ नहीं है, इसलिए यह क्रियासाध्य दर्शन नहीं है। यह केवल कृपासाध्य दर्शन है – इस बात को उन्होंने रेखांकित किया। बड़े से बड़ा तप चान्द्रायण तप भी क्यों न करो, प्रत्येक तप का सीमित फल है। भगवान् के इस विराट् रूप के दर्शन का पात्र कोई अपनी क्रिया के द्वारा बन जाये, ऐसा नहीं है, इसलिए हे कुरुप्रवीर – फिर सार्थक शब्द में – *'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'*। आत्मा बलहीन के द्वारा प्राप्त नहीं होती, तुम प्रवीर हो, कुरुओं में श्रेष्ठ हो – तुमको ऐसा दर्शन हुआ है क्योंकि तुम्हारे भीतर भक्ति थी; और मैंने तुम्हारे ऊपर अनुग्रह किया। चूंकि मैंने तुमको अनुग्रहपूर्वक दर्शन कराया है, इसलिए तुमको डरना नहीं चाहिए; तुमको पीड़ा नहीं होनी चाहिए। तुम अपने होशो-हवास क्यों खो बैठे हो? अर्जुन का भय दूर करने हेतु भगवान् अगले श्लोक में उसको देव रूप देखने की आज्ञा देते हैं :

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।। (११/४९)

मेरे घोर रूप का दर्शन करके भी तुमको संयत रहना चाहिए, अपनी स्थिति में अवस्थित रहना चाहिए। तुम नहीं रह पाये – अच्छा – अब मत डरो। अब प्रसन्न हो जाओ। तुमने जैसी प्रार्थना की है, उसी प्रार्थना के अनुरूप तुम मेरे चतुर्भुज रूप का दर्शन फिर करो।

देखिए – प्रार्थना उन्होंने की थी *'चतुर्भुजेन'* – और यहाँ पर फिर आता है *'सौम्य वपुः'* और फिर आता है – *'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं'* तो इसका मतलब क्या हुआ? उसने चतुर्भुज रूप के दर्शन कराने की प्रार्थना की थी। इसका मतलब यह है कि अर्जुन के

इष्टदेव थे चतुर्भुज नारायण; और द्विभुज रूप में कृष्ण उनके सखा थे। तो अपने इष्टदेव का दर्शन करना भी उसका काम्य था और चूँकि वह आश्वस्त होना चाहता है, इसलिए फिर *'सौम्य वपुः'* – अपने सखा के रूप का भी दर्शन करना चाहता है। भगवान् उसकी इस इच्छा को समझते हैं; और इस इच्छाको समझकर उसकी दोनों वांछाओं की पूर्ति करते है। संजय इस बात का संकेत देते हैं :

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।। (११/५०)

'तथोक्त्वा स्वकं रूपं' – जैसा उसने कहा था – उसके अनुरूप भगवान् ने अपने रूप का, चतुर्भुज रूप का उसको दर्शन कराया। कुछ लोग कहते हैं कि कृष्ण चतुर्भुज रूप में ही प्रकट होते हैं – अगर रामचरितमानस देखें तो रामजी चतुर्भुज रूप में प्रकट होते हैं – लेकिन उस चतुर्भुज रूप के प्राकट्य के बाद फिर वे द्विभुज हो गये। श्रीमद्भागवत में तो यह आया है कि वसुदेव जी की प्रार्थना पर उन्होंने ऐसा किया, नहीं तो कैसे प्रतीत हो जाता। अपनी लीला के कारण भी उन्होंने अपना रूप परिवर्तन किया। तो चतुर्भुज और द्विभुज दोनों उनके रूप हैं। अर्जुन की प्रार्थना के अनुसार उन्होंने पहले चतुर्भुज रूप दिखाया और फिर उसको आश्वस्त किया। भगवान् अपने भक्त को आश्वस्त करते हैं।

'आश्वासन' शब्दकी ओर ध्यान जाना चाहिये – 'आ' – अर्थात् चारों तरफ से। जब हम घबराते हैं तो क्या होता है – हम डर जाते हैं। डर जाते हैं तो हमारी श्वास लेने की प्रक्रिया विकृत हो जाती है, हम जल्दी-जल्दी श्वास लेने लगते हैं। 'आश्वासन' का मतलब है – चारों तरफ से श्वास लेने की क्रिया सहज हो जाये। श्वसन अर्थात् श्वास लेना। हम भयभीत होकर, घबराकर जिस तरह से श्वास लेते हैं – जल्दी-जल्दी – वैसा न करके – सहज रूप से, स्थिर रूपसे – प्रसन्न होकर, हम जब श्वास लेने लगें तो हम भयभीत नहीं हैं, हम डरे नहीं हैं। अर्जुन माधुर्यमय रूप के दर्शनों के द्वारा आश्वस्त होना चाहता है। पहला रूप था घोर रूप – भयंकर रूप। उनकी दाढ़ों में भीष्म, द्रोण के सिर चबाये जा रहे हैं, ऐसा विकराल रूप। उस प्रदीप्त विकराल रूप की तुलना में अब मधुर रूप, सौम्य रूप, चन्द्रमा की तरह शीतल रूप भगवान् ने दिखाया, जिससे कि वह आश्वस्त हो, उसका भय दूर हो। *'सौम्यवपुर्महात्मा'* – भगवान् ने अपना सौम्यवपु दिखाया – सोम का मतलब चन्द्रमा। सौम्य – मतलब जिसमें चन्द्रमा का गुण हो; शान्ति हो, प्रीति हो, शीतलता हो, मधुरता हो। तो भगवान् ने अपना सौम्य रूप दिखाया तब अर्जुन बोला–

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।। (११/५१)

आपका यह मानुष रूप देखकर – जो बड़ा सौम्य है, जो बड़ा प्रीतिकर है – जो मैं सखा के रूप में, अबतक देखता आया था, मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ। इस रूप को देखते हुए प्रतीत होता है कि सखा का रूप तो है, लेकिन ये सखा ही नहीं हैं – ये तो परमात्मा हैं। इन दोनों को देखते हुए, समझते हुए, मेरी जो वृत्ति थी – वह घबरा गई थी – पर अब सचेत हो गई है, मैं प्रकृतिस्थ हो गया हूँ, यथास्थित हो गया हूँ; और मेरा भय दूर हो गया है। अब इस बात पर ध्यान दीजिये कि अगर विराट् रूप दर्शन करना ही चरम सत्य होता – विराट् रूप दर्शन करना ही, अगर चरम फल होता – तो गीता यहाँ पूर्ण हो जाती।

विराट् रूप का दर्शन करना ही चरमफल नहीं है – महान् फल तो है; लेकिन चरम फल नहीं है। विराट् रूप के दर्शन के द्वारा विश्व में सबकुछ भगवन्मय है, यह तो प्रतीत हुआ – लेकिन वह भगवत्ता मुझमें भी है – मैं वही हूँ – मैं इनसे एकमेव हूँ – यह आत्मज्ञान, चरम अनुभव, आत्मानुभव यह होना अभी बाकी है। यह अनुभव बिल्कुल अन्तिम होता है। यह शरणागति है। कुछ लोगों के लिए आत्मज्ञान के द्वारा यह अनुभव कि मैं ही वह हूँ जो परमात्मा है, या भक्तों के लिए – कि अपने को बिल्कुल निःसाधन समझकर भगवान् की शरण में चला जाना – यह बाकी है। इसलिए विश्व रूप दर्शन भी चरम फल नहीं है। वह गीता का एक महान् फल है। इस चरम फल की ओर क्रमशः अर्जुन को उन्मुख कर रहे हैं। भगवान् कहते हैं :

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।। (११/५२)

भगवान् ने कहा कि मेरा यह जो रूप है – यह सुदुर्दर्श है – बड़ी मुश्किल से दिखाई देता है। 'दुर्दर्श' में 'सु' लगा कर उसको और कठिन बनाया है। माने केवल दुर्दर्श ही नहीं, बहुत ही दुर्दर्श। कौन-कौन से रूप दुर्दर्श हैं – सभी रूप दुर्दर्श हैं। भगवान् का विश्व रूप सुदुर्दर्श है। भगवान् का चतुर्भुज रूप भी सुदुर्दर्श है, भगवान् का मानुष रूप भी सुदुर्दर्श है। याद रखिए कि देवता भगवान् के विश्व रूप की कामना नहीं करते हैं – उनको विश्व रूप दर्शन की लालसा ही नहीं है। दशम अध्याय में जब भगवान् ने विभूति योग का उपदेश देते हुए कहा है –

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। (१०/४१)

इस संसार में जो कुछ भी श्रेष्ठ है – जहाँ-जहाँ तुमको जो कुछ भी अपूर्वता, कुछ भी भव्यता-दिव्यता प्रतीत होती है, वह मेरे ही अंश से संभव है ; इसको मानकर सारी सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ रूपों में मेरी विभूति का अनुभव करो; और ऐसा चिन्तन करो। तब विश्वव्यापी विभूतियों का अलग-अलग दर्शन करने के स्थान पर एकाग्र ही दर्शन हो जाएगा – समग्र रूप में विश्व रूप में दर्शन करने की लालसा अर्जुन को ही थी। यह विभूति चिन्तन की बात भगवान् ने देवताओं को तो सुनाई ही नहीं। भगवान् का विश्व रूप, चतुर्भुज रूप, द्विभुज रूप का दर्शन करना देवताओं के लिए, हमारे, आपके लिए, सबके लिए कठिन है।

यह सुदुर्दर्श रूप कुछ टीकाकारों ने केवल विश्व रूप के लिए लगाया है – यह भी सच है। लेकिन कुछ टीकाकारों ने उनकी सुदुर्दर्शता को उनके तीनों रूपों पर घटाया है। मैं इसको ज्यादा संगत मानता हूँ। भगवान् के ये तीनों रूप – चाहे विश्व रूप हो, चाहे चतुर्भुज रूप हो, चाहे द्विभुज रूप हो – ये तीनों रूप बड़े दुर्लभ हैं। और देवता भी इन रूपों की आकांक्षा करते रहते हैं। पर दर्शन नहीं कर पाते, क्योंकि देवता तो भोग परायण हैं। *'आए देव सदा स्वारथी'* तो ये देवता स्वार्थी हैं, भोग परायण हैं। भारतीय चिन्तनमें स्वर्ग भोग के लिए है – भोगायतन है। भोग के लिए स्वर्ग – यह हमारे लिए बड़ी घटिया बात है।

इसलिए देवताओं से मनुष्य जन्म कहीं अच्छा है। क्योंकि देवता केवल भोगयोनि हैं। और मनुष्य योनि अकेली योनि है, जो कर्मयोनि और भोगयोनि – दोनों है। इसमें हम अपनी मुक्ति तक प्राप्त कर सकते हैं, मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं, भगवद् साक्षात्कार कर सकते हैं – इसलिए देवताओं से भी मनुष्य श्रेष्ठ है। भगवान् की बड़ी कृपा है कि हम – आप मनुष्य के रूप में पैदा हुए।

तिरपनवें श्लोक में वे उस बात को फिर दोहराते हैं, जो अड़तालीसवें श्लोक में उन्होंने कही थी –

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।। (११/५३)

यहां चार बार नकारा है। यानी निषेध की चरमता दिखाई गई है, क्रिया-साध्यता की दुर्बलता दिखाई गई है। न वेद से, न तपस्या से, न दान से, न यज्ञ से (इज्या माने 'यज्ञ') किसी भी क्रिया-साधन से, मुझको देखा जा सकता है, क्योंकि ये सारे के सारे कर्म भी निष्काम नहीं हैं, इन तमाम कर्मों के पीछे सकामता है। तो किसी भी सकाम कर्म के द्वारा भगवद् प्राप्ति – भगवान् का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

जैसा दर्शन तुमने किया – विश्व रूप दर्शन किया, चतुर्भुज दर्शन किया, द्विभुज दर्शन किया – ऐसी दर्शन करने की पात्रता किसी में नहीं है, किसी क्रिया में नहीं है। इस प्रकार भगवान् क्रियासाध्यता की दुर्बलता को रेखांकित कर देते हैं। इसकी पुनरावृत्ति है और इसके निषेध के लिए चार बार न का प्रयोग है। यह बात बताती है कि भगवद् प्राप्ति किसी भी सकाम क्रिया के द्वारा संभव नहीं है।

प्रत्येक सकाम क्रिया का सीमित फल होगा और यह सीमित फल तुमको प्राप्त होगा। भगवान् तो असीम हैं – सीमित फल के लाभ की इच्छा से की गई क्रिया के द्वारा असीम प्रभु का साक्षात्कार नहीं हो सकता। फिर किससे हो सकता है? आप देखिए कि चौवनवें श्लोक में अनन्य भक्ति की बात कही है; और पचपनवें श्लोक में इस अनन्य भक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। चौवनवां और पचपनवां श्लोक परस्पर सम्बद्ध है।

अर्जुन की या हर किसीकी शंका होगी कि अगर आप वेदाध्ययन के द्वारा, तपस्या के द्वारा, दान के द्वारा, यज्ञ के द्वारा प्राप्त नहीं हैं – तो आपकी प्राप्ति, आपकी उपलब्धि हमें कैसे हो, इसका मार्ग बताइये। मैं इन तरीकों से प्राप्त नहीं हो सकता, यह काफी नहीं है। आपने यह कहकर हमारा अहंकार तो दूर कर दिया, लेकिन अहंकार के निरसन के बाद हमको मार्ग बताइए, हमको साधन बताइए, हमको तरीका बताइए कि हम कैसे आपसे मिलें, कैसे आपको प्राप्त कर सकें। चौवनवें श्लोक में भगवान् कहते हैं –

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।। (११/५४)

हे परंतप अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही इस प्रकार मुझको जानना, मुझको देखना और मुझमें प्रवेश कर जाना – संभव है। *परंतप* यानी शत्रुओं को ताप देने वाला। शत्रु केवल बाहर ही नहीं होते। शत्रु बाहर हैं, यह तो सबको मालूम है, लेकिन बाहरी शत्रु हमारा क्या बिगाड़ लेगा? वे जो षड्-रिपु हमारे भीतर हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर – ये ज्यादा भयानक हैं। अर्जुन न केवल बाहरी शत्रुओं को ताप देने में समर्थ है, भीतरी शत्रुओं को भी परास्त करने में सक्षम है। इसलिए वे कहते हैं कि हे परंतप! केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही तुम मुझे देख सकते हो। 'तत्त्व' – शब्द का प्रयोग तीनों प्रकार से है – तत्त्वतः मुझको जान सकते हो, तत्त्वतः मेरा दर्शन कर सकते हो। श्री कृष्णावतार में – रामावतार में कितने लोगों ने रामजी का दर्शन नहीं किया – बहुतों ने किया। क्या सब समझते थे कि वे परमात्मा

हैं? आँखों के सामने रामजी का विग्रह, कृष्णजी का विग्रह रहने पर भी कितने लोग समझ पाये कि तत्त्वतः वे परमात्मा हैं। नहीं समझ पाये। इसलिए तत्त्वतः जानना, तत्त्वतः देखना और फिर मुझमें प्रवेश कर जाना, मुझसे एकमेक हो जाना, यह केवल अनन्य भक्ति के द्वारा संभव है। अनन्य भक्ति क्या है – अनन्य भक्ति का लक्षण क्या है? यह अगले श्लोक में बताया है –

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (११/५५)

अनन्य भक्ति के कुछ विधान समझ लीजिये। नारदीय भक्तिसूत्र में अनन्य भक्ति के बारे में कहा गया है – *'अन्याश्रयाणांत्यागोऽनन्यता'*। यानी जब दूसरे समस्त आश्रयों का त्याग हो जाये, उसके अनुकूल आचरण हो, और उसके विरोधमें जो कुछ है, उससे सम्बन्ध छिन्न हो जाये। तदनुकूलता हो – और तद् विरोधियों के प्रति उदासीनता हो। हम कैसे उसके अनुकूल बनें। देखिए दो पक्ष हैं – कैसे प्रभु से जुड़ें, और दूसरों से सम्बन्ध विच्छेद हो। प्रभु से जुड़ जायें? कैसे जुड़ जायें। प्रभुको छोड़कर अन्य किसी का ध्यान तक न करें – प्रभुको छोड़कर अन्य किसी की अनुभूति तक न हो – यह कैसे संभव है?

इस बातको पचपनवें श्लोक में समझाया गया है और यह अद्भुत श्लोक है। यह कंठस्थ कर लेने लायक श्लोक है। यह अपने जीवन में उतारने लायक श्लोक है। तीन बातें कही गई हैं, परमात्मा के लिए और दो बातें कही गई हैं, संसार के लिए। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण का संसार दोनों सामने हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम अगर अनन्य भक्ति चाहते हो, अगर तुम अनन्य भक्त होना चाहते हो तो मेरे प्रति तीन प्रकार से व्यवहार करो और संसार के प्रति दो प्रकारसे व्यवहार करो। पाँच बातें इसमें कही गई हैं।

'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः' ये तीन बातें तो प्रभुके लिये समर्पित हैं। इन तीनों का सम्बन्ध प्रभु से है। *'सङ्गवर्जितः, निर्वैरः सर्वभूतेषु'* – इन दोनों का सम्बन्ध है संसार से। संसार से कैसा व्यवहार करें, संसार में कैसे रहें। संसार में जीने का तरीका क्या होना चाहिए, ये दो बातें। अब इनको विस्तार से समझने की चेष्टा करें।

अगर ये पाँचों बातें होंगी तो डंके की चोट प्रभु कहते हैं कि जो ये तीन प्रकार के व्यवहार मेरे प्रति और दो प्रकार के व्यवहार संसार के प्रति करता है *'स मामेति पांडव'* – वह मुझको प्राप्त ही कर लेता है। *'ऐति'* – शब्द का अर्थ और विस्तार से बताऊँगा – लेकिन मूल अर्थ – कि वह मुझको प्राप्त कर लेता है।

आजके प्रवचन का शीर्षक है *'भगवत्प्राप्ति के साधन'*। भगवान् को अगर हम प्राप्त करना चाहते हैं – तो हमें अपनी क्षमता से उनको प्राप्त कर लेने का अहंकार तो छोड़ ही देना चाहिए। भक्त ऐसा अहंकार तो करता ही नहीं। ऐसी अनन्य भक्ति हम में विकसित हो। अनन्यभक्ति प्रभु की कृपा से हमको प्राप्त हो। अनन्यभक्ति, अविरल भक्ति अपनी चेष्टा से नहीं होती, बाबा ने बार-बार यह बात कही है –

अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव।।
भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुख धाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम।।

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, ८४)

अद्‌भुत बात है। बड़े-बड़े वेद पुराण जिसका गान करते हैं। तुम्हारी अविरल अनन्य भक्ति को, हमारे आप जैसे साधारण जन नहीं, बड़े बड़े योगीश्वर, बड़े बड़े मुनीश्वर खोजते हैं; और वे भी स्वयं अपने बलबूते पर प्राप्त नहीं करते। प्रभु की कृपा से, प्रभु के अनुग्रह से कोई-कोई उसको प्राप्त करता है। अब भगवान् से यह प्रार्थना है – *'भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुख धाम'* – तुम भक्तों की इच्छा पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष हो। *'प्रनत हित'* – जो तुम्हारी शरण में आ जाता है, तुम्हारे सामने झुक जाता है – तुम उसका मंगल करते हो। *'कृपासिंधु'* – तुम कृपाके समुद्र हो। कोई कंजूस, मक्खीचूस थोड़े ही हो – कृपासिंधु हो। तुम्हारी कृपा सिंधु की तरह लहराती है। *'सुखधाम'* – तुम परमसुख के आश्रय हो। *'सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम'* अपनी वह भक्ति – हे प्रभु! दया करके मुझे दीजिये। प्रभुकी अविरल भक्ति, प्रभुकी अनन्य भक्ति कृपा साध्य है। क्रिया साध्य नहीं है। यह क्रिया साध्य नहीं है तो क्या हम क्रिया करना छोड़ दें? नहीं - नहीं। क्रिया का अहंकार छोड़ दें, साधनों का अहंकार छोड़ दें – लेकिन प्रभु की ओर चलते रहें।

प्रभु की ओर चलते रहने पर कब प्रभु की कृपा हम पर अपना अनुग्रह बरसा देगी, यह तो प्रभु के ऊपर है – प्रभु जानें। हम आप क्या करें, यह प्रभु ही बता रहे हैं। *मत्कर्मकृत्* – पहली बात यह है कि मेरे लिए जो काम करता है – मत्कर्मकृत् शब्द है। 'त्' का – 'न्' हो गया है। 'मत्कर्मकृत्' – जो मेरे लिए काम करता है। देखिए – बिना काम किये कोई रहता है? दुनिया में कोई ऐसा नहीं है जो बिना काम किए रह जाये। लेकिन हम लोग किसके लिए काम करते हैं? हम सबलोग अपने लिए काम करते हैं। अपनी जीविका चलाने के लिए, अपना भोग प्राप्त करने के लिए, अपना यश प्राप्त

करने के लिए काम करते हैं। लोक में काम करने के लिए तीन ही हेतु हैं। *'अर्थाऽर्थं प्रवर्तते लोकाः'* – पैसे के लिए यह लोक काम करता है। *'कुर्वते कर्म भोगाय'* – भोगविलास के लिए मनुष्य काम करता है; और तीसरा है कि यश प्राप्त करने के लिए मनुष्य काम करता है।

अधमाःधनमिच्छन्ति, धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमाः मानमिच्छन्ति मानोहि महतां धनम्।।

मुझको संसार में मान प्राप्त हो – सम्मान प्राप्त हो – इसलिए मनुष्य काम करता है। यह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। केवल पैसा कमाना – यह सबसे घटिया बात है। लेकिन पैसा कमाने के लिए, या भोग भोगने के लिए, या सम्मान प्राप्त करने के लिए भी अगर काम किया जाता है, तो यह भगवान् के लिए काम नहीं किया गया। किसके लिए काम करो? यह एक बड़ी भारी कसौटी है। भगवान् कहते हैं कि मेरे लिए काम करो। भगवान् के लिए काम करने का मतलब क्या होता है? भगवान् के लिए काम कैसे होता है? कौन सा काम? यह भगवान् ने नहीं बताया है। वह कौन सा काम है, जो भगवान् के लिए होता है। याद रखें, कि भक्ति क्रिया निरपेक्ष है – कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है, जो भक्ति न हो जाये। अगर उद्देश्य भगवान् हों तो कोई भी काम भगवान् के लिए हो सकता है – तुम क्रिया कर रहे हो, उसका उद्देश्य क्या है? क्या यह उद्देश्य है कि उससे भगवान् को प्रसन्नता हो। क्या यह उद्देश्य है कि हम इस कर्म के द्वारा भगवान् की पूजा कर रहे हैं?

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः।। (१८/४६)

जिससे हमको प्रवृत्ति प्राप्त होती है, जो परमात्मा कण-कण में व्याप्त है– *'येन सर्वमिदं ततम्'* – उस व्यापक, सर्वव्यापी परमात्मा को हम कैसे अपने चंदन, अक्षत, पुष्प चढ़ा कर उनकी पूजा करें? कहते हैं – नहीं, नहीं। *'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'* – अपने कर्मों के द्वारा उसकी अर्चना करो।

'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्'

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि मैं जो भी काम करता हूँ – यहाँ तक कि स्वयं भोजन करता हूँ तो समझता हूँ कि तुमको प्रसाद चढ़ा रहा हूँ। कबीर दास कहते हैं- – *'जँह जँह डोलूँ सोइ परिकरमा जो कुछ करौं सो पूजा'।* बिलकुल शंकराचार्य का अनुकरण करके बोल रहे हैं – शंकराचार्य को हिन्दी में लाकर बोल रहे हैं। उसमें कहा हैं कि मैं जो कुछ करूँ वह सब पूजा है। क्या ऐसा है? कर्म का कर्ता कौन है? कर्म

का भोक्ता हौन है? असली सवाल यही है – क्या तुम अपने को कर्ता मानते हो? जो कर्ता होगा, वही भोक्ता होगा। यह हो नहीं सकता कि कोई कर्म करे, और कोई दूसरा उसका फल भोग करे। *आन करे अपराध कोउ, आन पाव फल भोग* – यह हो ही नहीं सकता। अगर तुम में कर्तृत्व का अभाव है, तो तुम में भोक्तृत्व होगा ही नहीं। तुम अगर कर्ता हो तो तुम उसको भोगोगे ही। अगर कर्तृत्व से और फलाशा से तुम काम कर रहे हो, तो तुम भगवान् के लिए काम नहीं कर रहे हो। *'मत्कर्म कृत्'* – भगवान् के लिए काम करने का मतलब होता है कि अपना कर्तृत्व त्याग कर देना। भगवान् के लिए कर्म करने का मतलब होता है – फल की आशा त्याग देना।

भगवान् के लिए कर्म करने का मतलब होता है कि 'यही काम करूँगा तो करूँगा, नहीं तो नहीं करूँगा'। देखिए – चार प्रतिबंध हैं। चार आसक्तियाँ हैं। जिन आसक्तियों के कारण कर्म हमको-आपको लिप्त होता है। जिन आसक्तियों के कारण – कर्म भगवान् के लिए नहीं होता, हमारे आपके लिए हो जाता है। पहली आसक्ति है – *कर्तृत्व आसक्ति*। मैं काम करने वाला हूँ – इस प्रकार कर्तृत्व का अहंकार लेकर काम करोगे तो तुम बँधोगे, यह भगवान् का कर्म नहीं होगा। दूसरी आसक्ति है *फलासक्ति*। मैंने काम किया तो उसका फल मुझको मिलना चाहिए। बात सीधी है -- काम किया है – फल नहीं मिलेगा? यदि फलासक्ति है तो फल ही मिलेगा, भगवान् नहीं मिलेंगे। तीसरी आसक्ति है – *कर्मासक्ति*। मैं करूँगा तो यही कर्म करूँगा। कौन होते हो तुम? तुम स्वेच्छाचारी हो, कि यही काम करोगे? और चौथी आसक्ति है – *'अकृतत्त्वासक्ति'* - अगर कुछ नहीं होता है, तो काम ही नहीं करूँगा। ये चारों आसक्तियाँ छोड़ देनी चाहिए। हम वह काम करेंगे जो रामजी हमको प्रेरित करेंगे। हम तो रामजी के निमित्त हैं। एकादश अध्याय का एक चरम मंत्र मैंने आपको बताया था – कि जो बीस उक्तियाँ हैं गीता में उनमें से एक उक्ति है – *'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'* – हे सव्यसाची! तुम निमित्त मात्र बनो। कर्ता प्रभु हैं – हम-आप, सब प्रभु के हाथ के छोटे से उपकरण हैं। उपकरण काम करता है क्या? उपकरण काम नहीं करता। उपकरण तो निमित्त है – जैसा उससे कराया जायेगा, वैसा वह करता है। कर्तृत्व की आसक्ति – फल भोग की आसक्ति है –

यत्कृतं यत् करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव रघुनंदन।।

जो कुछ किया है और जो कुछ करूंगा वह सब मैंने नहीं किया है, तुमने किया है; अतः तुम्हीं फल भोगो। हे रामजी उसके फल भोक्ता भी तुम्हीं हो। भगवान् ने कहा है –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। (९/२७)

भगवान् माँग रहे हैं। भक्त लोग इस श्लोक को ऐसे नहीं बोलते। भगवान् का आदेश है 'यत्करोषि'। हम किसके लिए बोलेंगे? हम तो अपने लिए बोलेंगे! तो भक्त ऐसे बोलते हैं – इसको बनाके बोलते हैं – *'यत्करोमि'* – जो कुछ करता हूँ ; *'यदश्नामि'* - जो कुछ खाता हूँ, भोग करता हूँ ; *'यज्जुहोषि'* – जो कुछ आहुति देता हूँ ; *'ददामि यत्'* – जो दान देता हूँ ; *'यत्तपस्यामि'* – जो तप करता हूँ ; *तद्करोमि तदर्पणम्* – वह सब आपको अर्पित है। भगवान् की चीज भगवान् के पास जाती है तो हम लोगों को बहुत तकलीफ होती है।

मैं सांसद ही क्यों न बना रहूँ। काम करूँगा तो सांसद होकर ही करूँगा। अरे! तुम करने वाले कौन हो लाला? रामजी जो तुमको काम दें, वह तुमको करना चाहिए। तुम रामजी का काम करोगे कि अपनी इच्छा के अनुसार काम करोगे? काम का चुनना भी तुम्हारे हाथ में क्यों होना चाहिए? आप याद रखें – भक्त की दृष्टि क्या है –

हम चाकर रघुबीर के, पटो लिखो दरबार।
तुलसी अब का होहिहैं, नर के मनसबदार।।

हम रामजी के सेवक – और किसी के सेवक नहीं। रामजी जो हमको कहेंगे वही काम हम करेंगे। यह दृष्टि – यह दृढ़ मत होना चाहिए।

मत्कर्मकृत् – अपनी इच्छा से हम काम चुन लेंगे, और वही करेंगे – दूसरा काम हम नहीं करेंगे – ऐसा नहीं होना चाहिए। जो रामजी कहेंगे, वह करूंगा। *मान्हैं चाकर राखो जी। चाकर रहसूँ, बाग लगासूँ - नित उठ दरसण पासूँ।* मीरा बोल रही है। मुझको चाकर रख लो, मैं चाकर रहूँगी तुम्हारी – तुम्हारे लिए काम करूँगी, बाग लगाऊँगी – नित्य उठकर तुम्हारे दर्शन पाऊँगी। 'मेरी इच्छा – मैं जो चाहूं वह करूँ' यह नहीं, तुम जो चाहो, वह मैं करूं। यह *'मत्कर्मकृत्'* शब्द का अर्थ है कि अपने -- कर्तृत्व का अहंकार, कर्म के फल प्राप्त करने का लोभ, एक विशेष कर्म के प्रति आसक्ति, और निकम्मेपन – चारों का त्याग। क्यों नहीं काम करेंगे भाई!

भगवान् ने हमको काम करने की शक्ति दी है – अगर हम निकम्मे होकर बैठ जायेंगे तो क्रियाशक्ति लज्जित हो जायेगी – क्रियाशक्ति कुंठित हो जायेगी। निकम्मे क्यों बैठें? हम भगवान् की इच्छानुसार निरन्तर सक्रिय रहें। हम अपनी प्रत्येक क्रिया में भगवान् का पूजन करें। हम अपनी प्रत्येक क्रिया से भगवान् को प्रसन्न करने की चेष्टा करें। कौन सा काम भगवान् का है? वही काम भगवान् का है, जिसमें तुम्हारा मन

कहता है कि इस काम से भगवान् प्रसन्न होंगे। मेरे गुरुजी मनुस्मृति का एक श्लोक बार-बार सुनाते थे, इसलिए मैं भी बार-बार सुनाता हूँ —

यत्कर्म कुरुतो स्यात् परितोषअन्तरात्मनः
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्।

भगवान् हमारे तुम्हारे भीतर बैठे हैं, अन्तरयामी हैं वे। हमारी अन्तरात्मा में बैठा हुआ प्रभु, हमारा विवेक जिस काम के द्वारा प्रसन्न होता है। जिस कर्म के करने से अन्तरात्मा को परितोष होता है। *'तत्प्रयत्नेन कुर्वीत'* – उस काम को प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। *'विपरीतं तु वर्जयेत्'* – जिस काम को करने से हमारा अन्तरात्मा लज्जित हो, कुंठित हो, अपराध बोध हो – अवसाद ग्रस्त हो जाये – वह काम नहीं करना चाहिए। भीतर बैठा हुआ है परमात्मा। वह बोल रहा है पर हम सुनकर भी अनसुना कर देते हैं। हम जो काम कर रहे हैं उससे भगवान् प्रसन्न हों – हम जो काम कर रहे हैं वह भगवान् के लिए कर रहे हैं – हम जो काम कर रहे हैं, वह भगवान् की इच्छा से कर रहे हैं।

भगवान् जो काम देंगे, वही करूँगा – यह गुण जब तक विकसित नहीं होगा तब तक 'मत्कर्मकृत्' नहीं होगा। कोई भी काम ऐसा नहीं हैं जो भगवान् का न हो। झाड़ू देने से लेकर प्रवचन देने तक – सब काम भगवान् के हैं। संसार में जो भी काम हम कर रहे हैं — पढ़ाना, व्यापार करना या दूसरा काम, सब भगवद् कर्म है। सिर्फ यह कि उसमें हमारी अन्तरात्मा साक्षी हो। यह कि हमारे उस कर्म से हमारा मन शुद्ध होता है कि नहीं। भगवद् प्रसन्नता इससे प्राप्त होगी, ऐसा लगता है कि नहीं? अगर ऐसा लगता है – तो वह काम भगवान् का काम है, मत्कर्मकृत है।

दूसरी बात – *'मत्परमो'* – भाई! तुम सबसे बड़ा किसको मानते हो? किसका आश्रय लेना चाहते हो? *'मत्परम'* – जो मुझे सबसे बड़ा मानता है। परम माने सबसे बड़ा। *'मत्परमो'* – जो मुझको सबसे बड़ा मानता है या जो मेरे परायण हैं। जो मेरा आश्रय लेता है। *'मत्परमो'* का क्या अर्थ हुआ? जो अपनी बुद्धि से, अपने ज्ञान से - - मुझको सबसे बड़ा मानता है; और मेरा ही आश्रय लेता है। किसी दूसरे का आश्रय नहीं लेता। जो मरने के बाद मुझको ही प्राप्त करना चाहता है और जीवित अवस्था में भी मेरा ही सहारा जिसको है, और किसी दूसरे का सहारा नहीं है। दूसरे का सहारा कोई सहारा है? क्या सहारा है दूसरे का? एकमात्र सहारा – एकमात्र आश्रय – प्रभु का है। यह निर्णय कौन करता है कि सबसे बड़ा आश्रय कौन? साधारण बुद्धि निर्णय करेगी कि जो सबसे ज्यादा धनपति हो, उसका सहारा ले लो। जो पार्टी का बड़ा नेता है – उसका

सहारा ले लो। छोटे छोटे तुच्छ लोगों का सहारा लेकर भगवद् प्राप्ति कैसे होगी? ये लोग हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं?

यह विश्वास कि मेरा एकमात्र आश्रय, एकमात्र सहारा – बल – परमात्मा ही हैं – ज्ञान से – बुद्धि से इसका निर्णय हो जाये। इस निर्णय पर स्थिर रहना चाहिए कि मेरे एकमात्र आश्रय प्रभु हैं। मंदिर के पुजारी भी; पूजा तो करते हैं देवता की – मालिक किसको मानते हैं? मंदिर जिसने बनाया, मालिक तो वह है; आसरा तो उसका लेना चाहिए। नहीं! नहीं!! मंदिर जिसने बनवाया, उसका आश्रय नहीं। भगवान् का ही आश्रय। भगवान् से बड़ा कोई नहीं है – भगवान् के अतिरिक्त किसी के सामने सिर नहीं झुकेगा। यह सिर तो रामजी के सामने ही झुकेगा; और किसी के सामने नहीं। *'तुलसी अब का होंहिंगे नर के मनसबदार!'* किसी नर के मनसबदार होने वाले नहीं हैं।

बनै तो रघुबर सों बनै, कै बिगरै भरपूर।
तुलसी बने जो और से ता बनिबे सिर धूर।।

मेरी बात बनने वाली हो तो रामजी से बने। और रामजी से न बनकर किसी दूसरे से बनने वाली हो तो उस बनने की ऐसा की तैसी। *'जानकी जीवन को जनु है जरि जाय सो जीह जो जाचत औरहिं'*। जानकी-जीवन, श्रीराम का भक्त होने के बाद, किसी दूसरे से याचना करने वाली जीभ जल जाये। रामजी का कहलाने के बाद अपने स्वार्थ के लिए किसी से याचना करना घृण्य बात है।

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास।।

मेरे तो एक ही आस-भरोस रामजी हैं। जो वे देंगे – मेरे लिए बहुत है। जो वे नहीं देना चाहते, वह मैं लेना ही नहीं चाहता। *'मत्परमो'* – भगवान् का यह आश्रय प्राप्त होना चाहिए, यह निर्णय ज्ञान करता है, बुद्धि करती है। *'मद्भक्ताः'* – और वह मेरा भक्त होना चाहिए। प्यार किससे करता है? प्रेम किससे करता है? किसी और से प्रेम करता है? लोग करते हैं कि नहीं। नौकरी करते हैं सेठ की, काम करते हैं सेठ के लिए, प्यार करते हैं बीबी-बच्चों को, और आश्रय लेते हैं किसी नेता का, गुण्डे का, किसी और का। बात बनने वाली नहीं है।

भक्त का सारा प्रेम मेरे प्रति अर्पित होना चाहिए। किसकी भक्ति करता है – किससे प्रेम करता है? भगवान् से प्रेम होना चाहिए – जो भगवान् से प्रेम नहीं करता वह कैसे भगवान् को प्राप्त करेगा? भक्ति क्या है?

सा त्वस्मिन परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च। परमप्रेम रूप यह बाहरी है। रूप होता है बाहरी और स्वरूप होता है भीतरी। हम लोग जगत् में अपने भाई से, अपनी पत्नी से, अपने बच्चों से, अपने माता-पिता से प्रेम करते हैं। यह जगत् का प्रेम है, इसमे अमृतत्व नहीं है। जगत् का प्रेम – प्रेम का रूप तो है – लेकिन यह मरणोन्मुख के प्रति है, नश्वर के प्रति है, इसलिए भक्ति नहीं है। भक्ति का क्या लक्षण है? *'सा तु अस्मिन् परम प्रेम रूपा अमृत स्वरूपा च'।* परमात्मा में परमप्रेम रूपा हो और अमृत स्वरूपा हो। वह प्रेम जो अमृतत्त्व के प्रति है – वह प्रेम जो अमृतत्व प्रदान करता है। वह प्रेम नहीं - जो नश्वर के प्रति, क्षणभंगुर के प्रति है। जो प्रेम स्वयं नश्वर है – जो प्रेम अभी है, अभी नहीं रहता। ऐसा प्रेम नहीं। जो अविनश्वर प्रेम है, जो अविनश्वर के प्रति है। जिसका स्वरूप तो है अमृतत्व और जिसका बाहरी रूप है प्रेम। रूप और स्वरूप में मौलिक अन्तर है। बहुरुपिया रूप बदल सकता है। कितने रूप बदलता है – हजारों रूप बदल सकता है। बाबा ने जब कहा –

कहा कहौं छवि आजु की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुषबाण लो हाथ।।

स्वरूपतः राम और कृष्ण को वे अभेद मानते हैं। यह दोहा श्रीराम और श्रीकृष्ण की भेदकता सिद्ध करने वाला नहीं है, भिन्नता सिद्ध करने वाला दोहा नहीं है। यह दोहा स्वरूपतः श्रीराम और श्रीकृष्ण की अभेदता सिद्ध करने वाला है।

'स्वरूपतः' तो तुम वही तत्त्व हो – मैं जानता हूँ – लेकिन तुमने रूप ले लिया है, बाँसुरीवाले का। बहुत अच्छा रूप है। लेकिन मेरा मस्तक तो तभी झुकेगा, जब तुम धनुष-बाण लोगे। स्वरूप – रूप दोनों में साम्य। एकनिष्ठता का उदाहरण है। लेकिन कोई भी आदमी धनुष-बाण लेकर खड़ा हो जाएगा, तो तुलसीदास क्या सिर झुका देंगे? तुलसीदास जानते हैं कि यह रूप धारण कर रहा है, स्वरूपतः कुछ और है। इसलिए यह दोहा – जिसको साधारण लोग श्रीराम और श्रीकृष्ण का भेदक बताते हैं, यह वास्तव में श्रीराम और श्रीकृष्ण में अभेद स्थापित करने वाला है। स्वरूपतः अभेद है, अभिन्न है। केवल रूपतः भिन्न हैं।

अब इसपर विचार करें कि क्या-क्या चीज मांगी तुलसीदास ने? गीता में क्या क्या चीज मांगी गई? *'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः'* — तीन चीजें मांगी हैं। क्रिया शक्ति मांगी गई ; बुद्धि शक्ति याने ज्ञान मांगा गया ; प्रीति याने प्रेम मांगा गया। तीनों मुझको दे दो। 'कामायनी' में इसको थोड़ा सा दूसरे ढंग से कहा है। रहस्य सर्ग में 'कामायनी' में प्रसाद ने कहा है कि लोग क्यों दुःखी है? दुःखी होने का मूल कारण यह है —

ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सकें, यह विडम्बना है जीवन की।।

यह बात गीता से समर्थित है। इच्छा मतलब? इच्छा जब केन्द्रित होती है, इच्छा जब एकोन्मुख होती है, तो प्रीति हो जाती है। बहुतों के प्रति इच्छा है तो बिखराव है। इच्छा जब केन्द्रीभूत होगी, घनीभूत होगी, सान्द्र होगी, एकोन्मुख होगी – तो वह इच्छा ही प्रीति बन जाती है, भक्ति बन जाती है। उसमें कहा है कि *'जानाति इच्छति यत्तपते'*। पहले जाना जाता है। अपरिचित से प्रेम नहीं होता। बिना परिचय के प्रेम होता है? होनोलुलु में कौन चिमचिम च्योंग है, उनसे आपका प्रेम है? प्रेम तो उसीसे होता है जिसको हम जानते हैं। *जानाति* – पहले उसको जानना चाहिए। जानने के बाद निर्णय होता है कि यह पाने योग्य है, यह पाने योग्य नहीं है – तो *इच्छति*, जानाति इच्छति। यह इच्छा ही जब घनीभूत हो गई – एकोन्मुख हो गई तो यह इच्छा प्रीति बन गई, भक्ति बन गई। और तब फिर उसको प्राप्त करने के लिए प्रचेष्टा करता है। तो तीन चीजें हुई -- ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और यतते अर्थात् क्रियाशक्ति। जबतक इस संसार में ये तीनों शक्तियाँ अलग-अलग रहेंगी – ये तीनों शक्तियाँ विभक्त रहेंगी, तब तक हमारे – आपके जीवन में विडम्बना ही विडम्बना है। ज्ञान से तो जान लिया कि भगवान् सबसे बड़े हैं, लेकिन क्रिया है, रुपया कमाने की। इच्छा है क्रिया को प्रसन्न करने की। प्रसादजी ने भी कहा है कि ये तीनों शक्तियाँ प्रभु को समर्पित होनी चाहिएँ। आप इसमें देखिए कि श्रद्धा जब मनु को तीनों लोकों को दिखाती है – और इसके बाद स्मृति से बिजली की रेखा दौड़ती है तो क्या होती है?

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो, इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में, श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।।

इच्छा, प्रीति, ज्ञान और क्रिया, तीनों एक में उन्मुख होनी चाहिए – तीनों प्रभु की ओर उन्मुख होनी चाहिए।

स्वप्न, स्वाप, जागरण – तीनों भस्म। तो बचा क्या? 'तुरीय' बचा। चार ही तो अवस्थायें हैं। जाग्रतावस्था है – स्वप्नावस्था है और एक है सुषुप्ति। तो जाग्रत, स्वप्न और स्वाप माने सुषुप्ति – गंभीर निद्रा। तीनों जब भस्म हो गये, तो बचा क्या? तुरीयावस्था बची – केवल भगवान् बचा। तो *'स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो, इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे।'* तुरीयावस्था में, परमात्मा के प्रति हमारी ये तीनों शक्तियाँ समर्पित हो जाती हैं; जब हम परमात्मा को ही प्यार करते हैं। जब हम परमात्मा को ही सबसे बड़ा मानते हैं और जब हम परमात्मा का ही काम करते हैं – जब

हम अपनी इन तीनों शक्तियों को प्रभु को समर्पित करते हैं, तो हम अपने को पूर्णतः समर्पित करते हैं।

प्रभु के प्रति खंडित रूप में – विभक्त रूप में समर्पण उचित नहीं है। प्रभु हमारी शक्तियों का विभाजन नहीं चाहते। हमारी सम्पूर्ण शक्तियों का समन्वित समर्पण चाहते हैं। हम भगवान् को ही प्यार करें, भगवान् को ही सबसे बड़ा मानें और भगवान् के लिए ही काम करें – ये तीन बातें भगवान् के लिए। यह हुआ *मत्कर्मकृत् - मत्परमो - मद्भक्तः*। दो बातें संसार या व्यवहार के स्तर की – *संगवर्जितः*– पहली बात कि किसी के प्रति आसक्ति मत रखो। आसक्ति किसके प्रति होगी? जिसको तुम पाना चाहोगे। इच्छा तुम्हारी विभक्त होगी। प्रेम विभक्त होगा – तभी तो आसक्ति होगी। और संसार के प्रति आसक्ति पतन का लक्षण है। आप लोगों को यदि दूसरे अध्याय का वह श्लोक स्मरण हो –

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। (२/६२-६३)

यह पतन का रास्ता है। तो *संगवर्जितः* – दुनिया में किसी वस्तु से चिपको नहीं, सिर्फ व्यवहार करो। व्यवहार सबसे करो, चिपको केवल रामजी से। हमारे गुरुजी इस संदर्भ में एक बहुत अच्छा उदाहरण देते थे। मैंने कई बार सुनाया होगा।

अनासक्त कैसे हो सकते हैं? *संगवर्जितः* कैसे हो सकते हैं? इसका सबसे अच्छा उदाहरण दर्पण है। अच्छे शीशे का लक्षण यह है कि उसके सामने जो खड़ा होगा, उसको ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित करेगा। न उसको विकृत करेगा, न उसको सुन्दर बनायेगा, ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित करेगा।

जिससे भी हम व्यवहार करें, जिसको हम समझना चाहें, उसको ज्यों का त्यों समझ जायें, पूरा का पूरा समझ जायें। उसके समस्त गुण-दोष समझ जायें, लेकिन उससे चिपकें नहीं। जब आदमी शीशे से हटता है, तो शीशे में कुछ रहता है? कुछ नहीं – साफ। जो काम किया, पूरी लगन से किया। पूरी श्रद्धा के साथ किया। लेकिन वह काम छूटा – तो छूट गया। न उसके लिए रोना, न कोई उसके लिए हाय-हाय करना। *जो बीत गई सो बात गई*..... जो काम मिला उसे पूरी लगन से, पूरी निष्ठा से किया वह छूट गया, तो छूट गया। यह जो बिना चिपके भगवान् का दिया हुआ काम, भगवान् के दिये हुए लोगों के साथ पूरी तन्मयता के साथ, अन्तरंगता के साथ व्यवहार करना

; विषय को पुंषानुपुंख समझना। लेकिन पुंषानुपुंख समझते हुए भी भगवान् को भूलना नहीं, चिपकना भगवान् से ही। एक बढ़िया श्लोक आपको सुनाता हूँ —

'पुंषानुपुंख विशेक्षण तत्चरुपी, ब्रह्मावलोकं ध्यां न जहाति योगी'

विषयों को पुंषानुपुंख रूप से अच्छी तरह से देखते हुए भी जो काम आपको मिला, भगवान् की कृपा से, रामजी की कृपा से संसार के उस काम को उसकी पूर्णतः बारीकी में जाकर करते हुए भी जो योगी है, वह ब्रह्म को देखने की बुद्धि को छोड़ता नहीं। विषय के कर्म भी करता रहेगा और जुड़ा रहेगा – ब्रह्म से। कितना बढ़िया उदाहरण देते हैं, इस बात के लिए —

संगीत ताल लय नृत्य प्रसंगतापि मौनस्थ कुंभ परिरक्षण जेय नटि व...

आपने नाच तो देखा होगा – सिर पर एक घड़ा, घड़े पर छोटा घड़ा, उसके ऊपर छोटा घड़ा, सात घड़े और नर्तकी नृत्य कर रही है। क्या बेसुरा नाच रही है? क्या बेताला नाच रही है? *संगीत ताल, लय नृत्य प्रसंगताऽपि।* संगीत के ताल और लय के अधीन होकर नाचते हुए भी, सारी क्रिया करते हुए भी– *मौनस्थ कुंभ परिरक्षण जेय नटि व* – नटी की यह बुद्धि, यह विवेक बना रहता है कि सिर के ऊपर का कोई घड़ा गिर न जाये। सिर के ऊपर रखे हुए घड़ों की रक्षा करते हुए, वह संगीत के ताल और लय के अुसार नाचती है। वैसे ही विषयों का पुंषानुपुंख निरीक्षण करते हुए, संसार के समस्त काम पूरी बारीकी से करते हुए भी योगी, भक्त, भगवान् से जुड़ा रहता है। भगवान् को देखते हुए वह काम करता है। इसलिए जब हमने कहा कि *संगवर्जितः*, तो इसका मतलब यह थोड़े ही है कि तुम घटिया किस्म का काम करो, घटिया ढंग से काम करो। जो काम तुम्हें मिला है, वह सांसारिक कर्म भी पूरी सूक्ष्मता के साथ करो, पूरी विशेषज्ञता के साथ करो, पूरी बारीकी के साथ करो, लेकिन उससे चिपको नहीं। बिना चिपके करो। जैसे अपने सिर पर घड़ों को रखते हुए भी, ताल - संगीत - लय के अनुसार नाच करते हुए भी, नटी घड़े को गिरने नहीं देती ; वैसे ही संसार का सारा काम करते हुए भी तुम संसार से चिपको मत। संगवर्जित, आसक्ति रहित होकर दक्षता से – कुशलतापूर्वक काम करो, कठिन से कठिन काम करो। बड़े से बड़ा काम करो, लेकिन उससे चिपको नहीं। जब उसको छोड़ना पड़े, छोड़ दो।

'निर्वैरः सर्वभूतेषु'— और किसी भी प्राणी से वैर मत करो। *निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध* – जो भगवान् के भक्त हैं, वे संसार को किस रूप में देखते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउं प्रनाम जोरि जुग पानी।।

यह सब जो नामरूप हम देख रहे हैं— यह तो आवरण है। क्या आवरण पर ही दृष्टि रुक जायेगी। तुम्हारा कोई मित्र, भयावह रूप धारण करके आये, तुमको डराने के लिए और तुम उसको पहचान लो तो उसके सारे भयावह आचरण से डरोगे? वह तुमको मुक्का मारे, शत्रुता करे तो तुम उससे शत्रुता करोगे? तुमने अपने मित्र को पहचान लिया है। पहचान लेने के बाद तुम उस भयावह रूप से न तो डरोगे न ही उसके शत्रुतापूर्ण आचरण से उसको शत्रु मानोगे। तुम जानते हो कि वह भगवान् का रूप है- – अगर तुमने समझ लिया है– *'सुहृदः सर्वभूतानां'*।

भगवान् अगर सब प्राणियों के सुहृद हैं तो भगवान् का भक्त सब प्राणियों के लिए सुहृद होगा। कैसा भक्त है – भगवान् जिसको सुहृद मानें, उससे तुम्हारा वैर? रामराज्य में क्या होता है— *बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।*

निर्वैरः सर्वभूतेषु– इसका मतलब है कि तुम कैसा व्यवहार करोगे। इसका मतलब यह है कि उससे बैर न करते हुए भी – अगर कोई दुष्टतापूर्ण आचरण करता है, तो उसको दण्ड दोगे। दण्ड दोगे– लेकिन इससे बैर नहीं करोगे। *संगवर्जितः* में जैसे मैंने बताया – किसी काम से तुम चिपको नहीं। इसका मतलब क्या, रद्दी ढंग से करो? काम को पूरी दक्षता के साथ करो–उससे चिपको नहीं। किसी से वैर मत करो। वैर मत करो का मतलब? कोई चोरी कर रहा है – तो उसको चोरी करने दो? कोई खून कर रहा है – खून करने दो? नहीं! उसको रोको – उसको पकड़ो – उसको दण्ड दो। तुलसीदास की पंक्ति है—

जौं नहिं दण्ड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होहि श्रुति मारग मोरा।।

अपराध करने वाले को दण्ड दूँगा – लेकिन बिना वैर के दूँगा। प्रभु कैसी कठिन बात बोल रहे हैं। *'निर्वैरः सर्वभूतेषु'*— का मतलब यह नहीं है कि हम संसार में व्यवहार करते समय अन्याय का समर्थन करने लग जायें। ऐसा नहीं। लेकिन किसी के प्रति वैर-भाव न हो। जैसे पूरी दक्षता के साथ काम करते हुए उससे चिपको मत ; वैसे ही यथायोग्य कर्तव्य कर्म करने में अगर किसी का प्रतिवाद करना पड़े, किसी का प्रतिरोध करना पड़े, तो वह प्रतिरोध उससे वैर के बिना करो। उसके प्रति हित कामना, उसके प्रति शुभेच्छा, लेकिन उसके गलत आचरण से उसको विरत करने की चेष्टा, उसके गलत आचरण से समाज को बचाने का प्रयास। होगा क्या – यह तो रामजी जानें। ये दोनों व्यवहार बिना आसक्ति के और बिना बैर के— कितना कठिन काम है। क्या रामजी को पाना सरल है? रामजी को पाना सरल तो नहीं है। इसलिए रामजी को पाने के लिए जो पाँच साधन बताये गये, इन पाँचों साधनों को ठीक-ठीक समझकर इन पर

चलने की चेष्टा हम कर सकते हैं। आगे तो रामजी की कृपा। यह जो बात है – यह अनन्य भक्ति का सूत्र है। ऊपर यह बताया गया।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। (११/५४/१)

अनन्य भक्ति के द्वारा तत्त्वतः मुझको जानना, तत्त्वतः मुझको देख लेना और तत्त्वतः मुझ में प्रवेश कर जाना यह संभव है। इस अनन्य भक्ति का सूत्र है पचपनवां श्लोक। इस पचपनवें श्लोक में पांच बातें कही गई हैं। तीन बातें परमात्मा के प्रति समर्पित हों और दो बातें – दो पद्धतियाँ संसार में व्यवहार के लिए हमारा मार्ग दर्शन करें। हमारी क्रिया-शक्ति, हमारी बुद्धि-शक्ति और हमारी प्रीति, ये तीनों भगवान् को अर्पित होनी चाहिएँ। हम संसार का सारा काम करते हुए भी न किसी में आसक्त हों, न किसी से चिपकें; चिपकें केवल श्रीराम से। हम अपने कर्तव्य कर्म में कभी-कभी कठोरता का अवलम्बन करते हुए भी – करना पड़े तो – किसी के प्रति वैर भाव न रखें। यह उक्ति गीता की है। गीता में ही अर्जुन को यह कहा कि भीष्म को बाण मारते चलो, कर्ण का वध करो। क्यों कहा? क्योंकि वे अन्याय का पक्ष ले रहे थे। तो अन्याय के पक्ष में विरोध करने के लिए संघर्ष करो, यह तो गीता बता रही है लेकिन युद्ध करने के मूल में, उसके प्रति वैर भाव नहीं है। कितनी सूक्ष्म बात है। हम लोग संसार में क्या करते हैं – किसीसे चिपक जाते हैं – किसी से दुश्मनी का भाव रखते हैं, राग द्वेषमय होकर व्यवहार करते हैं। जिससे हम चिपक जायेंगे – उसका कोई दोष हमको नहीं दिखेगा। यदि उसके प्रति हम द्वेष ग्रस्त हो जायेंगे, उसका कोई गुण हमको नहीं दिखेगा। यह व्यवहार ठीक नहीं है।

जब तक हमको सम्यक् ज्ञान नहीं होगा, तब तक हमारा व्यवहार ठीक नहीं होगा। राग-द्वेष ग्रस्त बोध जो है, वह असम्यक् बोध है, गलत बोध है, असंगत बोध है। इसलिए राग और द्वेष से ऊपर उठकर हम संसार से व्यवहार करें। और तब *मामेति पाण्डवः*। ये पाँच काम जो करेगा, वह मुझ तक आ जायेगा। एति क्रिया की धातु 'इण्' है – उसके चार अर्थ हैं – गमन, ज्ञान, मोक्ष और प्राप्ति। मामेति के चार अर्थ हुए। वह मुझ तक पहुँच जायेगा – ऐति, गति – उसकी गति मुझतक होगी – जो ये पाँचों काम करेगा, वह निश्चय ही भगवान् तक पहुँचेगा। ऐति – भगवान् तक पहुँचेगा। ज्ञान हो जायेगा – अनन्य भक्ति से वह तत्त्वतः भगवान् को जान लेगा। ऊपर के श्लोक में बताया गया है कि –

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।। (११/५४)

वह मुझतक आ जायेगा – मेरा दर्शन कर लेगा, मुझको जान लेगा। मोक्ष – वह प्रपंच से, संसार से मुक्त हो जायेगा। और फिर वह मुझको प्राप्त कर लेगा – प्रवेश कर जायेगा। यह जो ऊपर तीन बातें कहीं – *ज्ञातुं द्रष्टुं च प्रवेष्टुं* – उसके साथ चौथी बात होगी कि संसार से मुक्त होगा। संसार के बंधन से मुक्त होकर वह मुझतक आ जायेगा – मेरा दर्शन कर लेगा। वह मुझको ठीक-ठीक समझ लेगा, मेरा ज्ञान उसको प्राप्त हो जायेगा; और वह मुझको प्राप्त हो जायेगा, वह मुझमें प्रवेश कर जायेगा ; वह मुझसे अभिन्न हो जायेगा।

पचपनवाँ श्लोक तो बारहवें अध्याय का बीज है। जो बात संक्षेप में इस पचपनवें श्लोक में कही गई है, वही बात विस्तार से बारहवें अध्याय में कही गई है। इसलिए बारहवें अध्याय का नाम भक्तियोग है। जैसे विभूति योग से विश्व रूप का विकास हुआ वैसे ही विश्व रूप दर्शन से भक्तियोग का विकास हुआ जिसकी चर्चा अगले प्रवचन में की जाएगी। •

भक्ति-योग की विधियाँ

भगवान् की कृपा है कि यह गीता-प्रवचन-सत्र चल रहा है। द्वादश अध्याय का बीज ग्यारहवें अध्याय के अंतिम श्लोक में है। ग्यारहवें अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान् ने कहा —

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (११/५५)

उन्होंने पाँच बातें बताईं, तीन बातें अपने प्रति – सगुण साकार वासुदेव के प्रति- – मेरे लिए जो काम करता है *'मत्कर्मकृत'*; मुझको जो सबसे परम आश्रय मानता है, सबसे बड़ा मानता है *'मत्परमो'*; जो मुझसे प्रेम करता है – *मद्भक्तः*। दो बातें उन्होंने दुनिया के प्रति बताई – जो जगत् से निर्वैर रहता है – *'निर्वैरः सर्वभूतेषु'* और उसके पहले बताया कि *'संगवर्जितः'* – जो अनासक्त रहता है, किसी के प्रति राग -द्वेष नहीं रखता। भगवान् ने कहा कि ये पाँच बातें जो कर सकता है, वह मुझको, श्रीकृष्ण वासुदेव को, सगुण साकार परमेश्वर को प्राप्त कर लेगा। अब गीता का अगर आप अध्ययन करें, तो आपको लगेगा कि अनेक स्थलों पर निर्गुण निराकार की महिमा इसमें कही गई है। दूसरे अध्याय में अनेक स्थानों पर और छठे से आठवें अध्याय तक विशेष रूप से—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।। (५/१७)

जो ज्ञान से अपने पापों को, कर्म-बंधन को धो डालते हैं, वे मुझको प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ 'तद्' कहा है। तद् ब्रह्म का वाचक है। नपुंसक लिंग है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। (८/२१)

'अव्यक्त अक्षर', *'अव्यक्तोक्षर'* – उसमें जो मन लगाते हैं, वे परम गति को

* द्वादश अध्याय : (भक्ति-योग) श्लोक संख्या १ से १२

प्राप्त करते हैं। अर्जुन को लगा कि प्रभु कभी निर्गुण निराकार को श्रेष्ठता देते हैं और अब (९वें, १०वें, ११वें अध्याय में) वे सगुण साकार को वरीयता दे रहे हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। (९/३४)

नवम अध्याय के अन्त में उन्होंने स्वयं को साक्षात् दिखाकर कहा, यानी सगुण साकार परमेश्वर की महिमा बताई। एक तरफ निर्गुण निराकार को श्रेष्ठता और दूसरी तरफ सगुण साकार को प्रतिष्ठा, ये दोनों बातें एक साथ कैसे सम्भव हैं? निर्गुण निराकार परमेश्वर की साधना करने वाले उस परमधाम को प्राप्त करते हैं, जहाँ जाकर कभी लौटना नहीं पड़ता। सगुण साकार श्रीकृष्ण वासुदेव को भजने वाले, उनको प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार दो साधना पद्धतियाँ बिल्कुल स्पष्ट दिखाई पड़ रही हैं। इन दोनों साधना पद्धतियों में श्रेष्ठतर कौन सी है? बड़ा विचित्र प्रश्न है, आप देखिए। बारहवें अध्याय का प्रारंभ अर्जुन के प्रश्न से है —

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।। (१२/१)

'एवं' – इस प्रकार। किस प्रकार? जिस प्रकार ११वें अध्याय के अंतिम श्लोक में बताया गया है – *'मत्कर्मकृन्मत्परमो'*। इस प्रकार जो आपसे सतत युक्त हैं, सतत माने सर्वदा सब काल में, लगातार। बिना किसी विच्छेद के, बिना किसी खण्ड के, परमात्मा के साथ जिनका मन सब समय लगा ही रहता है।

'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते' – इस प्रकार जो भक्त तुम में लगातार युक्त रहते हैं। *'पर्युपासते'* – पर्युपासते शब्द के बहुत सारे अर्थ बताए गए हैं; लेकिन मेरे गुरुजी ने बहुत सूक्ष्मता इसमें निकाली है। *परितः* माने चारों तरफ से, सर्वतः। *'सततयुक्ता'* इसमें काल का बोध है। निरन्तर, लगातार, बिना किसी काल विच्छेद के, सब समय जिनका मन लगा रहता है। सब समय कैसे लगा रह सकता है? सब समय लगा रह सकता है। सब समय लगा रहे और दुनिया का काम भी करते रहें? हाँ हो सकता है। कैसे हो सकता है? रसखान ने एक बहुत अच्छी पंक्ति कही है-

'रसखान गोविन्दहिं यों भजिए, ज्यों नागरी को मन गागरी में।'

रसखान बताते हैं कि गोविन्द का भजन कैसे करना चाहिए। गोविन्द का भजन ऐसा करिए जैसे गोपी का मन अपनी गगरी में लगा रहता है। गोपियाँ जल भरती हैं, माथे पर गगरी रखती हैं, बातचीत करते हुए चली आती हैं – सारा काम करती हैं; लेकिन गगरी गिर जाती है क्या? गगरी तो गिरती नहीं। गगरी ठीक उसके माथे पर रहती है।

दुनिया का काम भी करती हैं और गगरी का ख्याल भी रखती हैं। सब समय रखती हैं कि बीच-बीच में गगरी का ख्याल छोड़ देती हैं? गगरी का ख्याल छोड़ेंगी तो गगरी गिर पड़ेगी। तो जैसे गोपी (नागरी) का मन गगरी में हमेशा लगा रहता है; और वह दुनिया का काम भी करती रहती है – वैसे ही अपना कर्तव्य-कर्म करते हुए भी भगवान् से मन जुड़ा रह सकता है – *एवं सतत युक्ता ये। पर्युपासते* – 'पर्यतः', चारों तरफ, सब कालों में ही नहीं, सब देशों में भी। सब कालों में, सब देशों में, सभी स्थान पर जिनका मन भगवान् से जुड़ा रहता है। 'परि' का अर्थ तो यह है। 'परि' के और भी बहुत सारे अर्थ होते हैं। 'परि' का एक अर्थ है कि जो दूसरे, उनके विपरीत हैं, उन सबको छोड़कर, जो केवल परमात्मा की ही उपासना करते हैं – सगुण साकार की उपासना करते हैं। उपासना का मतलब क्या होता है? उपासना का शब्दार्थ है— उप माने निकट, आसना माने बैठ जाना। उपासना का मतलब हुआ कि जिसकी हम पूजा करते हैं, जिसका हम ध्यान रखते हैं, उसके पास हम चले जाएँ, हम उसके पास जाकर बैठ जाएँ। अब कृष्ण कहाँ हैं कि उनके पास हम जाकर बैठ जाएँ? आसना का मतलब हुआ हम अपने चित्त को उनसे लगा दें। 'हम उनके पास जाकर बैठ जाएँ'— इसका मतलब यह हुआ कि हम लगातार उनका प्रेमपूर्वक चिन्तन और अनुध्यान करते रहें। *'मन जहाँ है मनुज भी मानो वहीं है'* – – आपका मन जहाँ है – आप वहीं हैं, आपका तन जहाँ है, आप वहाँ नहीं हैं।

एक बहुत अच्छी कथा है। दो मित्र थे। एक मित्र ने कहा कि चलो हमलोग आज कथा सुनें। दूसरा मित्र बोला कि आज तो मैंने गाना सुनने के लिए समय तय कर रखा है, बाईजी के यहाँ जाना है। अब जो कथा सुनने वाला मित्र था, उसको बराबर याद आता रहा कि वह तो बाईजी का गाना सुन रहा होगा और बाईजी कौन सा गाना गा रही होगी। उसका मन वहाँ लगा रहा। दूसरा जो गाना सुनने गया था, उसका मन लगा रहा कि अरे वह तो कथा सुन रहा होगा, इतने बड़े महात्मा आए हैं, हम कहाँ आ गए – हम उनकी कथा सुनते। शरीर तो किसी का कथा में था, शरीर तो किसी का गाने में था– लेकिन भगवान् ने माना यह कि मन जिसका जहाँ था, वह वहीं था। कथा सुनने जो आया उसको पाप हुआ; क्योंकि वह निरन्तर मन से बाईजी का और उनके गाने का चिन्तन करता रहा और जो वहाँ गया था, उसको पुण्य का फल मिला; क्योंकि वह निरन्तर कथा श्रवण की बात सोच रहा था। तो तन महत्त्वपूर्ण नहीं है, मन महत्त्वपूर्ण है। *'हो रहा तन ही विदा, मन तो यहीं है, मन जहाँ हो, मनुज भी मानो वहीं है।'* तो मन जहाँ है मनुज वहीं है।

इसलिए *'पर्युपासते'* – मतलब अपने मन को निरन्तर चिन्तन के द्वारा प्रभु में

लगाना। इसके लिए अगर बिल्कुल पारिभाषिक शब्दावली नहीं हो तो *'तैलधारावत्'* - - अविच्छिन्न चिन्तन परम्परा चले। जैसे तेल गिराया जाय तो उसकी धारा अटूट रूप से बहती रहती है, वैसे ही जब हमारी वृत्तियाँ अटूट रूप से अपने उपास्य की ओर लगी रहें, तो हम उनकी उपासना करते हैं, उनके पास जाकर मानसिक रूप से बैठते हैं, उनसे तन्मय होते हैं। *'भक्तास्त्वां'*, त्वां मतलब तुम। अब इस त्वां शब्द को लेकर बहुत विवाद है – *त्वां* मतलब कौन तुम? शंकराचार्य और उनके अनुयायी यह मानते हैं कि यहां *त्वां* का मतलब है, विश्वरूपात्मक भगवान् श्रीकृष्ण का, क्योंकि एकादश अध्याय में जिन्होंने विश्वरूप दर्शन कराया, उसके प्रति इनका मन लगा रहता है। रामानुज सम्प्रदाय के भक्त मानते हैं कि अंत में तो उन्होंने कहा कि हमको अपना चतुर्भुज रूप दिखाओ। उन्होंने चतुर्भुज रूप दिखाया। चतुर्भुज रूप भगवान् नारायण का है— *त्वां* का मतलब भगवान् नारायण। गौड़िया विष्णु सम्प्रदाय के भक्त एवं आचार्य कहते हैं कि नहीं – अंत में तो उन्होंने मानुष रूप दिखाया—

'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन' (११/५१/१)

'त्वां' का अर्थ शंकराचार्य और उनके अनुयायी विश्व रूप मानते हैं, विश्व रूप दिखाने वाले सर्वव्यापी परमात्मा। रामानुजाचार्य और उनके अनुयायी कहते हैं चतुर्भुजधारी उनके भगवान् नारायण। गौड़िया विष्णु सम्प्रदाय के आचार्य कहते हैं द्विभुज कृष्ण रूप। खैर यह तो अपनी - अपनी परम्परा, अपने-अपने सम्प्रदाय का अंतर है। लेकिन मूल बात कि सगुण साकार रूप, यह तो सब मानते हैं।

जो अक्षर, अव्यक्त के प्रति समर्पित हैं – *ये चाप्यक्षरमव्यक्तं,* अव्यक्त माने जो अप्रकट है, जिसको कोई देख नहीं पाता; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध – पाँचों प्रकार से जिसका अनुभव नहीं होता। अक्षर का मतलब जिसका क्षरण अथवा नाश नहीं होता। अविनाशी और अक्षर का एक अर्थ होता है जो सर्वव्यापी है – *'अश्नुते व्याप्नुति इति'।*

'तेषां के योगवित्तमाः'— इसमें बड़ी विचित्र बात है। योगवित्तमा शब्द क्यों आ गया? दो की ही अगर तुलना हो तो *'तर'* आना चाहिए। *योगवित्तरः* आना चाहिए था – इन दोनों में से कौन ज्यादा योग जानता है। तम तो होता है जब दो से अधिक हों- - कुशल, कुशलतर, कुशलतम। सुन्दर, सुन्दरतर, सुन्दरतम – अगर दो की ही तुलना होती तो कौन कुशलतर है? कौन सुन्दरतर है? लेकिन इसमें कहा, कौन योगवित्तम है? सबसे ज्यादा योग जाननेवाला कौन है? इसका अर्थ यह है कि इन दोनों के अलावा और भी साधनाएँ हो सकती हैं। मुझको भी नहीं मालूम। तुमने जो अभी तक कहा - एकादश

अध्याय तक तो हमारी जानकारी में तो दो ही साधनाएँ हैं। एक व्यक्तोपासना, एक अव्यक्तोपासना। लेकिन कौन जाने भाई – व्यक्तोपासना, अव्यक्तोपासना के अलावा भी और कुछ मार्ग हो सकते हैं। हमको वह भी बताओ और सबसे ऊँचा मार्ग जो है, वह भी बताओ।

योग का मतलब क्या होता है? योग का एक अर्थ जो हम लोग साधारण तौर पर जानते हैं – पातंजलि योग के अन्तर्गत, *'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'*। लेकिन योग का अर्थ होता है, साधन। योग का अर्थ होता है, उपाय। योग का अर्थ होता है, जीवात्मा को परमात्मा से मिला देने वाला साधन या उपाय। इसलिए 'कर्मयोग', इसलिए 'भक्तियोग', इसलिए 'ज्ञानयोग', इसलिए 'ध्यानयोग' – ये सब योग हैं। क्योंकि ये जीवात्मा को परमात्मा से मिला देने के रास्ते हैं। तो कौन सबसे अच्छा उपाय जानने वाला है, जिससे भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है?

'तेषां के योगवित्तमाः' बहुवचन क्यों? क्योंकि बहुत से लोग सगुणोपासक हैं, बहुत से लोग निर्गुणोपासक हैं। उन सगुणोपासना करने वालों की भी बहुलता है, निर्गुणोपासना करने वालों की भी बहुलता है। इन दोनों में कौन ज्यादा अच्छा योग जानता है? देखिए प्रश्न यह नहीं कि ज्ञान श्रेष्ठ है कि भक्ति श्रेष्ठ है। प्रश्न यह भी नहीं है कि दोनों में से बड़ा कौन है। योग के, भगवान् से मिलने के साधन को, अच्छे साधन को जाननेवाला कौन है? श्रेष्ठ कौन है? साधन की दृष्टि से आप किसको श्रेष्ठ कहते हैं?

'तेषां के योगवित्तमाः'— सगुणोपासक भगवान् से मिलने की जो साधना है, उसके ज्यादा मर्मज्ञ हैं कि निर्गुणोपासक? इन दोनों उपासनाओं में साधन की दृष्टि से आपकी राय में कौन श्रेष्ठ है? अब इसके ऊपर बड़ा विचार है। ज्ञानमार्गी इसको स्वीकार नहीं करते कि ज्ञान की यहाँ पर हीनता दिखाई गई है। वे यह कहते हैं कि सवाल कर रहा है अर्जुन, तो अर्जुन अपने लिए पूछ रहा है, तो अर्जुन की पात्रता को ध्यान में रखकर भगवान् उत्तर दे रहे हैं। लेकिन हमलोग यह जानते हैं कि अर्जुन की पात्रता को ध्यान में रखकर यह उत्तर देना ठीक है; लेकिन क्या केवल अर्जुन के लिए गीता कही गई है – *'पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्'*।

पार्थ या अर्जुन तो केवल माध्यम है। हमारे-आपके सबके लिए, भगवान् ने सब काल के लिए गीता कही है। केवल अर्जुन की पात्रता को सामने रखकर वे उत्तर दे रहे हैं, यह मेरी समझ में कम आता है। वे इस लक्ष्य से उत्तर दे रहे हैं कि किससे सहज रूप से लोगों का अधिक कल्याण होगा। आप उत्तर सुनिएगा तो आपको यह बात स्पष्ट होगी। श्रीभगवानुवाच – श्री भगवान ने कहा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। (१२/२)

मेरे मत से जो अपने मन को मुझमें आविष्ट कर देते हैं – *'मय्यावेश्य मनो ये मां, नित्ययुक्ता उपासते'* – अपना पूरा मन लगाकार जो मुझसे नित्य युक्त रहते हैं, सतत युक्त रहते हैं। जैसे ऊपर सतत्युक्त कहा यहाँ नित्ययुक्त कहा; और सतत मेरा अनुध्यान करते हुए, जो मुझसे जुड़े रहते हैं – परम श्रद्धा के कारण – *'श्रद्धया परयोपेताः'* – एक ही स्थान पर गीता में पराश्रद्धा का शब्द है। और सब जगह श्रद्धा शब्द है। केवल द्वादश अध्याय के दूसरे श्लोक में *'श्रद्धया परयोपेता'* – परम श्रद्धा, पराश्रद्धा के साथ जो मुझसे जुड़े रहते हैं, वे मेरे मत के अनुसार युक्ततम हैं। अब देखिये, इसमें कई बातें बताई गई हैं। यहाँ 'मन' शब्द का अर्थ, केवल संकल्प-विकल्प करने वाली इन्द्रिय नहीं लगता है। यहाँ मन शब्द का अर्थ है, सम्पूर्ण अन्तःकरण। जिसका सम्पूर्ण अंतःकरण मुझमें निविष्ट हो गया है, प्रविष्ट हो गया है, और जो लगातार मुझसे जुड़े रहकर सतत चिन्तन परम्परा के द्वारा परम श्रद्धा के साथ मुझमें अपने को निविष्ट कर देते हैं। श्रद्धा शब्द को मैंने कई बार बताया है – *'श्रत् इति सतनाम'* सत का ही नाम श्रत् है – केवल उसको छिपाने के लिए रेफ लगा दिया गया है। श्रत् का मतलब हुआ सत्, *'धा'* माने धारण करते वाली। तो श्रत् को धारण करने वाली वृत्ति श्रद्धा। सत्य को, सत् को धारण करने वाली वृत्ति श्रद्धा। परम श्रद्धा – जिस श्रद्धा में कोई विकल्प नहीं है, जिस श्रद्धा में कोई खण्ड नहीं आता। जिस श्रद्धा में कोई दरार नहीं पड़ती, अनुकूल स्थिति में भी और प्रतिकूल से प्रतिकूल स्थिति में भी। हमलोगों की श्रद्धा भगवान् के प्रति इतनी है कि जबतक हमारा अनुकूल कार्य होता रहता है, श्रद्धा बनी रहती है ; किन्तु यदि मन के प्रतिकूल हो तो श्रद्धा समाप्त हो जाती है। तुलसी बाबा की पंक्ति है — *लोक रीति देखी सुनी, व्याकुल नर नारी। अति बरखे, अनबरखेहुँ देहिं दैवहिं गारी।।*

बहुत वर्षा हो, तो देवता को गाली देते हैं, वर्षा न हो तो गाली देते हैं – उनकी परम श्रद्धा नहीं है। उनमें से थोड़े से लोग श्रद्धालु होंगे, लेकिन अतिवर्षण या अवर्षण के कारण उनकी श्रद्धा डिग जाती है, गालियाँ देने लगते हैं। हमारी इच्छा पूरी नहीं होती तो हमलोग रामजी से विमुख हो जाते हैं। कहने लगते हैं कि ऐसे रामजी का क्या करें? ऐसा नहीं होना चाहिए। अनुकूल-प्रतिकूल किसी भी परिस्थिति में, चरम प्रतिकूल परिस्थिति में भी, जिसके मन की श्रद्धा नहीं डिगती – लौकिक दृष्टि से जो बुरे से बुरा हो सकता है, वह बुरे से बुरा हो जाने पर भी, जो यह सोचता है कि भगवान् तो हमारी

परीक्षा ले रहे हैं – कैसी कृपा है उनकी! वाह! वाह! वाह! कितने कृपालु हैं रामजी कि हमारा जो कुछ भोग था, कर्म भोग – उन्होंने भुला दिया – अब हम भोग से मुक्त हो गए। 'कितनी कृपा है! कितनी कृपा है' – यह है परम श्रद्धा – किसी भी स्थिति में जब हमारी श्रद्धा में दरार न पड़े।

भगवान् को प्राप्त कर लेना सहज है क्या? परम श्रद्धा जब होती है – *'श्रद्धया परयोपेता'*— जो परा श्रद्धा से, परम श्रद्धा से मुझसे युक्त हैं, वे ही युक्ततम हैं। युक्त तो सब हैं। भगवान् से अयुक्त तो कोई हो ही नहीं सकता – हम जानें न जानें, मानें न मानें, युक्त हैं। भगवान् को मानने के बाद जो भगवान् से जुड़ना चाहते हैं, जो भगवान् से प्रेम करते हैं, वे हुए युक्त। कुछ लोग होंगे युक्ततर। युक्ततम कौन हैं? युक्ततम वे हैं, जो पराश्रद्धा के साथ नित्य मुझसे जुड़े रहते हैं, जिसने अपना सारा अंतःकरण मुझमें निविष्ट कर दिया है, मैं उसको युक्ततम मानता हूँ। उसको मैं सर्वश्रेष्ठ साधक, भक्त मानता हूँ।

'मां'— सगुण साकार श्रीकृष्ण वासुदेव – यहाँ जो *'मां'* है वह बिल्कुल सगुण साकार रूप का द्योतक है। कहीं-कहीं *मां* शब्द का प्रयोग उन्होंने निर्गुण के प्रयोग में कर दिया है, लेकिन यहाँ *मां* शब्द निश्चित् रूप से सगुण-साकार उपासक की ओर संकेत करता है। मुझ , सगुण साकार कृष्ण वासुदेव, यानी जो भी जिसका इष्टदेव है, उससे जो जुड़ा रहता है। तो दूसरा? वह क्या आपको नहीं प्राप्त करता? आपसे नहीं जुड़ा रहता? नहीं?

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।। (१२/३)
"सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।। (१२/४)

अब जो दूसरे उपासक हैं – देखिए 'पर्युपासना' शब्द दोनों में आया है। इसलिए मैं अपनी श्रद्धा से यह मानता हूँ कि ये सगुणोपासक और निर्गुणोपासक – दोनों मूलतः उपासना मार्ग के पथिक हैं। निर्गुणोपासना सगुणोपासना से भिन्न होती है। सगुणोपासना करते हुए हम अपने इष्टदेव का रूप ध्यान में लाते हैं; इष्टदेव के नाम को अपने मन में लाते हैं ; इष्टदेव की लीलाओं को अपने मन में लाते हैं। नाम की कल्पना करते हैं – यहाँ से उठ के चले जाएं हमलोग चित्रकूट, चित्रकूट में सोचें कि स्फटिक शिला के ऊपर भगवान श्रीराम बैठे हुए हैं। सीताजी उनके साथ बैठकर उनसे प्रश्न कर रही हैं, लक्ष्मण धनुष-बाण लिए वहाँ पहरा दे रहे हैं, मंद-मंद गति से मंदाकिनी बह रही है।

कैसा शीतल मंद-सुगंध पवन है। भगवान् बहुत मुस्कुराकर भगवती सीता के प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं – यह जो ध्यान है, यह सगुणोपासना का ध्यान है।

भगवान् के धाम को, भगवान् के रूप को, भगवान् की लीला को हम अपने मन में ले आते हैं, और उससे तद्रूप जुड़ जाते हैं। जो निर्गुणोपासना होती है, वह तो ऐसी नहीं होती। निर्गुणोपासना में तो कोई आकार ही नहीं है। तो निर्गुणोपासना प्रभुको सच्चिदानंदस्वरूप मानकर उसके ज्योति स्वरूप का, उसके सत् स्वरूप का, चित्रूप का, आनन्द स्वरूप का बार-बार भावन करना और इस जड़तापूर्ण सारे जगत् से विमुख हो जाना। कैसे? इसमें देखिए – उसमें भी पर्युपासते – पहले भी पर्युपासते शब्द है, फिर यहाँ पर्युपासते शब्द आया है। पूर्णतः जो उपासना कर रहे हैं अक्षर की। अक्षर शब्द समझ लीजिए विशेष्य है। *अक्षर* शब्द पहले बताकर उन्होंने निर्गुण निराकार का संकेत किया और फिर उसके आठ विशेषण बताए। या यूँ समझ लीजिए कि निर्गुण निराकार की नौ विशेषताएँ एक साथ बता दीं।

पहला *अक्षर*—जिसका कभी विनाश नहीं होता या जो सर्वव्यापी है। फिर *अनिर्देश्यं* – जिसका किसी भी प्रकार से निर्देश नहीं किया जा सकता, कोई संकेत नहीं – न उसकी जाति है, न उसका रूप है, न उसका गुण है। जैसे हमलोग किसी का निर्देश करते हैं कि वह काला, वह लम्बा आदमी है, वह अमुक का भाई है, वह अमुक का बेटा है – इसी तरह से तो किसी का निर्देश करते हैं। रंग नहीं, रूप नहीं, आकार नहीं, किसी से सम्बन्ध नहीं – इसलिए जिसका कोई निर्देश नहीं किया जा सकता। *अव्यक्तं* – जो प्रकट नहीं है, दिखाई नहीं पड़ता— आँखों से ही नहीं, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध किसी भी प्रकार से जो हमारी पकड़ में नहीं आता। *'सर्वत्रगम्'* – जो सर्वत्र जानेवाला, सर्वव्यापी है। *'अचिंत्यं'*— जिसका हम चिन्तन भी नहीं कर सकते, जो हमारे चिन्तन के भी परे है। *'कूटस्थं'* – कूटस्थ शब्द के बहुत सारे अर्थ बताए गए हैं। कूट का जो सबसे सरल अर्थ बताया गया है – कूट माने पहाड़। चित्रकूट, त्रिकूट, हेमकूट। पहाड़ के ऊपर पानी बरसे, धूप निकले, चाँदनी रात निकले – कोई फर्क नहीं पड़ता – ज्यों का त्यों। कूटस्थ का दूसरा मतलब बताया गया है– सुनार की या लोहार की निहाई, जिसके ऊपर रखकर सब प्रकार के आभूषण गढ़े जाते हैं; लेकिन वह ज्यों का त्यों निर्विकार रहता है। लोहार उससे बर्तन गढ़ लेता है। सुनार सारे गहने गढ़ लेता है; लेकिन जो लोहे की निहाई है, जिसपर रखकर वह मारता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता— जो अपरिवर्तनीय है। कूट का मतलब होता है, माया। कूट का मतलब होता है मिथ्या ; कूटसाक्षी - मिथ्यासाक्षी। तो यह जो माया है जो कि दिखती है बहुत अनुकूल,

लेकिन है कुछ भी नहीं – उसका जो आधार है, अधिष्ठान है – कूटस्थं। तो कूटस्थ के कई अर्थ बताए गए। *अचलम्*— जिसमें किसी भी प्रकार का विचलन, किसी भी प्रकार का विकार नहीं है। *ध्रुवम्* – जो नित्य रहने वाला है।

अब देखिए! अक्षर-१, अनिर्देश्य-२, अव्यक्त-३, सर्वत्रगम्-४, अचिन्त्यं-५, कूटस्थं-६, अचलं-७, ध्रुवम्-८ – अब उसकी पर्युपासना कैसे करनी होती है? सारी इन्द्रियों को सन्नियमित कर लेना पड़ता है— *'सन्नियम्येन्द्रियग्रामं'*। मौलिक अन्तर क्या है? सगुणोपासना में हमारी सारी इन्द्रियाँ काम करती हैं। हमारी आँख भगवान् का रूप दर्शन करती है, हमारा कान भगवान् के गुणों का श्रवण करता है, हमारी नासिका भगवान् के चरणों में चढ़े हुए पुष्पों की गंध लेती है। हम अगर इतने भाग्यवान हों तो हम उनको स्पर्श कर लें। हमारे चरण उनके धाम में जाएँगे, हमारा हाथ उनकी सेवा करेगा। हमारी प्रत्येक इन्द्रिय उनको समर्पित है और प्रत्येक इन्द्रिय अपनी सार्थकता का अनुभव कर रही है। सगुण साकार की उपासना करते हुए। निर्गुण निराकार की उपासना करते समय प्रत्येक इन्द्रिय को सन्नियमित कर देना पड़ेगा। आँख इस जड़ जगत् को न देखे, कान इसकी बात न सुनें – सारी इन्द्रियों को निरुद्ध करके – कितना कठिन है – *'सन्नियम्येन्द्रियग्रामं'* – ग्राम माने समूह। इन्द्रिय ग्राम माने इन्द्रियों का समूह। एक-दो इन्द्रिय को नहीं – सब इन्द्रियों को – पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को, पाँचों कर्मेन्द्रियों और मन को – जो सब इन्द्रियों का राजा है – उनको सन्नियमित करके, उनको निरुद्ध करके, उनको जगत् से विमुख करके उपासना करें।

'सर्वत्र समबुद्धयः' – यह दूसरी बड़ी बात है। कैसे उपासना होती है? आगे तो सम्पूर्ण इन्द्रियों को सन्नियमित कर लिया गया, निरुद्ध कर दिया गया, अब सर्वत्र समबुद्धि की बात कही। केवल अपने पूजा स्थल पर नहीं – सर्वत्र निरुद्ध रहें। यह बहुत बड़ी बात है – गीता *साम* योग का उपदेश करती है।

जिनका मन साम्य में स्थित है, उन्होंने इसी जीवन में सारी दुनिया को जीत लिया क्योंकि भगवान् समबुद्धि हैं। तो सबके प्रति जिनकी बुद्धि समान रहती है, जिनके लिए कोई अपना नहीं, कोई पराया नहीं, जिनके लिए कोई अनुकूल नहीं, कोई प्रतिकूल नहीं, जो सबके प्रति समान बुद्धि रखते हैं वे मुझे प्राप्त करते हैं।

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः' – यह है तीसरी बात–जो सब प्राणियों का कल्याण चाहते हैं ; सब प्राणियों का कल्याण हो, इसमें रत रहते हैं। *'सर्वभूत हिते रताः'*— सब प्राणियों के हित, कल्याण, मंगल में जो लगे रहते हैं। चूँकि सबके प्रति समबुद्धि है, किसी के प्रति राग नहीं है, किसी के प्रति द्वेष नहीं है – इसलिए वे प्रेम

करते हैं। जो भक्त हैं, निर्गुण के उपासक हैं, मूलतः चिन्तन के स्तर पर सबका मंगल, सबका कल्याण चाहते हैं। एक विशिष्ट अर्थ बताया हमारे गुरुजी ने। *'सर्वभूतहिते रताः'* – हित माने निहित, सर्वभूत सब प्राणियों में जो तत्त्व निहित है, विराजमान है- उसके प्रति जो रत हैं – वह परमात्मा जो सब प्राणियों में निहित है – उससे जो प्रेम करते हैं – किसी आकार विशेष से नहीं, किसी अवतार विशेष से नहीं – सब प्राणियों में सन्निहित परमात्मा के प्रति जो रत हैं *'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'* – वे मुझको ही प्राप्त करते हैं।

इसमें कई बातें बताते हैं। पहली बात यह कि सगुणोपासना, निर्गुणोपासना दोनों के मार्ग अलग अलग हैं – गन्तव्य एक है। यह नहीं है कि सगुणोपासना करने वाले को कुछ और मिलता है, निर्गुणोपासना करने वाले को कुछ और प्राप्त होता है। रास्ते अलग-अलग हैं – मंजिल एक है, लक्ष्य एक है। जैसा कहा *'सर्व देव नमस्कारं केशवं प्रतिगच्छति'* – किसी भी उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम से नदी बहे, जाएगी कहाँ? समुद्र में जाएगी जैसे उत्तर, पश्चिम, दक्षिण, पूर्व वाहिनी नदियाँ समुद्र में ही आती हैं– वैसे ही आप किसी भी मार्ग पर पूरी निष्ठा, श्रद्धा के साथ चलेंगे, तो परमात्मा से ही मिलेंगे। एकदम स्पष्ट किया है– *'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'*– मुझको ही प्राप्त करते हैं। तो गन्तव्य की दृष्टि से, लक्ष्य की दृष्टि से दोनों समान स्थानों पर पहुँचते हैं। फिर दो रास्ते क्यों हैं? दोनों की वृत्तियाँ अलग-अलग हैं। सब धान ५ पसेरी नहीं हो सकता। केवल हमलोगों की साधना, भारतवर्षीय साधना है, जिसने साधना को केवल एक ही रूप में नहीं बाँटा। हमारी आपकी सबकी अलग-अलग वृत्तियाँ हैं। जितने मनुष्य हैं, उनकी उतनी वृत्तियाँ हैं। तो उन अलग-अलग वृत्तियों वाले मनुष्यों के लिए अलग-अलग साधनाएँ क्यों नहीं होनी चाहिए? इसलिए अलग-अलग साधनाओं का संकेत किया गया है। लेकिन वे सब की सब साधनाएँ परमात्मा तक जाती हैं, इसका निर्णय है। जैसे *योगवित्तमा*, इन्होंने *युक्ततमा* कहा–यानी हमारे पास और तीसरे, चौथें, पाँचवें मार्ग होंगे ; चौथे, पाँचवें मार्ग का निषेध नहीं है - लेकिन सब मार्गों में सबसे युक्ततम सबसे निरापद – भगवान् की दृष्टि में सगुणोपासना का मार्ग है। निर्गुणोपासना में क्या कठिनाई है?

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।। (१२/५)

गीता, भारतीय साधना पद्धति, निर्गुणोपासना को भी सम्मानपूर्वक स्वीकार करती है ; सगुणोपासना को भी सम्मानपूर्वक स्वीकार करती है ; लेकिन यह बताती है कि *'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्'* जिनका चित्त अव्यक्त में आसक्त

है। आसक्ति किसको होती है? जिसको डर होता है। किसी दूसरे से डर है, इसलिए किसी के प्रति आसक्ति है। तो अव्यक्त – *'अव्यक्तासक्तचेतसाम्'* – जिनका चित्त, जिनका मन, जिनका अंत:करण अव्यक्त के प्रति आसक्त है – मतलब वे परमज्ञानी नहीं है। *'अव्यक्तासक्तचेतसाम्'* – उनको अधिक क्लेश होता है – *क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्*। वे पहुँचते तो उसी जगह हैं, लेकिन उनको अधिक कठिनाई, अधिक तकलीफ होती है। अच्छा *'अव्यक्तासक्तचेतसाम्'* में जब उन्होंने केवल आसक्ति की बातें कहीं, निष्ठा की बात नहीं कही, तो इसमें उन्होंने एक और सहारा लिया। देखिए भगवान् क्या कहते हैं-

'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' – जो देहवान हैं, यानी जिनका मन देहाभिमान से ग्रस्त है, जो अपने को शरीर मानते हैं, उन्हें अत्यंत दु:खपूर्वक अव्यक्त की गति प्राप्त होगी। अगर हम साकार हैं, तो हमारा परमात्मा भी साकार होगा। इस बात को गांठ बाँध लें कि जबतक हम अपने को इस शरीर से बँधा हुआ पाते हैं और इस शरीर को अपना शरीर समझे बैठे हैं, जबतक हम साकार हैं, तबतक हमारा परमात्मा भी साकार है। जब हम अपने को इस शरीर से अलग कर लेंगे, यह शरीर हम नहीं हैं, शरीर मेरा भी नहीं है, मेरा इस शरीर से कुछ लेना-देना नहीं है; जब हम स्वयं को जीवात्मा मानेंगे, निराकार आत्मा मानेंगे, तब हम निराकार परमात्मा को पा सकते हैं। जब तक हम अपने को साकार मानते हैं, तबतक हमारा उपास्य भी साकार होगा। अगर हम अपने-आप को साकार मानकर निराकार की उपासना करेंगे, तो देहाभिमानियों को अत्यंत दुख से अव्यक्त की गति प्राप्त होगी। आपका देहाभिमान छूटा नहीं, आप अभी भी देहवान हैं, अभी भी अव्यक्त के प्रति आपकी निष्ठा नहीं हुई, अभी भी अव्यक्त के प्रति केवल आपकी आसक्ति है। अव्यक्त के प्रति आसक्ति यानी अभी इसमें कच्चाई है और आप अब भी अपने को देहवान मानते हैं; इसलिए आपको अधिक क्लेश होगा, आपको कष्ट होगा। ज्ञानी भक्त कहते हैं कि इसमें भगवान् ने कितना साफ कह दिया कि जो देहाभिमानी हैं, उनके लिए यह रास्ता कठिन है, क्लेशकारक है; और जो विवेकी हैं उनके लिए यह रास्ता क्लेशकारक नहीं है। आप देखिए इसी में से जो ज्ञानी हैं, शंकराचार्य के जो अनुयायी हैं, वे कहते हैं भगवान् किसके लिए किससे तुलना कर रहे हैं, सगुण-निर्गुण की तुलना किससे कर रहे हैं? सगुणोपासक में तो श्रेष्ठ बता दिया – युक्ततम हैं, पराश्रद्धा है। निर्गुणोपासक में किसको बता रहे हैं, अव्यक्त के प्रति निष्ठा करके, जिसका देह के प्रति अभिमान गलित हो गया, उसको नहीं बता रहे हैं ; देहवान है। अव्यक्त के प्रति केवल आसक्ति

है, तो ऐसा जो मंद अधिकारी है – उस निर्गुणोपासना के मंद अधिकारी को तो ज्यादा कष्ट होगा ही। लेकिन निर्गुणोपासना में जो विवेकी होंगे, जिनका अव्यक्त के प्रति केवल आसक्ति भाव नहीं होगा, जिनकी निष्ठा हो गई होगी – उनके लिए क्लेशकारक नहीं होगा – यह अर्थ इससे निकालते हैं। मैं बताना यह चाहता हूँ कि भगवान् दोनों मार्गों को सम्मान दे रहे हैं; और यह बता रहे हैं कि साधक जब तक देहवान व्यक्ति है, तबतक उसके लिए इन्द्रियों का सदुपयोग करने का मार्ग, सगुण साकार की उपासना का मार्ग, अधिक सुरक्षित है, अधिक सहज है। अब इसके बाद उन्होंने दोनों की तुलना करके निर्गुणोपासना की कठिनाई को रेखांकित किया है। इसके बाद छठे और सातवें श्लोक में वे सगुणोपासना की एक बहुत बड़ी विशेषता को उजागर कर रहे हैं, इस बात को आप ध्यान में रखिए। क्या कहते हैं छठे, सातवें श्लोक में –

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।। (१२/६)
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। (१२/७)

भगवान् ने इसमें मुख्य बात बताई है कि जो सगुणोपासक हैं, मेरा बल उनके पीछे काम करता है। *'तेषामहं समुद्धर्ता'* – उनका उद्धार कौन करता है? मैं करता हूँ। सगुणोपासना करने वाला जब मुझपर अवलम्बित हो जाता है – *'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः'* – जो अपने समस्त कर्मों को मुझे अर्पित कर देता है – संन्यास का मतलब यहाँ है कर्मार्पण। जो ये मानते हैं कि मैं कर्म नहीं करता ; जो यह मानते हैं कि भगवान् मुझसे कर्म कराते हैं। मैंने कुछ नहीं किया – भगवान् ने जो कराया वह किया और इसमें बेईमानी नहीं, ईमानदारी के साथ मानते हैं। निष्ठा से मानते हैं कि *'काम जो तुमने कराया कर गया - जो कहलवाया कह गया।'* मैंने अपनी बात नहीं कही है, तुमने कहलवाया, मैंने कहा; तुम प्रेरक हो, मैं प्रेरित हूँ।

'यत्करोमि यदश्नामि यज्जहोमि ददामि यत्।
यत्तपस्यामि भगवन्न तत् करोमि तदर्पणम्।।'

'मयि संन्यस्य' अपने सारे कर्म, जो कुछ मैं करता हूँ, वे मैंने आपको अर्पण कर दिए, मैं नहीं करता वे काम। वे अपने सारे कर्म – जो मुझको अर्पित कर देते हैं, जो मेरे ऊपर निर्भर हैं, 'मत्पर' हैं – मुझपर आश्रित हैं और जो अनन्त योग से मेरा ध्यान करते हैं, *'अनन्येनैव योगेन'* – उनमें कोई 'अन्यथा' नहीं होती है। *'अन्याश्रयाणां त्यागः अनन्यता'* – अनन्य किसको कहते हैं? दूसरे समस्त आश्रयों का जो त्याग कर देता है

वह अनन्य होता है। समस्त दूसरे सहारों को जिसने छोड़ दिया है, जो केवल मेरा ध्यान करता है, मेरी उपासना करता है।

'तेषामहं समुद्धर्ता' – मैं उसका सम्यक् रूप से उद्धार करता हूँ। जो अपना चित्त मुझमें लगा देता है, उस भक्त का मैं बिना किसी बिलंब के मृत्यु रूपी संसार सागर से ; शोक, दुःख एवं मरण वाले इस संसार-समुद्र से उद्धार कर देता हूँ।

'मय्यावेशितचेतसाम्' – आसक्त नहीं है, आवेशित है। देखिए दोनों में फर्क है। *'मय्यावेशितचेतसाम्'* – जिसने अपना चित्त मुझमें प्रविष्ट करा दिया, निविष्ट करा दिया – उसका मैं उद्धार करता हूँ। जो सगुणोपासना करता है, उसके पीछे मेरा बल काम करता है; और जो निर्गुणोपासना करता है, वह अपने बल से प्राप्त करता है।

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।।
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही।।

(रामचरितमानस ३/४२/९)

यह मौलिक अंतर है – *'जनहि मोरबल'*। जो सगुणोपासना करते हैं, वे गलती भी करते हैं, उनसे पाप भी होता है, अपराध भी होता है और वे निवेदित करते हैं कि मुझसे गलती हो गई। आप क्षमा कीजिए। *'तेषामहं समुद्धर्ता'* — मैं उनका उद्धार करता हूँ। *निजबल ताही* – मृत्यु संसार सागर से निर्गुणोपासक तैर कर पार होता है; और सगुणोपासक भगवान् के द्वारा चलाई हुई नाव में बैठकर पार होता है, मौलिक अंतर यह है। अगर आपमें अपना बल न हो, अगर आपमें इस संसार सागर को पार करने की, तैरकर जाने की क्षमता न हो, तो भाई भगवान् का आश्रय ले लो।

'तेषामहं समुद्धर्ता' – सम्यक् रूप से मैं उनको ऊपर उठाकर संसार सागर के पार कर देता हूँ, बिना बिलम्ब के पार करता हूँ। लेकिन शर्तें क्या हैं? ये कि वे अनन्य योग से मेरा ध्यान करें, मेरी उपासना करें, सारे कर्मों का प्रेरक मुझको मानें, सारे कर्म मुझको समर्पित कर दें, अपना अंतःकरण मुझमें आविष्ट कर दें।

आठवाँ श्लोक द्वादश अध्याय का मूल श्लोक है। द्वादश अध्याय में दो उपासनाएँ पहले बताईं – एक सगुणोपासना, एक निर्गुणोपासना। सगुणोपासना का जो सबसे निरापद मार्ग है, राज मार्ग है, मूलतत्त्व है – वह आठवें श्लोक में है। अतः द्वादश अध्याय का सर्वोपरि श्लोक आठवाँ श्लोक है। आज का विषय है – *'भक्ति योग की विधियाँ'*। दो विधियाँ तो बता दी गईं – एक सगुणोपासना, दूसरी निर्गुणोपासना। अब सगुणोपासना की चार विधियाँ बता रहे हैं, उनमें सबसे बड़ी विधि है आठवें श्लोक में —

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। (१२/८)

मन और बुद्धि, जीवन रूपी नौका के डांड़ और पतवार हैं। बुद्धि पतवार है -- वह दिशा निर्धारित करती है और मन उसे चलाता रहता है – नाव खींचता है। तो तुम अपना मन भी और अपनी बुद्धि भी मुझमें लगा दो। *'मय्येव मन आधत्स्व'* – मुझमें अपना मन रख दो। जैसे संदूक में आप रुपया पैसा रखा देते हैं, वैसे ही अपना पूरा का पूरा मन मुझमें लगा दो। *मय्येव* – मुझमें ही, किसी और में नहीं। पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, भाई-बन्धु, नाते-रिश्तेदार बाकी सब गौण हैं। सब भगवान् की कृपा से, भगवान् की इच्छा से जो करणीय कर्तव्य है उसके लिए कर देंगे उतना, बाद में मेरा मन जो है वह लगा हुआ है रामजी से – यह वृत्ति।

'मयि बुद्धिं निवेशय' – और बुद्धि मुझमें निविष्ट कर दो, प्रविष्ट कर दो। बुद्धि से मेरे बारे में ही सोचो। कितना सोच सकते हो – तरह-तरह की बात सोचो, नई-नई बात सोचो, जो लोग मेरा खण्डन करते हैं, उनके तर्कों का कैसे-कैसे उत्तर दिया जा सकता है – सोचो। बुद्धि के लिए अनन्त अवकाश है। यह सारा का सारा अवकाश मुझमें निविष्ट कर दो। *'निवसिष्यसि मय्येव'* – तब तुम मुझमें ही निवास करोगे। *'मन जहाँ है मनुज भी मानो वहीं है'* कह दिया; और बुद्धि भी वहीं हो तो? मन और बुद्धि समन्वित रूप से अगर प्रभु में लग गई तो प्रभु में ही हम निवास करेंगे, *'अत ऊर्ध्वं न संशयः'* – इसमें कोई संशय की बात नहीं। यह बिल्कुल असंदिग्ध है, यह बिल्कुल सत्य है, यह सौ फीसदी सच बात है। छाती ठोंककर श्रीकृष्ण कह रहे हैं –

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। (१२/८)

कोई संशय मन में मत आने दो। भगवान् की वाणी संशयोच्छेद कर रही है, सम्पूर्ण संशयों का उच्छेदन, उन्मूलन, निर्मूलन – कोई संशय नहीं – निस्संशय। भगवान् में ही हम रहेंगे – यह सबसे बड़ी विधि है। यह सगुणोपासना की सर्वोपरि साधना पद्धति है कि हम अपना मन और अपनी बुद्धि, दोनों भगवान् में लगा दें ; तब हम भगवान् में ही रहेंगे, हमारा जीवन भगवन्मय हो जाएगा – इसमें कोई संदेह नहीं। और अगर ऐसा न करें तो? मन बहुत उद्दंड है, किसी का मन उसके वश में नहीं है। एक बार हमने गुरुजी से कहा कि गुरुजी आप कहते हैं रामजी का नाम लो। हम रामजी का नाम जब लेने बैठते हैं, तब हमें सारी दुनिया की बातें याद आती हैं। कैसे मन लगाएँ? सामने पाँच बरस का एक लड़का खेल रहा था। गुरुजी

ने कहा कि 'अच्छा शास्त्री (मुझको शास्त्री कहते थे) यह जो पाँच बरस का लड़का है, इसको तुम कह सकते हो कि एक मन का बोझ लेकर ऊपर छतपर चले जाओ?' मैंने कहा 'नहीं कह सकता गुरुजी।' तो बोले 'क्यों नहीं कह सकते?' मैंने कहा, 'मैं जानता हूँ कि वह एक मन का बोझ उठा ही नहीं सकता, तो ऊपर छतपर कैसे ले जाएगा?' बोले 'जितनी अक्ल तुममें है, उतनी अक्ल तुम्हारे रामजी में है कि नहीं?' मैंने कहा 'रामजी में बहुत अक्ल है महाराज।' बोले— 'रामजी को मालूम है कि तुम्हारा मन तुम्हारे हाथ में नहीं हैं; इसलिए मन नहीं लगता, इसकी चिंता ही छोड़ दो। डेढ़ तोले की जीभ तुम्हारी है न, इसको नचाते रहो'। – गुरुजी ने सीधे मुझसे कहा। तो मन लगाना बहुत मुश्किल है, कहने को तो कह दिया कि मन लगा दो। *'आधत्स्व'*-रख दो। कहाँ? मन तो यहाँ है। अभी बैठे-बैठे किसी का मन काशी चला गया, किसी का मथुरा, किसी का लंदन, किसी का न्यूयार्क। मन कहाँ लगता है, बुद्धि कहाँ लगती है?

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। (१२/९/१)

भगवान् जानते हैं कि मन और बुद्धि लगाना बड़ा कठिन है। मन और बुद्धि का सम्बन्ध है चित्त। *'मनश्च बुद्धिश्च चित्तं'*–ऊपर मन और बुद्धि कहा है, दोनों को एक ही में कहने के लिए चित्त कह दिया *'अथ चित्तं समाधातुं, न शक्नोषि मयि स्थिरम्'*–अगर तुम अपना चित्त यानि अपना मन और अपनी बुद्धि मुझ में स्थिरतापूर्वक समाहित कर देने में समर्थ न हो–मान लिया कि बड़ा कठिन है, मन को वश में करना –

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। (६/३४)

मान लिया उन्होंने *'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्'* मान लिया कि मन दुर्निग्रह और चंचल है – तो छोड़ दें? मन जो कहेगा, वह मानेंगे? मन कहेगा, गढ्ढे में पड़ो। तो जाओ मन के पीछे। मन तो इन्द्रियों के माध्यम से विषय में ही जाएगा। वह दुर्निग्रह है, चंचल है, लेकिन उसको नियंत्रित करना है, इसलिए क्या करो?

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।। (१२/९)

उसमें भी कहा है –

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। (६/३५)

जब तक वैराग्य नहीं आएगा तब तक मन नहीं लगेगा भगवान् में। मन में तो

लार टपक रही है रसगुल्ला खाने की, रसमलाई खाने की, आईस क्रीम खाने की, यहाँ जाने की वहाँ जाने की, मौज-मजा करने की ; भगवान् की तरफ कैसे मन जाएगा? तो, एक तो वैराग्य आना चाहिए; और फिर अभ्यास करना चाहिए – *'अभ्यासयोगेन'*। अभ्यास का मतलब क्या है? *'तत्रस्थितौ यत्नोभ्यासः'* – जिस स्थिति में तुम जाना चाहते हो, उसके लिए प्रयत्न करते रहना अभ्यास है। जो सगुण स्थिति में जाना चाहते हैं, उनके लिए सगुण का ध्यान करना, सगुण में मन लगाना, उसमें निरंतर मन लगा रहे, इसका प्रयास करना अभ्यास है। जो निर्गुण साधक हैं, उनके लिए निर्गुण का निरंतर ध्यान अभ्यास है।

'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान।।'

कुएँ के पत्थर पर रस्सी से आते-जाते, गड्ढा पड़ जाता है, निशान पड़ जाते हैं। तो अगर रस्सी से पत्थर में निशान पड़ सकता है, तो हमारा तुम्हारा मन भगवान् की ओर नहीं जा सकता? *'अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय'* – अभ्यास रूपी योग के द्वारा मन को उसमें लगाओ, बार-बार बुद्धि को उसमें लगाओ, बार-बार उसका चिन्तन करो – भाग जाएगा मन – जाने दो, फिर पकड़कर लाओ। फिर भाग जाएगा, फिर पकड़कर लाओ। रस्साकशी चले मन से। इसको कहते हैं अभ्यासयोग। मुझको प्राप्त करने की इच्छा – निरन्तर अभ्यास। मन भागे फिर पकड़कर लाओ; बुद्धि भागे, फिर पकड़कर लाओ – यह अभ्यास करते रहना चाहिए। देखो उत्तरोत्तर मंद अधिकारी की बात कह रहे हैं – भगवान् कितने कृपालु हैं। पहले श्रेष्ठ अधिकारी की बात की। श्रेष्ठ अधिकारी की बात क्या है? *'मय्येव मत आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय'* – ये श्रेष्ठ अधिकारी हैं। अगर मन और बुद्धि न लगे, तो क्या करें? तो फिर मन और बुद्धि को लगाने का अभ्यास करें। मन-बुद्धि को लगाने का अभ्यास भी नहीं हो रहा है – तो क्या करें? तीसरी अवस्था बताते हैं –

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।। (१२/१०)

प्रभु करुणा-वरुणालय होकर एक के बाद एक विकल्प दे रहे हैं – अच्छा अभ्यास में भी असमर्थ हो! कोई बात नहीं। *'मत्कर्मपरमो भव'* – मेरे लिए काम करो। आप पूरी गीता पढ़ जाइए। पूरा रामचरितमानस पढ़ जाइए। पूरा श्रीमद्भागवत पढ़ जाइए, सारे उपनिषद् पढ़ जाइए – भगवान् का क्या काम है, यह कहीं नहीं लिखा है। केवल मंदिर में जाना भगवान् का काम है, केवल माला फेरना भगवान् का काम है

– यह नहीं लिखा है कहीं। हमारे गुरुजी कहते थे भक्ति तो क्रिया-निरपेक्ष है। यह क्रिया विशेष भक्ति है, ऐसा नहीं है। कोई भी क्रिया भक्ति हो सकती है। भक्ति कर्ता-निरपेक्ष है – भक्ति केवल ब्राह्मण करेगा, भक्ति केवल जैन करेगा, भक्ति केवल दिगम्बर करेगा, श्वेताम्बर करेगा या महाज्ञानी करेगा, ईसाई करेगा, मुसलमान करेगा - ऐसा नहीं है। भक्ति कर्ता-निरपेक्ष है – कोई भी कर सकता है। भक्ति क्रिया-निरपेक्ष है – कोई भी क्रिया भक्ति हो सकती है। भक्ति उद्देश्य-सापेक्ष है – किसके लिए कर रहे हो? सबसे बड़ा सवाल यही है – अपना पेट पालने के लिए कर रहे हो, नाम के लिए कर रहे हो, पैसे के लिए कर रहे हो, परिवार के लिए कर रहे हो, तो भक्ति नहीं है। जो भी तुम काम कर रहे हो – झाड़ू दे रहे हो – वह भक्ति है, अगर तुम भगवान् के लिए कर रहे हो। क्या मंदिर में झाड़ू देना भक्ति नहीं है? शबरी बेर चुनकर रखती थी, जूठे करके रखती थी – मीठे मीठे – वह भक्ति नहीं है? कबीरदासजी ताना-बाना बुनते थे, वह भक्ति नहीं है? रैदास जी जूता गाँठते थे – वह भक्ति नहीं करते थे? भक्ति क्रिया-निरपेक्ष है, भक्ति कर्ता-निरपेक्ष है, भक्ति उद्देश्य-सापेक्ष है। *"मत्कर्मपरमो भव"* – मेरे लिए काम करो – जो काम करते हो वह काम, उसका केवल मुंह मोड़ दो – कहो कि रामजी के लिए काम कर रहे हो, रामजी के लिए काम करोगे, तो चोरी नहीं करोगे, व्यभिचार नहीं करोगे, बेईमानी नहीं करोगे – अपने आप बुरे काम छँट जाएँगे। और जो काम हम कर रहे हैं, वे रामजी के लिए कर रहे हैं।

'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि' — मेरे लिये काम करने पर भी तुम सिद्धि प्राप्त करोगे। सिद्धि का कुछ अर्थ लोग कहते हैं कि भगवद् प्राप्ति हो जाएगी। जो बड़े ज्ञानी लोग हैं वे कहते हैं, सिद्धि का मतलब है चित्त-शुद्धि हो जाएगी। चित्त-शुद्धि हो जाएगी, तब तुम्हारा मन और तुम्हारी बुद्धि लगेगी। भगवान् के लिए काम करते-करते सिद्धि प्राप्त होगी, माने चित्त-शुद्धि प्राप्त होगी। चित्त शुद्ध हो जाएगा तब तुम्हारा मन भगवान् में लगेगा, तब तुम्हारी बुद्धि भगवान् में लगेगी। तो यह तीसरा विकल्प है। यह भी नहीं कर सकते? मेरे लिए काम नहीं कर सकते? तो चौथा विकल्प है –

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।। (१२/११)

सबसे बड़ी विधि – मन और बुद्धि का निवेश। दूसरी विधि – मन और बुद्धि को लगाने का अभ्यास। तीसरी विधि – भगवान् के लिए कर्म करना। चौथी विधि बता रहे हैं – अगर भगवान् के लिए कर्म नहीं कर पा रहे हो ; कर्म करने के पहले भगवान् का स्मरण नहीं करते, कर्म करने के अंत में भगवान् का स्मरण नहीं करते, बीच में

भगवान् का स्मरण नहीं करते – भगवान् के लिए कर्म नहीं कर रहे हो तो चौथा काम तो करो – मेरा सहारा लेकर कर्म करो और सब कर्मों का फल त्याग दो।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः – अगर मेरा सहारा लेकर, मुझसे जुड़ने का काम यानी – मेरा काम करने में तुम असमर्थ हो – एक अर्थ कुछ लोगों ने यह बताया। कुछ दूसरे लोगों ने अर्थ बताया, वह ज्यादा ठीक लगता है कि अगर तुम इसमें भी अशक्त हो, अगर तुम मेरे लिए काम नहीं कर सकते हो तो मुझसे मिलने की इच्छा रखकर, मेरा सहारा लेकर सब कर्मों का फल त्याग दो। तुम काम करो, लेकिन कर्म का फल मुझको ही प्राप्त हो – यह वृत्ति नहीं हो। *मद्योगमाश्रितः* का अर्थ लेकर जिन्होंने कहा भगवान् का आश्रय, भगवान् का सहारा लेकर कर्म करते हैं, वे कहते हैं भगवान् को ही फल सौंप दो। इसमें *'कर्मफलत्यागं'* कहा है, समर्पण नहीं कहा है।

लोकमान्य तिलक इसको बिल्कुल शुद्ध, निष्काम कर्मयोग मानते हैं। उन्होंने बताया कि निर्गुणोपासना से भी, सगुणोपासना से भी, सब कर्म फल त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि अंत में उन्होंने ऐसा ही कहा है। यह निष्काम कर्म योग की बात होती, तो दूसरे अध्याय में, तीसरे अध्याय में होती। बारहवें अध्याय में जो भक्तियोग है, उसमें *मद्योगमाश्रितः* का सम्बंध *सर्वकर्मफलत्यागं* से जोड़ना चाहिए। तुम कैसे कर्मफल त्याग दोगे? कर्मफल त्याग करने की पात्रता भी तुममें तब आएगी जब तुम मेरा सहारा लोगे। जब तुम मुझसे जुड़े रहना चाहोगे, मुझसे जुड़े रहना चाहकर, मेरा सहारा लेकर तुम जो काम कर रहे हो, उसका फल भी छोड़ दो। आपको याद है –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। (२/४७)

यह कर्मयोग की चतुःसूत्री है। तो कर्म के फल के ऊपर तुम्हारा अधिकार है। गीता यह नहीं कहती कि कर्म के फल के ऊपर तुम्हारा अधिकार नहीं। नहीं हो – *मा* का मतलब है। है तो तुम्हारा फल के ऊपर अधिकार – लेकिन तुम उस अधिकार को छोड़ दो – यही भगवान् कहते हैं। *'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्'*–अपने ऊपर नियंत्रण करके–अपने मन को संयत करके, भगवान् का सहारा लेते हुए कर्म का फल समष्टि के लिए, परहित के लिए छोड़ दो। उसका फल मैं भोगूँ – यह बुद्धि छोड़ दो।

तो चार बातें बताईं – पहले मन और बुद्धि दोनों मुझमें लगा दो ; दूसरे मन और बुद्धि लगाने का प्रयास करो ; तीसरे जो काम करो मुझको समर्पित कर दो ; चौथे – अगर मुझको समर्पित नहीं कर सकते, क्योंकि याद नहीं रहता कि मेरे लिए कर रहे

हो ; तो जो भी काम कर रहे हो उसका फल तुम प्राप्त करना मत चाहो। है तुम्हारा अधिकार, अगर अधिकार भोग करोगे तो बँधोगे। कर्म बाँधता क्यों है? अगर फल पाओगे – तो बँधोगे। कर्म-फल त्याग करोगे तो कर्म के बंधन से छूटोगे। तो कम से कम इतना तो करो। तुम कर्म-फल का त्याग तो कर दो।

अब देखिए! चारों बात बताने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण को लगा कि कोई चौथा काम क्यों करेगा भाई? सच बताइए आपमें से कितने लोग हैं जो घटिया काम करना चाहते हैं? आपके भीतर का जो थोड़ा सा अहं भाव है, वह कहेगा हम घटिया काम क्यों करें। हम करेंगे तो बढ़िया ही काम करेंगे – तो यह मंद साधन है। यह मंद उपाय है ; मंद उपाय को मंद मानकर उसमें करने प्रवृत्ति नहीं होती। उत्कृष्ट साधन में प्रवृत्ति होती है - चाहे सधे, चाहे न सधे। लेकिन जो सधता है, वह अगर मंद साधन है, तो उसमें सहज प्रवृत्ति नहीं होती। तो भगवान् उसकी प्रशंसा करते हैं – देखो भगवान् कैसे अद्भुत हैं। भगवान् की महिमा देखो – अभी सीधे-सीधे बता रहे हैं अवरोह क्रम में। सबसे बड़ा क्या बताया? मन बुद्धि का निवेश करो, उसके बाद अभ्यास करो, उसके बाद मेरे लिए काम करो और उसके बाद कर्मफल त्याग करो। तो जिसको उन्होंने अवरोह क्रम से बताया, अब उसको आरोह क्रम से बता रहे हैं। क्यों बताएँगे आरोह क्रम से, इसलिए कि वे कहते हैं कि जो साधन बहुत कठिन है, उसी की प्रशंसा करने पर जब लोग कर नहीं पायेंगे तो बेचारे गिर जाएँगे। सहज साधन में उनकी प्रवृत्ति हो, इसके लिए वे सहज साधन की प्रशंसा कर रहे हैं। इतना सहज भी नहीं है – कर्म-फल त्याग। लेकिन उन साधनों की तुलना में सहज है।

फिर एक बात और है। प्रशंसा किसकी करनी चाहिए? कलश की कि नींव की – सोचने की बात है। किसकी प्रशंसा होनी चाहिए – मकान जो चमकता हुआ दिखाई पड़ रहा है कि जो नीचे गड़ा हुआ है। नींव के ऊपर महल खड़ा हुआ है। कलश जिस नींव पर स्थापित हुआ उसकी प्रशंसा होनी चाहिए। कलश किस नींव पर स्थापित है? जो हम कर्म कर रहे हैं, उसका फल हम नहीं भोगें – कर्म फल के त्याग की नींव पर। भगवान् से हमारा मन और हमारी बुद्धि लगे - यह सम्भव है। इसलिए १२वें श्लोक में, जिसको अभी तक अवरोह क्रम से बताया, उसको आरोह क्रम से बताएँगे, दो कारणों से। एक कि जो मंद अधिकारी हैं उनको मंद साधन के प्रति श्रद्धा हो, नहीं तो उनको उस साधन के प्रति श्रद्धा ही नहीं होगी– इसलिए उसकी प्रशंसा है। और उसकी इसलिए भी प्रशंसा है कि वह वास्तव में नींव है। कलश होगा सबसे ऊपर - लेकिन कलश जिस नींव पर स्थापित है उस नींव की प्रशंसा होनी चाहिए, इसलिए आप देखिए —

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।। (१२/१२)

भगवान् क्या कह रहे हैं कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान विशिष्ट है, ध्यान से कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्मफलत्याग करते ही तुरंत, बिना किसी व्यवधान के ('अनन्तरम्' – कोई अंतर जिसमें नहीं पड़ता, बिना एक क्षण की देरी के) तुरंत शांति प्राप्त होती है – इसलिए कर्मफलत्याग सबसे श्रेष्ठ हो गया। देखिए वहाँ कर्मफलत्याग को चौथा साधन बताया, यहाँ कर्मफलत्याग को सबसे बड़ा बताया। अब इसको समझना चाहिए कि क्या बता रहे हैं?

'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा' – अपने यहाँ ज्ञान का मतलब ब्रह्म ज्ञान नहीं है। ज्ञान शब्द का प्रयोग बहुत अर्थों में होता है। यहाँ ज्ञान का अर्थ है कि जड़ की तरह अभ्यास मत करो, जो बिना अर्थ समझे रहते हैं। आपलोगों को मैं एक रहस्य की बात बताता हूँ – कविता आप याद करना चाहें, कैसे याद करेंगे? कविता जल्दी कैसे याद होती है? कविता तब जल्दी याद होती है, जब कविता का अर्थ समझ में आता है। जिनको अर्थ समझ में नहीं आता, उनको याद करने में विलम्ब होता है। तो रट्टू तोते की तरह जो याद करेगा, बिना अर्थ समझे, उससे वह व्यक्ति ज्यादा अच्छा है, जो अर्थ समझकर याद करेगा। *'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा'* – रट्टू तोते की तरह अभ्यास करके याद करने वाले से, उसका ज्ञान प्राप्त करके याद करने वाला श्रेष्ठ है। तो शुष्क अभ्यास करने वाले से, जिसके लिए अभ्यास कर रहे हैं, उसके बारे में जितनी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, जानकारी कर लेने पर वह अभ्यास सरस है; इसलिए शुष्क अभ्यास की तुलना में ज्ञान युक्त अभ्यास श्रेष्ठ है। *'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते'* – जानकारी है लेकिन उस जानकारी में निरन्तर मन लग नहीं रहा। ध्यान कहते हैं अविच्छिन्न चिन्तन संज्ञान परम्परा को। अविच्छिन्न चिन्तन संज्ञान परम्परा यानी जो आप सोच रहे हैं, उसी की परम्परा चली जाय और उसमें कोई विच्छेद न आए। तो केवल सूखी जानकारी नहीं – उस सूखी जानकारी से अपने इष्टदेव का रूप क्या है, लीला क्या है, चरित्र क्या है – यह जान लिया और उसकी तरफ मन लगा रहे हैं, लेकिन उसमें मन लगाते हुए ध्यान लग जाए, उसमें अविच्छिन्नता आ जाए, एकतारता आ जाए – वह केवल ज्ञान से, केवल जानकारी से बड़ी चीज है और उस ध्यान से भी, जो उसकी चरम स्थिति है – *मद्योगमाश्रितं* – मेरा सहारा लेकर जो कर्म कर रहे हैं, उसका लाभ हम अपने लिए नहीं लेंगे, कर्म फल का त्याग कर देंगे तो 'अनन्तर' – तुरंत शांति होगी।

देखिए एक बात समझिए – विच्छेद क्यों होता है? विच्छेद होता है कि जो काम कर रहे हैं, उसका फल अगर हमको नहीं मिला तो फिर क्या होगा? नौकरी कर रहे हैं। तो उसमें अगर हमको वेतन नहीं मिलेगा तो क्या होगा? व्यापार कर रहे हैं और लाभ नहीं होगा तो क्या होगा? फल की ओर हमारा मन लगा रहता है। फल की ओर मन लगा रहने से विक्षेप आता है। बार-बार विक्षेप आएगा, तो मन लगेगा ही नहीं, बुद्धि लगेगी नहीं। विक्षेप का मूल कारण है, फल प्राप्ति की लालसा। फल प्राप्ति की जितनी बड़ी लालसा होगी, उतना अधिक विक्षेप होगा। फल प्राप्ति की लालसा का जहाँ परित्याग हुआ, तुरंत शांति मिलेगी – फल प्राप्ति की लालसा ही विक्षेप का मूलभूत कारण है। यह फल मुझको ही मिलना चाहिए, तुरंत मिलना चाहिए। इससे कर्म की कुशलता नष्ट हो जाती है। तुम्हारा ध्यान कर्म में नहीं लगता, फल में लगता है। कर्मफलत्याग करने से कर्म की ओर एकाग्रता बढ़ेगी कि घटेगी? बहुत से लोग सोचते हैं कि कर्मफल त्याग करने से कर्म की एकाग्रता ही नहीं रहती – नहीं-नहीं। हमारा जो मन फल की ओर लगा हुआ था; जितना ध्यान फल की ओर जाता था, उतना ध्यान भी कर्म ही की ओर जाएगा। इसलिए कर्म और अच्छा होगा। सकाम भाव से कर्म करने की तुलना में, निष्काम भाव से कर्म करने में कुशलता ज्यादा है। जब भगवान् कहते हैं, *'योगः कर्मसुकौशलम्'* – योग, कर्म में कुशलता का नाम है; तो किस कुशलता का नाम है – चोरी का काम बहुत योग्यता से हो – तो योग हो जाएगा? बेईमानी बहुत कुशलता से की जाय तो योग हो जाएगा? नहीं *योगः कर्मसुकौशलम्* का मतलब है वह कौशल जिससे कि कर्म फल हमको न बाँध पाए। कर्म करने की वह विधि, वह कुशलता, जिससे हम कर्म के बंधन से मुक्त रहें। उसका नाम योग है। *'योगः कर्मसुकौशलम्'* का मतलब यह नहीं है कि जो काम आप करते हैं, वह बड़ी चतुराई से कीजिए। बहुत चतुराई से झूठ बोलिए, जिससे कोई आपको न पकड़ पाए यह योग है? यह अर्थ नहीं है। *'योगः कर्मसुकौशलम्'* का मतलब है कि आप कर्म इस कुशलता के साथ कीजिए कि जो कर्म बाँधता है, उसकी जो बांधने की शक्ति है वह व्यर्थ हो जाए। कर्म आपको बांध न पाए – इस कुशलता से जो कर्म किया जाता है, उसका नाम योग है। कर्मफल की ओर जबतक हमारी प्रवृत्ति रहेगी – तो कर्म की ओर पूरी दृष्टि नहीं जाएगी, कर्म में पूरी तत्परता, पूरी उत्कृष्टता नहीं आएगी। कर्मफल की तरफ से मन को हटा देने से कर्म की क्षमता बढ़ती है; और तत्काल शांति प्राप्त होती है। हे भगवान् इस तरफ हमलोग आगे बढ़ें। •

भक्तों के लक्षण

भगवान् की कृपा है कि हम आज द्वादश अध्याय के अन्तर्गत भगवान् के भक्तों के लक्षणों का विचार कर रहे हैं। ध्यान दें हम भगवान् के भक्तों के लक्षणों का विचार कर रहे हैं कि भगवान् के लक्षणों का विचार कर रहे हैं? बहुत से लक्षण बिल्कुल भगवान् के ही लक्षण हैं। ऐसा इसलिए है कि भगवान् और भगवान् के भक्तों में अन्तर नहीं है। नारदीय भक्तिसूत्र में स्पष्ट कहा गया है- *'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'*। भगवान् में और भगवान् के भक्त में भेद का अभाव होता है। तुलसी बाबा ने कहा है—

सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं।
किमपि कह मति मलिन दास तुलसी।।

सन्त में और भगवान् में जरा सा भी अन्तर नहीं, किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है। तो भगवान् और भक्तों के लक्षणों का साम्य, यह इस बात को रेखांकित करनेवाला तथ्य है कि ये भक्त भगवन्मय हो चुके हैं। जो भक्त भगवन्मय नहीं हैं उनके ऐसे लक्षण नहीं होंगे।

ये लक्षण द्वितीय अध्याय में दिये गये स्थितप्रज्ञ के लक्षणों से और त्रयोदश अध्याय में दिये गये त्रिगुणातीत ज्ञानी के लक्षणों से बहुत मिलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि अपनी पराकाष्ठा में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग बहुत कुछ एक जैसे हो जाते हैं। रास्ते अलग हैं, गन्तव्य एक है। एक बढ़िया श्लोक है—

ज्ञानस्य या पराकाष्ठा सैव भक्तिरितिस्मृता।
भक्तेस्तु या पराकाष्ठा, सैव ज्ञानं प्रकीर्त्तितम्।।

ज्ञान की जो पराकाष्ठा है, उसे ही भक्ति कहा जाता है और भक्ति की जो पराकाष्ठा है, उसे ही ज्ञान कहा जाता है। तो ज्ञान और भक्ति अपनी पराकाष्ठाओं में एक दूसरे के बहुत निकट आ जाया करते हैं ; करीब-करीब एक हो जाया करते हैं – ऐसा भक्तों का अनुभव है, ज्ञानियों का अनुभव है।

---

* द्वादश अध्याय (भक्ति-योग) : श्लोक संख्या १३ से २०

कर्मयोगी के लिए भी यही बात सच है। महात्मा गाँधी ने स्थितप्रज्ञ और कर्मयोगी के लक्षणों से इसको बहुत समान पाया है। मधुसूदन सरस्वती ने, शंकरानंद ने ज्ञानियों के लक्षण से इसको बहुत निकट पाया है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि ये चरम लक्षण हैं। चरम लक्षण का क्या मतलब हुआ? गीता में ही भक्तों की चार कोटियाँ की गई हैं – *आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।*

निश्चय ही ये लक्षण आर्त भक्त के नहीं हो सकते। आर्त तो किसी के द्वारा पीड़ित है, दुःखी है। कोई न कोई उसका द्वेषी है, उससे मुक्ति पाने के लिए वह भगवान् की शरण में आया है। वह अद्वेष्टा नहीं हो सकता और जो जिज्ञासु होता है, वह तो संसार से उद्विग्न हो गया है। संसार से उद्विग्न होने के बाद वह मुक्ति की राह खोज रहा है। इसमें तो कहा गया है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। (१२/१५/१)

तो स्वभावतः जिज्ञासु भक्त के ये लक्षण नहीं हो सकते और अर्थार्थी के तो ये हो ही नहीं सकते। इसमें कहा है – *संतुष्टः सततं योगी...* अर्थार्थी तो अर्थ पाना चाहता है, वह अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट है। अधिक अर्थ, और अधिक अर्थ पाना चाहता है, तो वह *'संतुष्ट : सततं योगी'* नहीं हो सकता। इस प्रकार अगर आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी ये लक्षण नहीं घट सकते तो किस पर घटेंगे? ज्ञानी पर घटेंगे। अर्थात् ये मूलतः ज्ञानी भक्त के लक्षण हैं और भगवान् ने ज्ञानी के लिए कहा भी था—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।। (७/१७)

ज्ञानी समस्त अर्थों, कामनाओं, अपेक्षाओं का अतिक्रमण करके मुझे प्राप्त करना चाहता है। वह निष्काम है, इसलिए मैं उसे बहुत प्रिय हूँ, और वह मुझको बहुत प्रिय है। *ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्*। ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। ज्ञानी मेरा आत्मस्वरूप है। जो मैं हूँ, वही ज्ञानी है।

तो यह ज्ञानी भक्तों का लक्षण है। ऐसा प्रायः सभी आचार्यों का मत है। शंकराचार्य, शंकरानंदजी, मधुसूदन सरस्वती मानते हैं कि जो अक्षर ब्रह्म के उपासक हैं, यह उनका लक्षण है। लेकिन यह बात समझ में कम आती है; क्योंकि भगवान् ने इसमें बिल्कुल स्पष्ट ही कहा कि जो सगुणोपासक है, वह अधिक सुरक्षित है। मैं उसको बहुत प्यार करता हूँ। इसलिए अधिकांश लोगों का मत यह है कि ये सगुणोपासक भक्तों के लक्षण हैं।

सगुणोपासक भी ज्ञानी होते हैं, अक्षरोपासक भी ज्ञानी होते हैं। ज्ञानी भक्त का

यह लक्षण है, यह प्रायः सर्वमान्य सिद्धान्त है। अब ज्ञानी भक्त के भी कई प्रकार होते हैं। आज के प्रवचन का शीर्षक है *भक्तों के लक्षण*। दो प्रकार के भक्तों का निरूपण तो स्पष्ट है। अन्तिम श्लोक में साधक भक्त है, और तेरह से उन्नीस श्लोकों में सिद्ध भक्त है, यह तो सबको स्वीकृत है। तो एकाधिक भक्तों का वर्णन तो हो ही गया। लेकिन कुछ विद्वानों का यह मत भी है कि जहाँ जहाँ.... *मद्भक्तः स मे प्रियः*.... उन्होंने दोहराया है, वहाँ-वहाँ उन्होंने एक विशेष प्रकार के भक्त का निरूपण किया है। ज्ञानियों के भी कई प्रकार हो सकते हैं। ज्ञानी भक्तों के अन्तर्गत भी जो पाँच बार उन्होंने 'प्रिय' कहा है। क्यों पाँच बार कहा? लक्षण देकर एक ही बार प्रिय कहते। तो कुछ लोगों का मत यह कि एकाधिक प्रकार के ज्ञानी भक्तों का वर्णन है। अन्तिम श्लोक में तो निश्चय ही साधक भक्त का लक्षण है, उसमें सिद्ध भक्त का निरूपण नहीं है। इसलिए इस बात को समझना चाहिए कि इन भक्तों में भक्ति तत्त्व का जो आचरित रूप है, वह महत्त्वपूर्ण है। भक्ति निरूपण की ही बात नहीं है, भक्ति जीवन की बात है। जो भक्तिमय जीवन जीते हैं, वे कैसे होते हैं? तुलसीदास ने कहा है कि –

तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै
जेहि सुभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सौं नेह, छाड़ि छल करिहै।

तुमने हमें अपनाया है तो हमारा जीवन कैसा होना चाहिए?

गढ़ि गुढ़ि छोलि छालि कुन्द की सी भायी बातें
जैसी मुख कहौं, तैसी जीय जब आनिहौं

तब मानूँगा कि तुमने मुझको अपनाया है। तो भगवान् के द्वारा अपना लिये गये भक्त के जो चरम लक्षण हैं, वे चरम लक्षण जिनके जीवन में प्रतिफलित हो गये उनका यह वर्णन है। यह केवल साधक भक्तों का वर्णन नहीं है। यह सिद्ध भक्तों का, ज्ञानी भक्तों का वर्णन है। यह बात समझ में आनी चाहिए। एकादश अध्याय में कहा गया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।। (११/५४)

अनन्य भक्ति के द्वारा मुझको जानना, मुझको देखना और मुझमें प्रवेश कर जाना सम्भव है। सप्तम अध्याय से दशम अध्याय तक भगवान् का तात्त्विक रूप है, *ज्ञातुं* –दशम अध्याय तक भक्त ज्ञान प्राप्त करता है भगवान् का। एकादश अध्याय में भगवान् का साक्षात्कार करता है। *द्रष्टुं* – वह उनका दर्शन प्राप्त करता है। और द्वादश अध्याय में - बारहवें अध्याय में – *प्रवेष्टुं च परन्तप* – अनन्य भक्ति के कारण

भगवान् में भक्त का प्रवेश हो जाता है। यह जो मैंने कहा कि भक्त भगवन्मय हो गया, भगवान् और भक्त एकरूप हो गये, यह तभी संभव है, जब भक्त भगवान् में प्रविष्ट हो गया हो।

'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप' – भगवान् को जानना, भगवान् का साक्षात् दर्शन कर लेना और भगवान में प्रवेश कर जाना, भगवन्मय हो जाना – भक्ति के द्वारा ये तीनों स्थितियाँ संभव हैं। सप्तम, अष्टम, नवम, दशम इन चार अध्यायों में भगवान् को भक्त तत्त्वतः जानता है.... जानने की स्थिति में आता है। एकादश अध्याय में वह भगवान् का साक्षात्कार (दर्शन) करता है। और द्वादश अध्याय में वह भगवान् में प्रवेश कर जाता है। भगवान् ने द्वादश अध्याय में स्वयं कहा है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। (१२/८)

तुम अपना मन मुझ में रख दो.... *मय्येव मन आधत्स्व*.... अपना मन मुझ में लगा दो.... *मयि बुद्धिं निवेशय*.... अपनी बुद्धि मुझ में निविष्ट कर दो.... प्रविष्ट कर दो... तो क्या होगा... *निवसिष्यसि मय्येव*... तुम मुझ में निवास करोगे। *प्रवेष्टुं च परन्तप*... ।

भक्त अपने मन को, अपनी बुद्धि को भगवान् में पूर्णतः अर्पित कर देगा तो भगवान् में प्रवेश कर जायेगा, अतः भगवान् और भक्त में अभिन्नता होगी। भगवान् में प्रविष्ट भक्त, सिद्ध भक्त, भगवन्मय भक्त के लक्षण – ये कितने पवित्र लक्षण हैं, इनका आपको अनुभव कराने के लिए कहा है। इन लक्षणों को हम बड़ी श्रद्धा से श्रवण करें, और बार-बार इस बात का विचार करें कि हम आज तो वहाँ नहीं पहुँचे हैं, लेकिन हमारा गंतव्य क्या है? हमारा प्राप्तव्य क्या है? हमारा लक्ष्य क्या है? यह जितना स्पष्ट होगा, अपनी स्थिति में और उसमें जितना अन्तर है, वह अन्तर हमको चुभेगा। वह अन्तर हमें प्रेरित करेगा कि हम उनकी ओर और अधिक बढ़ें। यह अन्तर भगवान् की कृपा से मिट जाये इसलिए ज्ञानी भक्त के, सिद्ध भक्त के लक्षणों का हम श्रद्धापूर्वक मनन करें।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। (१२/१३)

इसमें जो सर्वभूतः – षष्ठी विभक्ति है, ये तीनों के साथ लगेगी। अद्वेष्टा के साथ भी, मैत्री के साथ भी और करुण के साथ भी। जो भगवान् का भक्त होता है, वह किसी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं रखता। क्यों द्वेष नहीं रखता? आप इस बात पर ध्यान

दीजिए। द्वेष किसी ऐसे व्यक्ति से करते हैं, जिसने आपका कोई अकल्याण किया है। या जो आपसे आगे बढ़ गया है, जिसने आपको पराजित कर दिया है, उसको आप शत्रु की तरह मानते हैं।

एक ही साथ हृदय में शत्रु और भगवान् – दोनों नहीं रहते। जितनी देर हृदय में शत्रु रहेगा, उतनी देर हृदय में भगवान् नहीं रहेगा। अब भगवान् का भक्त, जो भगवान् में प्रवेश कर चुका है, वह किसको शत्रुमय मानेगा।

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।

जिसने उसको दुःख पहुँचाया है, जिसने उसको अपमानित किया है, क्या अपनी इच्छा से उसने ऐसा किया है? भक्त मानता है कि प्रभु की इच्छा से उसने ऐसा किया हैं। उसने मेरी सहिष्णुता बढ़ाई। भगवान् की कितनी कृपा है कि वह मुझको अपमानित करवाकर – मुझको परास्त करवाकर मेरी सहिष्णुता में वृद्धि कर रहे हैं – मेरी तपस्या बढ़ा रहे हैं। यह तो भगवान् का भेजा हुआ भक्त है, मेरा परम हितैषी है – इसने तो मेरे परम कल्याण का साधन दे दिया – यह द्वेषी कैसे हो सकता है?

द्वेष ज्वलनशील वृत्ति है, जैसे क्रोध। क्रोध का स्थायी भाव – द्वेष। किसी के प्रति जब बहुत क्रोध होता है तो उसके प्रति स्थायी द्वेष हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह वाक्य है कि 'क्रोध का मुरब्बा है द्वेष'। यह द्वेष आपके हृदय में रहेगा, तो आपको जलायेगा। जिसके हृदय में द्वेष रहता है, जिसके हृदय में क्रोध रहता है -- जलता तो वह है। जैसे मशाल पहले लकड़ी को जलाती है, तब दूसरी किसी वस्तु को जलाती है। तो ज्वलनशील वृत्ति – जिसके कारण आपके हृदय में शत्रु आ जाए – वह भक्त कभी स्वीकार ही नहीं कर सकता। इससे किसी प्राणी के प्रति उसके मनमें द्वेष नहीं है। सबके प्रति अनुराग है – द्वेष किसी के प्रति नहीं है।

'सर्वभूतानां मैत्र' – भगवान् के लिए क्या कहा – *सुहृदः सर्वभूतानां* – भगवान् सब भूतों के – सब प्राणियों के सुहृद हैं। भक्त क्या है – *सर्व भूतानां मैत्रः*। आप देख रहे हैं – कितना साम्य। भगवान् किसी से द्वेष नहीं करते।

'सब मम प्रिय सब मम उपजाये' – सब मेरे प्रिय हैं, सब मेरे द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। भगवान् किससे द्वेष करेंगे? जैसे भगवान् किसी से द्वेष नहीं करते – उनका भक्त किसी से द्वेष नहीं करता। जैसे भगवान् सुहृद हैं – *'सुहृदः सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छित।'* इस प्रकार जो मुझको जान लेता है, उसको शान्ति प्राप्त होती है – वैसे ही भक्त सब प्राणियों का मित्र है। *सर्वभूतानां मैत्रः* – किसी के प्रति कोई अशुभ भाव उसके मन में आता ही नहीं। मित्र वह, जो स्नेह से अपना मन भी चिकना करे और

दूसरों का भी। मित्र – सूर्य को भी कहते हैं। जैसे सूर्य सबको प्रकाश देता है। क्या वह किसी को प्रकाश देने को मना करता है? नहीं – सबको समान रूप से प्रकाश देता है। वैसे ही भगवान् का भक्त, सबको सद्भाव देता है, सबको स्नेह देता है। वेद में आया है – *'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्'* – समस्त प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें। *'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'* – *'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे'* बाद में *'समीक्षामहे'*। सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें। हमारा कोई दुश्मन नहीं, हमारा कोई अमित्र नहीं। सब पर करुणा। भक्त अपने को दुखी मानता ही नहीं। भगवन्मय होता है, तो पीड़ित दुःखी कैसे? इसलिए वह औरों को अपने से ज्यादा पीड़ित, अपने से ज्यादा दुखी मानता है; और उसके दुःख के निवारण को बराबर प्राथमिकता देता है।

याद रखिए – करुणा केवल अभावात्मक स्थिति नहीं है, भावात्मक स्थिति है – दुःख को दूर करने की प्रेरणा करुणा है। सहानुभूति और करुणा में बहुत अन्तर है। जब तक आप दूसरे के दुःख से द्रवित होकर उसके दुःख का निवारण करने का प्रयास न करें, तब तक आपने उस पर करुणा नहीं की।

अब इस बात को देखिए कि मैत्री और करुणा, इन दोनों वृत्तियों का कोई विषय है। कोई एक व्यक्ति जिसके प्रति मैत्री – कोई एक व्यक्ति जिसके प्रति आपके मनमें करुणा हो।

अद्वेष्टा का कोई विषय नहीं है। जो सबका होता है, वह किसी का भी नहीं होता। यह भी एक नियम है। किसी के प्रति द्वेष नहीं – सबके प्रति मैत्री भाव, सबके प्रति करुणा भाव। करुणा तो है, लेकिन बँधना नहीं है। राजा भरत की कहानी आपने सुनी। मृग शावक के प्रति उनके मन में करुणा आई, उसको अपने आश्रम में ले आए। आसक्त हो गये – उनको मृग का ही जन्म ग्रहण करना पड़ा। मैत्री और करुणा तो ठीक – लेकिन किसी के भी प्रति ममता नहीं आनी चाहिए।

निर्मम शब्द भी बड़ा अद्भुत है। जैसे कहते हैं *'निर्भय'* – जैसे कहते हैं निर्वैर। *निर्वैर* – जिसके मन में वैर नहीं, वह निर्वैर है। *निर्मम* – जिसके मन में मम नहीं - - *मम* तो कोई चीज होती नहीं। *मम* कोई चीज होती है? भय होता है, वैर होता है। मम तो किसी का सम्बन्ध बताता है। निर्मम का क्या मतलब हुआ? जिसमें ममत्व बुद्धि न हो। जिसमें ममता नहीं हो। हिन्दी में निर्मम शब्द कठोर के अर्थ में आता है।

चिन्ता क्या ऐ निर्मम, बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जाएगा पीड़ा का, तेरा ही राज्य अँधेरा।।

वहाँ *'निर्मम'* – भगवान् को निष्ठुर कहकर उपालम्भ दिया है। यहाँ निर्मम, निष्ठुर नहीं। यहाँ ममता का अभाव। बाबा ने एक बहुत ही अच्छा दोहा लिखा है—

कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु।
तुलसी दुइ महँ एक ही खेल छाँड़ि छल खेलु।।

ये दो प्रकार के खेल हैं। इन दो प्रकार के खेलों में कोई भी एक खेल खेल जो तुझको अच्छा लगे – छलको छोड़कर खेल। *कै करु ममता रामसूं* – यदि तू ममता नहीं छोड़ सकता तो रामजी से ममता कर। रामजी से ममता करना भी ममता को तोड़ देने का एक उपाय है। आप इस बात को जानते हैं कि बंधन से अगर कोई बड़ा हो जाए – तो बंधन टूट जायेगा। बंधन से कोई बड़ा हो – तो बंधन को वह तोड़ देगा। ममता के बंधन से हम आप बँधे हैं। हम सब जीव हैं, माया से ग्रस्त हैं। ममता हमको बाँधकर रखती है। ममता के बंधन में भगवान् आयेंगे? ममता से बड़े हैं – माया से बड़े हैं। तो भगवान् से ममता करना भी एक प्रकार से ममता से मुक्ति पाना है। वह भावनात्मक रूप से भगवान् से ममता करते-करते सारे संसार से ममता रहित हो जाता है। या *कर ममता पर हेलु* – ममता का बिल्कुल त्याग – यह ज्ञान की भूमिका है।

भगवान् से ममता करके ममता से उपरति – यह भक्ति की भूमिका है। या ममता भगवान् से करके – *'समर्पित मनो बुद्धि'* – मुझसे ममता करके फिर संसार की किसी भी वस्तु से ममत्व की बुद्धि नहीं, अपनेपन की बुद्धि नहीं, सब रामजी का, मेरा कुछ नहीं। *'निर्ममो'* का मतलब यही है कि संसार की कोई भी वस्तु मेरी नहीं। संसार की वस्तुएँ भगवान् की। भगवान् की वस्तु को अपनी वस्तु कहना, यह बड़ा भारी अहंकार है, विमूढ़ता है, अन्याय है। लक्ष्मीपति तो भगवान् हैं। सबके राजा तो भगवान् हैं – हम अपने आपको राजा मानते हैं, भूपति मानते हैं, छिः छिः। तो भगवान् की वस्तुएँ, सब धन भी भगवान् का है, कोई भी वस्तु मेरी नहीं है – यह भक्ति के अन्तर्गत निर्ममता है। *'निरहंकारः'* – और किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं हो। 'अहं' और 'अहंकार' का मौलिक अन्तर समझिए। जब हम कहते हैं *'अहं ब्रह्माऽस्मि'* – तो हमारा *'अहं'* शुद्धरूप है। 'अहं' का जो वास्तविक शुद्ध अर्थ है, जिसको अमर्त्य कहते हैं, वह तो *'आत्मा'* है। शुद्ध-बुद्ध-आत्म स्वरूप को 'अहं' कहते हैं। *'अहंकार'* मतलब – प्रकृति के कारण जिसमें अहं की बुद्धि आई है। जो हम हैं नहीं, जो वास्तव में हम नहीं हैं। लेकिन अहंकार के कारण, अविद्या के कारण, जिसमें हमने अपने 'मैं-पन' को मान लिया है। यह शरीर – यह मैं हूँ। और इसके कारण अहंकार। अहंकार कई कारणों से हो जाता है —

कुलं, वित्तं, श्रुतं, रूपं, शौर्यं, दानं, तपस्तथा।
प्राधान्येन मनुष्यानां सप्तैते मद हेतवः।।

(क्षेमेन्द्र कृत दर्पदलन १/४)

सात बड़े कारण हैं–जिनसे अहंकार होता है। मैं बड़े उत्तम कुल का हूँ, मेरे पास बड़े-बड़े मकान हैं, रुपया-पैसा है। मैं बड़ा सुन्दर हूँ, मैं ज्ञानी हूँ। अहंकार कई प्रकार का होता है। दास–मैं सबका दास हूँ; और दासत्व का भी कभी-कभी अहंकार होता है। कबीर ने इसमें बहुत अद्‌भुत बात कही है, भक्ति में अहंकार नहीं चल सकता —

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
शीश उतारै भुई धरै तब पैठे घर मांहि।।

'शीश' माने अहंकार। अपने अहंकार को त्यागकर, जो सिर काट के रखदे - - तब प्रेम के घर में पैठे। 'मैंने भगवान् के लिए अहंकार का त्याग कर दिया' इसका भी अहंकार हो जाता है। कबीर ने कितना अद्‌भुत दोहा कहा है —

शीश उतारे भुँई धरै ता पर राखे पाँव।
दास कबीरा यूँ कहे ऐसा हो तो आव।।

अपना सिर काटकर तुम भगवान् के द्वार पे रख दो, और अपने कटे हुए सिर को अपने पैरों से रौंदते हुए आओ। अगर तुम ऐसे हो – तो भगवान् के प्रेम के दरबार में प्रवेश के अधिकारी हो सकते हो। यानी 'अहंकार के त्याग' के अहंकार का भी त्याग। *निरहंकारः* – भगवान् के लिए सबकुछ छोड़कर बिल्कुल दीन होकर – भगवान् के प्रेम के द्वार में प्रवेश करते हैं। भक्त लोगों ने कहा कि भाई सब अहंकार छोड़ देंगे, पर एक अहंकार तो नहीं छोड़ेंगे। बाबा बोले कि तुम भले हमें अज्ञानी कह लो, कह लो कि तुलसीदास अज्ञानी हैं, कह दो कि तुलसीदास मूर्ख हैं। हाँ भाई! अज्ञानी, मूर्ख हूँ। बना हूँ – बना रहूँगा।

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।

भूलकर के भी यह अहंकार मेरे मन से न जाये कि मैं सेवक हूँ और रामजी मेरे स्वामी हैं। *मैं सेवक रघुपति पति मोरे*। यह अभिमान मैं नहीं छोड़ूंगा। और सारे अहंकार मैं छोड़ दूंगा – लेकिन मैं रामजी का सेवक हूँ यह अहंकार नहीं छोड़ूंगा। इस अहंकार में कितनी विनम्रता है। आप अहंकार-अहंकार का भेद समझिए। किस बात का अहंकार है तुलसीदास को। किसी बात का अहंकार नहीं है – मैं केवल रामजी का सेवक हूँ – रामजी का शरणागत हूँ – बस यही।

'समदुःखसुखः क्षमी' – दुःख और सुख दोनों में समान हों। क्योंकि ये दुःख

और सुख – भक्त की दृष्टिमें – स्वतंत्र आते ही नहीं। मैंने एक दोहा सुनाया था, आपको याद होगा –

सुख सपना दुख बुलबुला, दोनो हैं मेहमान।
सब का आदर कीजिये, जो भेजें भगवान।।

न तो सुख रहने वाला है, न दुःख रहने वाला है। सुख एक मोहक सपना है– वह टूटेगा ही टूटेगा। दुःख जितनी भी पीड़ा दे – बुलबुला है – फूटेगा ही फूटेगा। अनंतकाल के लिए सुख नहीं, अनंतकाल के लिए दुःख भी नहीं। दोनों थोड़े समय के लिए आते हैं – अतः इनको मेहमान कहा। यह मेहमान किसने भेजा है? भगवान् ने भेजा है। आपके घर किसी सुहृद ने किसी को भेजा हो तो आप उसका अपमान करेंगे? उसकी ओर देखेंगे कि भेजने वाले की ओर देखेंगे? भेजने वाले की ओर देखकर, जो आया है – उसका आप सम्मान करेंगे। भगवान् का भेजा हुआ सुख, उन्हीं का भेजा हुआ दुःख —

राजी हूँ मैं उसी में, जिसमें तेरी रजा है
यों यूँ भी वाह वाह है और यूँ भी वाह वाह है।

सुख भेजो – तो भी वाह वाह! दुःख भेजो – तो भी वाह वाह! वाह वाह – दुःख आ गया — *आ गई गर्दिशे आसमानी, बड़ी मेहरबानी, बड़ी मेहरबानी।*

भक्त सुख में फूलकर कुप्पा नहीं होता और दुःख में सूख कर छुहारा नहीं होता। यह मेरे गुरुजी कहते थे, इसलिए मैं भी सुनाता है। गुरुजी की बात है अपनी बात कुछ भी नहीं। *'समदुःखसुखः क्षमी'* – यह आधारभूत सिद्धान्त है। समत्व। मैं इस बात को फिर दोहराऊँगा – क्योंकि भक्त के चरित्र में कितने प्रकार के समत्व का वर्णन है, यह मैं बताऊँगा।

'सम दुःख सुख' – दुःख और सुख जिसको अपने साधन मार्ग से विचलित नहीं कर सकते। न सुख आकृष्ट करके मोहित कर सकता है, न दुःख भयभीत करके विचलित कर सकता है। जो किसी भी आकर्षण, भय या प्रलोभन से ऊपर उठा हुआ है, जिसके लिए सुख दुःख दोनों समान हैं – भक्त का यही लक्षण है। *क्षमी* – सबको क्षमा करता है।

मेरे गुरुजी एक बात कहते थे – 'हम लोग अपने को कितना क्षमा करते हैं, इस बात पर विचार करो। कभी-कभी अपनी जीभ दाँत से दब जाती है या नहीं? तो क्या करते हैं – दाँत तोड़ देते हैं अपना? नहीं तोड़ते। कभी कभी बड़ी गलती होती है कि नहीं? तो क्या करते हैं – सिर फोड़ते हैं अपना? नहीं फोड़ते – क्षमा ही तो करते हैं। तो अपने को क्षमा करते हैं। दूसरे को – अपने से अलग मानते हैं, इसलिए दण्ड दे

देते हैं। इसलिए कोसते हैं। भगवान् के सब हैं तो सब हमारे हैं। इसलिए कोई हमसे अलग नहीं है – सबको क्षमा करो। जिसने हमारा अपमान भी किया हो – उसको भी। क्षमा वही कर सकता है जो अपराधी को दण्ड देने का सामर्थ्य रखता हो। असमर्थ लोग क्षमा नहीं कर सकते। असमर्थ लोग तो असहाय हैं। लेकिन किसी ने कहा पागल -- तो क्या हम पागल हो जायें। इसने गलत किया, तो हम भी गलत हो जायें? भगवान् ने आगे कहा –

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। (१२/१४)

जो सतत संतुष्ट है – सब हाल में संतुष्ट है, कभी असंतोष नहीं। असंतोष की तो कोई सीमा नहीं। कितना चाहोगे? कितना मिलेगा तो खुश होगे? बाहर की वस्तुओं के मिलने से संतोष कभी नहीं हुआ और कभी नहीं होगा। एक श्लोक सुना दूँ –

निःस्वो वष्टि शतं, शती दशशतं, लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां, क्षितिपतिः चक्रेशतां वांछति।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिः ब्रह्मास्पदं वांछति
ब्रह्मा शैवपदं, शिवं हरिपदं ह्याशावधिं को गतः।।

निःस्वो वष्टि शतं – जो निःस्व है – जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह फकीर चाहता है, सौ रुपये मिल जाएँ तो बहुत हैं। *शती दश शतम्* - जिसके पास सौ है, वह सोचता है हजार हो जाएँ। *लक्षं सहस्राधिपो*, जो सहस्रपति है, वह चाहता है लखपति हो जाएँ। पुराने समय में लखपति बहुत कम होते थे। आजकल लखपति कुछ नहीं है। *लक्षेशः क्षितिपालतां* - लखपति कहता है – राजा हो जाएँ। *क्षितिपतिः चक्रेशतां वांछति* – राजा कहता है कि चक्रवर्ती हो जाएँ। *चक्रेशः सुरराजताम्* – पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा कहता है – हाय! सिर्फ इसी पृथ्वी का राजा बना – कम से कम स्वर्ग का तो राजा बनता। *सुरराजतां* – इन्द्र होता। *सुरपतिः ब्रह्मास्पदं वांछति* – इन्द्र कहता है – ब्रह्मा होता। *ब्रह्मा शैवपदं* – शिव होता, *शिवं हरिपदं* – विष्णु होता.... कोई सीमा है? बाहर से कोई वस्तु मिलेगी, और उससे हम संतुष्ट हो जायेंगे – असंभव बात है। तो बाहर की वस्तुओं से संतोष – यह घटिया संतोष है। भीतर संतोष होना चाहिए। जिसको भगवान् की प्राप्ति हो गई, उसको किस चीज का अभाव?

भगवद् प्राप्ति के बाद किसी चीज का अभाव नहीं – वह अपने में – भीतर संतुष्ट है। भीतर देखिए इसमें दो बार 'संतुष्ट' है। *'संतुष्टो येन केनचित्'* – बीसवें श्लोक में यह बाहर जो मिले उसका संतोष है। और पहले कहा है – *संतुष्टः सततं योगी*

– यह भीतरी संतोष है। भगवद् प्राप्ति हो जाने के बाद सब प्रकार के अभावों का अभाव हो जाता है। भक्त को किसी वस्तुका अभाव नहीं होता। हर हाल में संतुष्ट। अच्छे हाल में – बुरे हाल में संतुष्ट। मान में – अपमान में – अलमस्त, सच्चिदानंद। *सततं योगी* – भगवान् से जो लगातार युक्त रहता है वही संतुष्ट हो सकता है। *संतुष्टः सततं* – बराबर संतुष्ट। प्रसिद्ध दोहा है हिन्दी का –

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवे संतोषधन सब धन धूरि समान।।

बाहर का धन क्या चीज है। भीतरी संतोष – *संतुष्टः सततं* – सिर्फ योगी भक्त ही सतत संतुष्ट हो सकता है। जो लगातार भगवान् से युक्त है। जो लगातार भगवान् से जुड़ा हुआ है। योग माने जुड़ना। संयोग योग। तो जो भगवान् से लगातार जुड़ा हुआ है, वह लगातार संतुष्ट होगा।

यतात्मा – जिसने अपने मन पर, अपनी बुद्धि पर, अपनी इन्द्रियों पर संयम प्राप्त कर लिया है। यत् माने संयत। आत्मनः माने अपने आपको। अपने आपको मतलब – शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय देह आदि आदि। तो जिसने अपने आपको संयत कर रखा है ; जिसने इच्छाओं को जीत लिया है ; जो इन्द्रियों के अधीन नहीं है; जिसका सुख बाहर कहीं बंधक नहीं पड़ा है। हमारा सुख बाहर कहीं बंधक है। कैसे सुख होगा – आईसक्रीम खा कर होगा? कैसे सुख होगा – अमुक सिनेमा देख कर होगा। कैसे सुख होगा – ऐसा कपड़ा पहनेंगे तब सुख होगा, ऐसा मकान होगा – तब सुख होगा। सुख हमारा बंधक है भाई। जिसका सुख बाहर हो वह सुखी रह ही नहीं सकता। सुख तो अपने भीतर है।

यतात्मा दृढ़ निश्चयः – जिसका निश्चय पक्का है – भगवान् के अतिरिक्त हमको और कुछ नहीं चाहिए। निश्चय में जब तक कच्चापन होगा तब तक पतन, स्खलन की संभावना-आशंका बनी रहेगी।

'बरउँ संभु न त रहउँ कुँआरी' – मैं अगर वरण करूँगी तो शंभु को वरण करूँगी, नहीं तो कुमारी ही रहूँगी। यह पक्का निश्चय है। नारद ने क्या नहीं कहा – शिवजी के सारे दोष उमा को बता दिए। सारे गुण विष्णुजी के बता दिए। कहा कि विष्णु से तुम्हारा विवाह करा दें। वह बोली – 'अरे! आपको अगर विवाह कराना है तो बहुत से लोग हैं। जाइए, करा आइए। मुझको तो स्वयं शिव भी कहें कि नहीं करो, तो भी मैं नहीं मानूंगी। *'बरउँ संभु न त रहउँ कुँआरी'* – दृढ़ निश्चय है उमा का। *'मयि अर्पित मनो बुद्धि'*। मैंने आपको पिछले प्रवचन में बताया था कि सगुणोपासना का

सबसे प्रशस्त रूप आठवें श्लोक में है। बारहवें अध्याय का आठवां श्लोक – सगुणोपासना का प्रशस्ततम रूप निर्दिष्ट करता है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। (१२/८)

इसमें कहते हैं *'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'*। उसको समझिए – मन को अर्पित करने का मतलब? हम प्यार करते हैं मनसे। अपने सारे प्यार को, अपने सारे प्रेम को अर्पित कर दें। जिस उपकरण से – हम किसी को भी प्यार करते हैं – वह उपकरण अपनी समस्त शक्तियों के साथ भगवान् के लिए समर्पित कर दें। बुद्धि से करते हैं हम विचार। तो हमारे प्यार के आलम्बन भी प्रभु, हमारे विचार के आलम्बन भी प्रभु। हमारा प्यार और हमारा विचार – यही है हमारा अस्तित्व। हम अपने अस्तित्व का अगर गंभीर, तलस्पर्शी, निरीक्षण-परीक्षण करें, तो हम जिसको प्यार करते हैं, उससे जुड़ते हैं; और जो हमारे विचार में सर्वश्रेष्ठ है, उसको स्वीकारते हैं। तो हम प्यार भी प्रभु से करें; और सर्वतोभावेन स्वीकार भी प्रभु को ही करें। तो अपना प्यार और अपना विचार, हमने प्रभु को अर्पित कर दिया – *'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।'*

यह एकान्वयी श्लोक हुआ। १३ और १४ दो श्लोक हैं, लेकिन एकान्वयी है। इनका अन्वय – सब गुणों वाला, ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। तुलसी बाबा ने एक बढ़िया दोहा कहा है —

कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सोइ, कीबे तुलसी तोहि।।

या तो रामजी को ही प्यार कर या तू इतना अच्छा हो जा कि राम ही तुझको प्यार करने लगें। या तो तू राम जी के गुणों का, रामजी के रूप का, रामजी के शील का, बार-बार, बार-बार अनुशीलन कर, चिन्तन कर – मनन कर – तो रामजी तुझे प्यारे लगने लगें। या तो रामजी तुझे प्यारे लग जायें या तू अपने में रामजी के गुणों को धारण कर इतना उत्कृष्ट हो जा कि रामजी तुझको प्यार करने लगें। जो तुझको अच्छा लगता है – हे तुलसीदास, तू वही कर। ये वे लक्षण हैं, जिन लक्षणों के कारण भगवान् प्यार करते हैं। ये भगवान् को प्यार करना नहीं है – मन हमने भगवान् को अर्पित किया है, तो हम भगवान् को प्यार कर रहे हैं। यदि हमने भगवान् को सबकुछ सौंप दिया है तो भगवान् हमें प्यार करने लगते हैं।

मद्भक्तः स मे प्रियः – ऐसा जो भक्त है – इन गुणों से सम्पन्न जो मेरा भक्त

है, जो मुझको प्यार करता है, मैं उसको प्यार करता हूँ। इस बात पर ध्यान दीजिए कि प्यार बढ़ता कैसे है? प्यार तब बढ़ता है, जब उसको प्यार मिलता है। यह भी ठीक है कि तुलसी बाबा ने एकोन्मुख प्रेम की बहुत बात कही है —

जो घन बरसै समय सिरि ज्यों भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहिं तऊ तिहारी आस।।

अगर बादल ठीक समय से बरस जायें – बड़ी कृपा। और यदि न बरसें – यदि वे जन्मभर मेरे प्रति उदासीन रहें, इस चित्त रूपी चातक को तब भी तुम्हारी ही आशा है, तुम्हारी ही अपेक्षा है। तुम इसको प्यार करो तो करो, न करो तो न करो। मैं तुमको प्यार करता रहूँगा – यह एकोन्मुख प्रेम है, एकांगी प्रेम है। एक की तरफ से प्रेम है।

तू मुख चंद चकोर मोरे नयना
अरबरात मिलिबे को निसि दिन मिलेइ रहत मानों कबहु मिले ना।

कृष्ण कृष्ण कृष्ण करते हुए राधा कृष्णमयी हो जाती है। राधा राधा करते कृष्ण राधामय हो जाते हैं। बड़ी अद्‌भुत बात है – *'लाल प्रिया में भई न चिन्हारी'* – कृष्ण राधा के प्रेम में राधा हो गये, और राधा कृष्ण के प्रेम में कृष्ण हो गई, और फिर उन्होंने एक दूसरे को पहचाना ही नहीं। यही प्रेम की सर्वोपरि स्थिति है – सामने वाला भी हमारे प्रेम को स्वीकार करके हमें प्रेम देता है, तो प्रेम में असाधारण द्रुत गति से प्रगति होती है। भगवान् कहते हैं कि जो अपना मन मुझको अर्पित कर देता है, जो अपनी बुद्धि मुझको अर्पित कर देता है, मैं भी उसको प्यार करता हूँ। आपके प्रेम का प्रतिदान वे देते हैं। तो यह जो उभयमुखी प्रेम है – यह प्रेम की उन्नत, उत्कृष्ट भूमिका है।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्‌भक्तः स मे प्रियः'

अब इसके बाद का श्लोक बहुत ही कठिन है —

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।। (१२/१५)

जो संसार की किसी भी भूमिका में, किसी भी स्थिति में उद्वेग नहीं पाता ; भक्त तो जानबूझ कर किसी को उद्विग्न करता नहीं, किसी को दुःख देता ही नहीं। लेकिन कुछ लोग भक्त से इसीलिए दुःखी हो जाते हैं कि वह भक्त क्यों है। क्या लाचारी है। लेकिन यह भक्त ऐसा है कि दूसरों को अनुभव होता है कि यह हमारा कोई अनिष्ट नहीं करेगा। इससे हमारी कोई हानि नहीं होगी। जो सच्चा, पवित्र भक्त है – लोग उससे किसी भी प्रकार का दुःख नहीं पा सकते, उद्वेग नहीं पाते। *'लोकान्नोद्विजते च यः'* और लोगों से वह भी उद्विग्न नहीं होता, दुःख नहीं पाता। यह बहुत कठिन है। यह दुनिया

ऐसी है कि अगर दुनिया में कोई रमे तो उद्विग्न किए बिना छोड़ती नहीं। वे लोग दुनिया से शायद ऊपर रहते हैं, इसलिए दुनिया उन्हें उद्विग्न नहीं कर पाती। शंकराचार्य ने कहा है कि ज्ञानी भक्त के बिना – संन्यासी के बिना यह हो ही नहीं सकता। संन्यास लेने के समय सबको अभय देना पड़ता है। कोई व्यक्ति जब संन्यास लेता है तो सारी सृष्टि को अभय देता है। आप लोगों को गुरु तेगबहादुर का एक दोहा सुनाया होगा—

'भय काहू को देत नहिं, नहिं भय मानत आप'

जो किसी को भय नहीं देता और किसी से भय नहीं पाता। ऐसा भक्त, जिससे संसार उद्विग्न नहीं होता, और जो संसार से उद्विग्न नहीं होता ; जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से रहित है। *उद्वेग* फिर आया – ऊपर उद्वेग, नीचे उद्वेग, फिर आएगा उद्वेग। *हर्ष* मतलब – अभीष्ट वस्तु या स्थिति या व्यक्ति की प्राप्ति से जो उल्लास, जो आनन्द का अनुभव होता है। *अमर्ष* का मतलब – किसी विपरीत परिस्थिति में जो असहिष्णुता का भाव होता है। *असहिष्णु* – न सहने वाला। भक्त बराबर तितिक्षु होता है, कभी असहिष्णु नहीं होता।

भक्त तितिक्षु होता है, सहता है। *अमर्ष* माने असहिष्णुता। भय अगर ऐसा हो जाएगा तो क्या हो जाएगा, उद्वेग, दुख, शोक – सबसे मुक्ति। तीन प्रकार के काल हैं और तीन ही प्रकार के दुख हैं – शोक, मोह और भय। भक्त तीनों प्रकार के कालों के दुखों से मुक्त है। भक्ति का एक लक्षण बताया कि भगवान् की कथा सुनने से क्या होता है — *यस्यां वैश्रूयमाणांयाम् कृष्णे परं पूरुषे भक्तरूपद्यतेपुंसः।*

भागवत् की जिस कथा को या भगवान् की जिस कथा को सुनने से परम पुरुष श्रीकृष्ण में, रामचरितमानस की कथा सुनने से परम पुरुष श्रीराम में, किसी भी इष्ट देव की कथा सुने उसमें, मनुष्य के मन में भक्ति उत्पन्न होती है। भक्ति क्या करती है? *'शोक, मोह, भयापहाः'* – भक्ति शोक को, मोह को, भय को दूर कर देती है। शोक क्या है – अतीत काल के दुख को शोक कहते हैं – 'हाय ऐसा क्यों हो गया'। भय क्या है – भविष्यकाल के सम्भावित दुख को भय कहते हैं। अगर ऐसा होगा तो क्या होगा। मोह क्या है – वर्तमान स्थिति में हमारी जो अच्छी स्थिति है वह बनी रहे, कहीं बिगड़ न जाए। किसी के प्रति राग, किसी के प्रति द्वेष – यह मोह – वर्तमान के दुःख – तीन काल, तीन दुःख – शोक, मोह, भय। भक्त इन तीनों से ऊपर उठ जाता है, तीनों काल के दुःख दूर हो जाते हैं – हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग – सबसे मुक्त। ऐसा जो है, वह मेरा प्रिय है। यहाँ जो बात कही है – उसमें भक्त नहीं आया है। मैंने कहा भक्तों के लक्षण, तो इसमें भक्त शब्द का प्रयोग ही नहीं है। मेरे गुरुजी ने कहा है कि यहाँ श्रीकृष्ण का

मतलब है कि वह भगवान् को माने या ना माने, पहली बात तो यह है कि यह भगवान् के भक्त का लक्षण है, यह द्वादश अध्याय भक्तियोग के अन्तर्गत है, तो यह भगवान् के भक्त का ही लक्षण है। ये तो मान लिया – लेकिन इसमें भक्त का उल्लेख नहीं है। उल्लेख नहीं होने से इसकी यह एक अर्थछटा भी है। अर्थ का यही एक संकेत है, कोई व्यक्ति जब अगर भगवान् को न भी माने, भक्त न भी हो, लेकिन अगर उससे संसार को उद्वेग न होता हो, वह संसार से उद्विग्न न होता हो, अगर वह अभीष्ट की प्राप्ति में हर्षित न होता हो ; अनभीष्ट की प्राप्ति में उसको अमर्ष न होता हो ; किसी से उसको भय न होता हो, किसी से उसको दुःख न होता हो – तो ऐसा जो भी व्यक्ति है, वह मुझको माने या ना माने, मैं उसको प्यार करूँगा। यह एक अतिरिक्त बात कह रहा हूँ मैं – क्योंकि इसमें भक्त शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, लेकिन स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी, अनुल्लिखित उल्लेख है। तुम न बनो भक्त, ये गुण तो अर्जित करो। कैसे कोई इतना बड़ा गुण अर्जित कर लेगा, बिना भगवान् की भक्ति के।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। (१२/१६)

'अनपेक्षः' किसी से कोई अपेक्षा न हो। *'चाह गई, चिन्ता मिटी मनवा बेपरवाह, जिनको कछु न चाहिए सोई शाहंशाह'।* मेरे विद्या गुरु ललिताप्रसाद सुकुल, एक श्लोक सुनाते थे —

आशायाः ये दासा ते दासा सर्व लोकस्य।
येषां आशादासी तेषां दासायते लोकाः।।

सुकुल जी के मुँह से मैंने पच्चीसों बार यह श्लोक सुना है। *आशायाः ये दासा ते दासाः सर्व लोकस्य* – जो आशा के दास हैं, अपेक्षा के दास हैं, वे सारी दुनिया के दास हैं। 'यह मिल जाए', अरे! भई इसको, ऐसा बोलोगे तो वह नाराज हो जाएगा तो यह नहीं देगा। अब किसी के सामने सच बोल ही नहीं सकते, वह नाराज हो जाएगा, क्योंकि उससे अपेक्षा है। *येषां आशा दासी* – और जिनकी दासी आशा है, अपेक्षा है, *'तेषाम् दासाय ते लोकाः'* सारा संसार उनका दास है। *जिनको कछु न चाहिए वे शाहों के शाह।*

अपेक्षः — *'अपं'* माने अवगता ईक्षा' एवं ईक्षा कहते हैं दृष्टि को। जब वह हृदय का अंधा हो जाता है। *'अनपेक्षः'* – उसको किसी से कोई अपेक्षा नहीं है। कोई क्या देगा? देने वाले तो श्रीराम हैं —

दानव देव अहीस महीस महामुनि साधक सिद्ध समाजी।
जग जाचक दानि द्वितीय नहीं तुम ही सबकी सब राखत बाजी।

कौन दूसरा दाता है? दाता तो मेरे रामजी हैं। इसलिए दूसरे से अपेक्षा करने से, ही-ही करके दाँत निकालने से क्या लाभ? देना होगा राम जी देंगे, नहीं देना होगा, रामजी नहीं देंगे। कोई किस खेत की मूली है, जिसके आगे हम दाँत निपोरें। *शुचिः* -- जो बाहर और भीतर दोनों तरफ से पवित्र है —

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोपिवाः।
यःस्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यंतरः शुचिः।।

अपवित्र हो, पवित्र हो – एक बार भगवान् का नाम लेलो। इसको हम कहते हैं, पुण्डरीकाक्ष संस्कृति। दो प्रकार की संस्कृतियाँ हैं – एक है हिरण्याक्ष संस्कृति, और दूसरी है पुण्डरीकाक्ष संस्कृति। आजकल हिरण्याक्ष संस्कृति हावी है। हिरण्याक्ष संस्कृति क्या है? जिसकी आँख सोने पर लगी है – सोने की आँख, सोने पर लगी हुई आँख। मुझको ज्यादा से ज्यादा सोना मिले, इसके लिए लूटो, खसोटो, दूसरे को जलाओ, दुःख दो – यह आसुरी बुद्धि है, यह देहात्म बुद्धि है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है कि विरोचन और इन्द्र दोनों प्रजापति के पास गये। आत्मा क्या है हमको बताएँ? उन्होंने कहा कि जल में जा कर तुमको समझ में आयेगा। विरोचन ने जल में शरीर देखा बोला शरीर ही आत्मा है। समझ गया चला गया। इन्द्र ने देखा, बोला यह वह नहीं है यह तो मेरा रूप है। उसने कहा महाराज नहीं समझ में आया। तो प्रजापति ने कहा कि एक सौ एक वर्ष तक और तपस्या करो। तब उनको आत्मा का उपदेश दिया। जो आत्म बुद्धि प्रधान है वह पुण्डरीकाक्ष है। जो बाह्याभ्यंतर शुचिता की बात करते हैं, बाहर से भी पवित्र और भीतर से भी पवित्र। मनुस्मृति में एक अद्भुत श्लोक है –

सर्वेषां शौचानां अर्थ शौचम परम् स्मृतम् यो अर्थे शुचिः स शुचिः।

सब प्रकार की शुचिताओं में सब प्रकार की पवित्रताओं में अर्थ शुचिता सबसे बड़ी है। जो आर्थिक मामले में पवित्र है, वह पवित्र है। मिट्टी से हाथ धो लेने से और नहा लेने से कोई पवित्र नहीं हो जाता। तो जो बाह्याभ्यंतर शुचिता की संस्कृति है, वह आत्मा की संस्कृति है वह पुण्डरीकाक्ष संस्कृति है। पुण्डरीक माने कमल – कमल जैसे नेत्र। जल में रह कर भी *पद्मपत्रमिवाम्भसा* – जो माया से अनासक्त अलिप्त। जो बाह्याभ्यंतर शुचिता पर बल देने वाली संस्कृति है वह पुण्डरीकाक्ष संस्कृति है। जो अपने शरीर को साध्य मानने वाली, देहात्म बुद्धि वाली संस्कृति है ; शरीर को खिलाओ, पिलाओ, पहनाओ, सुलाओ, चिकना बनाओ, सारा काम शरीर के लिये करो और उसके लिये सारे संसार का शोषण

करो, वह है हिरण्याक्ष संस्कृति। हमारी परंपरा में हिरण्याक्ष संस्कृति के ऊपर पुण्डरीकाक्ष संस्कृति की महत्ता है।

'दक्ष' दक्ष माने प्राप्त कर्तव्य कर्म को करने मे समर्थ। दक्ष का मतलब क्या हुआ? जो कर्तव्य कर्म है उसकी व्यवस्था के अनुसार समर्थ होना चाहिए भक्त को।

आसीन माने बैठा हुआ – *'उदासीनो'* माने जो संसार के प्रवाह के ऊपर बैठा हुआ है। संसार के प्रवाह में तो बहेंगे, प्रवाह पतित काष्ठ की तरह बहेंगे– जो संसार के प्रवाह के ऊपर उठ गया है। प्रवाह को देख रहा है उससे निर्लिप्त है। जो संसार के प्रवाह के ऊपर बैठ कर उसको देख रहा है। राम झरोखे बैठ के, वह ऊपर बैठ कर देख रहा है, संसार का जो खेल चल रहा है वह खेल चले।

'गतव्यथः' आप इस बात को समझिये – व्यथा क्यों होती है? आप जिसे अपना समझते हैं, वह जब अलग हो जाता है तो व्यथा होती है। जो अपना प्रिय हो, उसकी मृत्यु से व्यथा होती है। अपनी वस्तु जब छूट जाती है, तो व्यथा होती है। मान की जगह अपमान हो जाये, तो व्यथा होती है। भक्त कहता है कि मेरा कुछ है ही नहीं, सब भगवान् का है। भगवान् ने अपने पास किसी को बुला लिया तो व्यथा क्यों है? भगवान् की सब चीज है और उसने एक से उठा कर दूसरे के पास रख दी, तो मुझे व्यथा क्यों हो? उसने तो मुझको केवल उसका न्यासी बना कर रखा था। चीज तो उसी की थी। *'गतव्यथः'* बाहर की पीड़ा से वह मुक्त है। क्यों मुक्त है? क्योंकि वह अपना कुछ नहीं मानता, सब भगवान् का मानता है। इसलिए भगवान् जो करते हैं सब ठीक करते हैं।

सर्वारम्भपरित्यागी – का मतलब क्या हुआ? आरम्भ कहते हैं, सकाम कर्म को। हम जिसको इस लोक या परलोक में सुख देने वाला कर्म समझते हैं, उसको शुरू करना, यह आरम्भ है। गीता में कहा गया है कि सब आरम्भ में दोष है, जैसे अग्नि में धुआँ है। भक्त अपनी तरफ से कुछ आरम्भ नहीं करेगा। *'सर्वारम्भ परित्यागी'* – रामजी जो काम देंगे, वह कर देंगे। दक्ष का मतलब होता है, प्राप्त कर्तव्य कर्म को व्यवस्थापूर्वक ठीक-ठीक कर देना। तो राम जी का दिया हुआ काम करेंगे – अपनी इच्छा से, अपनी लालसा से, अपने किसी भाई के लिये, कोई सकाम कर्म नहीं करेंगे। *'सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः'* मेरा ऐसा भक्त मुझको प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।। (१२/१७)

भगवान् के सिवा और कौन ऐसा हो सकता है? किसी चीज को तुमने अगर

पा लिया और तुमको बहुत आनन्द हुआ तो तुमको अहंकार आ जायेगा। *न हृष्यति* -- जो बड़ी से बड़ी वस्तु को प्राप्त कर लेने के बाद भी हर्षातिरेक से ग्रस्त नहीं होता, *न द्वेष्टि* — जो किसी से द्वेष नहीं करता। क्यों द्वेष करे? सब रामजी का है।

उसते होय नहीं कुछ बुरा / ओरे कहो किने कुछ करा

गुरु नानक देव जी की वाणी है। रामजी से कुछ बुरा काम हो सकता है?

न शोचति – किसी के लिये शोक नहीं। हाय! ऐसा क्यों हुआ। जो हो गया वह हो गया।

जो होना था हो चुका, जो होगा सो हो।
वर्तमान क्षण काम का, इसको वृथा न खो।

वर्तमान क्षण काम का – हमारे हाथ में अतीत नहीं है भविष्य हमारे हाथ में है। यह जो क्षण हमको मिला है, वर्तमान क्षण काम का, यह क्षण व्यर्थ न चला जाए। हमारा करणीय कर्तव्य कर्म इतना ही है। शोक करना व्यर्थ, भय करना व्यर्थ, जो होना था हो चुका, जो होना है तो हो। *'न शोचति न काङ्क्षति'*।

मुझको यदि मिल जाये, क्या चीज मिल जायेगी। और कुछ मिलना बाकी है? रामजी के मिल जाने के बाद भी, अगर किसी के मिल जाने की आकांक्षा रह गई, तो वह अभागा व्यक्ति है। *न काङ्क्षति। शुभाशुभपरित्यागी* शुभ करने से पुण्य होता है, स्वर्ग मिलता है, फिर बाँधेगा वह भी। गुरुजी कहते थे – पुण्य कर्म सोने की सिकड़ी से बाँधते हैं; और पापकर्म लोहे की सिकड़ी से। भक्त तो पाप-पुण्य दोनों से दूर रहेगा-- तब वह मुक्त होगा। *'शुभाशुभपरित्यागी'*। कर्ता की जब कर्तव्य बुद्धि होती है। आप सोए-सोए करवट बदलते हैं; और एक मच्छर दबकर मर जाता है, तो आपको उसका पाप नहीं होगा। आप दौड़ते हुए जाएँ, आपकी जेब से एक रुपया गिर जाये और कोई उसको पा ले, आपको पुण्य नहीं होगा; क्योंकि मच्छर को मारने में भी आपकी कर्तव्य बुद्धि नहीं थी और रुपया देने में भी आपकी कर्तव्य बुद्धि नहीं थी। पाप और पुण्य कर्तव्य बुद्धि के कारण होते हैं। शुभ कर्म करेंगे तो आपको पुण्य मिलेगा, पुण्य मिलेगा तो स्वर्ग है – ये सब क्या रामजी से बड़े हैं?

भगवान् को हमने पकड़ लिया तो हमको और कुछ नहीं चाहिए – *'शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः'* ऐसे जो भक्तिमान हैं, वे मुझको प्रिय हैं।

१८-१९ ये दोनों फिर एकान्वयी श्लोक हैं, जैसे १३-१४ एकान्वयी हैं। इसमें समत्व की महिमा को बताया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रधान प्रतिपाद्यों में समत्व है। योग की तीन परिभाषायें गीता में दी गई हैं। उनमें से एक परिभाषा है, *'समत्वं योग*

उच्यते' समत्व ही योग है। गीता में समत्व की प्रशंसा करते हुए कहा गया है – इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः यानी जिनका मन साम्य में, समता में स्थित है, मानो इसी जन्म में उन्होंने संसार को जीत लिया, वे इसी जन्म में मुक्त हो जाते हैं। यह भगवान् की उक्ति है। तो समत्व प्राप्त करने वाला भगवान् प्राप्त कर लेता है – समत्व के प्राप्त कर लेने की बात गीता के प्रधान प्रतिपाद्यों में से एक है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। (१२/१८-१९)

ये सब समता पर आधारित श्लोक हैं। *समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शातनात शत्रुः* – जो हमको सताता है वह हमारा शत्रु है, जो स्नेह चिकोर कर देता है, वह हमारा मित्र है। मेद और मित्र दोनों एक ही धातु, मिदा धातु से बने हैं – जो हमको स्नेह से चिकना बना दे, वह हमारा मित्र और जो हमको सताये, जलाये वह शत्रु है। भक्त की दृष्टि में कोई शत्रु नहीं, कोई मित्र नहीं। दोनों भगवान् के द्वारा प्रेरित हैं – भगवान् इनके माध्यम से हमारी परीक्षा ले रहे हैं। कागभुशुण्डि ने क्या कहा – *'लीन्ही प्रेम परीच्छा मोरी'* – बताइये शाप दे दिया कि तुम कौवा हो जाओ, कागभुशुण्डि ब्राह्मण कुमार से कौवा हो गये – उन्होंने कहा यह तो भगवान् की कृपा है – उन्होंने मेरे प्रेम की परीक्षा ली है। शाप देने वाले को उन्होंने शत्रु नहीं माना – गुरु ही माना। मान और अपमान किसका होता है? नाम का होता है। एक श्लोक मुझको जीवन में बहुत प्रभावित करता रहा है। अब उससे ऊपर उठने की चेष्टा कर रहा हूँ।

अधमाः धनमिच्छन्ति, धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमाः मानमिच्छन्ति, मानोहि महतां धनम्।।

जो अधम लोग हैं वे केवल धन चाहते हैं, जो मध्यम कोटि के लोग हैं, वे धन और मान दोनों चाहते हैं ; जो उत्तम कोटि के लोग हैं, वे केवल मान चाहते हैं। वैसे यह भी गलत है, अष्टावक्र गीता में कहा गया है –

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा गौरवं घोर रौरवम्।
मानं चैव सुरा पानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत्।।

इस लोक में रहते हुए मान उत्तम है; किन्तु जब तुम भगवान् के बन जाओगे तो मान – छिः छिः। यह जो बात है वह लौकिक व्यक्तियों के लिए नहीं कही गई है। लोकोत्तर भक्तों की बात है – इसलिए शरीर की अगर निन्दा करके अपमान करता है

तो ठीक करता है। शरीर निन्दा करने योग्य ही है, और अगर वह आत्मा की निन्दा कर रहा है, तो अपनी निन्दा कर रहा है। मेरी और उसकी आत्मा तो एक ही है। ये दोनों तो एक ही हैं, तो मेरा क्या। मुझे क्यों बड़ा बनना चाहिए। मान करने से तो तपस्या का क्षय होता है। तो मान प्राप्ति से बचना चाहिए। मान प्राप्त करने से बचना चाहिए – अपमान को स्वीकार कर लेना चाहिए। कैसी दृष्टि है – मान और अपमान दोनों में समान। अखबार में नाम छप जाये, तस्वीर छप जाये। इस शरीर द्वारा किये काम की प्रशंसा छप जाये, यही तो मान-अपमान है, और क्या है?

'शीतोष्णसुखदुःखेषु' शीतोष्ण शरीर को – सर्दी में बहुत सर्दी है, गर्मी में बहुत गर्मी है, बरसात में पानी पड़ेगा – तुम्हारे लिये क्या प्रकृति बदल जायेगी? जो सर्दी, गर्मी, बरसात को झेल ही नहीं सकता, वह बड़ा काम कैसे करेगा? शरीर की दृष्टि से शीत और उष्ण को सहना चाहिए – सुख-दुःख में मन की दृष्टि से, मान-अपमान नाम की दृष्टि से। इस बात पर ध्यान दीजिये कि हम कब सुखी होते हैं, कब दुःखी होते हैं। सुख के हेतु आते जाते रहते हैं। सुख के हेतु सब के जीवन में हैं। दुःख के हेतु भी सबके जीवन में हैं। जब सुख के हेतु आयेंगे तो थोड़ी देर के लिए सुखाकार वृत्ति हो जायगी; जब दुःख के हेतु आयेंगे, तो थोड़ी देर के लिए दुःखाकार वृत्ति हो जायगी। वृत्ति अपनी परिभाषा से परिवर्तित होती है। वृत्ति माने वर्तनशील, परिवर्तनशील। तो सुखाकार वृत्ति बराबर नहीं रहेगी, न दुःखाकार वृत्ति ही बराबर रहेगी। आपलोगों ने देखा है कि श्मशान में जा कर भी लोग राजनीति की चर्चा करते हैं। श्मशान में जाकर भी लोगो को हँसते हुए देखा है। श्मशान में चिता जल रही है, और बात चल रही है राजनीति की ; तो शोक की स्थिति परिवर्तनशील है।

मनुष्य सुखी-दुःखी कब होता है? जब वह अपने सुख को या दुःख को स्वीकृति देता है। हम सुख-दुःख से स्वयं को जोड़ लेते हैं। सुख और दुःख ये आभास भाष्य नहीं हैं, ये साक्षी भाष्य हैं। इस बात को समझिए। ये जो सामने माइक्रोफोन है वह आभास भाष्य है। यह माइक्रोफोन मुझको भी दिख रहा है, तुमको भी दीख रहा है। तुम नकारोगे तो क्या माइक्रोफोन नहीं रहेगा? लेकिन सुख और दुःख, ये साक्षी भाष्य हैं। मैं अगर अपनी गवाही दूँ कि मैं सुखी हूँ तो मैं सुखी हूँ। गवाही दूँ कि दुःखी हूँ तो मैं दुःखी हूँ। जिन स्थितियों में एक व्यक्ति सुखी है, उन्हीं स्थितियों में दूसरा व्यक्ति बहुत दुःखी लगता है। सुख और दुःख केवल वृत्ति ही हैं। सुख और दुःख द्वारा उस वृत्ति को ग्रहण कर लेना, उस वृत्ति से स्वयं को जोड़ लेना है। सुख-दुःख में सम रहना माने हमने न सुख से अपने को जोड़ा न दुःख से अपने को जोड़ा। तो हम न सुखी हुए न दुःखी हुए। सुख

दुःख तो परिवर्तनशील हैं। हम जब अपनी ओर से स्वीकृति देते हैं सुख को, तब सुखी होते हैं ; स्वीकृति देते हैं दुःख को, तब दुःखी होते हैं। दुःख को अस्वीकृति देना बड़ा काम है। दुःख कम हो जायेगा। काहे को दुःखी? क्यों दुःखी हैं? दुनिया में देखो हमसे कितने बड़े-बड़े दुःखी हैं। दुःख दूर होगा, कम होगा।

सङ्गविवर्जितः – यह ही समान होने का सूत्र है। सङ्ग माने चिपक जाना आसक्त होना। जो आसक्तिरहित है, वही सबमें समान होगा – जिसकी आसक्ति सुख में है, वह दुःख में दुःखी होगा ही। जिसकी आसक्ति मित्र में है, वह शत्रु में दुःखी होगा ही। जिसकी आसक्ति मान में है, वह अपमान में दुःखी होगा ही। अनासक्त होने का सबसे अच्छा उदाहरण दर्पण है, शीशा है। आप देखते हैं, अच्छे शीशे का क्या लक्षण है? शीशे के सामने खड़े हो जाओ तो ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित कर देगा – शीशे के सामने से हट जाओ, तो शीशे में कुछ रखा है? साफ – जो सामने कर्तव्य है, केवल पूरी लगन से उसको किया तो 'सङ्गविवर्जित' का यह सूत्र है, जिसके आधार पर समत्व की प्राप्ति होती है। अनासक्ति नहीं होगी तब तक समता नहीं आयेगी – *'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी'* किसी ने हमारी निन्दा की तो क्या बुरा किया। भक्त तो कहते हैं—

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करत सुभाय।।

निन्दक तो बड़ा कृपालु है, गुरु का काम कर रहा है। स्तुति से डरना चाहिए। आजकल की दुनिया में तो चापलूस लोग झूठी स्तुति करते हैं। कोई व्यक्ति निन्दा करे तो बुरा नहीं मानना चाहिए, स्तुति करे तो डर जाना चाहिए। क्या मतलब है इसका? स्तुति से हमारा अहंकार तो बढ़ता ही है। अतः स्तुति खतरनाक है। निन्दा से अगर क्रोध बढ़ता है, तो निन्दा भी खतरनाक है। निन्दा से क्रोध न हो और स्तुति से अहंकार न हो। स्तुति और निन्दा दोनों में समान रहता है भक्त। *मौनी* – मौनी का मतलब चुप रहना? नहीं-नहीं मौन का मतलब होता है–*'मुनेः भावो इति मौनम्'*। मौन यानी मननशीलता। मुँह बंद और भीतर गाली दिये चले जा रहे हैं। मुँह तो बन्द और लिख-लिख के बातें कर रहे हैं। यह मौन नहीं – *'मनवा तो चहुँ दिसि फिरे'* यह मौन नहीं। मौन का लक्षण है–अपने इष्ट देव के प्रति, अपने मंत्र के प्रति, अपने भक्ति के सिद्धांत के प्रति मननशील। मौनी का मतलब होता है संयत वाक्, मौनी का मतलब होता है जब प्रयोजन हो तभी बोलना। मौनी का मतलब गूंगा हो जाना नहीं है–मौनी का मतलब अकारण न बोलना है। एक श्लोक याद आ रहा है। वाणी के चार पाप होते हैं—

अनृतं पारुष्यं च पैशुनम् चापि सर्वशः।
असम्बद्ध प्रलापश्च वाङ्मयं स्यात् चतुर्विधम्।।

अनृतं – झूठ बोलना; यह वाणी का पाप है। *पारुष्य* – कड़वा बोलना, कठोर बोलना यह वाणी का पाप है। *प्रलाप* भी वाणी का पाप है। वाणी को असम्बद्ध नहीं बोलना चाहिए। वाणी के गुण भी चार हैं। *'सुष्ठु, सारं, मितं, मधुः'* – सुष्ठु बोलो, सार-सार बोलो, कम बोलो; और मीठा बोलो, तो ये वाणी के चार गुण हैं।

'संतुष्टो येन केन चित्' जो मिल गया, रामजी ने बहुत दिया। जिस किसी चीज से भी हम सन्तुष्ट हों, बहुत है। रामजी ने हमको बहुत दे दिया। किसी विशेष चीज को पाकर सन्तोष होगा, यह कल्पना ही गलत है। यदि भीतर सन्तोष नहीं है, तो बाहर सन्तोष नहीं होगा। यहां, भीतर के सन्तोष की बात कही गई है – *संतुष्टो येन केनचित*। जो भी सहज प्राप्त हुआ, उससे संतुष्ट। काफी है हमारे लिए।

अनिकेतः – जिसका अपना कोई घर नहीं यानी गृहासक्त नहीं है। *'कोई नहीं पराया जग में, घर सारा संसार है।'* तो अनिकेत का मतलब सारा संसार ही जिसका घर है। किसी एक घर को अपना माना, तो उससे फिर आसक्ति होगी, उससे हम बँध जायेंगे। *'स्थिरमति'* – जिसकी बुद्धि विचलित नहीं हो। एक बार मति से मनन करके फैसला किया कि हमारा लक्ष्य परमात्मा, हमारा प्राप्य परमात्मा; अपना सब कुछ परमात्मा को अर्पित कर दिया। यह बुद्धि हमने रामजी को सौंप दी। फिर उसमें कोई परिवर्तन नहीं, फिर उससे विचलित नहीं होंगे। वह भक्तिमान है। ३ से १९ श्लोक तक ज्ञानी भक्त तथा सिद्ध भक्तों के लक्षण हैं। २०वाँ आखिरी श्लोक तो अद्‌भुत है –

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।। (१२/२०)

जो साधक हैं, वे मुझको बहुत ही ज्यादा प्यारे हैं। साधक – जिसकी इन गुणों के प्रति श्रद्धा हो गई। *धर्म्यामृत* – इसपर ध्यान दीजिये – एक अमृत है स्वर्ग लोक का; पर यह कैसा अमृत है? यह धर्म अमृत है, जो सब स्थितियों में धर्मानुकूल है। ये जो ऊपर दिये गये गुण हैं, (१३ से १९ श्लोक तक) ये धर्म हैं, ये धर्म के सार हैं, ये धर्मानुकूल हैं और अमृत हैं। स्वर्ग का अमृत इनके सामने कुछ नहीं है।

जब शुकदेव जी राजा परीक्षित को श्रीमद्‌भागवत की कथा सुनाने लगे तो देवता लोग अमृत लेकर आये कि महाराज आप यह अमृत ले लीजिये और कथा हमको दे दीजिये। मुस्कुराये शुकदेव – *'क्व सुधा क्व कथा लोके क्व कायः क्व मणिमहान्'* – तुम किसके बदले क्या मांग रहे हो? स्वर्ग का अमृत कथा के सामने कुछ नहीं है।

जैसे महान् मणि के सामने काँच तुच्छ है, वैसे ही कथा के सामने स्वर्ग का अमृत तुच्छ है। १३ से १९ श्लोक तक धर्म का सार बताने वाले जिन तत्त्वों का निरूपण किया गया, (*'यथोक्तं पर्युपासते'*) चारों तरफ से वैसा बनने की; जो श्रद्धा के साथ साधना करता है, उनका मैं सबसे बड़ा, परम आश्रय हूँ। ऐसे भक्त मुझे परम प्रिय हैं। ११वें अध्याय का अंतिम श्लोक है —

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (११/५५)

मत्परमः का यहाँ 'मत्परमा' हो गया – बहुवचन। जो भक्त मुझको सबसे बड़ा मान कर, श्रद्धा के द्वारा, सच्ची श्रद्धा से; *श्रद्धा श्रतइति नामः* – श्रत का मतलब हुआ 'सत' और 'धा' यानी धारण करना। सत्य को धारण करने वाली वृत्ति है श्रद्धा। जो अपने अनुभव से (तर्कों से नहीं), यानी अनुभव पर आधारित महत्त्व के प्रति श्रद्धा के साथ मुझको सर्वोपरि तत्त्व मान कर इस धर्मानुकूल अमृत तत्त्व की श्रद्धा के साथ उपासना करते हैं, साधना करते हैं, वे साधक भक्त मुझे अत्यंत प्रिय हैं। सिद्ध भक्त से अधिक प्रिय कौन है?

'मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।।'

जो श्रद्धालु भक्त हैं ये तो मेरे बालक हैं। तो भगवान् हमको ज्यादा प्यार करेंगे, हम भले सिद्ध न हुए हों। हम बार-बार गलतियाँ करें, हम स्खलित हों, पतित हों, कोई बात नहीं। हर स्खलन, हर पतन स्वीकार कर भगवान् को निवेदित करें —

तुलसी राम कृपालु को, कहि सुनाव दुख-दोष।
होय दूबरी दीनता, परम पीन संतोष।।

भगवान् के सामने अपनी गलतियों को बार-बार स्वीकार करें और भगवान् से याचना करें कि तुम हमको शक्ति दो कि हम तुम्हारे बताये हुए रास्ते पर चल सकें। ऐसी चेष्टा करने वाले साधक भक्त भगवान् को अतीव प्रिय हैं। हम सब भगवान् के अतीव प्रिय बन सकें ऐसा प्रयत्न करें। •

श्रीमद्भगवद्गीता मूल (संस्कृत) पाठ

सप्तम अध्याय

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।। १ ।।
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।। २ ।।
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।। ३ ।।
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। ४ ।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। ५ ।।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। ६ ।।
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। ७ ।।
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।। ८ ।।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।। ९ ।।
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।। १० ।।
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।। ११ ।।
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।। १२ ।।
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।। १३ ।।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। १४ ।।
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।। १५ ।।
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। १६ ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।। १७ ।।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। १८ ।।
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। १९ ।।
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।। २० ।।
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। २१ ।।
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।। २२ ।।
अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।। २३ ।।
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। २४ ।।
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।। २५ ।।
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।। २६ ।।
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।। २७ ।।
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।। २८ ।।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।। २९ ।।
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।। ३० ।।

अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।। १ ।।
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।। २ ।।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।। ३ ।।
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।। ४ ।।
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।। ५ ।।
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। ६ ।।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। ७ ।।
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।। ८ ।।
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।। ९ ।।
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यं।। १० ।।
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।। ११ ।।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। १२ ।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां इ गतिम्।। १३ ।।
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। १४ ।।
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।। १५ ।।
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। १६ ।।
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिः युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।। १७ ।।
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।। १८ ।।
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।। १९ ।।
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।। २० ।।
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। २१ ।।
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया
यस्तान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।। २२ ।।
यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।। २३ ।।
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।। २४ ।।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।। २५ ।।
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।। २६ ।।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।। २७ ।।
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।। २८ ।।

नवम अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। १ ।।
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।। २ ।।
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।। ३ ।।
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।। ४ ।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। ५ ।।
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।। ६ ।।
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।। ७ ।।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।। ८ ।।
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।। ९ ।।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। १० ।।
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।। ११ ।।
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।। १२ ।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।। १३ ।।
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।। १४ ।।
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।। १५ ।।
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।। १६ ।।
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।। १७ ।।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। १८ ।।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।। १९ ।।
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापायज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।। २० ।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नागतागतं कामकामा लभन्ते।। २१ ।।
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। २२ ।।
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। २३ ।।
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। २४ ।।
यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।। २५ ।।
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।। २६ ।।
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। २७ ।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।। २८ ।।
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। २९ ।।
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। ३० ।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।। ३१ ।।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।। ३२ ।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।। ३३ ।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। ३४ ।।

दशम अध्याय

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।। १ ।।
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।। २ ।।
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।। ३ ।।
बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।। ४ ।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।। ५ ।।
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।। ६ ।।
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। ७ ।।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।। ८ ।।
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।। ९ ।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। १० ।।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।। ११ ।।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।। १२ ।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।। १३ ।।
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।। १४ ।।
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।। १५ ।।
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।। १६ ।।
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।। १७ ।।
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।। १८ ।।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। १९ ।।
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। २० ।।
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।। २१ ।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।। २२ ।।
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।। २३ ।।
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।। २४ ।।
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालय।। २५ ।।
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।। २६ ।।
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।। २७ ।।
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।। २८ ।।
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।। २९ ।।
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।। ३० ।।
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।। ३१ ।।
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।। ३२ ।।
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।। ३३ ।।
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्य नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।। ३४।।
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।। ३५ ।।
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।। ३६ ।।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।। ३७ ।।
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।। ३८ ।।
यच्चापि सर्व भूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।। ३९ ।।
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। ४० ।।
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्।। ४१ ।।
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।। ४२ ।।

एकादश अध्याय

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।। १ ।।
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।। २ ।।
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते इ रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।। ३ ।।
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।। ४ ।।

श्रीभगवानुवाच

पश्यमे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।। ५ ।।
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्चाश्चर्याणि भारत।। ६ ।।
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।। ७ ।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।। ८ ।।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।। ९ ।।
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।। १० ।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।। ११ ।।
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।। १२ ।।
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।। १३ ।।
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।। १४ ।।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।। १५ ।।
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।। १६ ।।
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।। १७ ।।
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।। १८ ।।
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।। १९ ।।
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।। २० ।।
अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।। २१ ।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।। २२ ।।
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।। २३ ।।
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।। २४ ।।
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।। २५ ।।
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।। २६ ।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।। २७ ।।
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।। २८ ।।
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।। २९ ।।
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।। ३० ।।
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।। ३१ ।।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।। ३२ ।।
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।। ३३ ।।
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।। ३४।।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।। ३५ ।।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।। ३६ ।।
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।। ३७ ।।
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।। ३८ ।।
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।। ३९ ।।
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।। ४० ।।
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।। ४१ ।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।। ४२ ।।
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।। ४३ ।।
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।। ४४ ।।
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।। ४५ ।।
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।। ४६ ।।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।। ४७ ।।
न वेद यज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।। ४८ ।।
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।। ४९ ।।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।। ५०।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।। ५१।।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।। ५२।।
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।। ५३।।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।। ५४।।
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। ५५।।

द्वादश अध्याय

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। २ ।।
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।। ३ ।।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।। ४ ।।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।। ५ ।।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।। ६ ।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। ७ ।।
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। ८ ।।
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।। ९ ।।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।। १० ।।
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।। ११ ।।
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।। १२ ।।
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। १३ ।।
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। १४।।
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।। १५ ।।
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। १६ ।।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।। १७ ।।
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।। १८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। १९।।
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।। २० ।। ●

गीता श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
अ	
अकर्मणश्च बोद्धव्यं	४/१७
अकीर्तिं चापि भूतानि	२/३४
अक्षरं ब्रह्म परमं	८/३
अक्षराणामकारोऽस्मि	१०/३३
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः	८/२४
अघायुरिन्द्रियारामो	३/१६
अच्छेद्योऽयमदाह्योयम्	२/२४
अजानता महिमानं तवेदं	११/४१
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं	२/२०
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा	४/६
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च	४/४०
अज्ञानं चाभिजातस्य	१६/४
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं	५/१५
अतत्त्वार्थवदल्पं च	१८/२२
अत्येति तत्सर्वमिदंविदित्वा	८/२८
अत्र शूरा महेष्वासा	१/४
अतोऽस्मि लोके वेदे च	१५/१८
अथ केन प्रयुक्तोऽयं	३/३६
अथ चित्तं समाधातुं	१२/९
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं	२/३३
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्	१८/५८
अथ चैनं नित्यजातं	२/२६
अथैतदप्यशक्तोऽसि	१२/११
अथवा बहुनैतेन	१०/४२
अथवा योगिनामेव	६/४२
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा	१/२०

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा	११/४५
अद्वेष्टा सर्वभूतानां	१२/१३
अदेशकाले यद्दानम्	१७/२२
अधर्मं धर्ममिति या	१८/३२
अधर्माभिभवात्कृष्ण	१/४१
अधश्च मूलान्यनुसंततानि	१५/२
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य	१५/२
अधिभूतं क्षरो भावः	८/४
अधिभूतं च किं प्रोक्तम्	८/१
अधियज्ञः कथं कोऽत्र	८/२
अधियज्ञोऽहमेवात्र	८/४
अधिष्ठानं तथा कर्ता	१८/१४
अधिष्ठाय मनश्चायं	१५/९
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं	१३/११
अध्यात्मविद्या विद्यानां	१०/३२
अध्येष्यते च य इमं	१८/७०
अनन्त देवेश जगन्निवास	११/३७
अनन्तविजयं राजा	१/१६
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं	११/४०
अनन्तश्चास्मि नागानां	१०/२९
अनन्यचेताः सततं यो	८/१४
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां	९/२२
अनन्येनैव योगेन	१२/६
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः	१२/१६
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे	६/६
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्	१३/३१
अनादिमत्परं ब्रह्म	१३/१२

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य	११/१९
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम	२/२
अनाशिनोऽप्रमेयस्य	२/१८
अनाश्रितः कर्मफलं	६/१
अनिकेतः स्थिरमतिः	१२/१९
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय	३/३६
अनित्यमसुखं लोकमिमं	९/३३
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च	१८/१२
अनुद्वेगकरं वाक्यं	१७/१५
अनुबन्धं क्षयं हिंसाम्	१८/२५
अनेकचित्तविभ्रान्ता	१६/१६
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो	६/४५
अनेकवक्त्रनयनम्	११/१०
अनेकदिव्याभरणं	११/१०
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं	११/१६
अनेन प्रसविष्यध्वमेष	३/१०
अन्तकाले च मामेव	८/५
अन्तवत्तु फलं तेषां	७/२३
अन्तवन्त इमे देहा	२/१८
अन्नाद्भवन्ति भूतानि	३/१४
अन्ये च बहवः शूराः	१/९
अन्ये त्वेवमजानन्तः	१३/२५
अन्ये सांख्येन योगेन	१३/२४
अपरं भवतो जन्म	४/४
अपरस्परसम्भूतं	१६/८
अपरे नियताहाराः	४/२९
अपरेयमितस्त्वन्यां	७/५
अपर्याप्तं तदस्माकं	१/१०
अपश्यद्देवदेवस्य	११/१३
अपाने जुह्वति प्राणं	४/२९
अपि चेत्सुदुराचारो	९/३०
अपि चेदसि पापेभ्यः	४/३६
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य	१/३५
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च	१४/१३
अप्रतिष्ठो महाबाहो	६/३८
अप्राप्य मां निवर्तन्ते	९/३
अप्राप्य योगसंसिद्धिं	६/३७
अफलप्रेप्सुना कर्म	१८/२३
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो	१७/११
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः	१७/१७
अभयं सत्त्वसंशुद्धिः	१६/१
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं	५/२६
अभिसंधाय तु फलं	१७/१२
अभ्यासयोगयुक्तेन	८/८
अभ्यासाद्रमते यत्र	१८/३६
अभ्यासेन तु कौन्तेय	६/३५
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि	१२/१०
अभ्यासयोगेन ततो	१२/९
अभ्युत्थानमधर्मस्य	४/७
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा	१३/७
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः	११/२६
अमी हि त्वां सुरसङ्घा	११/२१
अमृतं चैव मृत्युश्च	९/१९
अयतिः श्रद्धयोपेतो	६/३७
अयथावत्प्रजानाति	१८/३१
अयनेषु च सर्वेषु	१/११
अयुक्तः कामकारेण	५/१२
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः	१८/२८

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
अवजानन्ति मां मूढा	९/११
अवाच्यवादांश्च बहून्	२/३६
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं	२/८
अविनाशि तु तद्विद्धि	२/१७
अविभक्तं च भूतेषु	१३/१६
अविभक्तं विभक्तेषु	१८/२०
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं	७/२४
अव्यक्तनिधनान्येव	२/२८
अव्यक्तादीनि भूतानि	२/२८
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः	८/१८
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं	१२/५
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्त	८/२१
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्	२/२५
अशास्त्रविहितं घोरं	१७/५
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं	२/११
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां	१०/२६
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्	१५/३
अश्वत्थामा विकर्णश्च	१/८
अश्रद्दधानाः पुरुषा	९/३
अश्रद्धया हुतं दत्तं	१७/२८
असंमूढः स मर्त्येषु	१०/३
असंयतात्मना योगो	६/३६
असंशयं महाबाहो	६/३५
असंशयं समग्रं मां	७/१
असक्तं सर्वभृच्चैव	१३/१४
असक्तबुद्धिः सर्वत्र	१८/४९
असक्तिरनभिष्वङ्गः	१३/९
असक्तो ह्याचरन्कर्म	३/१९
असत्कृतमवज्ञातं	१७/२२
असत्यमप्रतिष्ठं ते	१६/८
असदित्युच्यते पार्थ	१७/२८
असौ मया हतः शत्रुः	१६/१४
असितो देवलो व्यासः	१०/१३
अस्माकं तु विशिष्टा ये	१/७
अहं कृत्स्नस्य जगतः	७/६
अहं क्रतुरहं यज्ञः	९/१६
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो	१८/६६
अहं वैश्वानरो भूत्वा	१५/१४
अहं सर्वस्य प्रभवो	१०/८
अहं हि सर्वयज्ञानां	९/२४
अहङ्कार इतीयं मे	७/४
अहङ्कारं बलं दर्पं	१६/१८
अहङ्कारं बलं दर्पं	१८/५३
अहङ्कारविमूढात्मा	३/२७
अहमात्मा गुडाकेश	१०/२०
अहमादिर्हि देवानां	१०/२
अहमादिश्च मध्यं च	१०/२०
अहमेवाक्षयः कालो	१०/३३
अहिंसा सत्यमक्रोधः	१६/२
अहिंसा समता तुष्टिः	१०/५
अहो बत महत्पापं	१/४५
आ	
आख्याहि मे को भवान्	११/३१
आगमापायिनोऽनित्याः	२/१४
आचरत्यात्मनः श्रेयः	१६/२२
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्	१/२६
आचार्योपासनं शौचं	१३/७
आचार्यमुपसङ्गम्य	१/२

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
आचार्याः पितरः पुत्राः	१/३४
आढ्योऽभिजनवानस्मि	१६/१५
आत्मन्येव च संतुष्टः	३/१७
आत्मन्येवात्मना तुष्टः	२/५५
आत्मवन्तं न कर्माणि	४/४१
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा	२/६४
आत्मसंभाविताः स्तब्धा	१६/१७
आत्मसंयमयोगाग्नौ	४.२७
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा	६/२५
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः	६/५
आत्मौपम्येन सर्वत्र	६/३२
आदित्यानामहं विष्णुः	१०/२१
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय	५/२२
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं	२/७०
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः	८/१६
आयुधानामहं वज्रं	१०/२८
आयुःसत्त्वबलारोग्य	१७/८
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं	६/३
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी	७/१६
आवृतं ज्ञानमेतेन	३/३९
आशापाशशतैर्बद्धा	१६/१२
आश्चर्यवच्चैनमन्यः	२/२९
आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं	२/२९
आश्वासयामास च	११/५०
आसुरीं योनिमापन्ना	१६/२०
आस्थितः स हि युक्तात्मा	७/१८
आहारस्त्वपि सर्वस्य	१७/७
आहारा रजसस्येष्टा	१७/९
आहुस्त्वामृषयः सर्वे	१०/१३

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
इ	
इच्छाद्वेषसमुत्थेन	७/२७
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं	१३/६
इज्यते भरतश्रेष्ठ	१७/१२
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं	१३/१८
इति गुह्यतमं शास्त्रम्	१५/२०
इति ते ज्ञानमाख्यातं	१८/६३
इति मत्वा भजन्ते मां	१०/८
इति मां योऽभिजानाति	४/१४
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा	११/५०
इत्यहं वासुदेवस्य	१८/७४
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य	१४/२
इदं तु ते गुह्यतमं	९/१
इदं ते नातपस्काय	१८/६७
इदं शरीरं कौन्तेय	१३/१
इदमद्य मया लब्धमिमं	१६/१३
इदमस्तीदमपि मे	१६/१३
इदानीमस्मि संवृत्तः	११/५१
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे	३/३४
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि	१०/२२
इन्द्रियाणां हि चरतां	२/६७
इन्द्रियाणि दशैकं च	१३/५
इन्द्रियाणि पराण्याहुः	३/४२
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि	२/६०
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः	३/४०
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः	२/५८
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः	२/६८
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु	५/९
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा	३/६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्	१३/८
इमं विवस्वते योगं	४/१
इष्टान्भोगान्हि वो देवा	३/१२
इष्टोऽसि मे दृढमिति	१८/६४
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि	२/४
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं	११/७
इहैव तैर्जितः सर्गो	५/१९
ई	
ईक्षते योगयुक्तात्मा	६/२९
ईश्वरोऽहमहं भोगी	१६/१४
ईश्वरः सर्वभूतानां	१८/६१
ईहन्ते कामभोगार्थम्	१६/१२
उ	
उच्चैःश्रवसमश्वानां	१०/२७
उच्छिष्टमपि चामेध्यं	१७/१०
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि	१५/१०
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः	१५/१७
उत्सन्नकुलधर्माणां	१/४४
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः	१/४३
उत्सीदेयुरिमे लोका	३/२४
उदाराः सर्व एवैते	७/१८
उदासीनवदासीनो	१४/२३
उदासीनवदासीनम्	९/९
उद्धरेदात्मनात्मानं	६/५
उपद्रष्टानुमन्ता च	१३/२२
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं	४/३४
उपविश्यासने युञ्ज्याद्	६/१२
उपैति शान्तरजसं	६/२७
उभयोरपि दृष्टोऽन्तः	२/१६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
उभौ तौ न विजानीतो	२/१९
उवाच पार्थ पश्यैतान्	१/२५
ऊ	
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था	१४/१८
ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्	१५/१
ऋ	
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति	११/३२
ऋषिभिर्बहुधा गीतं	१३/४
ए	
एकं साख्यं च योगं च	५/५
एकत्वेन पृथक्त्वेन	९/१५
एकमप्यास्थितः सम्यग्	५/४
एकया यात्यनावृत्तिम्	८/२६
एकाकी यतचित्तात्मा	६/१०
एकोऽथवाप्यच्युत तत्	११/४२
एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य	११/३५
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्	१३/११
एतत्क्षेत्रं समासेन	१३/६
एतद्धि दुर्लभतरं	६/४२
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्	१५/२०
एतद्योनीनि भूतानि	७/६
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः	१३/१
एतस्याहं न पश्यामि	६/३३
एतां दृष्टिमवष्टभ्य	१६/९
एतां विभूतिं योगं च	१०/७
एतान्न हन्तुमिच्छामि	१/३५
एतन्मे संशयं कृष्ण	६/३९
एतान्यपि तु कर्माणि	१८/६
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय	१६/२२

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
एतैर्विमोहयत्येष	३/४०
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म	४/१५
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना	९/२१
एवं परम्पराप्राप्त	४/२
एवं प्रवर्तितं चक्रं	३/१६
एवं बहुविधा यज्ञा	४/३२
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा	३/४३
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके	११/४८
एवं सततयुक्ता ये	१२/१
एवमुक्त्वा ततो राजन्	११/९
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये	१/४७
एवमुक्त्वा हृषीकेशं	२/९
एवमुक्तो हृषीकेशो	१/२४
एवमेतद्यथात्थ त्वं	११/३
एष तूद्देशतः प्रोक्तो	१०/४०
एषा तेऽभिहिता सांख्ये	२/३९
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ	२/७२
ऐ	
ऐरावतं गजेन्द्राणां	१०/२७
ओ	
ॐतत्सदिति निर्देशो	१७/२३
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	८/१३
क	
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ	१८/७२
कच्चिदज्ञानसंमोहः	१८/७२
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः	६/३८
कट्वम्लवणात्युष्ण	१७/९
कथं न ज्ञेयमस्माभिः	१/३९
कथं भीष्ममहं संख्ये	२/४
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां	१०/१७
कथं स पुरुषः पार्थ	२/२१
कथमेतद्विजानीयां	४/४
कथयन्तश्च मां नित्यं	१०/९
करणं कर्म कर्तेति	१८/१८
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्	१८/६०
कर्तव्यानीति मे पार्थ	१८/६
कर्म चैव तदर्थीयं	१७/२७
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि	२/५१
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्	४/३२
कर्मणैव हि संसिद्धिम्	३/२०
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं	४/१७
कर्मणः सुकृतस्याहुः	१४/१६
कर्मण्यकर्म यः पश्येत्	४/१८
कर्मण्यभिप्रवृऽतोऽपि	४/२०
कर्मण्येवाधिकारस्ते	२/४७
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि	३/१५
कर्माणि प्रविभक्तानि	१८/४१
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी	६/४६
कर्मेन्द्रयाणि संयम्य	३/६
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम्	३/७
कल्पक्षये पुनस्तानि	९/७
कविं पुराणमनुशासितारम्	८/९
कर्षयन्तः शरीरस्थं	१७/६
कस्माच्च ते न नमेरन्	११/३७
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं	४/१२
काम एष क्रोध एष	३/३७

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
कामक्रोधोद्भवं वेगं	५/२३
कामक्रोधवियुक्तानां	५/२६
कामात्मानः स्वर्गपरा	२/४३
काममाश्रित्य दुष्पूरं	१६/१०
कामरूपेण कौन्तेय	३/३९
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना	७/२०
कामोपभोगपरमा	१६/११
कामः क्रोधस्तथा लोभः	१६/२१
काम्यानां कर्मणां न्यासं	१८/२
कायेन मनसा बुद्धया	५/११
कारणं गुणसङ्गोऽस्य	१३/२१
कार्यकारणकर्तृत्वे	१३/२०
कार्यते ह्यवशः कर्म	३/५
कार्यमित्येव यत्कर्म	१८/९
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः	२/७
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो	११/३२
काश्यश्च परमेष्वासः	१/१७
किं कर्म किमकर्मेति	४/१६
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं	८/१
किं नो राज्येन गोविन्द	१/३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या	९/३३
किमाचारः कथं चैतान्	१४/२१
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्	११/४६
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च	११/१७
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां	१०/३४
कुतस्त्वा कश्मलमिदं	२/२
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तः	३/२५
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं	४/१५
कुलक्षयकृतं दोषं	१/३८
कुलक्षयकृतं दोषं	१/३९
कुलक्षये प्रणश्यन्ति	१/४०
कृपया परयाविष्टो	१/२८
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं	१८/४४
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु	११/२७
केशवार्जुनयोः पुण्यं	१८/७६
केषु केषु च भावेषु	१०/१७
कैर्मया सह योद्धव्यम्	१/२२
कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतान्	१४/२१
कौन्तेय प्रतिजानीहि	९/३१
क्रियते तदिह प्रोक्तं	१७/१८
क्रियते बहुलायासं	१८/२४
क्रियाविशेषबहुलां	२/४३
क्रोधाद्भवति संमोहः	२/६३
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ	२/३
क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्	१२/५
ग	
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं	५/१७
गतसङ्गस्य मुक्तस्य	४/२३
गतासूनगतासूंश्च	२/११
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी	९/१८
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा	११/२२
गन्धर्वाणां चित्ररथः	१०/२६
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्	१/३०
गामाविश्य च भूतानि	१५/१३
गुणा गुणेषु वर्तन्त	३/२८
गुणानेतानतीत्य त्रीन्	१४/२०

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
गुणा वर्तन्त इत्येव	१४/२३
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति	१४/१९
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्	२/५
गृहीत्वैतानि संयाति	१५/८
च	
चञ्चलं हि मनः कृष्ण	६/३४
चतुर्विधा भजन्ते माम्	७/१६
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं	४/१३
चिन्तामपरिमेयां च	१६/११
चेतसा सर्वकर्माणि	१८/५७
छ	
छन्दांसि यस्य पर्णानि	१५/१
छित्त्वैनं संशयं योगम्	४/४२
छिन्नद्वैधा यतात्मानः	५/२५
ज	
जघन्यगुणवृत्तिस्था	१४/१८
जन्म कर्म च मे दिव्यम्	४/९
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः	२/५१
जन्ममृत्युजरादुःखैः	१४/२०
जन्ममृत्युजराव्याधि	१३/८
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि	१०/३६
जरामरणमोक्षाय	७/२९
जहि शत्रुं महाबाहो	३/४३
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः	२/२७
जिज्ञासुरपि योगस्य	६/४४
जितात्मनः प्रशान्तस्य	६/७
जीवनं सर्वभूतेषु	७/९
जीवभूतां महाबाहो	७/५
जोषयेत्सर्वकर्माणि	३/२६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते	३/१
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः	१३/१७
झ	
झषाणां मकरश्चास्मि	१०/३१
त	
तं तं नियममास्थाय	७/२०
तं तथा कृपयाविष्टम्	२/१
तं तमेवैति कौन्तेय	८/६
तं विद्याद्दुःख संयोग	६/२३
त इमेऽवस्थिता युद्धे	१/३३
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य	१८/७७
तत एव च विस्तारं	१३/३०
ततस्तो नियम्यैतद्	६/२६
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा	१८/५५
ततो युद्धाय युज्यस्व	२/३८
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं	१५/४
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च	१/१३
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते	१/१४
ततः स विस्मयाविष्टो	११/१४
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च	२/३३
तत्किं कर्मणि घोरे मां	३/१
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च	१३/३
तत्तदेवावगच्छत्वं	१०/४१
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि	४/१६
तत्प्रसादात्परां शांतिं	१८/६२
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिः	८/२५
तत्र तं बुद्धिसंयोगं	६/४३
तत्र प्रयाता गच्छन्ति	८/२४
तत्र श्रीर्विजयो भूतिः	१८/७८

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक	श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्	१४/६	तमस्त्वज्ञानजं विद्धि	१४/८
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः	१/२६	तमस्येतानि जायन्ते	१४/१३
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा	६/१२	तमुवाच हृषीकेशः	२/१०
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं	११/१३	तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये	१५/४
तत्रैवं सति कर्तारम्	१८/१६	तमेव शरणं गच्छ	१८/६२
तत्त्ववित्तु महाबहो	३/२८	तयोर्न वशमागच्छेत्	३/३४
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्	१८/३७	तयोस्तु कर्मसंन्यासात्	५/२
तत्स्वयं योगसंसिद्धः	४/३८	तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते	१६/२४
तथा तवामी नरलोकवीरा	११/२८	तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ	३/४१
तथा देहान्तरप्राप्ति	२/१३	तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो	११/३३
तथापि त्वं महाबाहो	२/२६	तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय	११/४४
तथा प्रलीनस्तमसि	१४/१५	तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म	३/१५
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्	२/२२	तस्मात्सर्वाणि भूतानि	२/३०
तथा सर्वाणि भूतानि	९/६	तस्मात्सर्वेषु कालेषु	८/७
तथैव नाशाय विशन्ति लोकाः	११/२९	तस्मात्सर्वेषु कालेषु	८/२७
तदर्थं कर्म कौन्तेय	३/९	तस्मादज्ञानसंभूतं	४/४२
तदस्य हरति प्रज्ञां	२/६७	तस्माद्परिहार्येऽर्थे	२/२७
तदहं भक्त्युपहृतम्	९/२६	तस्मादसक्तः सततं	३/१९
तदा गन्तासि निर्वेदं	२/५२	तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय	२/३७
तदित्यनभिसंधाय	१७/२५	तस्मादेवं विदित्वैनं	२/२५
तदेकं वद निश्चित्य	३/२	तस्मादोमित्युदाहृत्य	१७/२४
तदेव मे दर्शय देव रूपं	११/४५	तस्माद्यस्य महाबाहो	२/६८
तदोत्तमविदां लोकान्	१४/१४	तस्माद्योगाय युज्यस्व	२/५०
तद्बुद्धयस्तदात्मानः	५/१७	तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं	१/३७
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे	२/७०	तस्य कर्तारमपि मां	४/१३
तद्विद्धि प्रणिपातेन	४/३४	तस्य तस्याचलां श्रद्धां	७/२१
तन्निबध्नाति कौन्तेय	१४/७	तस्य संजनयन्हर्षं	१/१२
तपस्विभ्योऽधिको योगी	६/४६	तस्याहं न प्रणश्यामि	६/३०
तपाम्यहमहं वर्षं	९/१९	तस्याहं निग्रहं मन्ये	६/३४

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
तस्याहं सुलभः पार्थ	८/१४
तानकृत्स्नविदो मन्दान्	३/२९
तानहं द्विषतः क्रूरान्	१६/१९
तानि सर्वाणि संयम्य	२/६१
तान्यहं वेद सर्वाणि	४/५
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः	१/२७
तावान्सर्वेषु वेदेषु	२/४६
तासां ब्रह्म महद्योनिः	१४/४
तुल्यप्रियाप्रियो धीरः	१४/२४
तुल्यनन्दास्तुतिर्मौनी	१२/१९
तेऽपि चातितरन्त्येव	१३/२५
तेऽपि मामेव कौन्तेय	९/२३
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं	११/३०
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं	११/४७
तेजः क्षमा धृतिः शौचम्	१६/३
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं	९/२१
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः	१/२६
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता	७/२८
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन	११/४६
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्	९/२०
ते प्राप्नुवन्ति मामेव	१२/४
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नम्	७/२९
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त	७/१७
तेषां नित्याभियुक्तानाम्	९/२२
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण	१७/१
तेषां सततयुक्तानां	१०/१०
तेषामहं समुद्धर्ता	१२/७
तेषामादित्यवज्ज्ञानं	५/१६
तेषामेवानुकम्पार्थम्	१०/११

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो	३/१२
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं	४/२०
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म	४/९
त्यागस्य च हृषीकेश	१८/१
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो	१८/१०
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र	१८/४
त्याज्यं दोषवदित्येके	१८/३
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः	७/१३
त्रैविद्या मां सोमपाः	९/२०
त्रिविधं नरकस्येदं	१६/२१
त्रिविधा भवति श्रद्धा	१७/२
त्रैगुण्यविषया वेदा	२/४५
त्वत्तः कमलपत्राक्ष	११/२
त्वदन्यः संशयस्यास्य	६/३९
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं	११/१८
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता	११/१८
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण	११/३८
द	
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि	११/२५
दण्डो दमयतामस्मि	१०/३८
ददामि बुद्धियोगं तं	१०/१०
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः	१७/५
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च	१६/४
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं	१६/२
दर्शयामास पार्थाय	११/९
दातव्यमिति यद्दानं	१७/२०
दानं दमश्च यज्ञश्च	१६/१
दानक्रियाश्च विविधाः	१७/२५
दानमीश्वरभावश्च	१८/४३

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
दिवि सूर्यसहस्रस्य	११/१२
दिव्यं ददामि ते चक्षुः	११/८
दिव्यमाल्याम्बरधरं	११/११
दिशो न जाने न लभे च	११/२५
दीयते च परिक्लिष्टं	१७/२१
दुःखमित्येव यत्कर्म	१८/८
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः	२/५६
दूरेण ह्यवरं कर्म	२/४९
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं	१/२
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं	११/२०
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं	११/५१
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा	११/२४
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण	१/२८
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्	११/३
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं	१७/१४
देवा अप्यस्य रूपस्य	११/५२
देवान्भावयतानेन	३/११
देशे काले च पात्रे च	१७/२०
देवान्देवयजो यान्ति	७/२३
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे	२/१३
देही नित्यमवध्योऽयं	२/३०
दैवमेवापरे यज्ञं	४/२५
दैवी संपद्विमोक्षाय	१६/५
दैवी ह्येषा गुणमयी	७/१४
दैवो विस्तरशः प्रोक्त	१६/६
दोषैरेतैः कुलघ्नानां	१/४३
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि	११/२०
द्यूतं छलयतामस्मि	१०/३६
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा	४/२८

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च	१/१८
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च	११/३४
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै	१५/५
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	१५/१६
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्	१६/६
ध	
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे	१/१
धर्मसंस्थापनार्थाय	४/८
धर्माविरुद्धो भूतेषु	७/११
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम्	१/४०
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयो	२/३१
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः	१/२३
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः	१/४६
धूमेनाव्रियते वह्निः	३/३८
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः	८/२५
धृत्या यया धारयते	१८/३३
धृष्टद्युम्नो विराटश्च	१/१७
धृष्टकेतुश्चेकितानः	१/५
ध्यानयोगपरो नित्यं	१८/५२
ध्यानत्कर्मफलत्यागः	१२/१२
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति	१३/२४
ध्यायतो विषयान्पुसः	२/६२
न	
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण	१/३२
न कर्तृत्वं न कर्माणि	५/१४
न कर्मफलसंयोगं	५/१४
न कर्मणामनारम्भात्	३/४
नकुलः सहदेवश्च	१/१६
न च तस्मान्मनुष्येषु	१८/६९

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक	श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
न च मत्स्थानि भूतानि	९/५	न मां कर्माणि लिम्पन्ति	४/१४
न च मां तानि कर्माणि	९/९	न मां दुष्कृतिनो मूढाः	७/१५
न च शक्नोम्यवस्थातुं	१/३०	न मे पार्थास्ति कर्तव्यं	३/२२
न च श्रेयोऽनुपश्यामि	१/३१	न मे विदुः सुरगणाः	१०/२
न च संन्यासनादेव	३/४	नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः	११/३९
न चाति स्वप्नशीलस्य	६/१६	न योत्स्य इति गोविन्दम्	२/९
न चाभावयतः शान्तिः	२/६६	न हि कल्याणकृत्कश्चिद्	६/४०
न चाशुश्रूषवे वाच्यं	१८/६७	न हि कश्चित्क्षणमपि	३/५
न चास्य सर्वभूतेषु	३/१८	नरकेऽनियतं वासो	१/४४
न चैतद्विद्मः कतरन्नो	२/६	न रूपमस्येह तथोपलभ्यते	१५/३
न चैनं क्लेदयन्त्यापो	२/२३	नवद्वारे पुरे देही	५/१३
न चैव न भविष्यामः	२/१२	न विमुञ्चति दुर्मेधा	१८/३५
न जायते म्रियते वा	२/२०	न वेदयज्ञाध्ययनैर्न	११/४८
न तद्भासयते सूर्यो	१५/६	न शौचं नापि चाचारो	१६/७
न तदस्ति पृथिव्यां वा	१८/४०	नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा	१८/७३
न तदस्ति विना यत्	१०/३९	न स सिद्धिमवाप्नोति	१६/२३
न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्	११/८	न हि ज्ञानेन सदृशं	४/३८
न तु माभिजानन्ति	९/२४	न हि ते भगवन्व्यक्तिं	१०/१४
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः	११/४३	न हि देहभृता शक्यं	१८/११
न त्वेवाहं जातु नासं	२/१२	न हिनस्त्यात्मनात्मानं	१३/२८
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि	१४/२२	न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या	२/८
न द्वेष्टयकुशलं कर्म	१८/१०	न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो	६/२
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य	५/२०	नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति	६/१६
न बुद्धिभेदं जनयेत्	३/२६	नात्युच्छ्रितं नातिनीचं	६/११
नभश्च पृथिवीं चैव	१/१९	नादत्ते कस्यचित्पापं	५/१५
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं	११/२४	नानवाप्तमवाप्तव्यं	३/२२
नमस्कृत्वा भूय एवाह	११/३५	नानाविधानि दिव्यानि	११/५
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या	९/१४	नानाशस्त्रप्रहरणाः	१/९
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते	११/४०	नान्तं न मध्यं न पुनः	११/१६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां	१०/४०
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं	१४/१९
नाप्नुवन्ति महात्मानः	८/१५
नाभिनन्दति न द्वेष्टि	२/५७
नायं लोकोऽस्ति न परो	४/४०
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य	४/३१
नायका मम सैन्यस्य	१/७
नाशयाम्यात्मभावस्थो	१०/११
नासतो विद्यते भावो	२/१६
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य	२/६६
नाहं प्रकाशः सर्वस्य	७/२५
नाहं वेदैर्न तपसा	११/५३
नित्यं च समचित्त्वम्	१३/९
नित्यः सर्वगतः स्थाणुः	२/२४
निद्रालस्यप्रमादोत्थं	१८/३९
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यम्	२/३६
निबध्नन्ति महाबाहो	१४/५
निमित्तानि च पश्यामि	१/३१
नियतं कुरु कर्मत्वम्	३/८
नियतं सङ्गरहितम्	१८/२३
नियतस्य तु संन्यासः	१८/७
निराशीर्निर्ममो भूत्वा	३/३०
निराशीर्यतचित्तात्मा	४/२१
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो	२/४५
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो	५/३
निर्दोषं हि समं ब्रह्म	५/१९
निर्ममो निरहंकारः	१२/१३
निर्ममो निरहंकारः स	२/७१
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा	१५/५
निर्वैरः सर्वभूतेषु	११/५५
निवसिष्यसि मय्येव	१२/८
निश्चयं शृणु मे तत्र	१८/४
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो	६/१८
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः	१/३६
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति	२/४०
नैते सृती पार्थ जानन्	८/२७
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि	२/२३
नैव किंचित्करोमीति	५/८
नैव तस्य कृतेनार्थो	३/१८
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां	१८/४९
न्याय्यं वा विपरीतं वा	१८/१५
प	
पञ्चैतानि महाबाहो	१८/१३
पतन्ति पितरो ह्येषां	१/४२
पत्रं पुष्पं फलं तोयं	९/२६
परं ब्रह्म परं धाम	१०/१२
परं भावमजानन्तो	७/२४
परं भावमजानन्तो	९/११
परं भूयः प्रवक्ष्यामि	१४/१
परमं पुरुषं दिव्य	८/८
परमात्मेति चाप्युक्तो	१३/२२
परस्तस्मात्तु भावऽन्यो	८/२०
परस्परं भावयन्तः	३/११
परस्योत्सादनार्थं वा	१७/१९
परिचर्यात्मकं कर्म	१८/४४
परिणामे विषमिव	१८/३८
परित्राणाय साधूनां	४/८

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
पर्याप्तं त्विदमेतेषां	१/१०
पवनः पवतामस्मि	१०/३१
पश्यशृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्न	५/८
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात्	१८/१६
पश्य मे पार्थ रूपाणि	११/५
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रान्	११/६
पश्यामि त्वां दीप्तहुताश	११/१९
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं	११/१७
पश्यामि देवांस्तव देव	११/१५
पश्येतां पाण्डुपुत्राणाम्	१/३
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो	१/१५
पापमेवाश्रयेदस्मान्	१/१६
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं	३/४१
पार्थ नैवेह नामुत्र	६/४०
पिताहमस्य जगतो	९/१७
पितासि लोकस्य चराचरस्य	११/४३
पितेव पुत्रस्य सखेव	११/४४
पितृणामर्यमा चास्मि	१०/२९
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च	७/९
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च	१/५
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि	१३/२१
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं	१०/१२
पुरुषः स परः पार्थ	८/२२
पुरुषः सुखदुःखानां	१३/२०
पुरोधसां च मुख्यं मां	१०/२४
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः	१५/१३
पूर्वाभ्यासेन तेनैव	६/४४
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं	१८/२१
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं	१/१५

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च	१४/२२
प्रकृतिं पुरुषं चैव	१३/१९
प्रकृतिं यान्ति भूतानि	३/३३
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय	४/६
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य	९/८
प्रकृतेः क्रियामाणानि	३/२७
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः	३/२९
प्रकृत्यैव च कर्माणि	१३/२९
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः	१०/२८
प्रजहाति यदा कामान्	२/५५
प्रणम्य शिरसा देवं	११/१४
प्रणवः सर्ववेदेषु	७/८
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं	९/२
प्रभवः प्रलयः स्थानं	९/१८
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः	१६/९
प्रमादमोहौ तमसो	१४/१७
प्रमादालस्यनिद्राभिः	१४/८
प्रयत्नाद्यतमानस्तु	६/४५
प्रयाणकालेऽपि च मां	७/३०
प्रयाणकाले च कथं	८/२
प्रयाणकाले मनसाचलेन	८/१०
प्रयाता यान्ति तं कालं	८/२३
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्	५/९
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः	१७/२४
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च	१६/७
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च	१८/३०
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते	१/२०
प्रशस्ते कर्मणि तथा	१७/२६
प्रशान्तमनसं ह्येनं	६/२७

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
प्रशान्तात्मा विगत भीः	६/१४
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी	१८/३४
प्रसन्नचेतसो ह्याशु	२/६५
प्रसक्ताः कामभोगेषु	१६/१६
प्रसादे सर्वदुःखानां	२/६५
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां	१०/३०
प्राणापानगती रुद्ध्वा	४/२९
प्राणापानौ समौ कृत्वा	५/२७
प्राणापानसमायुक्तः	१५/१४
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ	१०/१९
प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्	६/४१
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं	७/१७
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये	१७/४
प्रोच्यते गुणसंख्याने	१८/१९
प्रोच्यमानमशेषेण	१८/२९
ब	
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति	१८/३०
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य	६/६
बलं बलवतां चाहं	७/११
बहवो ज्ञानतपसा	४/१०
बहिरन्तश्च भूतानाम्	१३/१५
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च	२/४१
बहूदरं बहुदंष्ट्रा करालं	११/२३
बहूनां जन्मनामन्ते	७/१९
बहूनि मे व्यतीतानि	४/५
बहून्यदृष्टपूर्वाणि	११/६
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा	५/२१
बीजं मां सर्वभूतानां	७/१०
बुद्धया युक्तो या पार्थ	२/३९

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
बुद्धया विशुद्धया युक्तो	१८/५१
बुद्धियोगमुपाश्रित्य	१८/५७
बुद्धियुक्तो जहातीह	२/५०
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः	१०/४
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि	७/१०
बुर्द्धेभेदं धृतेश्चैव	१८/२९
बुद्धौ शरणमन्विच्छ	२/४९
बृहत्साम तथा साम्ना	१०/३५
ब्रह्मचर्यमहिंसा च	१७/१४
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्	१४/२७
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि	५/१०
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा	१८/५४
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव	१३/४
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं	४/२५
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं	११/१५
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः	४/२४
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं	४/२४
ब्राह्मणक्षत्रियविशां	१८/४१
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च	१७/२३
भ	
भक्तिं मयि परां कृत्वा	१८/६८
भक्त्या त्वनन्यया	११/५४
भक्त्या मामभिजानाति	१८/५५
भक्तोऽसि मे सखा चेति	४/३
भजन्त्यनन्यमनसो	९/१३
भयाद्रणादुपरतम्	२/३५
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य	१८/१२
भवन्ति भावा भूतानां	१०/५
भवन्ति संपदं दैवीम्	१६/३

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च	१/८
भवाप्यौ हि भूतानां	११/२
भवामि नचिरात्पार्थ	१२/७
भविता न च मे तस्मात्	१८/६९
भविष्याणि च भूतानि	७/२६
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो	१७/१६
भीष्मद्रोणप्रमुखतः	१/२५
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः	११/२६
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु	१/११
भुञ्जते ते त्वघं पापा	३/१३
भूतग्राममिमं कृत्स्नम्	९/८
भूतग्रामः स एवायं	८/१९
भूतप्रकृतिमोक्षं च	१३/३४
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं	१३/१६
भूतभावन भूतेश	१०/१५
भूतभावोद्भवकरो	८/३
भूतभृन्न च भूतस्थो	९/५
भूतानि यान्ति भूतेज्या	९/२५
भूमिरापोऽनलो वायुः	७/४
भूय एव महाबाहो	१०/१
भूयः कथय तृप्तिर्हि	१०/१८
भोक्तारं यज्ञतपसां	५/२९
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां	२/४४
भ्रामयन्सर्वभूतानि	१८/६१
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य	८/१०
म	
मच्चिता मद्गतप्राणा	१०/९
मच्चितः सर्वदुर्गाणि	१५/५८
मत्कर्म कृन्मत्परमो	११/५५
मत्त एवेति तान्विद्धि	७/१२
मत्तः परतरं नान्यत्	७/७
मत्प्रसादादवाप्नोति	१८/५६
मत्स्थानि सर्वभूतानि	९/४
मदनुग्रहाय परमं	११/१
मदर्थमपि कर्माणि	१२/१०
मद्भक्त एतद्विज्ञाय	१३/१८
मद्भावा मानसा जाता	१०/६
मनःप्रसादः सौम्यत्वं	१७/१६
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि	१५/७
मनः संयम्य मच्चितो	६/१४
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो	३/४२
मनसैवेन्द्रियग्रामं	६/२४
मनुष्याणां सहस्रेषु	७/३
मन्त्रोऽमहमेवाज्यम्	९/१६
मन्मना भव मद्भक्तो	९/३४
मन्मना भव मद्भक्तो	१८/६५
मन्यसे यदि तच्छक्यं	११/४
मम देहे गुडाकेश	११/७
मम योनिर्महद्ब्रह्म	१४/३
मम वर्त्मानुवर्तन्ते	३/२३
मम वर्त्मानुवर्तन्ते	४/११
ममैवांशो जीवलोके	१५/७
मया ततमिदं सर्वं	९/४
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः	९/१०
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं	११/४७
मया हतांस्त्वं जहि मा	११/३४
मयि चानन्ययोगेन	१३/१०
मयि सर्वमिदं प्रोतं	७/७

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक	श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
मयि सर्वाणि कर्माणि	३/३०	मामेवैष्यसि सत्यं ते	१८/६५
मयैवैते निहताः पूर्वमेव	११/३३	माययापहृतज्ञाना	७/१५
मय्यर्पितमनोबुद्धिः	८/७	मा शुचः सम्पदं दैवीम्	१६/५
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो	१२/१४	मासानां मार्गशीर्षोऽहम्	१०/३५
मय्यावेश्य मनो ये मां	१२/२	मिथ्यैष व्यवसायस्ते	१८/५९
मय्यासक्तमनाः पार्थ	७/१	मुक्तसङ्गोऽनहंवादी	१८/२६
मय्येव मन आधत्स्व	१२/८	मुनीनामप्यहं व्यासः	१०/३७
मरीचिर्मरुतामस्मि	१०/२१	मूढग्राहेणात्मनो यत्	१७/१९
महर्षयः सप्त पूर्वे	१०/६	मूढोऽयं नाभिजानाति	७/२५
महर्षीणां भृगरहं	१०/२५	मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणम्	८/१२
महात्मानस्तु मां पार्थ	९/१३	मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं	१०/३०
महाभूतान्यहङ्कारो	१३/५	मृत्युः सर्वहरश्चाहम्	१०/३४
महाशनो महापाप्मा	३/३७	मोघाशा मोघकर्माणो	९/१२
मां च योऽव्यभिचारेण	१४/२६	मोहात्तस्य परित्यागः	१८/७
मां चैवान्तः शरीरस्थं	१७/६	मोहाद्गृहीत्वासदग्राहान्	१६/१०
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य	९/३२	मोहादारभ्यते कर्म	१८/२५
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा	२/४७	मोहितं नाभिजानाति	७/१३
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः	१/३४	मौनं चैवास्मि गुह्यानां	१०/३८
मा ते व्यथा मा च	११/४९	**य**	
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय	२/१४	यं प्राप्य न निवर्तन्ते	८/२१
माधवः पाण्डवश्चैव	१/१४	यं यं वापि स्मरन्भावं	८/६
मानापमानयोस्तुल्यो	१४/२५	यं लब्ध्वा चापरं लाभं	६/२२
मामकाः पाण्डवाश्चैव	१/१	यं संन्यासमिति	६/२
मामप्राप्यैव कौन्तेय	१६/२०	यं हि न व्यथयन्त्येते	२/१५
मामात्मपरदेहेषु	१६/१८	यः पश्यति तथात्मानम्	१३/२९
मामुपेत्य पुनर्जन्म	८/१५	यः प्रयाति त्यजन्देहं	८/१३
मामुपेत्य तु कौन्तेय	८/१६	यः प्रयाति स मद्भावम्	८/५
मामेव ये प्रपद्यन्ते	७/१४	यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१६/२३
मामेवैष्यसि युक्त्वैवं	९/३४	यः सर्वत्रानभिस्नेहः	२/५७

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक	श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
यः स सर्वेषु भूतेषु	८/२०	यतन्तोऽप्यकृतात्मानो	१५/११
य इदं परमं गुह्य	१८/६८	यतन्तो योगिनश्चैनं	१५/११
य एनं वेत्ति हन्तारं	२/१९	यतेन्द्रियमनोबुद्धिः	५/२८
य एवं वेत्ति पुरुषं	१३/२३	यतो यतो निश्चरति	६/२६
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य	१६/१५	यतः प्रवृत्तिर्भूतानां	१८/४६
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ	१५/१२	यत्करोषि यदश्नासि	९/२७
यच्चापि सर्वाभूतानां	१०/३९	यत्वयोक्तं वचसस्तेन	११/१
यच्चावहासार्थमसत्कृतः	११/४२	यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते	५/५
यच्छ्रेय एतयोरेकं	५/१	यत्तदग्रे विषमिव	१८/३७
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं	२/७	यत्तपस्यसि कौन्तेय	९/२७
यजन्ते नामयज्ञैस्ते	१६/१७	यत्तु प्रत्युपकारार्थं	१७/२१
यजन्ते सात्त्विका देवान्	१७/४	यत्तु कामेप्सुना कर्म	१८/२४
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्	४/३५	यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्	१८/२२
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत्	७/२	यत्तेऽहं प्रियमाणाय	१०/१
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे	१४/१	यत्र चैवात्मनात्मानं	६/२०
यज्ञदानतपःकर्म	१८/५	यत्र योगेश्वरः कृष्णो	१८/७८
यज्ञदानतपःकर्म	१८/३	यत्रोपरमते चित्तं	६/२०
यज्ञस्तपस्तथा दानं	१७/७	यत्र काले त्वनावृत्तिम्	८/२३
यज्ञशिष्टामृतभुजो	४/३०	यथाकाशस्थितो नित्यं	९/६
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो	३/१३	यथा दीपो निवातस्थो	६/१९
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो	३/१४	यथा नदीनां बहवः	११/२८
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि	१०/२५	यथा प्रकाशयत्येकः	१३/३३
यज्ञायाचरतः कर्म	४/२३	यथा प्रदीप्तं ज्वलनं	११/२९
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र	३/९	यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात्	१३/३२
यज्ञे तपसी दाने च	१७/२७	यथैधांसि समिद्धोऽग्निः	४/३७
यज्ञो दानं तपश्चैव	१८/५	यथोल्बेनावृतो गर्भः	३/३८
यततामपि सिद्धानां	७/३	यदक्षरं वेदविदो वदन्ति	८/११
यतते च ततो भूयः	६/४३	यदग्रे चानुबन्धे च	१८/३९
यततो ह्यपि कौन्तेय	२/६०	यदहङ्कारमाश्रित्य	१८/५९

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक	श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
यदा ते मोहकलिलं	२/५२	यस्य नाहंकृतो भावो	१८/१७
यदादित्यगतं तेजो	१५/१२	यस्य सर्वे समारम्भाः	४/१९
यदा भूतपृथग्भावम्	१३/३०	यस्यां जाग्रति भूतानि	२/६९
यदा यदा हि धर्मस्य	४/७	यस्यान्तःस्थानि भूतानि	८/२२
यदा विनियतं चित्तं	६/१८	यातयामं गतरसं	१७/१०
यदा संहरते चायं	२/५८	यानेव हत्वा न जिजीविषाम	२/६
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु	१४/१४	या निशा सर्वभूतानां	२/६९
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु	६/४	यान्ति देवव्रता देवान्	९/२५
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं	८/११	याभिर्विभूतिभिर्लोकान्	१०/१६
यदि भाः सदृशी सा	११/१२	यामिमां पुष्पितां वाचं	२/४२
यदि मामप्रतीकारम्	१/४६	यावत्संजायते किंचित्	१३/२६
यदि ह्यहं न वर्तेयं	३/२३	यावदेतान्निरीक्षेऽहं	१/२१
यदृच्छया चोपपन्नं	२/३२	यावानर्थ उदपाने	२/४६
यदृच्छालाभसंतुष्टो	४/२२	युक्त इत्युच्यते योगी	६/८
यद्गत्त्वा न निवर्तन्ते	१५/६	युक्तस्वप्नावबोधस्य	६/१७
यद्यदाचरति श्रेष्ठः	३/२१	युक्ताहारविहारस्य	६/१७
यद्यप्येते न पश्यन्ति	१/३८	युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा	५/१२
यद्राज्यसुखलोभेन	१/४५	युञ्जन्नेवं सदात्मानं	६/१५
यद्यद्विभूतिमात्सत्त्वं	१०/४१	युञ्जन्नेवं सदात्मानं	६/२८
यया तु धर्मकामार्थान्	१८/३४	युधामन्युश्च विक्रान्त	१/६
यया धर्ममधर्मं च	१८/३१	युयुधानो विराटश्च	१/४
यया स्वप्नं भयं शोकं	१८/३५	येऽप्यन्यदेवता भक्ता	९/२३
यष्टव्यमेवेति मनः	१७/११	ये चाप्यक्षरमव्यक्तं	१२/१
यस्तु कर्मफलत्यागी	१८/११	ये चैव सात्त्विका भावा	७/१२
यस्त्वात्मरतिरेव स्याद्	३/१७	ये तु धर्म्यामृतमिदं	१२/२०
यस्त्वन्द्रियाणि मनसा	३/७	ये तु सर्वाणि कर्माणि	१२/६
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्	१५/१८	ये त्वक्षरमनिर्देश्यं	१२/३
यस्मान्नोद्विजते लोको	१२/१५	ये त्वेतदभ्यसूयन्तो	३/३२
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन	६/२२	ये भजन्ति तु मां	९/२९

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
ये मे मतमिदं नित्यं	३/३१
ये यथा मां प्रपद्यन्ते	४/११
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१७/१
ये हि संस्पर्शजा भोगा	५/२२
येन भूतान्यशेषेण	४/३५
येषां च त्वं बहुमतो	२/३५
येषां त्वन्तगतं पापं	७/२८
येषामर्थे काङ्क्षितं नो	१/३३
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः	५/२४
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः	६/३३
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्	१८/७५
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म	५/६
योगयुक्तो विशुद्धात्मा	५/७
योगसंन्यस्तकर्माणं	४/४१
योगस्थः कुरु कर्माणि	२/४८
योगारूढस्य तस्यैव	६/३
योगी युञ्जीत सततम्	६/१०
योगिनामपि सर्वेषां	६/४७
योगेनाव्यभिचारिण्या	१८/३३
योगिनो यतचित्तस्य	६/१९
योगिनः कर्म कुर्वन्ति	५/११
योगेश्वर ततो मे त्वं	११/४
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं	१/२३
यो न हृष्यति न द्वेष्टि	१२/१७
यो मां पश्यति सर्वत्र	६/३०
यो मामजमनादिं च	१०/३
यो मामेवमसंमूढो	१५/१९
यो यो यां यां तनुं भक्तः	७/२१
यो लोकत्रयमाविश्य	१५/१७

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
र	
रक्षांसि भीतानि दिशो	११/३६
रजसस्तु फलं दुःखम्	१४/१६
रजसि प्रलयं गत्वा	१४/१५
रजस्तमश्चाभिभूय	१४/१०
रजस्येतानि जायन्ते	१४/१२
रजो रागात्मकं विद्धि	१४/७
रजः सत्त्वं तमश्चैव	१४/१०
रसवर्जं रसोऽप्यस्य	२/५९
रसोऽहमप्सु कौन्तेय	७/८
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा	१७/८
राक्षसीमासुरीं चैव	९/१२
रागद्वेषवियुक्तैस्तु	२/६४
रागी कर्मफलप्रेप्सुः	१८/२७
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य	१८/७६
राजविद्या राजगुह्यं	९/२
रात्रिं युगसहस्रान्तां	८/१७
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ	८/१९
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते	८/१८
रुद्राणां शंकरश्चास्मि	१०/२३
रुद्रादित्या वसवो ये च	११/२२
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं	११/२३
ल	
लभते च ततः कामान्	७/२२
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्	५/२५
लिप्यते न स पापेन	५/१०
लेलिह्यसे ग्रसमानः	११/३०
लोकसंग्रहमेवापि	३/२०
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा	३/३

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः	१४/१२
व	
वक्तुमर्हस्यशेषेण	१०/१६
वक्त्राणि ते त्वरमाणा	११/२७
वशे हि यस्येन्द्रियाणि	२/६१
वश्यात्मानां तु यतता	६/३६
वसूनां पावकश्चास्मि	१०/२३
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः	११/३९
वासांसि जीर्णानि यथा	२/२२
वासुदेवः सर्वमिति	७/१९
विकारंश्च गुणाश्चैव	१३/१९
विगतेच्छाभयक्रोधो	५/२८
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तम्	११/३१
विद्याविनयसंपन्ने	५/१८
विधिहीनमसृष्टान्नं	१७/१३
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं	१३/२७
विनाशमव्ययस्यास्य	२/१७
विमुच्य निर्ममः शान्तो	१८/५३
विमूढा नानुपश्यन्ति	१५/१०
विमृश्यैतदशेषेण	१८/६३
विवस्वान्मनवे प्राह	४/१
विविक्तदेशसेवित्वम्	१३/१०
विविक्तसेवी लघ्वाशी	१८/५२
विविधाश्च पृथक्चेष्टा	१८/१४
विषया विनिवर्तन्ते	२/५९
विषयेन्द्रियसंयोगात्	१८/३८
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम	१०/४२
विषादी दीघसूत्री च	१८/२८
विषीदन्तमिदं वाक्यम्	२/१
विसृज्य सशरं चापं	१/४७
विस्मयो मे महान्राजन्	१८/७७
विस्तरेणात्मनो योगं	१०/१८
विहाय कामान्यः सर्वान्	२/७१
वीतरागभयक्रोधः	२/५६
वीतरागभयक्रोधा	४/१०
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि	१०/३७
वेत्ति यत्र न चैवायं	६/२१
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु	१८/२१
वेत्तासि वेद्यं च परं	११/३८
वेदवादरताः पार्थ	२/४२
वेदाहं समतीतानि	७/२६
वेदानां सामवेदोऽस्मि	१०/२२
वेदाविनाशिनं नित्यं	२/२१
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव	८/२८
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो	१५/२५
वेद्यं पवित्रमोंकार	९/१७
वेपथुश्च शरीरे मे	१/२९
व्यपेतभीः प्रीतमनाः	११/४९
व्यवसायात्मिका बुद्धिः	२/४१
व्यवसायात्मिका बुद्धिः	२/४४
व्यामिश्रेणेव वाक्येन	३/२
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान्	१८/७५
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण	१/३
श	
शक्नोतीहैव यः सोढुं	५/२३
शक्य एवंविधो द्रष्टुं	११/५३
शनैः शनैरूपरमेदबुद्धया	६/२५
शब्दादीन्विषयानन्य	४/२६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा	१८/५१
शमो दमस्तपः शौचं	१८/४२
शरीरं यदवाप्नोति	१५/८
शरीरयात्रापि च ते न	३/८
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्	१८/१५
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय	१३/३१
शान्तिं निर्वाणपरमां	६/१५
शीतोष्णसुख दुःखेषु	६/७
शीतोष्णसुखदुःखेषु	१२/१८
शारीरं केवलं कर्म	४/२१
शाश्वतस्य च धर्मस्य	१४/२७
शुक्लकृष्णे गती ह्येते	८/२६
शुचौ देशे प्रतिष्ठाय	६/११
शुचीनां श्रीमतां गेहे	६/४१
शुनि चैव श्वपाके च	५/१८
शुभाशुभपरित्यागी	१२/१७
शुभाशुभफलैरेवं	९/२८
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं	१८/४३
श्वशुरान्सुहृदश्चैव	१/२७
श्रद्दधानां मत्परमा	१२/२०
श्रद्धया परया तप्तं	१७/१७
श्रद्धया परयोपेतास्ते	१२/२
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो	१७/३
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो	३/३१
श्रद्धावाननसूयश्च	१८/७१
श्रद्धावान्भजते यो मां	६/४७
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं	४/३९
श्रद्धाविरहितं यज्ञं	१७/१३
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते	२/५३
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात्	४/३३
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः	३/३५
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः	१८/४७
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्	१२/१२
श्रोतादीनीन्द्रियाण्यन्ये	४/२६
श्रोत्र चक्षुःस्पर्शनं च	१५/९
स	
संकरस्य च कर्ता	३/२४
संकरो नरकायैव	१/४२
संकल्पप्रभवान्कामान्	६/२४
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव	१८/९
सङ्गात्संजायते कामः	२/६२
संतुष्टः सततं योगी	१२/१४
संनियम्येन्द्रियग्रामं	१२/४
संन्यासं कर्मणां कृष्ण	५/१
संन्यासः कर्मयोगश्च	५/२
संन्यासयोगयुक्तात्मा	९/२८
संन्यासस्य महाबाहो	१८/१
संन्यासस्तु महाबाहो	५/६
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं	६/१३
संभवः सर्वभूतानां	१४/३
संभावितस्य चाकीर्तिः	२/३४
संवादमिममश्रौषम्	१८/७४
स एवायं मया तेऽद्य	४/३
स कालेनेह महता	४/२
स कृत्वा राजसं त्यागं	१८/८
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो	३/२५
सखेति मत्वा प्रसभं	११/४१
स गुणान्समतीत्यैतान्	१४/२६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक	श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
स घोषो धार्तराष्ट्राणां	१/१९	सर्गाणामादिरन्तश्च	१०/३२
स च यो यत्प्रभावश्च	१३/३	सर्गेऽपि नोपजायन्ते	१४/२
सततं कीर्तयन्तो मां	९/१४	सर्वं कर्माखिलं पार्थ	४/३३
स तया श्रद्धया युक्तः	७/२२	सर्वं ज्ञानप्लवेनैव	४/३६
सत्कारमानपूजार्थं	१७/१८	सर्वकर्मफलत्यागं	१२/११
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं	१८/४०	सर्वकर्मफलत्यागं	१८/२
सत्त्व रजस्तम इति	१४/५	सर्वकर्माणि मनसा	५/१३
सत्त्वं सुखे संजयति	१४/९	सर्वकर्माण्यपि सदा	१८/५६
सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्	१४/१७	सर्वगह्यतमं भूयः	१८/६४
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य	१७/३	सर्वज्ञानविमूढ़ांस्तान्	३/३२
सदृशं चेष्टते स्वस्याः	३/३३	सर्वतः पाणिपादं	१३/१३
सद्भावे साधुभावे च	१७/२६	सर्वतः श्रुतिमल्लोके	१३/१३
स निश्चयेन योक्तव्यो	६/२४	सर्वत्रगमचिन्त्यं च	१२/३
स बुद्धिमान्मनुष्येषु	४/१८	सर्वत्रावस्थितो देहे	१३/३२
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा	५/२१	सर्वथा वर्तमानोऽपि	६/३१
समं कायशिरोग्रीवं	६/१३	सर्वथा वर्तमानोऽपि	१३/२३
समं सर्वेषु भूतेषु	१३/२७	सर्वद्वाराणि संयम्य	८/१२
समदुःखसुखं धीरं	२/१५	सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्	१४/११
समदुःखसुखः स्वस्थः	१४/२४	सर्वधर्मान्परित्यज्य	१८/६६
समं पश्यन्हि सर्वत्र	१३/२८	सर्वभूतस्थित यो मां	६/३१
समाधावचला बुद्धि	२/५३	सर्वभूतस्थमात्मानं	६/२९
समासेनैव कौन्तेय	१८/५०	सर्वभूतात्मभूतात्मा	५/७
समोऽहं सर्वभूतेषु	९/२९	सर्वभूतानि कौन्तेय	९/७
समः शत्रौ च मित्रे च	१२/१८	सर्वभूतानि संमोहं	७/२७
समः सर्वेषु भूतेषु	१८/५४	सर्वभूतेषु येनैकं	१८/२०
समः सिद्धावसिद्धौ च	४/२२	सर्वमेतदृतं मन्ये	१०/१४
स यत्प्रमाणं कुरुते	३/२१	सर्वयोनिषु कौन्तेय	१४/४
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं	५/२४	सर्वसंकल्पसंन्यासी	६/४
स संन्यासी च योगी च	६/१	सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो	१५/१५

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक	श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम्	८/९	सुखमात्यन्तिकं यत्तद्	६/२१
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि	४/२७	सुखसङ्गेन बध्नाति	१४/६
सर्वार्थान्विपरीतांश्च	१८/३२	सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ	२/३२
सर्वारम्भापरित्यागी	१२/१६	सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम्	६/२८
सर्वारम्भपरित्यागी	१४/२५	सुदुर्दर्शमिदं रूपं	११/५२
सर्वारम्भा हि दोषेण	१८/४८	सुहृदं सर्वभूतानां	५/२९
सर्वाश्चर्यमयं देवम्	११/११	सुहृन्मित्रार्युदासीन	६/९
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो	४/३०	सूक्ष्मत्वात्तद विज्ञेयं	१३/१५
सर्वेन्द्रियगुणाभासं	१३/१४	सेनयोरुभयोर्मध्ये	१/२१
स सर्वविद्भजति मां	१५/१९	सेनयोरुभयोर्मध्ये	१/२४
सहजं कर्म कौन्तेय	१८/४८	सेनयोरुभयोर्मध्ये	२/१०
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टवा	३/१०	सेनानीनामहं स्कन्दः	१०/२४
सहसैवाभ्यहन्यन्त	१/१३	सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्	१८/७१
सहस्रयुगपर्यन्तम्	८/१७	सोऽविकम्पेन योगेन	१०/७
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि	१८/१३	सौभद्रो द्रौपदेयाश्च	१/६
साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः	५/४	सौभद्रश्च महाबाहुः	१/१८
सात्त्विकी राजसी चैव	१७/२	स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः	९/३२
साधिभूताधिदैवं मां	७/३०	स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय	१/४१
साधुरेव स मन्तव्यः	९/३०	स्थाने हृषीकेश तव	११/३६
साधुष्वपि च पापेषु	६/९	स्थितधीः किं प्रभाषेत	२/५४
सिंहनादं विनद्योच्चैः	१/१२	स्थितप्रज्ञस्य का भाषा	२/५४
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म	१८/५०	स्थितोऽस्मि गतसंदेहः	१८/७३
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः	१८/२६	स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि	२/७२
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा	२/४८	स्थिरबुद्धिरसम्मूढो	५/२०
सीदन्ति मम गात्राणि	१/२९	स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्	५/२७
सुखं त्विदानीं त्रिविधं	१८/३६	स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो	२/६३
सुखं दुःखं भवोऽभावो	१०/४	स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य	१८/४६
सुखं वा यदि वा दुःखं	६/३२	स्वकर्मनिरतः सिद्धिम्	१८/४५
सुखदुःखे समे कृत्वा	२/३८	स्वजनं हि कथं हत्वा	१/३७

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य	२/३१
स्वधर्मे निधनं श्रेयः	३/३५
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च	४/२८
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव	१७/१५
स्वभावजेन कौन्तेय	१८/६०
स्वभावनियतं कर्म	१८/४७
स्वयमेवात्मनात्मानं	१०/१५
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य	२/४०
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घा	११/२१
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः	१८/४५
ह	
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं	२/३७
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्	१८/१७
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव	२/५
हन्त ते कथयिष्यामि	१०/१९
हर्षशोकान्वितः कर्ता	१८/२७
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो	१२/१५
हृषीकेशं तदा वाक्यम्	१/२०
हेतुनानेन कौन्तेय	९/१०
क्ष	
क्षरः सर्वाणि भूतानि	१५/१६
क्षिपाम्यजस्रमशुभान्	१६/१९
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा	९/३१
क्षिप्रं हि मानुषे लोके	४/१२
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं	२/३
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं	१३/३३
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि	१३/२
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं	१३/२
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं	१३/३४
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात	१३/२६
ज्ञ	
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन	११/५४
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं	१६/२४
ज्ञानं कर्म च कर्ता च	१८/१९
ज्ञानं ज्ञेय ज्ञानगम्य	१३/१७
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता	१८/१८
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं	७/२
ज्ञानं यदा तदा विद्यात्	१४/११
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्	४/३९
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं	१८/४२
ज्ञानं विज्ञानसहितं	९/१
ज्ञानमावृत्य तु तमः	१४/९
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये	९/१५
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः	१८/७०
ज्ञानयोगेन सांख्यानां	३/३
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा	६/८
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं	४/१९
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	४/३७
ज्ञानेन तु तदज्ञानं	५/१६
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि	१३/१२
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी	५/३